समर्पण

हधर्मिणी देवकी शर्मा को जिन्होंने गृहस्थ का सारा
भार स्वयं संभाल कर मुझे कालिदास के निकट
सम्पर्क में रहने का अवसर प्रदान किया
तथा
उन शिशुओं को जिनके आनन्द और विनोद
के क्षणों को उनसे छीन कर
इस साधना में
लगाया ।

आमुख

माननीय डॉ० कर्णसिह जी, पर्यटन एवं नागरिकोड्डयन मंत्री भारत सरकार

जिन्हे जीवन से रुचि है, जो यह चाहते है कि वे मानव-जीवन को मनुष्य के अनुरूप ही व्यतीत करे वे अपने अन्दर की शक्तियों को पहचाने, उन पर विश्वास करे और उन्हे अनुकूल उपयोगी बनाने के प्रयत्न में लग जावे।

जीवन को ऊँचा उठाना और सुन्दर से सुन्दर बनाना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। निरुद्देश्य जीवन बिताने मे न तो कोई शोभा है और न श्रेय। विलक्ष्य जीवन बिताना तो पशुओ को भी आता है।

लोक-मगल की साधनावस्था जिस काव्य मे निहित होती है वही लोकप्रिय काव्य होता है। वास्तव मे दर्शन और काव्य, कला और सस्कृति का सम्बन्ध मस्तिष्क और हृदय का है। दोनो का लक्ष्य सत्य-परक है। सत्य की पगडण्डियों पर जिन जिज्ञासाओं का शमन दर्शन करता है, काव्य उन्ही जिज्ञासाओं को कोमल एवं मनोरम शैली मे मधुमती भूमिका बना कर शमित करता है। दर्शन विहीन काव्य मे स्थायित्व असम्भव है। तभी काव्य और दर्शन के सगम को हम मानव की परममुक्ति का साधन मानते हैं।

अनन्त सौन्दर्य के द्रष्टा महाकवि कालिदास का नाम लेते ही मन के चित्र पटल पर एक महान् व्यक्तित्व उभरता है।

मानवीय अनुभूतियो को शब्दों की तूलिका से छू लेने वाले इस अनूठे कलाकार ने भारतीय साहित्य एव सस्कृति की अनुपम सेवा कर अक्षय यश प्राप्त किया है। सत्य तो यह है कि शताब्दियों के सरकने के साथ-साथ कालिदास और भी निखर रहा है। नित्य नये झिलमिलाते शाश्वत सत्यों का प्रतिपादन कर रहा है।

हिन्दू संस्कृति के पुजारी, प्रकृति के सच्चे पारखी, भारत की एकता के गायक, महानता के उपासक, मानवस्वभाव के विशेषज्ञ महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व सस्कृत साहित्य में नगाधिराज हिमालय की भांति इतना महान् और विशाल है कि आधुनिक भारत के लिये भी उनका सदेश अमोल है।

मैं आशा करता हूं कि प्रस्तुत प्रबन्ध साहित्य कला और सस्कृति के अनुरागियों के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

नई दिल्ली
२९ मार्च १९७०.

(ह०) कर्णसिंह

भूमिका

(आचार्य बलदेव जी उपाध्याय, प्राप्तावकाश सञ्चालक, अनुसन्धान संस्थान, वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी)

महाकवि कालिदास की काव्य-कला की परीक्षा जितनी अन्तरङ्गता से की जाती है, उतनी ही अधिक सुन्दरता और कमनीयता उससे फूटती है। महाकवि के काव्यों के बहिरङ्ग परीक्षको की कमी नही, परन्तु उनके अन्तरङ्ग परीक्षकों की संख्या उँगली पर गिनने लायक है। तथाकथित प्राच्यविद्याविशारद विद्वान् उनके स्थितिकाल की समस्या से इस तरह बेतरह उलझे हुये है कि वह और भी अरुझती जाती है, सुलझने का नाम भी नही लेती। परन्तु किसी भी कवि की सच्ची पहिचान उसकी कविता के अन्तरङ्ग अनुशीलन से ही हो सकती है और महाकवि कालिदास इस नियम के अपवाद नही है। मतिराम की यह सूक्ति कालिदास के ऊपर अक्षरशः सच्ची ठहरती है—

ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि।
त्यों त्यों खरी निकरी सी निकाई॥

महाकवि जगद्धर भट्ट कवि की यह प्रशंसा कालिदास को ही लक्ष्य मे रख कर की गई प्रतीत होती है—उस कवि को, जिसके मुख मे सुमधुर सुधारस को बहाती हुई, स्वच्छ हिम एव मुक्ताहार के समान निर्दोष, उपचार और वक्रपदों से अति मनोहरता को प्राप्त हुई सूक्ति निवास करती है—

यस्य स्रवन्त्यमृतमेव मुखे तुषारहाराभिरामरुचिरञ्जितवक्रभङ्गिः।
सूक्तिद्युंसिन्धुरिव मूर्ध्नि हरस्य चन्द्रलेखेव वा वसति त सुकविं नमामः॥

(स्तुति कुसुमाञ्जलि ५।११)

अभिराम कवि के शब्दों में कालिदास की कविता सचमुच अनघा है, जिसमें दोष का तो कहीं नाम भी नही, गुण ही गुण की समग्रता है और जिसमें रस का सन्दोह निरन्तर स्वतः चूता रहता है, जिसका आस्वादन भाग्यशाली ही किया करते हैं—

अनघा गुणसम्पूर्णा समुचित-विच्छित्तिवृत्तरीतिरसैः।
प्रस्नतरससन्दोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य॥

तथ्य तो यह है कि आजकल के वैज्ञानिक युग में कालिदास की 'प्रस्नुत रस-सन्दोहा सरस्वती' के रस का आस्वादन करने वाले व्यक्ति विरले है। रसास्वादक स्वयवेद्य अर्थ का प्रकाशक भी हो—यह कठिनता से प्राप्त होता है। आज के युग का वातावरण ही आलोचकों को कविता के अङ्गच्छेद की ओर ही अधिक प्रवृत्त करता है, कविता के मधुमय हार्द को हृदयगम करने की ओर बहुत कम।

ऐसी विषम स्थिति मे अपने प्राचीन सुयोग्य छात्र एवं पजाब विश्वविद्यालय मे संस्कृत के वर्तमान प्राध्यापक डाक्टर देवीदत्त शर्मा का यह अभिनव अभिराम **'कालिदास की कला और संस्कृति'** नामक आलोचना ग्रन्थ पढकर मुझे वास्तव में अपार हर्ष हो रहा है। देवीदत्त जी जिस प्रकार पैनी दृष्टि से मण्डित सहृदय हैं, उसी प्रकार अर्थविश्लेषण करने वाली लेखनी के धनी भी है। महाकवि कालिदास की कविता के अन्तस्तल तक पहुंचने की अपूर्व क्षमता उन्होंने अपने दीर्घकालीन विस्तृत अध्ययन और रसस्निग्ध हृदय के मधुर सन्निवेश से प्राप्त की है।

वे गहरे पैठने की कला मे दक्ष है और अपने सुचिन्तित विचारो को सरस-सुबोध वाणी के कलेवर में रखने की योग्यता से सवलित है। डा० शर्मा ने इस ग्रन्थ के द्वारा महाकवि के गुणाविष्करण की नई शैली आविष्कृत की है; यह कथन अर्थवाद न होकर पूर्णत तथ्यवाद है। वस्तुत: इसमें कालिदास की कविता के समझने के लिए नया आयाम प्रस्तुत किया गया है।

मुझे पूरा विश्वास है कि 'कालिदास की कला और संस्कृति' नामक यह ग्रन्थ कालिदासीय समीक्षा-साहित्य मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा। आशा है आलोचना जगत् मे यह ग्रन्थ अपनी मार्मिकता, विशदता तथा सरसता के कारण काव्यप्रेमियों के लिए नितान्त आदरणीय बना रहेगा। तथास्तु

केशप्रभापटलनीलवितानजाले कामाक्षि ! कुण्डलमणिच्छविदीपशोभे ।
कश्चे कटाक्षरुचिरङ्गतले कृपाख्या शैलूषकी नटति शङ्करवल्लभे ते ॥

फाल्गुन कृष्णाष्टमी, (ह०) बलदेव उपाध्याय
सं० २०२६ वाराणसी
१-३-७०

निवेदन

भारत देश व देववाणी के मस्तक को सगौरव ऊँचा उठाने वाले कविकुलगुरु कालिदास के चरणों मे अर्पित की जाने वाली यह पुष्पाञ्जलि सुरभारती के रसिकों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे सकोच भी हो रहा है और सन्तोष भी। संकोच तो इसलिये कि सरस्वती के उस वरदपुत्र के उदात्त व्यक्तित्व के अनुरूप यह योजना हो भी सकी है या नही, क्योकि वह स्वयं भी यही आदर्श हमारे समक्ष रख गया है कि–**'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'** फिर भी जो कुछ करने का दुःसाहस किया है उसे 'सदसद्व्यक्तिहेतवः' 'सन्तों' के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है, पर सहज संकोच के साथ।

संतोष इस बात का है कि जिस कवीश्वर ने मेरा सुरभारती के साथ सर्व प्रथम परिचय कराया उसके बारे मे मैं कुछ कह सका हूँ। कालिदास के साथ मेरा परिचय शैशव में ही हो गया था। ९–१० वर्ष की आयु में ही मुझे रघुवंश के प्रथम दो सर्ग कण्ठस्थ करा दिए गये थे और मैं आनन्दित हो कर लय के साथ उन्हे गाया करता था। हमारा यह परिचय आयु, जिज्ञासा एव आवश्यकता के साथ निरन्तर बढ़ता ही रहा। अपने शिक्षा काल में कालिदास की सभी रचनाओं का साङ्गापाङ्ग अध्ययन तो कर लिया पर उसमे गहरे पैठ कर रसास्वादन की अतृप्ति बनी ही रही। पिछले २० वर्षो के अध्यापक जीवन ने मेरी उस साध को भी पूरा करने में योग दिया। फलतः न केवल कालिदास की रचनाओं का ही अपितु कालिदास पर जो कुछ भी जिस किसी माध्यम से भी उपलब्ध हो सका उसका आस्वादन कर गया। जहां जो कुछ आकर्षक या नवीन लगा उसे सजोता गया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में। अनेक बार कालिदास की कृतियों को मूलतः नये दृष्टि कोण से देखने-परखने का प्रयास किया। फलतः प्रस्तुत ग्रन्थ की रूप रेखा बनने लगी। भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रकरणों का निरूपण होता रहा। लगभग १० वर्ष तक यह सिलसिला बराबर चलता रहा। बीच-बीच में 'प्राच्यविद्या सम्मेलनों' एवं 'कालिदास जयन्ती समारोहों' मे भी कुछ कुछ अंश प्रस्तुत किए जाते रहे। अन्त में जब प्रकाशन की बारी आई तो देखा कि यह सामग्री ८–९ सौ पृष्ठों में फैल गई है। इस सब को केवल एक जिल्द में प्रस्तुत करना उपयुक्त न समझ कर उसे दो भागों मे विभक्त कर दिया गया। प्रथम भाग की सामग्री विज्ञ रसिकों के समक्ष प्रस्तुत है और द्वितीय भाग यथावसर प्रस्तुत किया जायेगा।

जैसा कि अभी कहा है कि इस रचना के प्रणयन में कालिदास पर लिखे गये बहुत से साहित्य का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव है। कुछ का ग्रन्थ के कलेवर में

यथास्थान उल्लेख भी कर दिया गया है, पर आभार उन सबका है जिनका उल्लेख हो सका है या नही हो सका है। फिर भी यहा पर मै स्वर्गीय चन्द्रबली पांडे जी का विशेष संकीर्तन करना चाहूँगा जिनकी रचना 'कालिदास' ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया है। जहां तक हो सका है मैने कालिदास के उन पक्षों को ही उभारने का अधिक प्रयास किया है जिन पर कि पिछले लेखकों ने विशेष प्रकाश नही डाला है। किन्तु कालिदास की सम्पूर्णता को उभारने के लिए कुछ ऐसे प्रकरण भी रखने पड़े हैं जिन पर कि पूर्ववर्ती लेखकों ने भी प्रकाश डाला है, पर जहां तक हो सका है मैने उन्हे भी नया रूप और नई अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। कालिदास पर एक और पुस्तक लिखने का व्यावसायिक दृष्टिकोण कभी नही रहा। कालिदास को, उसकी काव्यकला को तथा उसके द्वारा अभिव्यक्त भारतीय सस्कृति के रूप को निकट से समझने की भावना ही इस अध्ययन की प्रेरणा व सम्बल रही है। इसी आधार पर किया गया है इसके शीर्षक का चुनाव भी। यद्यपि कालिदास में चित्र, सगीत आदि ललित कलाओं का पर्याप्त निवेश है पर मैने उन पर यहां पर विचार नही किया है क्योंकि यह मेरे अधिकार क्षेत्र से बाहर है। अतः इसमे कला और सस्कृति के सभी रूपों का समावेश नही हो पाया है।

पुस्तक की सामग्री के विषय में भी एक दो बाते कहनी आवश्यक है। एक तो यह कि इसमे अनेक सन्दर्भो की पुनरावृत्ति हुई है। ऐसा इसलिए किया गया है कि पाठक को किसी प्रकरण मे प्रसङ्ग प्रवाह को द्रष्टि से व्याघात न हो, उसे सन्दर्भो के लिए अन्य प्रकरणों पर निर्भर न रहना पड़े। जो कुछ अपेक्षित है वह एकत्र ही उपलब्ध हो जाय। दूसरी बात यह है कि किन्ही कारणो से पुस्तक के उत्तरार्ध के प्रूफ स्वयं न देख सकने के कारण मुद्रण मे अनेक अशुद्धिया रह गई है। इसके लिए मे स्वय अपने को या अपने अतिविश्वासी हृदय को ही उत्तरदायी समझता हूं। इसलिए पुस्तक के अन्त मे शुद्धि-पत्र तो दे दिया है पर इससे पाठको को कितना लाभ होगा कह नही सकता। विज्ञ पाठकों से निवेदन है कि पाठ-सन्देह की स्थिति मे उसे अवश्य देखले। इससे पाठको का रस विच्छेद तथा प्रवाह-व्याघात होगा इसका मुझे अत्यन्त खेद है। इस ग्रन्थ के सभी सन्दर्भ मुख्यतः कालिदास ग्रन्थावली से लिए गए हैं। मै उसके सम्पादको का आभारी हूँ।

गुरुवर आचार्य बलदेव जी उपाध्याय एव विद्वान् राजनीतिज्ञ युवराज डा० कर्णसिह जी का मै अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ की 'भूमिका' एव 'आमुख' लिखने की मेरी प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा अपने व्यस्त जीवन से बहुमूल्य समय को निकाल कर पुस्तक पढ़ने एवं भूमिका तथा आमुख लिखने का कष्ट किया।

मेरे सहयोगी बन्धु प्रा० इन्द्रदत्त जी उनियाल का यदि सहयोग न होता तो

शायद पुस्तक का प्रकाशन भी अभी न होता। इसके प्रकाशन का सारा श्रेय उन्ही को है। ऐसे निकट बन्धु का लिख कर धन्यवाद करूं यह भी अच्छा नहीं लगता और इतनी रुचि एवं आत्मीयता दिखाने पर भी कुछ न कहूँ यह भी ठीक नही। अत: जो कुछ कहना है उसे मौन, हृदय की भाषा में ही कहूँगा। उन्होंने स्वयं तो जो कुछ किया वह तो पुस्तक के रूप में प्रत्यक्ष है ही साथ मे अपने सहयोगी प्रो० शिवप्रसाद भारद्वाज जी को भी नही छोड़ा। इसके प्रूफ आदि पढ़ने में उन्होने हमारी जो सहायता की उसके प्रति आभार प्रकट करने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता हूँ।

सच तो यह है कि हमारी सारी योजना धरी रह जाती यदि साहित्य भण्डार मेरठ के अधिपति श्री रतिराम जी शास्त्री इसके प्रकाशन का भार अपने ऊपर न लेते तथा श्री विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान के मुद्रणालय के अधिकारी एवं कार्यकर्त्ता इसके मुद्रण का भार स्वीकार न करते। इन सभी से हमें हर प्रकार का उन्मुक्त सहयोग प्राप्त हुआ है। हम इनके हृदय से आभारी है।

मकर संक्रान्ति
संवत् २०२६
१३ जनवरी १९७०

देवीदत्त शर्मा
संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़—१४

अनुक्रमणिका

की प्रतिमान, कालिदास और तुलसीदास के दृष्टिकोण का भेद, सर्वथा लौकिक रूप, सेवापरायणता, मानवीय साजशृंगार एवं मनोभाव अतीत और भावी से अनभिज्ञ, आदर्श प्रेमिका, चारित्रिक दृढ़ता, शालीनता, साधिका, लज्जालुता, विरह व्याकुलता, अनन्य अनुराग, मानवीय व्यवस्था का पालन, मानवीय लोकाचारण का पालन, मानव वधूत्व, मानवीय धार्मिक संस्कारों का परिपालन, मानवीय दाम्पत्य का रूप (२) पार्वती का दिव्याशीय रूप।

३. कामदेव :—पौराणिक रूप, मानवीय रूप, कृपापात्र सेवक, आत्मश्लाघी, मानवीय दौर्बल्य, अदूरदर्शिता, मरणधर्मिता, सद्गृहस्थ।

४. रति—सौन्दर्यमूर्ति, आदर्श पतिव्रता, भाग्य की विडम्बना की शिकार, प्रेयसी, नारी हृदय की दुर्बलता, भाग्यवादिता, मानवीय विश्वास।

५. हिमवान्—स्थावर और जंगम का आवरण, मानव सम्राट्, सद्गृहस्थ, वत्सलपिता, ऐश्वर्य सम्पन्न कुलीन मानव, अतिथि सत्कार एवं विनयशीलता, मानवीय व्यवहार एवं लोकाचारों का पालन, महामानवता।

६. कुमार कार्तिकेय—मानवीय चित्रण का अभाव और उसका कारण।

७. मैना—प्रेयसी व गृहणी, वत्सल माता, पतिव्रता पत्नी, मानव समाज की अनन्य सदस्या।

८. देवराज इन्द्र—इन्द्र के प्रति कालिदास का दृष्टिकोण, इन्द्र का पौराणिक रूप, चारित्रिक दुर्बलतायें, ब्रह्मा, मानव-कलाकार का आरोप।

९. यक्ष अप्सरस् जातीयपात्र—कालिदास की रचनाओं में यक्षों का स्थान, यक्ष का मानवीकरण, पराधीनता एवं विवशताओं का दास, मानव जीवन का प्रतिबिम्बन, मृत्युलोकवास, मरण भय, मानवीय सीमाओं का बन्धन, भाग्यहीन मानव का प्रतिनिधि, भारत-भूमि का अनन्य भक्त।

१०. यक्ष पत्नी—आदर्श मानवी, पतिव्रता और सद्गृहिणी।

११. उर्वशी—कालिदास द्वारा उर्वशी का कायाकल्प, मानव का मान, अप्सरा से मानवी, प्रेयसी और पत्नी, मातृत्व।

१२. प्रकृति सम्बन्धी पात्र—कालिदास द्वारा प्रकृति का मानवीकरण। मेघ का मानवीकरण, देशकाल का दास, कामुकत्व, भक्तिभाव, मानव लोक से अनुराग।

१३. वृक्ष—चेतन धर्म का आरोप, मानवीय संवेगों की अभिव्यक्ति, आतिथ्य, स्नेह, सहानुभूति।

१४. लताएं—मानवीय संवेग हर्ष, स्नेह, सहानुभूति आदि, दामपत्य का रूप, पशु-पक्षी।

१५. नन्दिनी—पशु मानव और अतिमानव का सम्मिश्रण।

कालिदास का व्यक्तित्व

कालिदास के व्यक्तित्व के मूलाधार—

भारत भूमि के इस लाड़ले सपूत का जन्म कब, कहाँ, किन परिस्थितियों में हुआ यह सब कुछ अन्धकार से आवृत है। इसमें ही शायद देश और कवि का हित निहित है। इससे जहाँ एक ओर कवि के हृदय की विशालता तथा उसके सार्व-भौम राष्ट्र-प्रेम का पता चलता है, वहीं दूसरी ओर उन संकीर्ण हृदयों को आत्मतोष भी प्राप्त होता है, जो कि भारत के इस सपूत का सम्बन्ध देश के किसी भूभाग विशेष तक ही सीमित रखना चाहते है, उसे किन्हीं संकीर्ण सीमाओं में बांध कर उसे अपना कहने में गौरव का अनुभव करते है। ऐसे लोग शायद यह भूल जाते हैं कि कालिदास उस परम्परा के प्रतिनिधि हैं जिसमें कि बड़े गौरव से कहा गया था 'माता भूमिः पुत्रोऽहं तस्याः' तथा जिसमें महत्त्व व्यक्ति को नहीं वरन् उसके व्यक्तित्व को तथा कृतित्व को दिया जाता है। इसीलिए उस परम्परा के पालक कला-प्रेमियों तथा राष्ट्र-भक्तों ने कभी इस दृष्टि से सोचा ही नहीं कि भारत माता का यह देदीप्यमान रत्न कब तथा किस भूखण्ड में प्रकट हुआ। क्योंकि इससे उसकी आभा या महत्त्व पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह जब भी, जहाँ भी हुआ हो, सम्पूर्ण रूप से समस्त भारत के लिए गौरव का विषय है। उसके बंगाल, मालवा, काश्मीर वा उत्तराखण्ड के भूखण्ड को अलंकृत करने से उसके व्यक्तित्व पर कोई अन्तर नहीं आ जाता। हाँ उसे प्रान्तीय सीमाओं में बांधने से अन्तर अवश्य आ सकता है। आज कालिदास सब का है, सारे देश का है, देश के प्रत्येक भाग का निवासी उसे अपना कहने में गौरव का अनुभव करता है किन्तु उसके जन्म स्थान को सीमित कर देने से उसके साथ 'हमारा' और 'तुम्हारा' विशेषण जुड़ सकता है। इससे उसके राष्ट्रकवि कहलाने में बाधा पड़ सकती है। क्योंकि स्थान विशेष वा प्रदेश विशेष तक ही अपनी राष्ट्रभक्ति को सीमिति रखने वाला या प्रदेश विशेष के ही गौरवगीत गाने वाला कवि राष्ट्रकवि

जन्म-स्थान

नहीं हो सकता। राष्ट्रकवि कहलाने का अधिकारी तो केवल वही हो सकता है, जो कि स्थान-प्रदेश निरपेक्ष्य होकर एक भाव से समस्त राष्ट्र के गीत गा सकता है। न किसी प्रदेश विशेष से लगाव है और न किसी से दुराव। उसके गीत सब के लिए और सब कालों के लिए होते है। उस में विभेदक तत्व हो ही नहीं सकता। या यों कह सकते हैं कि ऐसे राष्ट्रकवि के हृदय में 'निज' और 'पर' का भाव प्रवेश ही नहीं पा सकता। उसका हृदय विशाल होता है और उसमें देश का सम्पूर्ण चित्र एक भाव से समा जाता है। कालिदास ने हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक तथा अटक से लेकर कटक तक के सम्पूर्ण भू-भाग का एक भाव, एक रस से किस प्रकार निरूपण किया है यह हम अगले एक निबन्ध में दिखला रहे हैं[1] अतः उस पर यहां विचार नहीं किया जा सकता। यहां पर हम केवल उन तत्वों पर ही विशेष रूप से विचार करेंगे जिन्होंने कि कालिदास के व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान किया। उनकी काव्य रचना को आधार प्रदान किया।

इस तथ्य से सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता कि कवि अपने युग की देन होता है तथा वह अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है, पर यह बात पूर्ण रूप से उन्हीं कवियों पर लागू होती है जो कि सीमित प्रतिभा के सहारे सीमित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अवतरित होते है। पर क्रान्तिदर्शी महा कवियों की बात इससे भिन्न हुआ करती है। वे सब देशों तथा सब कालों के लिए हुआ करते है। उनकी क्रान्तिदर्शी प्रतिभा भूत और भविष्य को भी वर्तमानवत् देखती है। अतः वे जो कुछ कहते है उसमें केवल वर्तमान को ही देखना संगत नहीं हो सकता। इस प्रकार हम उनके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकते। हाँ, उनकी रचनाओं का सम्यक् विश्लेषण करके हम उनके व्यक्तित्व के स्वरुप की निकटतम झांकी प्राप्त कर सकते हैं। यों तो ऐसे महाकवियों का व्यक्तित्व ऐसा विशाल एवं बहुमुखी होता है कि उसे शब्दों की सीमा में बांधना कठिन ही नहीं असम्भव भी होता है, पर इसके अतिरिक्त और कोई विश्वसनीय साधन भी सुलभ नहीं हो सकता। कालिदास के बारे में अनेकों ही ऐसी किवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिन्हें न केवल अविश्वसनीय ही नहीं, अपितु हास्यास्पद

---

१. जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

भी कहा जा सकता है। अतः किंवदन्तियों की ओर न जाकर हमें उनकी रचनाओं के आधार पर ही उनके व्यक्तित्व की रूपरेखा का पुर्ननिर्माण करना होगा।

जन्मकाल

जहाँ तक कालिदास के व्यक्तित्व को उभारने में युग विशेष का प्रश्न है उसके बारे में हम केवल इतना ही विश्वास करते हैं कि उनका जन्म ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ पूर्व ही हो चुका था, यद्यपि इसके लिए कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। कारण कि 'मालविकाग्निमित्र' की रचना के समय कवि ने **'पुराण-मित्येव न साधु सर्वम्०'** कह कर अपने कथानक के चुनाव के लिए जो दलील पेश की है उससे कम से कम यह सुदृढ हो जाता है कि वह अग्निमित्र के समय से बहुत दूर नहीं। ईसा की चौथी, पाँचवी शताब्दि में 'अग्निमित्र' के कथानक को 'नव' कहना कहाँ तक संगत हो सकता है, यह पाठक स्वयं ही समझ सकते है। यदि पाँच सौ वर्ष पुरानी घटनाओं को भी 'ताजा' कहा जा सकता है तो फिर 'पुराना' किसे कहा जायेगा? साथ ही एक बात इसी प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि गुप्त सम्राटों के राज्याश्रय में रहने वाला कवि स्वयं उनके जीवन को आधार बना कर नाटच रचना करने की अपेक्षा उनसे कहीं कम शक्तिशाली तथा छोटे नरेश के जीवन को अमरता प्रदान करे, उन्हीं के दरबार में उसे गौरव प्रदान करे, यह बात भी संगत नहीं लगती। 'पुराणमित्येव०' की जो दलील अग्निमित्र के लिए दी जा सकती है वही गुप्त सम्राटों के लिए भी दी जा सकती थी। जहां तक नायक का प्रश्न था गुप्तों के आदर्श तथा कार्य-कलाप अग्निमित्र से भी अधिक उदात्त एवं अनुकरणीय थे। अतः उस काल में 'मालविकाग्निमित्र' की रचना बुद्धिग्राह्य नही। यों अपना किसी युग विशेष के लिए आग्रह नहीं। दोनों ही कालों के लिए समान रूप से तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं, और किए जा रहे है। उन सब के विस्तार में जाना अपने को अभिप्रेत नहीं। जहाँ तक तर्को का प्रश्न है, वही तर्क किसी भी काल की पुष्टि के लिए दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ कालिदास की रचनाओं में पाए जाने वाले कला-भास्कर्य आदि के प्रमाण को दोनों के लिए समान रूप से दिया जा सकता है। क्योंकि निश्चित रूप से कोई नहीं कह सकता कि किसका किस पर प्रभाव पड़ा। अधिक सम्भव यही लगता है कि कला के ये रूप पहले कवि

की कल्पना में आए होंगे और फिर उन भावों से प्रेरित होकर कलाकारों ने उन्हें अपनी कलाओं में उतार दिया होगा। जैसा कि प्रायः होता है। देवी-देवताओं की विभिन्न मूर्तियों के निर्माण से पूर्व ही कवियों के द्वारा उनका निरूपण हो चुका था, यह हम सभी जानते है। फिर कालिदास के शब्द चित्रों से प्रभावित हो कर कलाकारों ने उन्हें मूर्त रूप दे दिया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? फिर अपनी रचनाओं में भारत के प्रत्येक सांस्कृतिक वा ऐतिहासिक गौरव के स्थान के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाने को सदा उत्सुक रहने वाला यह राष्ट्र कवि गुप्तों की नवनिर्मित राजधानी पाटलीपुत्र का कहीं नाम तक न ले, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कवि के द्वारा जान बूझ कर की गई बौद्धों की उपेक्षा तथा ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना का प्रयत्न भी उसे गुप्त काल में रखने में सहायक नही हो सकता। कवि को शुंग काल के निकट रखने के लिए कोई विशेष आग्रह न होने पर भी उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान तक हम उसे उस काल के निकट रखना ही अधिक संगत समझेंगे। कालिदास की रचनाओं में उपलब्ध बौद्ध विरोधी स्वर पर हम अन्यत्र प्रकाश डाल रहे है।[१] ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर भी प्रसगतः यत्र तत्र प्रकाश डाला जा रहा है। उसे यहां दुहराना उचित नहीं।

कालिदास को शायद ऐसे ही किसी युग विशेष में मानकर उसका नाम निर्देश किए बिना ही आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी लिखते हैं—"कालिदास जिस युग में आविर्भूत हुए थे उसके पहले भारतवर्ष के अनेक महिमान्वित शास्त्रों का उद्घोष हो चुका था, कई धार्मिक और आध्यात्मिक आन्दोलनों का उद्भव और विलय हो चुका था, अनेक कलाएँ प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर रूढ़िबद्धता की ओर अग्रसर हो चुकी थी। वैदिक कर्मकाण्ड एक ओर उपनिषदों के अद्वैतवाद और दूसरी ओर बौद्ध और जैन धर्म के वेद विरोधी आन्दोलनों की प्रतिक्रिया का सामना कर चुका था। रामायण और महाभारत के शक्तिशाली कथा साहित्य के बाद पौराणिक और निजन्धरी कथाओं का विपुल साहित्य निर्मित हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपादित कर्मकाण्ड प्रधान धर्म के बाद अन्तरात्मदर्शन के पक्षपाती सांख्य और योग के दार्शनिक

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—कालिदास की बौद्धों के प्रति उदासीनता।

सिद्धान्त जड़ जमा चुके थे, यवन शिल्पों का प्रवेश तथा तज्जन्य शक्तिशाली प्रतिक्रिया का उन्मेष हो चुका था, भारतवर्ष नई राष्ट्रीयता के उत्साह से भरपूर था। उपनिषदों से ज्ञानमार्गी अद्वैत साधना का, रामायण से मानवीय आदर्शों से मुखरित आदर्शवाद का, महाभारत से बौद्धिक चरित्र विकास का, धर्मसूत्रों और स्मृतियों से ब्राह्मण धर्मानुमोदित आचार संहिता का, पुराणों से विभिन्न मानव मण्डलियों में परिव्याप्त मिथक कल्पना के समृद्ध तत्वों का, भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से नाटकीय व्यवस्था का, पाशुपत आगमों से सृष्टि रहस्य का, सांख्य-योग से अन्तःकेन्द्रित चित्समाधि का सार लेकर उन्होंने अपना जीवन दर्शन रूपायित किया था।"[१]

स्पष्ट है कि कालिदास की रचनाओं तथा उनके व्यक्तित्व को भलीभांति हृदयंगम करने के लिए हमें उपर्युक्त पृष्टभूमि को बराबर ध्यान में रखना होगा। इसके प्रकाश में ही हम उन्हें ठीक-ठीक समझ सकेंगे। पर इसका अभिप्राय यह भी नहीं कि कालिदास ने अपने ग्रन्थों की रचना इन्हें सामने रख कर की थी। वरन् तथ्य तो यह है कि कालिदास जैसा मौलिक प्रतिभावान् तथा क्रान्तिकारी कवि उसके बाद हो ही नहीं सका। वह कभी भी लकीर का फकीर बन कर नहीं चला। पुरानी रेखाओं में भी नए रंग भर कर उसने उन्हें सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया।

प्रगतिवादिता

सर्व प्रथम 'मालविकाग्निमित्र' में ही हम उसे क्रान्ति का बिगुल बजाते हुए सुनते है। **'नायकं ख्यात वृत्तं स्यात्'** की मान्य परम्परा से विच्छिन्न हो कर वह 'पुराणमित्येव न साधुसर्वम्०' का सबल उद्घोष करता है। वह लकीर का फकीर नहीं, पुरानी परम्पराओं का अन्धानुयायी नही, यह उसकी इस घोषणा से ही स्पष्ट हो जाता है। उस जैसा खुले मस्तिष्क तथा विशाल हृदय का कवि इस देश में शायद ही कोई हुआ हो। न पुराने का कोई आग्रह है और न नए का कोई मोह। मोह है तो केवल उसका, जो कि देश, राष्ट्र और जाति के लिए हितकर हो, व्यक्ति और समाज को उन्नत करने वाला हो।

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास को सभी व्यवस्थाओं में से मनु द्वारा विहित व्यवस्था सर्वाधिक मान्य थी पर अन्धानुयायी

१. कालिदास की लालित्य योजना, पृ० २-३, वाराणसी १९६५।

वह उसका भी नहीं था।[१] यद्यपि मनु पति की मृत्यु के उपरान्त सन्तान हीन पत्नी को उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मानने के पक्षपाती नहीं थे (मनु ९।१३२), पर कालिदास उनके इस विचार से सहमत नहीं हो सके। उन्हें मनु की व्यवस्था का यह अंश शायद स्त्री के लिए सम्मानास्पद नहीं लगा। इसीलिए रघुवंश में तो उसने अग्निवर्ण की विधवा रानी का राज्याभिषेक करवा दिया और शाकुन्तल में समुद्र व्यवसायी धनमित्र की विधवा पत्नी को पुंसवन का बहाना लेकर उसकी समस्त सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी घोषित करवा दिया[२]। हम जानते हैं कि मनु की व्यवस्था में न स्त्री को स्वातंत्र्य प्राप्त था (**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति**)[३] और न उसे पुरुष के समान अधिकार ही। पर कालिदास ने अपने युग से बहुत आगे बढ़कर अपनी कृतियों में नारी को दोनों ही रूपों में बहुत ऊपर उठाने का यत्न किया है। प्रेम और समाज के स्थायित्व के लिए विधि-विहित विवाह को मान्यता देते हुए भी उसने अपनी सभी नायिकाओं को अपने अनुरूप पतियों का चुनाव करने का अवसर दिया। इस विषय में तो कवि इतना अधिक प्रगतिवादी हो गया है कि महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में आश्रम में घटित दुष्यन्त और शकुन्तला के अनुचित सम्बन्ध की निन्दा तो क्या, वह महर्षि कण्व से उसका अनुमोदन तक करवा देता है। यह दूसरी बात है कि प्रणय के उदात्त आदर्श तथा इस प्रकार के प्रणय की अस्थिरता की सम्भावना के कारण वह किसी और बहाने शकुन्तला को शापित करवा देता है। अन्यथा वह कहीं भी दुष्यन्त और शकुन्तला के इस सम्बन्ध को अनैतिक वा व्यभिचार कह कर उसकी निन्दा नहीं करता। पार्वती, इन्दुमती, उर्वसी आदि सभी नायिकाएँ स्वेच्छा से अपने पतियों का वरण करती हैं। वह कोरे आदर्शों को लेकर नहीं चला है। उसने जीवन में यथार्थ को पहले तथा आदर्श को बाद में स्थान दिया है। फ्रायड, एडलर, हैवलाक आदि ने जिस बात को बीसवीं शताब्दि में संसार के सम्मुख उपस्थित किया, कालीदास उसे दो हज़ार वर्ष पूर्व ही अपनी कला के माध्यम से उपस्थित कर चुके थे। मानव जीवन

---

१. रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ रघु० १,१७

२. शाकु० ६,२३। ३. मनु० ९,३।

में काम के नैसर्गिक प्रभाव को जितने सुन्दर कलात्मक ढंग से कालिदास ने उपस्थित किया उतना शायद आधुनिक मनोविज्ञानी भी नहीं कर सकेंगे। वह अपने नायकों को 'कामी' कहने में किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नही करता।[१] क्योंकि वह समझता है कि इस संसार चक्र के मूल में यही महाशक्ति है जो कि इसे चला रही है। मनोभावों का ऐसा विश्लेषक तो शायद आज भी ढूंढ़े से नहीं मिलेगा। शाकुन्तल के पंचम अंक के पद्य **'रम्याणि वीक्ष्य०'** इत्यादि में मनोविज्ञान का कितना गूढ़ सिद्धान्त निहित है इसकी व्याख्या अन्यत्र की ही जा रही है। कालिदास का यक्ष आज के मनोविज्ञान के शास्त्रियों के लिए एक अच्छा अध्ययन का विषय बन सकता है। समस्त मेघदूत विश्लेषण करने पर कलात्मक आवरण में निहित मनोविज्ञान की एक पुस्तक सा लगता है—कालिदास ने अपने युग से बहुत आगे बढ़कर नारी जाति के सम्मान और गौरव के लिए जो आवाज़ उठाई उसके लिए भारत की नारी जाति को सदा उसका आभार प्रकट करना होगा। इससे पूर्व न मनु की व्यवस्था ने ही उसे पुरुष के समकक्ष स्थान दिया था और न भगवान् बुद्ध के सर्वोपकारक धर्म ने ही। एक ने स्त्री को पुरुष की सम्पत्ति समझा, तो दूसरे ने उसे मोक्ष के मार्ग में बाधक। पर कालिदास ने उसे इन दोनों ही स्तरों से उठाने का बीड़ा उठाया। फलतः उनकी रचनाओं में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्र अधिक उज्ज्वल, आकर्षक तथा समादृत रूप में उभरे हैं। शाकुन्तल में **'उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी'** कहलवाकर और उसे शकुन्तला के द्वारा ठुकरवाकर मानो कालिदास ने उस पुराण परम्परा के प्रति अपनी पूर्ण अनास्था प्रकट कर दी है। मनु ने व्यवस्था दी थी कि पति चाहे जैसा दुष्ट, दुराचारी वा गुणहीन भी क्यों न हो पर पत्नी को उसका आदर करना ही चाहिए।[२] पर कालिदास इस परम्परा का अनुमोदन कर मानवता को अपमानित करना नहीं चाहते। इसीलिए विवाह सम्बन्ध के प्रति पूर्ण आस्थवान् होते

---

१. (क) कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश् चेतनाचेतनेषु । मेघ० ५ अबला विप्रयुक्तः स कामी। मेघ० २।

(ख) 'कामी स्वता पश्यति' शाकु०। २।२।

२. मनु० ५।१५४।

हुए भी उन्होंने शकुन्तला से भरे दरबार में दुष्यन्त को फटका दिलवाई है, तो जगज्जननी सीता के द्वारा भगवान् राम को।[१] कालिदास के अतिरिक्त और कोई हिन्दू कवि शायद इतने कठोर शब्दों में ऐसा न कहलवा सकता। उनकी नारियां आदर्श हिन्दू रमणियां हैं। जन्मान्तर में भी किसी अन्य की कामना नहीं कर सकती[२]; पर साथ ही केवल इसलिए चुपचाप अन्याय सहने को तैयार नहीं, कि वह उनके पति के द्वारा किया गया है। सच तो यह है कि एक ओर अन्याय के विरुद्ध उनकी तेजोदीप्त वाणी को तथा दूसरी ओर उनके त्याग और कष्ट सहिष्णुता को देख कर उनके समक्ष हमारा मस्तिष्क झुक जाता है। कालिदास ने तो स्वयं उन लोगों को भी उनके चरणों में झुका दिया है जिनके कि अन्याय की वे शिकार होती हैं। हमें पुरुषों की अपेक्षा उनके जीवन में मानवता का उद्रेक अधिक दिखाई देता है। उनमें कहीं भी वह वृत्ति की चचलता, स्वभाव की अस्थिरता व विलासिता नहीं पाई जाती, जो कि प्रायः पुरुष पात्रों में पाई जाती है। उनका चरित्र सर्वत्र उदात्त मानवीय गुणों से भरपूर एवं अनुकरणीय है।

कालिदास ने स्पष्ट शब्दों में उस भ्रान्त धारणा का भी विरोध किया है जिसके अनुसार कि पत्नी को पति की सम्पत्ति या भोग्या मात्र समझा जाता था। उन्होंने बतलाया कि पत्नी पति की सम्पत्ति नहीं, वरन् उसकी पूरक है। दोनों मिलकर ही जीवन की सम्पूर्णता को प्राप्त करते हैं। एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण है, जीवन की पूर्णता के लिए दोनों को एक दूसरे की समान आवश्यकता है। अतः दोनों में से किसी एक को कम या अधिक महत्त्व देना उचित नहीं, 'रघुवंश' के आठवें सर्ग में अज के द्वारा—

> गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कला विधौ।
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

---

१. (क) शाकु० ५। अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन मन्त्रयसे······
   (ख) वाच्यस्त्वयामद्वचनात् स राजा० रघु० १४।६१।

२. (क) वसने परिधूसरे वसाना० शाकु० ७।२१।
   (ख) साहं तपः सूर्य······भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः। रघु० १४।६६।

कहलवा कर कवि ने जीवन में नारी के महत्त्व का समुचित मूल्यांकन प्रस्तुत करने का ही यत्न किया है।

इसी प्रकार लोक और काव्य में उभयत्र ही बौद्ध जगत् में नारी को स्थान नहीं मिल सका। कालिदास ने इसके विरुद्ध भी अपनी रचनाओं में आवाज़ उठाई। उनके काव्यों वा नाटकों में स्त्री पात्रों की बहुलता का एक रहस्य यही प्रतिक्रिया की भावना रहा है। उनकी पार्वती कुमारावस्था में ही कठोर योग साधना करती है और फिर गृहस्थ का सुख भोगती है। राजा दिलीप सुदक्षिणा के साथ ही तपोवन की शरण लेते है। वशिष्ठ, मरीचि, अगस्त्य आदि सभी के जीवन में त्याग और तपस्या में नारी का भी समान योग है। वरन् कालिदास ने तो श्रद्धा के फूल इन नारियों के चरणों में अधिक चढ़ाए हैं।[1] उनके महत्त्व को उनके पतियों के महत्त्व से किसी भाँति भी कम नहीं बताया गया है।

कालिदास ने बौद्ध युग की परम्पराओं और रूढ़ियों से हटकर नारियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था को भी आवश्यक माना है। इसके अतिरिक्त वे उनमें चित्रकला, संगीतकला आदि ललित कलाओं की शिक्षा भी आवश्यक समझते हैं। उनकी नायिकाएँ प्रायः इन कलाओं से सम्पन्न पाई जाती हैं। यक्षपत्नी, मालविका, शकुन्तला तो इसके साक्षात् प्रमाण ही हैं। सीता जी राम के काम में स्वयं हाथ बटाती है, स्वयं अपने हाथों से सुग्रीवादि को बिदाई के समय उपहार प्रदान करती हैं। रानी सुदक्षिणा दिलीप के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर गो सेवा का कार्य करती है। कहीं किसी प्रकार की हीनता नहीं।

मार्क्सवाद शब्द यद्यपि आधुनिक युग की देन है पर उस विचार धारा के मूल में जो भावना निहित है उसके दर्शन हमें कालिदास में होने लगते हैं। सर्व प्रथम तो राजतन्त्र उस युग की मान्य 'शासन पद्धति' होने पर भी हम कालिदास को 'लोकतंत्र' की दुहाई देते हुए पाते है (अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। शाकु० अंक ५)। उसके शासकों में से कोई भी ऐसा शासक नहीं जोकि निरंकुश हो तथा प्रजा की आवाज़ को न सुनता हो। उसने तो

१. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्योमूलकारणम्॥ कुमार० ६।१३

एक प्रकार से राजा बनने की यह शर्त ही लगा दी कि राजा वा शासक वही हो सकता है जो कि प्रजा को बराबर प्रसन्न रख सके, (**राजा प्रकृति रञ्जनात्**), अपनी सन्तान की भांति उसका पालन करे (**प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि**), उनके सभी प्रकार के दुःखों का निवारण कर सके[1] तथा उनके सभी कष्टों को अपने ऊपर झेलने को तैयार हो।[2] राज्य सत्ता भोग विलास की वस्तु नहीं यह तो एक कर्तव्य का भार है, जिसे कि शासक को सर्वथा निस्पृह हो कर कर्तव्य भावना से ही निभाना चाहिए।[3] उसे मनमाने तौर पर राजस्व को व्यय करने का अधिकार नहीं, उसे स्वयं एक वेतन भोगी के समान उसमें से एक सीमित राशि ही अपने लिए व्यय करनी चाहिए।[4] शेष सारा धन प्रजा के कल्याण में ही लगाना चाहिए। उसके हाथ में शक्ति है, न्याय दण्ड है, अतः वह प्रजा की आवाज़ की उपेक्षा करे, उसे दबा दे, यह कालिदास को अभिमत नहीं। सीता के लिए अपमान जनक होते हुए भी कालिदास उनके निर्वासन का प्रारम्भिक स्तर पर इसलिए विरोध नहीं करते कि यह जनता की आवाज़ का विरोध होगा। यद्यपि बाद में वे इसका अनुमोदन नहीं करते। पहले सीता के द्वारा और फिर महर्षि वाल्मीकि के द्वारा राम को उनके इस कार्य के लिए फटकार दिलवाते हैं; पर पहले जनता की आवाज़ को अवश्य ही शिरोधार्य करते है। उस युग में प्रजातंत्र शब्द तथा पद्धति का विकास शायद वर्तमान रूप में नहीं हुआ था पर शब्द द्वारा कथित न होने पर भी कालिदास द्वारा विहित राज-व्यवस्था प्रजातन्त्र से किसी भांति भी भिन्न नहीं। अपने सबसे अधिक समृद्ध नायक रघु के द्वारा 'सर्वस्व दक्षिण' याग करवा कर कवि ने मार्क्सवाद की

---

१. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तेषां केवलं जन्म हेतवः॥
१।२४॥ अपि च रघु० १४।२३॥

२. येन् येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृतेतासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ ६।२३॥

३. स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसेलोकहेतोः।
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥ शाकु० ५।७॥

४. दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥ रघु०

चरम सीमा को छू लिया है। संपत्ति के संचयन और वितरण का ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

जीवन के विविध रूपों एवं आस्थाओं के विषय में उनके क्या विचार थे इसका बहुत कुछ विश्लेषण उनकी सूक्तियों के विवेचन में तथा अन्य विभिन्न प्रसंगों में हो चुका है। अतः उस पर यहां विचार करना संगत न होगा। प्रस्तुत प्रकरण में हम अपने को उन्हीं अंशों तक सीमित रखेंगे जिनके द्वारा कि उनके व्यक्तित्व को समझने में सहायता मिल सकती है।

कालिदास जन्मना ब्राह्मण थे और वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मण वंश में उनका जन्म हुआ था यह तो निश्चित ही है। वैदिक कर्म-काण्ड की विधियों से वे भली भांति परिचित थे तथा उनमें उसकी पूरी आस्था थी। उन्होंने अपने ग्रन्थों में बड़ी आस्था के साथ गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि और श्राद्ध कर्म तक के सभी वैदिक संस्कारों का उल्लेख किया है।[1] सम्भव प्रतीत होता है कि ऐसे पारिवारिक वातावरण में उत्पन्न बालक कालिदास को चूड़ाकर्म, उपनयन संस्कार के बाद वेदाध्ययन में प्रवृत्त करा दिया। उन दिनों शिक्षा के प्रमुख केन्द्र ऋषियों के आश्रम ही हुआ करते थे। उत्तराखण्ड के किसी ऐसे आश्रम में ही शायद कवि की शिक्षा-दीक्षा का कार्य हुआ। कालिदास ने जिस लगाव, श्रद्धा और सूक्ष्मता से अपनी प्रत्येक रचना में तपोवनों का वर्णन किया है उससे उनके तपोवन के निकट सम्पर्क एवं सहवास की पुष्टि होती है।[2] तत्कालीन परम्परा के अनुसार-निश्चित है कि कालिदास ने भी यहां रह कर पावन-चरित गुरुओं के चरणों में बैठ कर श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा अन्य बहुत सी विद्याओं तथा कलाओं का अध्ययन किया। उनके ग्रन्थ इन के सन्दर्भों से परिपूर्ण है। वे वैदिक साहित्य एवं संस्कृति के उद्भट विद्वान् प्रतीत होते हैं। वैदिक विधि-विधानों के संकेतों के अतिरिक्त उन्होंने विधि, क्रिया, अध्वर, यूप आदि कितने ही वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है। वैदिक स्वरों (कुमार० २।१२; रघु० १५।७६),

शास्त्रीयज्ञान

---

१. द्रष्टव्य—भारतीय सस्कृति के व्याख्याता कालिदास।

२. शाकु अंक १, ७; रघु० सर्ग १, ५; कुमार० सर्ग० ५, विक्रम० अंक ५।

अश्वमेधयज्ञ (माल०) तथा अथर्ववेद के मंत्रों (रघु०) का उल्लेख ही नहीं वरन् स्वयं विक्रमोर्वशी के सम्पूर्ण कथानक को ही उन्होंने 'शतपथ ब्राह्मण' से लिया है। कालिदास की ब्रह्म और ईश्वर विषयक सारी आस्थाएं उपनिषदों से प्रभावित दिखाई देती हैं। कुमार सम्भव मे ब्रह्मा और शंकर की स्तुति तथा रघुवंश में विष्णु की स्तुति का मूलस्वर औपनिषदिक ही है। उनके तीनों ही नाटकों में जो मंगलाचरण हुए हैं वे वेदान्तपरक है यह तो स्पष्ट ही है, पर भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं से भी वे भली-भांति अवगत थे। न्याय, वैशेषिक (रघु० १३।१) आदि का ज्ञान होने पर भी कालिदास को योग और सांख्य ने विशेष रूप से प्रभावित किया है। "उनके दोनों ही महाकाव्य, विशेषतः रघुवंश ये प्रदर्शित करते है कि विश्व के स्वरूप के विषय में सांख्य और योग की दृष्टि कालिदास को मान्य थी। प्रकृति के तीन गुण-सत्त्व, रजस्, तमस् अपने नैतिक पक्ष में उपमाओं के लिए विषय प्रदान करते हैं। सरयू के रूप में ब्रह्म समुद्र उस अव्यक्त की भांति है, जिसमें महत्तत्व उत्पन्न होता है, योगाभ्यास को अभिस्वीकार किया गया है, आसन पर बैठ कर वृद्ध राजा धारणा का अभ्यास करता है, तपस्वियों के कठिन आसन वीरासन (रघु० १३।५२) की उपमा निश्चलतया स्थित वृक्षों से दी गई है,[१] सीता तपस्या द्वारा अगले जन्म में अपने पति से पुनर्मिलन प्राप्त करना चाहती है, योगी गण दरवाजे के भीतर प्रविष्ट हो जाने की शक्ति प्राप्त कर सकता है और उसका दाह संस्कार नहीं होता, प्रत्युत रघु की भांति उसे जमीन में गाड़ दिया जाता है। परन्तु हम यह नहीं मान सकते कि कालिदास का अभिमत ईश्वर योग दर्शन का साधारण ईश्वर है, कालिदास के अनुसार ब्रह्म में सांख्य के प्रकृति और पुरुष दोनों संयुक्त हैं, और इससे सूचित होता है कि कठोपनिषद् के लेखक की भांति कालिदास भी प्रकृति और पुरुष के ऊपर एक परमतत्त्व को मानते थे, जो उनके लिए विशेष करके शिव रूप है। परन्तु जो ब्रह्मा और विष्णु भी हैं और जो अन्धकार से परे ह और कभी नष्ट नहीं होता। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् इसी परमतत्त्व में मिल जाता है। क्योंकि रघुवंश में 'ब्रह्मभूमं गतिमाज-

---

१. द्रष्टव्य-पर्यङ्कबन्ध (कुमार० ३।४५)

गाम' का यही अभिप्राय है, यदि तत्त्वज्ञान न होकर केवल पुण्य कर्म ही हों तो मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। क्योंकि ज्ञान से ही कर्म दग्ध होते है अन्यथा वे कर्म मनुष्य को बार-बार जन्म लेने को विवश करते हैं। इस मत को स्वीकार करने में हमें विशेष संकोच न होना चाहिए। क्योंकि यह लोकप्रिय वेदान्त की मौलिक दृष्टि है और इससे एक विचारशील और विवेकी व्यक्ति को उक्त तीन महान् देवताओं में विश्वास का सामञ्जस्य स्थापित करने का एक सफल उपाय प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ कालिदास का चित्त परमात्मा के सर्वव्यापक स्वरूप की और उससे ऐक्य प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की क्षमता की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है।"[१] वस्तुतस्तु कालीदास के इन दार्शनिक विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि उन में समन्वय की भावना का प्राधान्य था। मूलतः भगवान् शंकर के अनन्य उपासक होते हुए भी उन्होंने पूरी श्रद्धा के साथ विष्णु और ब्रह्मा का जो स्तुतिगान किया है वह उनकी समन्वयवादिता का ज्वलंत प्रमाण है। धार्मिक और दार्शनिक दोनों ही दृष्टियों से वे बड़े सहिष्णु तथा उदार प्रकृति के व्यक्ति थे इस से निषेध नहीं किया जा सकता।

कालिदास ने भगवद्गीता तथा महाभारत का भी गंभीर अध्ययन किया था। इससे उनमें निष्काम कर्मयोग की भावना का तथा आत्मा की अनश्वरता का भाव बहुत दृढ़ हो चला था। उनके अनेक नायक निष्काम कर्मयोग में आस्था रखने वाले हैं। दिलीप-सिंह संदर्भ में कर्मयोग का रूप अच्छी प्रकार से सामने आता है। **मरणं प्रकृति शरीरिणाम्०** में गीता के 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु०' की मेघदूत के 'शेषैर्पुण्यैहृतमिव०' इत्यादि में 'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति' की तथा **सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्ज-नीयम्**' में 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। इसके अतिरिक्त उसमें आई हुई अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदि संज्ञाए तथा 'समाधि में चित्त को लय करने वाला योगी वायुहीन स्थल में स्थित दीपक के समान रहता है' ये उपमाएँ और 'स्थावर सृष्टि में हिमालय परमेश्वर की विभूति

१. का० ला० यो० पृ० ४१-४२।

है' यह कल्पना, इन सभी का उपयोग कवि ने 'कुमार सम्भव' में किया है (३।५०; ६।७७; ३।४८) ।[1]

स्मृतियों का विशेष कर मनुस्मृति का तो न केवल उसने गहन अवगाहन ही किया था अपितु उसके आदर्शों का कवि पूर्णरूप से अनुयायी था। वह भारतीय समाज में पुनः उस व्यवस्था को प्रतिष्ठापित देखने का अभिलाषी था। यह हम विभिन्न प्रसंगों में विशेष कर भारतीय संस्कृति के प्रकरण में दिखा चुके हैं। पर जैसा कि हम अभी दिखला चुके हैं कि वह उनकी सभी व्यवस्थाओं का अन्धानुमोदन करने वाला व्यक्ति न था। वह समय और परिस्थितियों के अनुरूप उनमें हेर फेर करने का पक्षपाती भी था। अपनी कला के माध्यम से उसने अनेकत्र ऐसे संकेत दिए हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों का तो कवि को न केवल गहन ज्ञान है अपितु उनकी सामग्री का उसने पर्याप्त उपयोग किया है। मेघदूत में तथा रघुवंश में रामायण का, शाकुन्तल में महाभारत का तथा सभी रचनाओं में पुराण साहित्य का निकट परिचय स्वयं स्पष्ट है। उनके पौराणिक ज्ञान का निरूपण उनके द्वारा चित्रित मानवेतर पात्रों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया गया है। इतना ही नही उन्हें तो पौराणिक परम्परा की कुछ ऐसी बातों का भी पता था जो कि पुराणों के वर्तमान रूपों में नहीं पाई जाती हैं। इसका भी कुछ निर्देश हमने उसी प्रकरण में कर दिया है।

प्राचीन काल में शास्त्रज्ञान की पूर्णता के लिए अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का अध्ययन भी आवश्यक समझा जाता था और कवि बनने के लिए नाट्यशास्त्र का ज्ञान भी परमावश्यक था। इन सभी शास्त्रों की एक बहुत दीर्घ परम्परा के होने के संकेत मिलते हैं। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कालिदास ने उपर्युक्त शास्त्रों के जिन ग्रन्थों से तत्तद्विषयक ज्ञान प्राप्त किया था वे चाणक्य, वात्स्यायन तथा भरत के नाम से उपलब्ध आधुनिक ग्रन्थ ही थे। जो भी हो कालिदास को इन सभी शास्त्रों का बहुत अच्छा ज्ञान था इसमें कोई सन्देह नहीं।

'मालविकाग्निमित्र' (अंक १) में कवि ने 'तत्काल राज्यारूढ़ हुए शत्रु का नाश करना बहुत सरल है' इस प्रसंग में 'शास्त्र' और

---

१. कालिदास वा० वि० मिराशी पृ० ८०।

'तन्त्रकार' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार 'कुमारसम्भव (३।६) में शुक्रनीति का उल्लेख किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि कवि का कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य राजनीति विषयक ग्रन्थों से भी परिचय था। 'रघुवंश' में अतिथि की दिनचर्या तथा राजनीति विषयक व्यवस्थाओं के निरूपण में कवि ने अपने राजनीतिक ज्ञान का अच्छा प्रदर्शन किया है। इसके अतिरिक्त राजकुमारों की दीक्षा (रघु० ३।३०; ३।३५, ८।३३); राजा के लिए निषिद्ध कर्म (रघु० ९।७), राजा के लिए अनुमोदित मृगया (रघु० ९।४९; शाकु० २।४–५) राजा के आवश्यक गुण (रघु० १।५—९, २१—२५; ८। ८।३१; १७।३१; ४५,५७; ४।१२, १।६२—६३; शाकु० ५।४—७), राज्य की प्रमुख शक्तियों (रघु० १७।६३)—प्रभु शक्ति (८।१९), मंत्र शक्ति (१७।५०), उत्साह शक्ति (कुमार० १।२२) का निरूपण, राजनीति के चार अङ्ग (रघु० १७।५८), छः गुण (रघु० १७।६७), राजा के प्रमुख कर्त्तव्य (रघु० १।२४) मंत्रिपरिषद् (माल० अंक ५) (अग्निमित्र, पुरुरवस्, दुष्यन्त, दिलीप आदि की मंत्रिपरिषद् थी जो कि उनकी अनुपस्थिति में राज्य का सचालन किया करती थी), युद्धनीति (रघु० ८।९ माल० १।८), दूतचार (१७।४८,५१) आदि का विधिवत् उल्लेख उनके राजनीतिक ज्ञान की पुष्टि करता है। कहीं-कहीं तो कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र के वचनों के साथ उनकी उक्तियों का आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है जोकि उसके अति गहन ज्ञान का ही द्योतक होगा।[1] पर कहीं-कहीं इस में कालिदास ने

१. (क) (i) अग्न्यागारगतः कार्यं पश्येद्वैद्यतपस्विनाम्।
पुरोहिताचार्य सखः प्रत्युत्थायाभिवाद्य च ॥ कौ० अर्थ० ॥

(ii) द्रष्टव्य शाकु० के पंचमाक में दुष्यन्त द्वारा कण्व शिष्यों का स्वागत।

(ख) (i) धर्मार्थाविरोधेन काम सेवेत।···एकोह्यत्यासेवितो धर्मार्थ-कामानर्मितरौ च पीडयति ॥ कौ० विनयाधिकारिकम् ॥

(ii) न धर्ममर्थकामाभ्यां बवाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ रघु १७।५७ ॥

(ग) (i) वृत्त चौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुंजीत। कौ० अर्थ० ॥

(ii) स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥
रघु० ३।२८ ॥

इसके विपरीत अपनी स्वतंत्र राजनीतिक धारणाओं का उल्लेख भी किया है। कौटिल्य ने मंत्रशक्ति को प्रथम, उत्साह को द्वितीय तथा प्रभुशक्ति को तृतीय स्थान दिया है। पर कालिदास इनके पृथक् पृथक् महत्त्व के पक्षपाती नहीं हैं। वे इनके सम्मिलित प्रयोग के हामी प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार केवल कूटनीति का प्रयोग कायरता है, तो शक्ति-प्रयोग से रक्त रंजन करना पशुता। इन दोनों के सम्मिलित प्रयोग से ही शत्रु को जीतने की नीति अधिक उपयुक्त है :—

कातर्यं केवला नीतिःशौर्यंश्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धि समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥ रघु० १७।४७ ॥

प्राचीन काल में कवियों के लिए, विशेष कर शृङ्गार रस की कविता वा काव्य रचना करने वाले कवियो के लिए वात्स्यायन अथवा इससे पूर्ववर्ती किसी अन्य आचार्य के 'कामशास्त्र' का अध्ययन उतना ही आवश्यक समझा जाता था जितना के नाट्यशास्त्र का। कालिदास ने भी लगता है वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' का बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया था। उनकी रचनाओं में उसका प्रभाव बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। कही-कहीं तो विवरणों, शब्दों तथा वाक्यों की भी आश्चर्यजनक साम्यता देखने में आती है। यहाँ तक कि शाकुन्तल का प्रसिद्ध पद्य **'शुश्रूषस्व गूरून्०'** इत्यादि कामसूत्र के एक पद्य का शब्दशः सरस निबन्धन ही प्रतीत होता है।[१] ऐसे ही 'रघुवंश' के **'आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी** (७।२२)' में कामसूत्र के **'कन्यास्तु प्रथम समागमे स्विन्नाङ्गुलिः नम्रमुखी च भवति। पुरुषस्तु रोमांचितो भवति।'** की प्रतिच्छाया स्पष्ट ही दीखती है। इसी का कुछ परिवर्तित रूप 'कुमार सम्भव' के **'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्** (७।७७) में भी परिलक्षित होता है। शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में दुष्यन्त-शकुन्तला और उसकी सखियों के संसर्ग में घटित सारा प्रकरण ही कामसूत्र के 'कन्या संप्रयुक्तक' अधिकरण की ही सरस व्याख्या सा लगता है।

---

१. श्वश्रू श्वसुर परिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता।
भोगेष्वनुत्सेकः परिजने दाक्षिण्यम्।
नायकापचारेषु किंचित्कलुषतानात्यर्थं निवदेत् ॥ का० सू० ॥

यक्षपत्नी तथा शकुन्तला के विरही जीवन के चित्रण में कामसूत्र में वर्णित रूपों से अति निकटता पाई जाती है। कामसूत्र के नायक 'नागरक' का आदर्श भी कवि के सम्मुख बराबर रहा है।[1] इसके अतिरिक्त सामाजिक मान्यताओं, लोक-विश्वासों, कला-विलास आदि के चित्रणों में भी कामसूत्र ही कवि का पथनिदेशक वा आदर्श रहा है इससे निषेध नही किया जा सकता।

कालिदास को भरतकृत 'नाटचशास्त्र' का अच्छा ज्ञान था यह इसी से सिद्ध है कि उन्होने स्वयं 'विक्रमोर्वशी' में नाटचशास्त्र के उस प्रसग का उल्लेख किया है जिसके अनुसार भरत मुनि ने सर्व प्रथम अप्सराओंके द्वारा स्वग में 'अष्ट रसात्मक' नाटक 'लक्ष्मी स्वयंवर' का अभिनय कराया था।[2] अपने इस ज्ञान का कितना सुन्दर क्रियात्मक प्रदर्शन कालिदास ने अपने नाटकों की रचना मे किया है। यह तो स्वय सिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त एक और भी बात है। जो कि नाटचशास्त्र के साथ कालिदास के निकट परिचय के विश्वास को दृढ़ करती है। वह यह कि इसमें परस्पर सम्बोधन में, देव, महिषी, देवी, महादेवी, हला. हञ्जे आदि शब्दों का प्रयोग उसी रूप में हुआ है जिस रुप में कि नाटचशास्त्र में इनका विधान किया गया है।

इन प्रमुख शास्त्रों के अतिरिक्त कालिदास को उस युग में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनुरूप शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि की तथा ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रन्थों की भी शिक्षा अवश्य मिली थी।

गृह्यसूत्रों मे विहित कर्मकाण्ड का ज्ञान कवि को व्यक्तिगत रूप से था यह उनके द्वारा वर्णित शिव-पार्वती (कुमार० सर्ग ७) तथा अज-इन्दुमती (रघु० सर्ग७) के विवाहो के सविवरण वर्णनों को देखने से प्रत्यक्ष हो जाता है। विवाह के उपरान्त पति-पत्नी को कम से

---

१. (i) साधु आर्य ! नागरकोऽसि। (विक्रम०)

(ii) अन्यत्सक्रान्तप्रेमाणो नागरका अधिकं दक्षिणा भवन्ति।
(विक्रम०)

(iii) नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् (शाकु० अक ५)

२. मुनिना भरतेन य: प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्यभर्ता मरुता द्रष्टुमनाः सलोकपाल:।
॥ विक्रम० ३।१७॥

कम तीन रात तक ब्रह्मचर्य का पालन तथा भूमिशयन करना चाहिए इस गृह्यसूत्राभिमत सिद्धान्त का निदर्शन कवि ने शंकर-पार्वती के विवाहोपरान्त कुमार सम्भव (७।८६) में किया है। इसी प्रकार अन्य संस्कारों के प्रसग में भी उनके इस ज्ञान की झाँकी देखने को मिलती है। किन्तु यहां विस्तार के लिए अवकाश नही।

व्याकरण शास्त्र का अध्ययन तो उस युग में सभी के लिए महत्त्व रखता था। कालिदास ने न केवल पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया था अपितु उस पर लिखे गए पतजलि के महाभाष्य का भी उन्हें निकट से परिचय था यह कुमार सम्भव के उस पद्य से स्पष्ट हो जाता है जिसमें कि उन्होने महामाष्यकार द्वारा विहित सिद्धान्त 'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्ति' को लगभग उसी रूप मे 'प्रवृति-रासीच्छब्दानां चरितार्थां चतुष्टयी (२।१७) कह कर उपस्थापित किया है। इसके अतिरिक्त उसने उमा, रघु अज, दशरथ आदि शब्दों की व्युत्पत्ति में तथा 'धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्यवेश-यत्' (रघु० १२।५८) 'अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः' (वही १५।७), 'अपवादैरिवोत्सर्गा; कृतव्यावृत्तयः परैः '(कुमार० २।२७), 'पश्चादध्यनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्' (रघु०१५।९) इत्यादि की उपमाओं में अपने व्याकरण ज्ञान की जिस सूक्ष्मता का परिचय दिया है उससे उसके गहन व्याकरण ज्ञान में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

उनके शास्त्र ज्ञान के सम्बन्ध में इतना और भी जान लेना अपेक्षित है कि उन्हें ज्योतिष, आयुर्वेद धनुर्वेद आदि विषयों का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होने कई स्थानों पर इन विषयों के व्यावहारिक ज्ञान का परिचय दिया है। जामित्र (कुमार० ७।१), उच्चस्थ ग्रहयोग (रघु० ३।१३), विजय यात्रा में वर्ज्य ग्रहयोग (कुमार० ३।४३) मैत्र मुहूर्तयोग (वही ७।६) मंगल का वक्रगति से पूर्व राशि पर प्रत्यावर्तन (माल० अंक ३) विशाखा और चन्द्र का योग (शाकु० ३) आदि का उल्लेख स्पष्टतः उसके ज्योतिष् विषय ज्ञान का परिचायक है। ऐसे ही धनुर्वेद (रघु० ३।५२) आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित उक्तियाँ भी उनके काव्यों एवं नाटकों मे घुली मिली पड़ी हैं।

भारतीय ज्ञान भण्डार की अन्य शाखाओं के समान ही आगमों और तन्त्रों ने भी कालिदास के व्यक्तित्व के निखार मे योगदान

किया था यह उनके द्वारा प्रयुक्त 'करण' आदि अनेक आगम शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने अनेकत्र ऐसे अशों की ओर सकेत किया है।

कालिदास को इन विविध शास्त्रों का ज्ञान था इसमें सन्देह नही, पर इस प्रकार का ज्ञान मात्र ही कवि के व्यक्तित्व के निखार के लिए पर्याप्त न था। इन्होंने उसके व्यक्तित्व को गाम्भीर्य अवश्य प्रदान किया पर उसमें निहित कलाकार को उभारने तथा निखारने में प्रमुख हाथ है उनकी सहजात भावुकता, हृदय की निर्मलता, निरीक्षण की सूक्ष्मता, ललित कलाओं से प्रेम तथा मानव मन की अद्भुत परख का। यही वे तत्त्व थे जिन्होंने कि उसके ज्ञान को कला के मनोरम आवरण में प्रस्तुत करने में साहाय्य प्रदान किया, कालिदास के व्यक्तित्व का वास्तविक निर्माण किया।

यह तो सभी जानते हैं कि कवि का हृदय सामान्य जन के हृदय से अधिक कोमल, निर्मल एवं भावनाशील होता है।

भावुकता

उसमें बाह्य जगत् के रूपों का प्रतिबिम्बन अधिक शीघ्र एवं स्पष्ट रूप से होता है। कालिदास का हृदय भी अत्यधिक भावुक था यह हम उनके द्वारा किए गए विभिन्न भावों एवं रसों के प्रसंग में देख सकते हैं। मेघदूत, अज विलाप, रतिविलाप, सीता परित्याग, शकुन्तला की विदाई आदि के अवसरों पर उनका हृदय किस प्रकार द्रवित हो उठता है यह स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

सौन्दर्य का तो यह कवि अनन्य उपासक ही है। इस समस्त सृष्टि में सौन्दर्य का तो शायद ही कोई ऐसा रूप हो जो कि इस सौन्दर्य-पारखी कवि की दृष्टि से बच सका हो, स्वर्ग और पृथवी का कोई ऐसा पदार्थ नही जिसके सौन्दर्य को इस व्यक्ति ने न देखा, परखा हो। उज्जयिनी का निरूपण करते हुए वह वहां की 'लोलापाङ्गियों', 'उद्यान परम्पराओं' एव च 'शिप्रा के शीतल तटों के रमणीय बिहार' को कभी नहीं भूल सकता। मानव, पशु, पक्षी, लता-वृक्ष आदि सभी का अपना-अपना सौन्दर्य है। कालिदास ने उसे उसके सहज रूप में देखा है तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस विषय में उनकी सौन्दर्य भावना पर विचार करते हुए पर्याप्त प्रकाश डाला जा रहा है। अतः उसे वहीं देख लेना उचित होगा।

ललित कलाओं में संगीत कवि को अत्यधिक मुग्ध करता हुआ प्रतीत होता है। उनकी रचनाओ में संगीत के दोनों ही पक्षों-वाद्य संगीत तथा कण्ठ संगीत का निकट परिचय प्राप्त होता हैं। 'रघुवंश', 'कुमार सम्भव' तथा 'मेघदूत' में कवि ने स्पष्ट रूप से वीणा आदि तन्तु वाद्यों से अपना परिचय व्यक्त किया है।[1] इसी प्रकार चर्मवाद्यों में कवि ने मृदग और नगाड़े जैसे वाद्यों के प्रति अपना अधिक मोह व्यक्त किया है।[2] तथा च इसके अतिरिक्त तूर्य, रन्ध्र आदि वाद्यों का वर्णन भी उनकी रचनाओं में बराबर पाया जाता है।[3] वाद्य संगीत से सम्बन्धित उपर्युक्त प्रसंगों को निकट से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमारे कवि का यह ज्ञान केवल परिचयात्मक ही नहीं अपितु व्यावहारिक भी है। यों तो कविता भी स्वयं संगीत है, ताल और लय का सामञ्जस्य है; पर कालिदास इस संगीत के पारखी एवं रसज्ञ भी थे, उनकी इस रुचि ने उनके व्यक्तित्व को और भी अधिक सरसता प्रदान की थी, इसमें सन्देह नहीं। उनकी रचनाओं में इसकी स्पष्ट छाप है।

कला-प्रेम

वाद्य संगीत के समान ही कण्ठ संगीत से भी कवि का निकट परिचय प्रतीत होता है। मालविकाग्निमित्र', 'मेघदूत', 'शाकुन्तल', 'कुमारसम्भव', 'विक्रमोर्वशी', 'रघुवंश' आदि सभी रचनाओं में न केवल संगीत के सौन्दर्य एव प्रभाव का उल्लेख है अपितु संगीत की पारिभाषिक शब्दावली-मूर्च्छना, ध्वनि, वर्णपरिचय, षड्ज-मध्यम आदि स्वर आदि का भी उल्लेख पाया जाता है।[4] जोकि कवि के संगीत ज्ञान का सम्यक्

---

१. द्रष्टव्य—रघु० ८।३५; कुमार०; ८।८५; मेघ० पूर्व ४६, उत्तर० २६; रघु० १६।१३।

२. मेघ० पूर्व, ३८; उत्तर० १,५; रघु० १९।१४; 'मेघ गर्जन से अनेकत्र उपमा' माल० १।२१।

३. द्रष्टव्य—रघुजन्म, इन्दुमती स्वयंवर, अतिथि का राज्यारोहण आदि।

४. शाकु० १।४; माल० २।४; शाकु० ५।१; कुमार० ५।५६; रघु० १५।६३–६६ अपि च—स्वयमपि कृता मूर्च्छनां विस्मरन्तीम्; षड्ज संवादिनी केका; जाने तत्र भवती हंसपदिका वर्ण परिचय करोति, इत्यादि।

परिचायक है । असम्भव नहीं कि कालिदास स्वयं एक बहुत अच्छे गायक रहे हों। प्रकृति ने मधुर प्रतिभा के साथ मधुर कण्ठ भी उन्हें प्रदान किया हो । उनकी शब्द साधना और स्वर साधना साथ-साथ चली हों। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में कवि ने संगीत नाटिका की जो अपूर्व योजना की है वह उसके सगीत ज्ञान पर अच्छा प्रकाश डालती है । इसमें उसने द्विपदिका, जलम्भिका और खण्डधरा नाम से तीन विशिष्ट गीतियों का निबन्धन किया है । असम्भव नही कि तत्कालीन लोक गीतों की माधुरी से प्रभावित होकर उन्ही के आधार पर कवि ने इनकी रचना की हो। ये गीत स्वयं उसकी प्रतिभा की देन है।

नृत्य-कला के विषय में भी कालिदास का ज्ञान बहुत परिपक्व था ऐसा आभास सहज ही होने लगता है उनके मालविकाग्निमित्र के वर्णनों को पढ़कर (माल० २।३।६।८)। यद्यपि नृत्य का संकेत अन्य रचनाओं में भी यत्र-तत्र पाया ही जाता है पर ऐसा बिम्बग्राही वर्णन करने का अवसर कवि को अन्यत्र नहीं मिल सका है।

चित्र-कला में तो कवि स्वयं भी कुशल प्रतीत होता है। सच पूछा जाय तो ललित कलाओं के निरूपण में जितना अधिक स्पष्ट एवं विविधात्मक निरूपण चित्र कला का हुआ है उतना और किसी का नहीं। कवि की कोई भी ऐसी रचना नहीं जिसमें कि इसका उल्लेख नही हुआ हो। भित्ति-चित्रों, उत्कीर्ण-चित्रों तथा मूर्तियों आदि अनेक रूपो में यह निरूपण पाया जाता है । इनके अनेक प्रमुख पात्र दुष्यन्त, पुरुरवा, यक्ष, यक्षपत्नी, अग्निवर्ण आदि चित्रकला में बड़े निपुण दिखलाए गए है। मेघदूत में अलका के भवनों में पाए जाने वाले भित्ति चित्रों का वर्णन तो है ही (**सेन्द्रचापं सचित्राः**) पर साथ ही बादलों की नमी के कारण उनके रंगों के विकृत हो जाने का भी उल्लेख है (**आलेख्यानां नवजलकणैर्दोष मुत्पाद्य सद्यः**)। उसका नायक यक्ष शिलातल पर गेरुए से अपनी प्रणय-कुपिता प्रेयसी का चित्र खींचता है (**त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्**) तो उसकी विरह विधुरा नायिका अपने

भावानुरूप अपने प्रिय का विरह-कृश चित्र अंकित करने का यत्न करती है (मत् सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।) कवि को बचपन से ही चित्र-कला का शौक था इसका परिचय इसी से मिल जाता है उसने अपने प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र के कथा विकास में इससे बहुत कुछ सहायता ली है। इसका नायक अग्निमित्र मालविका के चित्र को देख कर ही उसके रूप और यौवन पर मुग्ध होता है और उसे पाने के लिए सचेष्ट हो उठता है। ऐसे ही राजा को एक चित्र मे इरावती की ओर देखते हुए देखकर मालविका के हृदय में उसके लिए ईर्ष्याभाव जागृत होता है। इसकी राजमहिषी धारिणी भी चित्र-कला के प्रति अपना अनुराग रखती है।

चित्रकला के आधार पर कथा वस्तु के विकास की इसी प्रवृत्ति को कवि ने शाकुन्तल में भी बराबर बनाए रखा है। शाकुन्तल के छठे अंक में (६।१७) कवि ने परित्याग-संतप्त दुष्यन्त के द्वारा अधूरे चित्र को पूर्ण करने के लिए वर्णन के माध्यम से चित्रकला विषयक अपने ज्ञान का जो सूक्ष्म परिचय दिया है वह उसे एक सिद्धहस्त चित्रकार प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। सम्पूर्ण चित्र की पृष्ठभूमि, भावभूमि व चित्रांकन की व्यवस्था का जो सूक्ष्म निरूपण तथा इस प्रकार के चित्र को देखकर दर्शक के द्वारा की जा सकने वाली भावाभिव्यक्ति का जो रूप यहां पर व्यक्त हुआ है। वह केवल किसी कलाकार की वाणी से ही सम्भव हो सकता है।

इसी प्रकार 'रघुवंश' में भी अयोध्या के चित्रण में कवि ने वहां के भित्तिचित्रों (१६।१६) तथा उत्कीर्ण चित्रों (१६।१७) का जो जीवन्त चित्रण किया है वह भी केवल किसी कलाकार की लेखनी से ही सम्भव हो सकता है।

'कुमारसम्भव' में पार्वती के उभरते हुए यौवन की जो उपमा कवि ने तूलिका के रंगों से खिल उठने वाले रेखा चित्र से दी

१. (क) द्रष्टव्य—शाकु० ६। विदूषक-साधुवयस्य! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।

(ख) सानुमति-अहो राजर्षेनिपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।

है।[1] उसके बारे में आलोचकों का विचार है कि "तूलिका से जैसे चित्र खिल उठता है।' यह उपमा कवि को उसके स्वयं चित्रकार हुए बिना कभी न सूझती।"[2]

इसके अतिरिक्त कवि को चित्रकला का विशेष ज्ञान था तथा इसमें उसकी विशेष रुचि थी यह इस बात से भी सिद्ध होता हैं कि उसने अपनी रचनाओं में अनेकत्र अपनी कला विषयक आस्थाओं एवं मान्यताओं को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। आलोचकों का विचार है कि शाकुन्तल के १।२२ पद्य (चलापाङ्गां दृष्टिम्०) में कवि ने कला और विज्ञान के अन्तर को स्पष्ट किया है।[2] ऐसे ही उसका विचार है कि तत्त्वान्वेषी व्यक्ति सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकता (विक्रम० १।१०), कला का प्रथम साक्षात्कार कलाकार के अन्तर्मानस में होता है पुनः वह उसे स्थूलरूप में रूपायित करता है, (शाकु० २।९)। उच्चकोटि की कला सृष्टि के लिए कलाकार का पूर्णमनोयोग अत्यन्त आवश्यक है। शिथिल समाधि' की स्थिति में उत्कृष्ट कला की सृष्टि सम्भव ही नहीं (माल० २।२), कालिदास का यह भी कथन है कि दिव्य कला की सृष्टि सामान्य भावभूमि पर नहीं हो सकती (शाकु० १।२८)।

कालिदास के चित्रकला विषयक इन्हीं सब संकेतों को देखकर ही तो आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी कहते है—

"कालिदास ने इतने स्पष्ट रूप में कला के विषय में जो इंगित दिए है, वे सिद्ध करते हैं कि वे सफल चित्रकार भी थे। जो व्यक्ति स्वयं चित्रांकन का कार्य नही करता वह ऐसे इगित भी नही दे सकता।"[3]

---

१. उन्मीलितं तूलिकयैव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूवतस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ कुमार० १।३२

२. द्रष्टव्य—के. ल. आगले. 'कालिदास आणि चित्रकला' पृ० ३५७ उद्धृत-वी. वी. मिराशी कालिदास पृ० ८७।

३. द्रष्टव्य - का० ला० यो० पृ० ९७।

इन सभी ने मिल कर कालिदास के व्यक्तित्व का निर्माण किया इसमे सन्देह नही, पर इन सब से बढ कर जिन गुणों ने कालिदास के व्यक्तितव में चार चांद लगाए वे थे प्रकृति से प्राप्त कुछ सहज गुण, इन्ही में से एक था सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति। प्रकृति की ओर से ही उसे ऐसी पैनी दृष्टि मिली थी कि वह स्थूल वस्तु के भी भीतर प्रवेश करके उसके वास्तविक रूप का निरीक्षण कर सकती थो, किसी रूप, स्थिति एवं गति का कैसा याथातथ्य एवं सजीव चित्रण कालिदास अपने शब्दों में उतार सकते हैं इसके अनेकों ही उदाहरण शाकुन्तल में देखे जा सकते है। उनकी दृष्टि बहुत ही तीव्र थी, किसी भी स्थिति के मानव के मनोभावों को समझने में उन्हें देर नहीं लगती थी और उसका विश्लेषण भी वे अद्भुत तथा यथार्थ रूप से कर डालते थे।

सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति

वस्तुतः "कालिदास मनोभावों के सूक्ष्म पारखी थे, इंगितों, चेष्टाओं द्वारा आन्तरिक भावों को पहचानने, परखने की गजब शक्ति उनमें विद्यमान थी। स्वयंवर के समय राजकुमारी इन्दुमती तरुण अज को देखते ही उ ..र आसक्त हो जाती है, किन्तु लज्जावश वह अपना अनुराग प्रकट नही कर सकी। उसका प्रणय, अनुराग जबरदस्ती रोमांच के द्वारा शरीर से फूट पड़ा और छिपाये न छिप सका।[1] प्रणय को प्रकट करने या जगाने में दृष्टिनिक्षेप, आँखों का अनुभव एक मुख्य कारण और साधन होता है। प्रणयी के शरीर और हृदय में उस समय जो पुलक भर जाता है वही रति का सात्विक भाव माना जाता है। प्रसिद्ध है कि अनुराग की भाषा मौन होती है। समझदार अनुरागी प्रणयी जोड़े इशारों द्वारा एक दूसरे के मनोभावों को समझ लेते हैं। स्त्रियों के गूढ प्रणय भावों को पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां बहुत जल्दी भाप लेती है। अज को देखते ही इन्दुमती जब चुपके से उस पर आत्म समर्पण कर देती है तो उसे स्वयंवर समा मैं बैठे हुए राजा गण नहीं समझ पाए, किन्तु इन्दुमती की सहचरी सुनन्दा तुरन्त भांप लेती है और चुटकी लेती हुई

---

१. सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्ध, शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमांच लक्ष्ये ...त्रयष्टि, भित्त्वा निरक्रामदरालकेश्या:।
॥ रघु ६।८१॥

कहती है कि 'आगे बढो राजकुमारी।' इन्दुमती को उसकी यह बात खल जाती है; वह व्यक्त रूप से कुछ नहीं कहती पर वक्र भ्रकुटियों से, सुनन्दा की ओर देखती है।[1] उसकी इस तिरछी चितवन में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है जिसे सुनन्दा ही समझ सकी।"[2] मनोभावों की स्थिति एवं क्रिया-प्रतिक्रिया को कालिदास की दृष्टि ने कितने याथातथ्य रूप में देखा तथा अभिव्यक्ति प्रदान की है कि इसे कोई मनोविश्लेषक ही बता सकता है।

ऐसी ही मनोदशा का एक जीवन्त चित्र कवि ने 'कुमार सम्भव' में भी खींचा है। भगवान् शंकर तथा पार्वती जी विवाह मण्डप में बैठे है, पाणिग्रहण की विधि सम्पन्न की जा रही है। गुरुजन भी पास में ही हैं, प्रणयी हृदय एक दूसरे को नजर भर कर देखने के लिए अकुला रहे हैं पर गुरु जनों की उपस्थिति के कारण लज्जावश ऐसा कर नहीं पा रहे है। साथ ही उत्कण्ठा की प्रबलता भी इतनी अधिक है कि उसे दबाने का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वह प्रिय और प्रिया के नयन कोरों से बरबश ही झलक पड़ रही है।[3] हृदय की लालसा तथा अनुराग का कैसा निरूपण है! छिपे छिपे आखें चार होती तो हैं पर लज्जा के कारण फिर झट से झुक जाती हैं, अपने आराध्य प्रिय को अप्रत्याशित रूप से अपने समक्ष पाकर पार्वती की मनःस्थिति किस प्रकार की हो गई थी (कुमा० ४।७५), पतिंवरा इन्दुमति के आगे बढ जाने पर पीछे छूटने वाले राजाओं की मनःस्थिति किस प्रकार की हो जाती थी (रघु० ६।६७) तथा आगे आने वाले की क्या दशा हो जाती थी (रघु० ६।१२-१९) इस का निरूपण कालिदास की सूक्ष्मेक्षिका का ही परिचायक हैं। किस प्रकार प्रेम घृणा मे तथा नम्रता धृष्टता में परिवर्तित हो जाया करती है इस की सुन्दर अभिव्यक्ति विक्रमोर्वशीय में हुई है (विक्रम० २।२० तथा पश्चात्)।

---

१. तथागतायां परिहासपूर्वं, सख्या सखीवेत्रभृदावभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत् इत्यथैनां वधूरसूया कुटिल ददर्श ॥ रघु० ६।८२ ॥

२. देवदत्त शास्त्री, कालिदासः पृ० ११६-११७,

३. तयो समापत्तिषु कातराणि, किंचिद् व्यवस्थापित-संहृतानि ।
ह्रीयन्त्रणा तत्क्षणमन्वभूवन्, अन्योऽन्य लोलानि विलोचनानि ।
॥ कुमार० ७।७५ ॥

दमित मनोभाव तीव्रतर होकर उभरते हैं, ईर्ष्या से अभिभूत मन को शान्त करने की चेष्ठा उसे और अधिक भड़काती है, इस मनोभाव का निरूपण भी कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में गणदास तथा हरदत्त की प्रतिद्वन्द्विता के प्रसंग में खूब अच्छी तरह दिखाया है। यह कवि मनोभावों के विश्लेषण में कितना सूक्ष्मदर्शी है इसका निरूपण हम उसके 'मेघदूत' एवं 'शाकुन्तल' के विश्लेषण में तथा उसकी सूक्तियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में कर ही रहे है अतः उसे वहीं देख लेना उचित होगा।

व्यक्तिगत अनुभूतियाँ

कालिदास के व्यक्तित्व के निर्माण में जितना योग उनके गुरुकुलावास, विद्याध्यन तथा शास्त्र-ज्ञान का है उससे भी अधिक योग उनके स्वयं उपार्जित ज्ञान एवं अनुभव का लगता है; कवि को बचपन से ही घूमने-फिरने तथा विभिन्न प्रदेशों के जनजीवन तथा प्राकृतिक जीवन को देखने-समझने का बड़ा शौक था। वह हमारे युग के प्रसिद्ध घुमक्कड़ राहुल जी की भांति प्रथम कोटि का घुमक्कड था। उसने स्वयं इस देश के विभिन्न प्रदेशों के नद-नदी, सर-सरोवर, वन पर्वत, नगर-नगरियों को देखा था, विवध प्रकार के प्राकृतिक रूपों एवं उनकी लीलाओं को देखा था, विभिन्न प्रकार के लोगों से सम्पर्क स्थापित किया था, उनके जीवन तथा स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। इतना ही नहीं अनेक प्रकार के संकटों एवं उत्सवों के क्षणों की अनुभूतियों को भी संजोया था। हिमवान् की शिवालिक पर्वत ऋृखला के तो वह जैसे चप्पे-चप्पे से परिचित था। उसके प्राकृतिक सौन्दर्य तथा ऋतु परिवर्तन ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया था। यहां की किन्नर-कुमारियों की मधुर कण्ठ ध्वनियों पर तो जैसे वह लटटू था। इसलिए वह अपनी रचनाओं में इस प्रदेश का वर्णन करते हुए अघाता नहीं। असम्भव नहीं कि 'पार्वती की इन्हीं संगीत सखियों' के गीतों की मधुर धुनों से प्रभावित होकर उन्हीं लोकगीतो की लय में उसने विक्रमोर्वशीय के गीतों का निबन्धन कर डाला हो। अपनी प्रथम रचना 'ऋतु संहार' में कवि ने भारतीय ऋतुचक्र के जिन रूपों का निरूपण किया है वे भी हिमालय की इन तलहटियों में ही अधिक सम्भव हो सकती हैं। इन में ही कवि ने कहीं कहीं अपनी यात्रा के कष्टों का भी निबन्धन कर डाला है।

खैर, यह प्रदेश तो उसकी मुख्य क्रीडा भूमि रहा ही, पर उसने भारत के पूर्वी और दक्षिणी अचलों की भी यात्रायें स्वयं की थी इसमें सन्देह नहीं। वंग प्रदेश की शालि समृद्धि को, ताम्रपर्णी की मुक्ता समृद्धि को, कलिङ्ग की ताम्बूल एव नारिकेल समृद्धि को, मारीचोद्भ्रान्तहारीत मलयाद्रि की ऐला एवं चन्दन समृद्धि को, फारस की द्रक्षावलयभूमि को, सिन्धु (वंक्षु) के तट की केसर समृद्धि को, तथा कामरूप की कालागुरु समृद्धि को उसने स्वयं देखा था ऐसा उन वर्णनों को पढ़ने से लगता है। जो भी हो कालिदास का तात्कालिक भौगोलिक ज्ञान बहुत समृद्ध था इसमें किसी प्रकार का वैमत्य नही हो सकता। उनके वर्णन तथ्य के कितने निकट होते हैं यह कई विद्वानों के द्वारा कई प्रकार से सिद्ध किया जा चुका है।[१] हिमालय के तो उन दर्रों का भी उन्हें पता था जिनसे होकर लोग उस समय तिब्बत की ओर जाया करते थे।[१]

अस्तु अपने विस्तृत ज्ञान एवं अनुभव के साथ सहज रूप से प्राप्त व्यापक तथा सूक्ष्म दृष्टि के अक्षय संबल को लेकर कालिदास ने काव्य जगत में पदार्पण किया था। सारा चराचर विश्व उनके सामने हस्तामलककवत् रहा होगा। उज्जयिनी के राजसी बैभवों के बीच जीवन विताने से पूर्व युवा कवि न जाने कितनो रातें खुले आकाश के नीचे, नदियों के किनारे, पर्वत की चोटियों, बीहड़ वनों तथा निर्धन कृषकों की कुटियाओं में बिता चुका था। उसे अपने काव्य के कलेवर को सजाने के लिए तथा उनमें प्राण प्रतिष्ठा करने के लिए जीवन और जगत् के किन्हीं रूपों को ढूढने जाने की आवश्यकता न थी। इन्दुमती स्वयंवर में उसने अङ्ग नरेश के लिए जो कुछ कहलवाया है।[२] वह स्वयं उसके जीवन में भी चरितार्थ था। सौभाग्य ने इस मनस्वी यथा महत्त्वाकाँक्षी ब्राह्मणकुमार में श्री और सरस्वती का अपूर्व संयोग दिखाया था।

---

१. द्रष्टव्य—बी० एस० उपाध्याय: इंडिया इन कालिदास, बी० सी० लॉ कालिदासेर पारवी, इत्यादि।

२. निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च॥ रघु० ६।२९

उज्जयिनी के राजदरबार में कालिदास की सरस्वती का सम्मान हुआ तथा 'श्री' ने उसके चरण चूमें थे इसमें तो संशय ही नही। पर इस सम्मान और समृद्धि को पाकर भी कवि को न किसी प्रकार का घमंड हुआ और न अभिमान ही। यह उसके व्यक्तितत्व का सबसे महान् तत्त्व कहा जा सकता है। उसने अपनी रचनाओं में कहीं भी आत्मश्लाघा को अवकाश नही दिया। न भवभूति की भांति '**यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते**' कह कर सरस्वती की कृपा पर तथा न श्रीहर्ष की भांति '**ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्**' कह कर लक्ष्मी की कृपा पर किसी प्रकार आत्मश्लाघा को अभिव्यक्ति दी। इसके विपरीत हम उसे रघुवश के प्रारम्भ में अत्यन्त विनीत एवं विनम्रभाव से '**मन्दः कवि-यशः प्रार्थी**' कहते हुए पाते हैं। यहां तक कि उसने तो अपने नाटकों की प्रस्तावना में भी अपना परिचय केवल नाम संकीर्तन से अधिक नहीं दिया, अपने नाम के साथ कोई विशेषण तक नहीं लगाया। अहंभाव का तो उसके व्यक्तित्व में नामोनिशान तक नही। केवल एक स्थान (रघु० १।९) को छोडकर उसने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में कहीं प्रथम पुरुष तक का प्रयोग नहीं किया है। उसकी यह विनम्रता, अहंभावशून्यता एव आत्मश्लाघा से विरति उसके व्यक्तितत्व में चार चांद लगा देती है।

अहभाव शून्यता

उनकी सूक्तियों का विश्लेषण करने से उसके व्यक्तित्व के अनेक पक्षों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपनी आस्थाओं एवं विश्वासों को इनमें समेट कर रख दिया है। विनम्र होते हुए भी उनमें स्वाभिमान एवं आत्मगौरव का भाव पूर्णतया जागृत था (**याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्ध कामा**) वे बड़े गुणग्राही थे (**गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते**), गुरु, वृद्ध सेवा के प्रति आस्थावान् थे (**आज्ञागुरूणां ह्यविचारणीया**), विद्या के व्यवसाय को बुरा समझते थे (**तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति**), लोक व्यवहार कुशल थे (**काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः**), जीवन में सच्ची मैत्री को बहुत महत्त्व देते थे (**दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने**) इत्यादि बहुत सी अभिव्यंजक सूक्तियाँ हैं। इस

विश्लेषण के आधार पर ही हम सरलता से कालिदास के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की निकटतम रूप रेखा उभार सकते हैं।[1]

शारीरिक दृष्टि से भी कालिदास का व्यक्तित्व भव्य तथा आकर्षक रहा होगा ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं। हम उन्हीं के शब्दों को कुछ आगे-पीछे करके कह सकते है—'न तादृशाः गुणिन आकृति विरोधिनो भवन्ति'। कवि होने के कारण वाक्पटु तो वे रहे ही होंगे। उनकी भव्याकृति ने तथा वाणी के माधुर्य ने अवश्य ही उन्हें उज्जयिनी के लिए काम्यसुहृत् बना लिया होगा। उनके बिना गोष्ठियां तथा पार्टियां अधूरी ही समझी जाती होंगी। असम्भव नहीं वहां की 'लोलापाङ्गनाए' भी इस 'आकृति—विशेष' के दर्शनों के लिए ललकती रहती हों।

वाह्य और अन्तः सौन्दर्य

कवि का हृदय सरस और भावुक तो होता ही है पर कालिदास में शायद इसकी मात्रा कुछ अधिक थी। हम प्रारम्भ से ही उसे संवेदनशील पाते है। ऐश्वर्य और विलास के बीच पलने पर भी उसका हृदय किसी के दुःख को देखकर द्रवित हो उठता है। मेघदूत, रघुवंश (अजविलाप, सीता परित्याग), कुमार सम्भव (रति विलाप), शाकुन्तल आदि कारुणिक प्रसगों मे कवि ने अपना ही हृदय उड़ेल कर रख दिया है। यों जीवन की रंगरेलियों में भी उसे कम आनन्द नहीं आता। लोग तो उनके मधुर एव रसभरे वर्णनों को देखकर उसे शृङ्गार का ही कवि समझ बैठते है पर ऐसा करने से कवि के साथ पूरा न्याय नही हो सकेगा। इसमें सन्देह नही कि उसका मन जीवन की विषमताओं की अपेक्षा उसके मधुर—मदिर रूपों में अधिक रमता है। उसने ग्राम्य जीवन की अपेक्षा नागरिक जीवन को अधिक उभारा है। फिर भी उसकी कविता मे, राजा और धीवर, राजा और घोषी, पौराङ्गना और जनपद वधू का संकीर्तन समान लगाव के साथ होता है। उसके सम्राट भी सामान्य लोक से भिन्न नहीं यह हम उसके मानवीय दृष्टिकोण का विश्लेषक करते हुए बतलायेंगे।

उनकी दिनचर्या तथा रहन-सहन के विषय में निश्चित रूप

विशेष विवरण के लिए—

१. द्रष्टव्यः—कालिदास की सूक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

से कुछ नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक वात्स्यायन द्वारा विहित 'नागरिक' जीवन वा राजशेखर द्वारा वर्णित (का० मी०, अ० १०) कवि जीवन के आधार पर काल की मान्य परम्पराओं के अनुसार उनकी जीवनचर्या पर कुछ अनुमान किया जा सकता है।

चारित्रिक अनुमान

प्रकृति की ओर से ही कालिदास को सौन्दर्यान्वेषी भावुक हृदय मिला था, अत: उसने जीवन में सौन्दर्य और सरसता का निर्भर भाव से पान किया है। पर इसका यह भाव नहीं कि उसमे किसी प्रकार की चारित्रिक दुर्बलता थी। कवि जो कुछ काव्य और कला के जगत् मे दिखाता, सुनाता या करता है वह सब कुछ उसके व्यावहारिक जगत् में भी हो यह कोई मान्य तर्क नहीं। सात्विक जगत् के भावां और क्रियाओं को तामस जगत् के प्रकाश में देखना सगत नहीं। कालिदास रसिक अवश्य थे, सुन्दर वस्तु को देखने, कल्पित करने अथवा उसका वर्णन करने मे उन्हे विशेष आनन्द आता था पर वे चरित्रहीन कभी नही हो सकते, जैसा कि कुछ किवदन्तियों तथा उनके कुछ शृङ्गारिक वर्णनों के आधार पर उन्हें समझा जाता है। जिस व्यक्ति के प्रेम और सच्चरित्रता के आदर्श इतने ऊंचे हों कि उनकी प्राप्ति के लिए वह अपने पात्रों से बड़े से बड़ा बलिदान कराने मे भी नही हिचकिचाता। जिसकी दृष्टि में शास्त्र-सम्मत विवाह ही मान्य विधि हो[१], पातिव्रत ही नारी की सबसे बड़ी शक्ति व सौन्दर्य हो,[२] गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों का मूलाधार हो,[३] पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्मान्तरानुबन्धी हो[४], चारित्रिक दृढ़ता व पारस्परिक विश्वास मे ही कुटुम्ब व वंश का कल्याण निहित हो वह व्यक्ति स्वयं चरित्र-हीन वा शिथिल चरित्र का हो यह कैसे विश्वास किया जा सकता है? वह जोकि

---

१. द्रष्टव्य—भारतीय संस्कृति का व्याख्याता—आश्रम व्यवस्था।
(शाकु० रघु० कुमार०)

२. द्रष्टव्य—अपांसुलानांधुरिकीर्तनीया (रघु० २।२); १४।६:
शाकु० क पतिदेवतॉ·· ···

३. रघु० ५।१० सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।

४. द्रष्टव्य—कुमार० ६।९५; रघु० १४।६६ भूयो यथामे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥ मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्।

परम्परागत, गुरुकुल के संयमित जीवन से प्रशिक्षित उच्च ब्राह्मण वंश में जन्मा वह युवक चरित्रहीन नहीं हो सकता। उसने शाकुन्तल में प्रकृति के जिस प्रबल प्रभाव को दिखाया है उसका वह भी अपने यौवन में शिकार हो सकता है पर उसने कला के माध्यम से उसे जो अभिव्यक्ति दे दी है, मनोविज्ञान के अनुसार उससे उसका विरेचन हो जाने से उसके प्रभाव की न्यूनता स्वयं स्वीकार्य हो जाती है। साथ ही हमारे पास ऐसे प्रमाणों की भी कमी नहीं कि जो स्वयं आदर्श नहीं वह कैसे अपने मुँह से ऐसा उपदेश दे सकता है? तथा उसका दूसरों पर प्रभाव भी कैसे पड़ सकता है। अतः हमारा दृढ़ विश्वास है कि वेद-वेदाङ्ग पारंगत कवि उज्जयिनी के नागरिक जीवन का अंग बनने से पूर्व ही गृहस्थ का भोग कर चुका था।

कौटुम्बिक जीवन

कालिदास ने वर्णाश्रमानुमोदित गृहस्थ का पालन किया था, यह उनके काव्यों के अनेक सन्दर्भों से व्यक्त होता है। उन्होंने अनेक ऐसी उपमाओं की योजना की है तथा अनेक ऐसे भावों को अभिव्यक्ति दी है जो कि किसी गृहस्थ भोगी अनुभवी व्यक्ति से ही संभव हो सकती हैं।[1] रानी सुदक्षिणा की गर्भावस्था का चित्रण उसके निकट निरीक्षण को ही प्रतिफलित करता है। मेघदूत की अनेकों ही उक्तियां पति-पत्नी के रहस्यमय क्षणों की परिचायक हैं[2]। इसके कथानक तथा अभिव्यक्तियों मे कवि का जो आत्मपरक लगाव है उसे तो सभी स्वीकार करते ही हैं। कालिदास को कुछ अवधि के लिए अपनी पत्नी से वियुक्त होना पड़ा था ऐसा मानने में भी कोई आपत्ति नही हो सकती। केवल शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर ऐसी हृदयस्पर्शी उक्तियों की योजना नही हो सकती।

---

१. द्रष्टव्य—(अ) सदयं बुभुजे महाभुज. सहसोद्वेगमिय व्रजेदिति।
अचिरोपनता स मेदिनी नवपाणिग्रहणा वधूमिव॥ रघु० ८।७॥
(आ) दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखस्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयो पकजकोशयोः श्रियम्॥ ३।८॥
(इ) मध्येश्याम. स्तन इव भुवः शेष विस्तार पाण्डुः। पू० मेघ०॥

२. (अ) संभोगान्ते मम समुचितो हस्त संवाहनानाम्०॥ उत्तर मेघ०॥
(आ) नीबीबन्धोच्छ्वसित शिथिलं० इत्यादि।

असम्भव नहीं कि कवि को जीवन में ही पत्नी का आत्यन्तिक वियोग भी देखना पड़ा। इन्दुमती की मृत्यु पर उसने अज को जो इतना अधीर होकर रुलाया है, उसके साथ कवि की जो विशेष सहानुभूति है उसमें भी उसका कुछ लगाव सा प्रतीत होता है।

लगता है कालिदास का कौटुम्बिक जीवन विशेष सुखमय नही बीता। एक तो राज्याश्रय पाने के लिए उन्हे अधिकतम समय के लिए घर से दूर ही रहना पड़ा तथा दूसरे उनके काव्यों में पाई जाने वाली सन्तान के अभाव की आकुलता स्वयं उनकी अपनी आकुलता सी लगती है। विशेषकर उनकी अन्तिम रचनाओं—रघुवंश और शाकुन्तल में यह विशेष रूप से तीव्र हो उठी है।[१] लगता है पर्याप्त प्रौढावस्था में जाकर उन्हे संतान का मुख देखने को मिला था। इसमें सन्देह नहीं कि इस सन्तान को पाकर प्रौढकवि हर्ष विभोर हो गये थे। उसके बालरूप पर तथा उसकी बाल-लीलाओं पर वे बलि-बलि जाते थे। उसकी बाल चेष्टाओं को देखकर तथा उसे अपनी गोद में खिलाकर वे निहाल हो जाते थे।[२] अपनी इन दोनों ही रचनाओं मे उन्होंने सन्तति प्रेम को खुलकर अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने बड़े चाव से, रघु की तथा सर्वदमन की बाल लीलाओं का वर्णन किया है। इन में तथा शकुन्तला की विदाई के अवसर पर पिता कण्व की उक्तियो में जो मार्मिकता तथा सरसता है उसके पीछे अवश्य ही किसी वत्सल हृदय की धड़कन काम कर रही है केवल वाणी के धनीं कलाकार की वाणी ही नहीं। शाकुन्तल के भरतवाक्य में अभिव्यक्त आत्मतोष के पीछे शायद यह भी एक कारण हो कि अब वर्णाश्रम का अनुयायी कवि अपने आप को देव-पितृ और ऋषि ऋण से मुक्त समझ रहा है। 'वश विच्छेद' का भय दूर हो गया और 'वंश का कर्त्ता' प्राप्त हो गया। कवि उसे अपना उत्तराधिकार सौप कर अब निर्वाण के पथ का पथिक बनना चाहता है, ऐसा अनुमान कर लेना सर्वदा असंगत नही।

कालिदास का आयुष्यमान क्या रहा होगा इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। उनकी कृतियों के आधार

---

१. रघु० १।६५-७२; 'कष्टं खल्वनपत्यता०' शाकु० ६।२३ पूर्व।

२. रघु० ३।२४-२६; ११।१; १८।११ कुमार० ११।१७, १७,४०-४१; शाकु० ७।१७, १९; विक्रम० ५।११ इत्यादि।

पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इतनी रचनाएं सामान्य-तया ३०-४० वर्षों की काव्य साधना से कम समय में नहीं हो सकती। यदि कवि ने २० वर्ष की अवस्था में भी काव्य-रचना प्रारम्भ की हो तो भी उसका आयुष्यमान ६० वर्ष का तो होना ही चाहिए। जीवन के अन्तिम आश्रम में कालिदास ने प्रवेश किया या नही इस विषय पर भी कुछ नही कहा जा सकता। पर शाकुन्तल के भरत वाक्य तथा 'रघुवंश' की योग साधना वर्णन के आधार पर लगता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में उसकी प्रवृति इस ओर हो चली थी।

मोटे तौर पर महाकवि कालिदास के व्यक्तितत्व पर हम अन्तः साक्ष्य के आधार पर इतना ही कह सकते हैं। वैसे कालिदास

उपसंहार

का व्यक्तितत्व तथा प्रतिभा इतने बहुमुखी है कि उनके विषय में पूरी तरह से 'इदमित्थं' कह सकना सम्भव भी नहीं। यहां उनके व्यक्तितत्व के जिन पक्षों का संक्षेप में संकेत किया गया है उनमें से बहुतों पर आगे के पृष्ठों में यत्र-तत्र विस्तार के साथ प्रकाश डालना भी सम्भव हो सका है। उन सब को यहां सम्मिलित करने से आगे के अशों में पिष्ठपेषण की ही सम्भावना बढ़ जाती। अतः इस प्रकरण में अधिक विस्तार में न जा कर कालिदास के जीवन और व्यक्तितत्व के उन प्रमुख तत्त्वों का ही संकेत किया गया है जिनके प्रकाश में कि हम कालिदास को समझने का यत्न करेंगे।

स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः

मानवता का महागायक कालिदास—

कुछ लोग कहते हैं कि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज-कवि था किन्तु अन्य लोग उसे किसी अन्य विक्रमादित्य की राज-सभा का रत्न मानते हैं। अतः यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद ही बना हुआ है कि वह किस राजा की राजसभा की शोभा था, किन्तु इसमें कम से कम कोई विवाद नहीं हो सकता कि वह किसी न किसी राजा की राजसभा का रत्न था। इस विषय में स्वभावतः यह एक प्रश्न उठता है कि राजकवि होते हुए भी कालिदास ने अपने आश्रयदाता का यशोगान क्यों नहीं किया ? उसकी प्रशस्ति में कोई काव्य-रचना क्यों नहीं की ? कई लोगों ने प्रतीकात्मक रूप से उसकी रचनाओं में विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं की साम्यता के आधार पर इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टायें भी की है पर उनमें तथ्य का अंश कितना कुछ हो सकता है यह स्वयं में एक अनिर्णीत विषय है।

कालिदास का राज्याश्रयित्व

प्रश्न उठता है कालिदास को प्रतीकात्मक रूप में ऐसा कुछ करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ? क्या उनके पास शब्द-भण्डार की कमी थी ? जब वे **'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्'** के द्वारा प्रारम्भ में नये पुराने के महत्त्व के विषय में अपनी धारणा प्रकट कर चुके थे और अपनी इसी आस्था के बल पर अपने समकालीन अथवा निकट पूर्व-कालीन नरेश अग्निमित्र को अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' के नायक के रूप में सामने ला चुके थे तो अब कौन उन्हें अपने आश्रयदाता को अपनी रचनाओं का नायक बनने से रोक सकता था ? उत्तर है कालिदास की स्वयं अन्तरात्मा ही उन्हें ऐसा करने से रोक रही थी। ठीक है, कालिदास की अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित होकर किसी गुणग्राही नृपति ने उन्हें अपनी राजसभा का रत्न बनाया। इससे कालिदास का और

उसका दोनों का सम्मान बढ़ा। पर इसका अभिप्राय यह नही कि चन्द सुवर्ण मुद्राएँ देकर उसने कालिदास की प्रतिभा को खरीद लिया। कालिदास अपनी वाणी से सरस्वती की आराधना न करके उन सुवर्ण मुद्राओं के अधीन हो उसी का स्तुतिगान करने लगें, यह तो भाटों का काम है। कालिदास भाट नही, सरस्वती का वरद पुत्र है। उसकी वाणी में रस है और वह उससे उनका गुणगान करेगा जो इसके अधिकारी हैं। आश्रयदाता में यदि गुण ग्राहकता है, सहृदयता है तो वह उसका आनन्द लेगा और प्रशंसा करेगा।

काव्य-रचना का मूल-लक्ष्य

महाकवियों का लक्ष्य व्यक्ति की प्रशस्ति नहीं अपितु व्यक्तित्व की प्रशस्ति हुआ करता है। पर ऐसा कर सकता है कोई प्रतिभावान् स्वाभिमानी सरस्वती पुत्र ही। कालिदास ऐसा ही महामानव था जिसने कि सरस्वती की आराधना के क्षेत्र में अपने आश्रयदाता का कोरा स्तुतिगान न करके उन महामानवों का अमर यशोगान किया जो कि कालिदास की दृष्टि में मानवता के प्रतीक थे। जिनके आदर्श चरित मानवता के मान थे। कालिदास के ये आदर्श मान-दण्ड क्या थे इसकी कुछ झांकी हमें उनके रघुवंश महाकाव्य में मिलती है। कालिदास रघुवंश में उत्पन्न होने वाले कुछ शासकों के विशिष्ट मानवीय गुणों से बहुत प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने अपने आश्रय-दाताओं के वंशगान की बात को छोड़ कर रघुवश के उन प्रतापी शासकों के चरित्रों की उन विशिष्ट घटनाओं का गान किया जो कि स्वयं में मानवता का मानदण्ड बन सकती थीं। कालिदास के अनुसार सामान्यतया किसी मानव में इन गुणों का होना आवश्यक है—

कालिदास की दृष्टि मे आदर्श मानव का रूप व गुण

"कि वह शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार अपने धार्मिक कृत्यों को करता हो, यथाशक्ति दान देता हो, अपराधी के अपराध के अनुरूप ही दण्ड देता हो अर्थात् न्यायप्रिय हो, अवसर के अनुरूप कार्य करता हो, त्याग के लिए ही धन संग्रह करता हो, जो कुछ कहे उसे पूर्ण करके दिखा दे, सत्य की रक्षा के लिए थोड़ा बोलता हो, केवल यश की कामना से ही विजय की कामना करता हो, किसी का धन-भूमि हरण करने के लिए नहीं, विषय-वासना की पूर्ति के लिए नहीं

वरन् केवल सन्तान की इच्छा से विवाह करके गृहस्थ का पालन करता हो, जिसने बाल्यावस्था में विद्याभ्यास किया हो, यौवन में सांसारिक सुखों का भोग किया हो तथा वृद्धावस्था में भगवान् के मनन और चिन्तन में जीवन लगाया हो और अन्त में योगाभ्यास के द्वारा ब्रह्म का चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग किया हो।[1]

इसके अतिरिक्त अन्य जो गुण मानव बनने के लिए कालिदास आवश्यक समझते थे, वे हैं—'**ज्ञाने मौनं क्षमाशक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः**' (रघु० १।२२) अर्थात् बहुत कुछ जानते हुए भी अपने ज्ञान का ढिढ़ोरा न पीटना, अपितु चुप रहना, शत्रु आदि से बदला लेने की शक्ति होते हुए भी उसे क्षमा कर देना, दूसरों को बहुत कुछ दे देने पर भी आत्म-प्रशंसा की कभी कोई इच्छा न करना। अपि च विषयों की ओर आकृष्ट न होना, समस्त विद्याओं में पारंगत होना, और दिन-रात अपने कर्तव्य कर्म में जुटे रहना (**अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः। तस्यधर्मरतेः**—१।२३) आदि। ये थे वे कुछ आवश्यक गुण जिन्हें कालिदास मानवता के प्रसार व विकास के लिए आवश्यक समझते थे और जिन गुणों की बहुलता के कारण ही रघुवंश के शासको ने उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और प्रवृत्त किया उन्हें इन सबको अभिव्यक्ति देने के लिए।

कालिदास के 'रघुवंश' की गणना भारत के विशाल पटल वाले महाकाव्यो में की जाती है। कुल मिलाकर रघुवश में १९ पीढ़ियों का वर्णन किया गया है। स्वभावतः इसमें कालिदास के लिए बुद्धिकौशल और कल्पना-विलास दिखाने के अनेक अवसर थे, किन्तु उन्होंने इस महा-प्रलोभन से सर्वथा मुँह मोड़ कर इस महाकाव्य में उन महानायकों के जीवन से विशेष रूप से केवल उन्हीं घटनाओं को अपने काव्य के लिए चुना है जो कि किसी

मानवत्व का प्रतीक दिलीप

१. यथाविधि हुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराध दण्डानां यथा काल प्रबोधिनाम्।
त्यागाय संभृतार्थानां सत्यायमित भाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवनेविषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघु० १।६–८॥

न किसी रूप में मानवता का मान बढाने वाली थी। रघुवश के सभी प्रमुख प्रसंगों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की काव्य-रचना में केवल वाग्विलास वा कल्पना चातुर्य के लिए कोई स्थान नही। इसके प्रारम्भ में जब हम राजा दिलीप को देखते हैं तो देखते हैं कि कालिदास ने उसे समस्त रूप से मानवता की जीवन्त मूर्ति के रूप में वहाँ उपस्थापित किया है। उसका परिचय देते हुए वे कहते हैं—कि उसमें शारीरिक सौन्दर्य तो था ही, किन्तु उसके जिस रूप ने कालिदास को सर्वाधिक आकृष्ट किया था वह था उसमें मूर्तिमान क्षत्रियत्व, जो कि सज्जनों की सेवा और दुर्जनों को दण्ड देने में समर्थ था (**आत्मकर्म क्षमं दहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः**)। उसमें अद्भुत बल था (**सर्वातिरिक्त सारेण**), उसमें अलौकिक तेज था (**सर्व तेजोऽभिभाविना**), तीव्र बुद्धि थी, शीघ्र ही शास्त्रों में पारंगत हो गया (१।१५) यही सब कुछ कालिदास को उसका यशोगान करने के लिए प्रेरित करने को पर्याप्त था, पर कालिदास तो उसके उन महामानवीय गुणों पर मुग्ध था, जो कि व्यक्ति के रूप में उसमें ज्ञान होने पर भी मौन, शक्ति होने पर भी क्षमा और त्याग होने पर भी आत्मश्लाघा से विमुख रहने का महान् आदर्श उपस्थित कर रहे थे (१।२२) और शासक के रूप में प्रजा में राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक नियमों के पालन का ऐसा आदर्श उपस्थित कर रहे थे कि वे उन से एक इच भी इधर-उधर नहीं होते थे। विशेष बात तो यह थी कि यह सब कुछ केवल शक्ति के बल पर नही किया जा रहा था वरन् जैसे कोई चतुर सारथी अपने संचालन-कौशल के द्वारा रथ को लीक से बाल भर भी इधर-उधर नहीं होने देता वैसे ही राजा दिलीप भी अपने संचालन कौशल से प्रजा का ऐसे संचालन करते थे कि कोई भी व्यक्ति राज्य के विहित नियमो का कभी उल्लंघन नही करता था—

रेखामात्रमपिक्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः

एक शासक में इससे बड़ी मानवता और प्रशंसनीय गुण और क्या हो सकता है कि वह प्रजा से कर के रूप जो कुछ लेता है उसे

अपने भोग-विलास में व्यय न करके ऐसे ढंग से प्रजा के लोगों के कल्याण में व्यय करता है कि उससे प्रजा को अपने कर के मूल्य से भी कई-कई गुना अधिक लाभ प्राप्त होता है। ऐसे सूर्य के समान वृत्ति वाले प्रजावत्सल राजा की प्रशंसा भला कौन नहीं करेगा। कालिदास कहता है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ १।१८॥

ऐसा लगता है कि कालिदास के सामने भी यह प्रश्न विद्यमान था कि उसने अपने आश्रय दाताओं को अपने काव्य का विषय न बना कर इस प्राचीन राजवंश को क्यों चुना? इसी का उत्तर देने के लिए शायद वह 'तद्गुणैः **कर्णमागत्यचापलाय प्रचोदितः**' में संक्षिप्त रूप जो कुछ कह गया था उसी की आगे व्याख्या करते हुए थकता नहीं। उसके आश्रय दाताओं को तथा अन्य आलोचकों को उसके चुनाव के विषय में कहीं कोई शंका शेष न रह जाय इसलिए फिर से वह दिलीप के महामानवीय गुणों का वर्णन करते हुए कहता है—दिलीप अन्य शासकों की भाँति अपने को ईश्वर का विशेष पुत्र समझ कर राज्यभोग को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने वाले शक्तिलोलुप शासकों की भांति नहीं था। वरन् वह तो उस पिता के समान था जो कि अपनी सन्तान को बुरे कामों से रोकता है, उन्हें अच्छी सीख देता है, संकट के समय उनकी रक्षा करता है और पालपोष कर उन्हें बड़ा करता है।[१] प्रजा मे यदि न्याय की व्यवस्था बनाए रखने के लिए अपराधियों को दण्ड देने की आवश्यकता हो तो वह उन्हें उचित दण्ड देने में भी हिचकता नही था (**स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्**)।

मानवता के मान की दृष्टि से जो सबसे श्लाघनीय बात राजा दिलीप में पाई जाती थी वह थी उसमें पक्षपातदृष्टि का अभाव। कालिदास लिखते है 'जिस प्रकार समझदार व्यक्ति स्वास्थ्यलाभ की दृष्टि से कड़वी औषधि का भी सेवन कर लेता है और हानि की दृष्टि से सर्पदष्ट अपनी अंगुली को भी काट कर फेंक देता है वैसे ही राजा दिलीप अपने भले शत्रुओं को भी अपना

१. प्रजाना विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि, स पिता पितरस्तेषां केवलंजन्म-हेतवः॥ १।२४॥

लेते थे और अपने उन सगे सम्बन्धियों को भी निकाल बाहर करते थे जिनसे कि उन्हें या उनकी प्रजा को किसी प्रकार की हानि की सम्भावना हो सकती थी।[१] किसी शासक में इससे बड़ा प्रशंसनीय मानवीय गुण और क्या हो सकता है। दिलीप के महामानवीय गुणों का उपसंहार करते हुए कालिदास लिखते है, संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उसके सभी गुण केवल परोपकार के लिए ही थे (तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः १।२९)

राजा दिलीप में पाये जाने वाले ये उदात्त गुण केवल कवि प्रशस्ति ही नहीं अपितु वास्ततिक थे, इसको पुष्टि उनके चरित्र के अनेक प्रसंगों से होती है। प्रजा के निम्न से निम्न वर्ग के लोगों की भी किस प्रकार उन तक पहुंच थी और किस प्रकार उनके प्रति वे अपने स्नेह को व्यक्त करते थे इसकी एक बहुत सुन्दर झांकी उनके तपोवन गमन के प्रसंग में मिलती है। वशिष्ठाश्रम के मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों के निवासी अपनी-अपनी श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुरूप भेंट लेकर महाराज के दर्शनों को आते है। एक स्थान पर आता है कि जब वे घोषियों की बस्ती से जा रहे थे तो बूढ़े घोषी (ग्वाले) अपनी गायों का ताजा नवनीत लेकर दिलीप से मिलने आये। दिलीप ने वह भेंट तो प्रेम पूर्वक स्वीकार की ही, साथ ही उन वृद्ध जनों से राजा और रानी बड़े प्रेम से मार्ग के उन बनों और वृक्षों के नामादि पूछने लगे।[२] राजा के इस व्यवहार से ही लोग अपने को सम्मानित अनुभव करते थे। इतना बड़ा सम्राट् सामान्य ग्रामीणों से सामान्य जनो की भाँति बातचीत करे इससे बड़ी मानवता एक सम्राट् में और क्या पाई जा सकती है? अभिमान तो उसे मानो नाममात्र को भी नहीं छू गया था। विनय तो इतनी कि आश्रम में पहुंचने पर जब महर्षि वशिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती के दर्शन का अवसर आया तो राजा और रानी दोनों ने उनके चरण छूकर उन्हें प्रमाण किया।[३] इसी

---

१. द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥ १।२८॥

२. हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् नामधेयानिपृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ १।४५।

३. तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी······॥ १।५७॥

प्रकार नन्दिनी की सेवा के प्रसंग में भी उनके उदात्त गुणों का अच्छा परिचय मिलता है।[१]

राजा दिलीप की महामानवता का सबसे देदीप्यमान परिचय मिलता है रघुवश के द्वितीय सर्ग मे। दिलीप-सिह सम्वाद में उसकी उच्च कर्तव्य-भावना को देखकर मानवता के अन्य सभी मान उसके पीछे ही रह जाते है। परम श्रद्धा के साथ नन्दिनी की सेवा में निरत दिलीप जब नन्दिनी को एक विशालकाय सिंह से आक्रान्त देखता है तो वह तुरन्त ही उसकी रक्षा के लिए अपने तरकस से तीर निकाल कर उस पर बाण-प्रहार करना चाहता है। पर उसके क्रोध और आश्चर्य की सीमा नहीं रह जाती जब कि वह अपने हाथ को बाण-जाल से चिपका हुआ पाता है। इस पर सिह के द्वारा दिए गए अपने परिचय के साथ ही उसकी शक्ति के प्रतिहत हो जाने का कारण जान लेने पर भी वह इस बात के लिए राजी नहीं होता कि सिह उस नन्दिनी को उसके रहते हुए केवल इसी आधार पर मार डाले कि उससे उसके पेट की भूख मिट जायेगी। दिलीप के सामने कर्तव्यपालन का उच्चादर्श उद्दीप्त हो उठता है और वह तुरन्त ही निर्णय कर लेता है कि जीवन देकर भी कर्तव्य का पालन करना ही चाहिए। इसलिए सिंह के सामने अपना प्रस्ताव रखते हुए कहता है कि यदि नन्दिनो को मारने के पीछे तुम्हारा यही तर्क है कि तुम भूखे हो और तुम्हे भगवान् शंकर की ओर से **'अङ्कागत सत्त्ववृत्ति'** की स्वीकृति प्राप्त है तो मेरा तुमसे अनुरोध है कि तुम मुझे खाकर अपनी भूख मिटा लो और नन्दिनी को छोड़ दो, क्योंकि इसका छोटा सा बछड़ा है और सांझ हो जाने से वह अपनी माँ के लौटने की बाट जोह रहा होगा।[२] क्या कर्तव्य परायणता और दयालुता का इससे भी बड़ा कोई प्रमाण मिल सकता है? वस्तुतः अपने कर्तव्यपालन और नन्दिनी के छोटे से बछड़े का ध्यान आते ही दिलीप का हृदय आकुल हो उठा था। उसके इस अप्रत्यासित प्रस्ताव को सुन कर एक बार तो सिंह भी चकित रह गया। पर दूसरे ही क्षण उसने उसका हितैषी बन कर उसे

---

१. रघु० २.५-६;२०-२१ आदि।

२. सत्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सां विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥ २.४५॥

कर्तव्यच्युत करने के लिए यह उपदेश देना प्रारम्भ किया कि—राजन्! मुझे तो लगता है कि तुम में सोच-विचार की शक्ति ही समाप्त हो गई है, जो कि एक पशु के पीछे इतने विशाल सम्राज्य का प्रभुत्व, नव यौवन और सुन्दर मानव शरीर को ही नष्ट कर देने पर उतारू हो रहे हो। जीवानुकम्पा से प्रेरित भी तुम्हारे लिए ऐसा करना उचित नहीं, क्योंकि अब तो तुम्हारे शरीर-दान से केवल एक गौ की रक्षा होगी, किन्तु यदि जीवित रहोगे तो पिता की भांति हजारों प्रजाजनों का पालन करोगे। और यदि गुरु की क्रोधाग्नि के भय से ऐसा कर रहे हो तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि उन्हें तो तुम करोड़ों ऐसी दुधारू गायें देकर प्रसन्न कर सकते हो। (२।४७—४८)।[१] सिंह के तर्क में पर्याप्त बल तो था, पर वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक दिलीप जैसे महामानव को विलिलित करने के लिए पर्याप्त नही था। दिलीप रक्षणीय गौ की रक्षा न करके और अपने क्षणभङ्गुर शरीर की रक्षा करके मानवता को कलंकित नहीं करना चाहता था। उसके सम्मुख प्रश्न एक गौ की रक्षा का नहीं, सिद्धान्त का था। अतः अपनी स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करता हुआ बोला—हे मृगराज! क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही दूसरों को नष्ट होने से बचाना है। यदि मैं ऐसा नही कर सकता, तो मैं उस राज्य का क्या करूं तथा इन कलंकित प्राणों को धारण करने से भी क्या लाभ?[२] अन्त में तो यहां तक कह डाला कि यदि किसी कारण से तुम मुझे मारना नहीं चाहते तो कम से कम मेरे यशः शरीर पर तो दया कर ही डालो। क्योंकि अन्ततोगत्वा इस भौतिक शरीर ने नष्ट तो होना ही है अतः इसके प्रति मुझे कोई मोह नही।[३] भला बतलाइये कि क्या इससे भी बढ़कर मानवता का कोई आदर्श उपस्थित किया जा सकता है?

---

१. एकातपत्र जगतः प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च।
स्वल्पस्य हेतो बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मेत्वम्। इत्यादि
रघु० २।४७—४९।

२. क्षतात्किलत्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरूपक्रोशमलीमसैर्वा॥ रघु०२।५३॥

३. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधाना पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥ २।५७॥

इससे स्पष्ट है कि कालिदास रघुवंश में ऐसे महामानवों के चरित्र का गुण गान करने जा रहे है जो कि स्वयं में मानवता के आदर्श हैं। इस पर भी यदि कोई आंख मीच कर कालिदास को 'सामन्ती गायक' कहने की घृष्टता करे तो उसे क्या कहा जाय ! अपने कर्तव्य के प्रति इतने जागरूक महामानवों का भी यदि गुणगान न किया जायेगा तो भला और किसका किया जायेगा ? अपने सुख एवं ऐश्वर्य भोग के लिए प्रजा का शोषण करने वाले सामन्तों और दिलीप में धरती—आकाश का अन्तर है। ऐसे महामानवों का यशोगान तो एक नहीं यदि एक हजार कालिदास भी करें तो वह भी थोड़ा है। ऐसे ही चरित्रों से तो मानवता को प्रकाश मिलता है। कालिदास यदि सचमुच सामन्तो गायक होते तो प्राचीन इतिहास से ऐसे दिव्य मानवों का चरित्रगान करने की अपेक्षा अपने आश्रयदाता नरेश पर ही काव्य रचना कर डालते। पर वाहरे मानवता के हामी कालिदास! राज्याश्रय में रहते हुए तू सच्ची मानवता के गान को नहीं भूला तथा राज्यशक्ति के सामने कभी अपने आदर्शो का बलिदान नहीं किया।

दिलीप के बाद कालिदास ने उसके पुत्र रघु के जीवन की जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को अपने काव्य में वर्णन के लिए चुना है उनमें सर्वप्रथम घटना का सम्बन्ध है मानव के अतुल पराक्रम और पौरुष से। हम जानते हैं कालिदास के मानवेन्द्र नायक अपने उदात्त गुणों में देवेन्द्र से भी सदा बढ़-चढ़ कर रहते है। कालिदास के अनुसार श्रेष्ठ गुणों एवं कर्मो की स्थिति मानव जाति में ही सम्भव हो सकती है। देवयोनि केवल भोगयोनि है और उनकी गतिविधियाँ केवल सुखभोग तक ही सीमित है। इसीलिए कालिदास दिखाता है कि जब स्वर्ग के राजा देवेन्द्र को दिलीप के शतक्रतु हो जाने से अपने स्वर्गीय सुखभोग में बाधा पड़ने की आशंका हुई तो वह चोरों की भांति आकर राजा दिलीप के उस अश्वमेधीय अश्व को चुरा कर ले भागा, जिसकी कि रक्षा स्वयं राजकुमार रघु कर रहा था। स्वर्गमार्ग से अश्व को लेकर भागते हुए इन्द्र को जब उसके नीच कृत्य के लिए

देवत्व पर मानवत्व की विजय

भर्त्सना करते हुए उसने ललकारा[1] तो वह उसे सुन कर चौक पड़ा और उस समय कोई अन्य उपाय न देख कर रघु के सामने अपनी आन्तरिक दुर्लबता व्यक्त कर दी। पर साथ ही अश्व के मोक्ष के लिए रधु को आगे बढ़ने के विषय में स्वयं उसके विनाश की धमकी भी दे दी।[2] पर रघु वीर युवक था, वह भय से भीत होकर अन्याय के सामने चुपचाप सिर नहीं झुका सकता था। अन्याय करने वाला फिर चाहे देवराज ही क्यों न हो। अतः बड़े दृढ विश्वास के साथ निडरता पूर्वक देवराज को ललकारते हुए बोला—यदि घोड़े को न छोड़ने का आपका निश्चय दृढ़ है तो शस्त्र उठाइये और युद्ध के लिए तैयार हो जाइये। रघु को युद्ध में जीते बिना आप घोड़े को लेकर नहीं जा सकते।[3] कालिदास के नायकों के अतिरिक्त क्या कोई और मानव देवराज इन्द्र को इस प्रकार युद्ध के लिए ललकार सकता है? यह मानव के अपार पौरुष के प्रति कालिदास की ही अगाध आस्था है जो कि देवताओं के राजा को भी इस प्रकार ललकार सकती है। वेदों ने जिस इन्द्र का उन्मुक्त गुणगान किया था उसे ही कालिदास का एक कुमार नायक युद्ध के लिए इस प्रकार ललकार रहा है। यह मानव के प्रति उसकी उच्च आस्था का परिचायक नही तो और क्या है? महाभारत के लेखक ने भी तो यही कहा न कि— **नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।**' अस्तु, इन्द्र को अपने निर्णय से न न टलता देखकर रघु ने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया और कस कर इन्द्र की छाती पर ऐसा मारा कि इन्द्र तिलमिला उठा। फिर दोनों ही ओर से भयंकर घात—प्रतिघात होने लगा और अन्त में हार कर इन्द्र को अपने वज्र का प्रहार करना पड़ा (५२—६०)। पर रघु ने जिस वीरता के साथ अपनी छाती पर पर्वत-पक्षशाती इन्द्र के वज्र के भयकर प्रहार को सहा उसकी

१, रघु० २।४३–४५. स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायोभवसि-च्युतो विधिः।

२. रघु० २।४७–५०।

३. तत: प्रहस्यापभय. पुरदरं पुनर्वभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एषते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥
रघु० २।५१।

प्रशंसा स्वयं शत्रुभूत इन्द्र को भी करनी पड़ी।[१] वज्रायुध इन्द्र के भी छक्के छुड़ा देने वाले रघु जैसे पृथिवीपुत्र पर भला कौन से स्वराष्ट्राभिमानी तथा स्वजात्याभिमानी कवि को गर्व न होगा।

रघु और इन्द्र के इस सारे प्रसंग को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ने जिस ओज और उत्साह के साथ रघु के पराक्रम का वर्णन किया है उसके दशाँश में भी इन्द्र का नहीं। उसने यहां पर शारीरिक एवं नैतिक दोनों ही दृष्टियों से इन्द्र पर रघु की विजय दिखा कर मानवत्व को देवत्व से श्रेष्ठतर दिखाने का यत्न किया है। एक और दृष्टि से भी कालिदास ने यहां देव और मानव के अन्तर को स्पष्ट कर दिया है। एक ओर तो नरेन्द्र दिलीप है कि अपने कर्तव्य की रक्षा के लिए अपने जीवन का भी उत्सर्ग करने को तैयार हो जाता है और दूसरी ओर देवेन्द्र है जो कि स्वयं यज्ञों का प्रथम फल भोक्ता होकर भी स्वयं ही अपने स्वार्थवश दूसरे के यज्ञ में चोरी से बाधा डाल रहा है। "**त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषः**"......**च्युतो-विधिः** रघु० ३।४५)

अधिकार और मानवता

रघु इस महाकाव्य का केन्द्रीय नायक है, इसलिए कालिदास ने उसके कृत्यों पर सर्वाधिक प्रकाश डाला है। दिग्विजय में उसने जो कुछ किया वह तो कोई भी विजिगीषु करेगा ही, पर उसकी इस विजिगीषा के पीछे जो उच्च लक्ष्य है वह सभी में नहीं हो सकता। कालिदास ने यह कहीं भी नहीं लिखा कि रघु ने छोटे-छोटे राजाओं के राज्यों को जीत कर अपने राज्य में मिला दिया। वरन् उसने तो यह बतलाया है कि जिन्होंने रघु की अधीनता स्वीकार कर ली उन्हें तो रघु ने कुछ कहा ही नहीं और जिन्होंने प्रतिरोध किया उन्हें भी परास्त करके उन्हीं के स्थानों पर बैठा दिया। '**गृहीतप्रति-मुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्** ५।४३)' इसमें उसने महेन्द्रनाथ के बारे में जो बात कही है वह सभी उन राजाओं पर लागू होती है जिन्होंने उसका प्रतिरोध किया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस दिग्विजय से रघु का लक्ष्य एकमात्र इस उपमहाद्वीप की विच्छिन्नराज्य शक्तियों

१. असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम्।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात् किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः॥ रघु० ३।६३।

को एक सूत्र में बांधना ही था, कोई व्यक्तिगत ऐश्वर्य का भोग नही। यदि ऐसा न होता तो वह भेंट में प्राप्त हुई वस्तुओं को उन्हीं राजाओं को न बांट देता जो उसके साथ आये थे।[१] और इस विजय के अन्त में 'सर्वस्व दक्षिण' जैसा याग न करता (रघु० ५।७६)।

कालिदास रघु की प्रजावत्सलता और सुशासन व्यवस्था से बहुत ही प्रभावित था। इसीलिए तो वह कहता है—यथा **प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा। तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्** ॥ (रघु० ५।१२)। अपने उदात्त मानवीय गुणों के कारण ही प्रजा में वह इतना लोकप्रिय था कि धानों के खेतों की रखवाली करने वाली कृषक बालाएं ईख की छाया में बैठकर उसकी गुणगाथाओं को गीतों के रूप में गाती थी।[२] ऐसा गुणवान् और प्रजापालक शासक केवल इसलिए कालिदास की प्रशंसा से वंचित नही रह सकता कि वह सामन्त वर्ग से सम्बन्ध रखता है।

इस लोकप्रिय एवं उदात्त नरेश के चरित्र का चरमोत्कर्ष तो वहां होता हैं जहां कि वह सर्वस्वदक्षिण याग में अपना सब कुछ दान देकर स्वयं केवल मात्र मृत्पात्रावशेष रह जाता है (रघु०५।१-२) यही समय है जब कि रघु के सामने भी दिलीप के ही समान कर्तव्य-पालन की कठोर परीक्षा का अवसर आता है। इधर रघु सब कुछ दान कर चुका है, उसके पास मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त और कुछ भी नही बचा और उधर वरतन्तु ऋषि का शिष्य कौत्स अपनी गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए चौदह हजार सुवर्ण-मुद्राओं की याचना के लिए उसके पास आ पहुंचता है। रघु ने यथाविधि मिट्टी के ही पूजापात्रों से उस अतिथि का स्वागत सत्कार किया और विनम्रभाव से वहां आने का कारण भी जानना चाहा। किन्तु रघु की उस स्थिति को देखकर ऋषि-शिष्य को अपनी इतनी बड़ी मांग की पूर्ति की कोई आशा दिखाई न देने के कारण उसे राजा से कहना भी व्यर्थ लग रहा है। अतः बिना कुछ कहे ही निराश लौट जाना चाहता है। कोई आशा न होते हुए भी रघु के विशेष आग्रह पर

१. सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिगुर्वीभिः शमितपराजय व्यलीकान्; इत्यादि रघु० ५।८७।

२. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्यगोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ ५।१० ॥

वह अपनी आवश्यकता की बात रघु के सामने कह ही डालता है। रघु इस बात को सुनकर असमंजस में तो पड़ता है, पर यह कैसे हो सकता है कि उसके द्वार पर कौत्स जैसा याचक आये और खाली हाथ चला जाय। अतः तीन चार दिन वहीं रुकने का अनुरोध करता है। रघु को अपने पर पूर्ण विश्वास था, अतः धनपति कुबेर पर ही आक्रमण की योजना बनी। कालिदास की दृष्टि में चक्रवर्ती रघु के समक्ष कुबेर का महत्त्व उसके एक सामन्त से अधिक नहीं (सामन्तसम्भावनयैवधीरः। रघु० ५।२७)। पर रघु का पराक्रम! कि कुबेर को उसके इस इरादे का पता लगते ही उसने स्वयं ही अतुल धन उसके राजकोष मे भिजवा दिया (रघु ५।३-३०)। अब रघु इस समस्त सुवर्ण राशि को कौत्स को देना चाहता है और कौत्स अपनी आवश्यकता से अधिक एक भी कौड़ी नही लेना चाहता। परमसन्तोषी याचक और परम उदार दाता के बीच होने वाले लक्ष्मी के प्रति अद्वितीय निर्मोह के नाटक को आयोध्या के जनों ने बड़े कौतूहल पूर्वक देखा था और दोनों को ही खूब सहारा था।[१]

यहां पर पुनः कालिदास ने मानवजाति के जिस प्रभाव और पराक्रम का उल्लेख किया है तथा रघु में जिस कर्तव्यभावना, त्याग और उदारता को दिखलाया है, वह कालिदास की मानव के प्रति महान् श्रद्धा एवं आस्था का ही परिचायक है।

आदर्श पतित्व

कालिदास ने इसी दृष्टि से रघुवंश के अन्य चरित नायकों के भी जीवन का चित्रण करने का यत्न किया है। उसने उनके दीर्घ जीवन में से अपने वर्णन के लिए केवल उन्हीं घटनाओं को लिया है जो कि मानवता की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। रघु के बाद अज के जीवन की जिन बातों ने कालिदास को सर्वाधिक प्रभावित किया है वे हैं उसका शौर्य, शालीनता और सहृदयता। अज एक आदर्शपति एवं प्रेमी था, उसके जीवन के इस पक्ष ने कालिदास को बहुत ही अधिक प्रभावित किया था। इसलिए इसके चित्रण को उसने अत्यधिक महत्त्व दिया है। अपनी प्रेयसी रानी इन्दुमती कीअप्रत्याशित मृत्यु पर उसने जो विलाप किया है उससे उसके पौरुष का मान भले ही न बढ़े, पर एक

१. जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्वौ।
गुरु प्रदेयाधिकनिस्पृहार्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥ रघु० ५।३१॥

स्नेही, सहृदय प्रेमी के रूप में तो वह आदर्श पद को प्राप्त हो जाता है। सच्चा प्रेम स्त्री-पुरुष के बाह्य आवरण को नही देखता। पुरुष उसे अपने शिष्टाचार के आवरण में दबा कर भले ही अपने को अधिक कठोर और धैर्यवान् सिद्ध करने का यत्न करे पर उसकी तीव्रता में कोई अन्तर नही होता। उत्तररामचरित में राम सीता के वियोग की व्यथा को चाहे जितना दबा कर रखते रहे हों पर जब लोगों की दृष्टि से दूर पञ्चवटी के बनो में पहुंचे तो फूट-फूट कर मूर्च्छित होने की स्थिति तक रोते रहे। महाराज अज के रुदन की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कालिदास कहते है—

विललाप स वाष्प गद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥ ८।८३ ।

अर्थात् महाराज अज अपनी जन्मजात धीरता को खोकर धाराप्रवाह से आंसू बहाकर विलाप करने लगे। अत्यधिक तपाने पर तो (कठोर) लोहा भी पिघल उठता है फिर (सहृदय) मानव का तो कहना ही क्या। अज के विलाप को पुरुष के धैर्य के विरुद्ध कहने वाले आलोचक जरा कालिदास की शब्दावली पर भी ध्यान देकर देख लें कि पुरुष के सामान्य धैर्य के विचलित होने का प्रश्न कालिदास के सामने भी था या नही।

कालिदास का यही दृष्टिकोण 'रघुवंश' के अन्य शासकों के चित्रण में भी रहा है। दशरथ, राम, कुश आदि के चरित्रों मे जो महनीय कृत्य थे उन्ही की ओर उनका विशेष ध्यान गया है। तथा विशेष चरित्रों के अभाव में कालिदास का काव्य बड़ी तीव्र गति से आगे बढ जाता है। अन्त में मानवता-रहित जीवन यापन करने वाले जनों को एक चेतावनी देने के लिए ही मानो अग्निवर्ण के गर्हणीय चरित्र के साथ ही इस महाकाव्य का भी अन्त हो जाता है।

कालिदास की दृष्टि मे देव और मानव का अन्तर

कालिदास की रचनाओं का मूल स्वर है–"**मनुष्यः कुरुते तत्तु यन्नशक्यं सुरासुरैः**"। इसीलिए हम देखते है कि उनके सभी नायक मानव होते हुए भी देवों से बढ़कर तथा उनके द्वारा वन्दनीय हैं। दुष्यन्त, पुरुरवा, दिलीप, रघु, अज. दशरथ आदि सभी नायकों को उसने देवों की सहायता के लिए जाते हुए तथा उनके द्वारा सम्मानित होते हुए ही चित्रित किया है। मानव ने देवों से सहायता के लिए

कभी प्रार्थना नहीं की है। मानवता के पुजारी एक महाकवि के लिए इससे बड़ा मानवता का गुणगान और क्या हो सकता है कि स्वर्ग का शक्तिशाली सम्राट् भी सदा उसके कथानायकों की सहायता की आकाक्षा रखता है। मानव लोक को संकट से त्राण देने के लिए देवताओं का भूलोक में अवतरण व उनका सम्मान तो सभी भारतीय कवियों ने किया है; पर मानव से रक्षा के लिए देवों द्वारा याचना एव स्वर्ग में उनका सम्मान तथा यशोगान कराने वाले कवि कालिदास ही हुए है। अपने प्रसिद्ध नाटक 'शाकुन्तल' में कालिदास ने दिखाया है कि असुर सहार के कार्य मे अपने को असमर्थ पाकर इन्द्र सहायता के लिए दुष्यन्त से पार्थना करता है।[1] और उसके नेतृत्व में ही देवसेना कालनेमि जैसे दुर्जय असुर को जीत पाती है। इसी कृतज्ञता के फलस्वरूप इन्द्र ने विदाई के समय दुष्यन्त को अपने साथ अपने आधे इन्द्रासन पर बैठाकर स्वयं अपने गले से उतार कर हरिचन्दनांकित मन्दार माला को उसके गले में डाल दिया।[2] तमाम देवसभा के बीच में मानवेन्द्र दुष्यन्त को जो सम्मान मिला था वह तो मानव जाति के लिए अकल्पनीय था (**स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसर-सत्कारः**)। दुष्यन्त ने अपने भुजबल से देवलोक को ऐसा संरक्षण प्रदान किया था कि अब देवगण उसके यशोगान के गीत बना-बना कर स्वर्ग में गाया करते हैं।[3] देवगण मानवों के गीत गायें इससे बड़ा मानवता का सम्मान भला और क्या हो सकता है?

दुष्यन्त ही नहीं अपितु उसका कथानायक पुरुरवा भी ऐसा ही है।[4] वह केशी नामक दैत्य से इन्द्र की प्रेयसी अप्सरा उर्वशी का उद्धार करता है। उसके पौरुष से चमत्कृत होकर ही स्वर्ग की यह अप्सरा उसकी कामना करने लगती है। एक स्वर्गीय अप्सरा मानव

---

१. सख्युस्ते स खलु शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
शाकु० ६।३०

२. अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणापिनद्धा॥ शाकु० ७।२॥

३. विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांऽशुकेषु।
विचिन्त्यगीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥ वही० ७।५॥

४. मेनका—उपस्थित संपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात् सबहुमानं मानाय्यतमेव विबुध विजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते॥ १।५॥

को चाहने लगे और उसके लिए मानवता के बन्धनों को स्वीकार करले, मानव के पौरुष का इससे बड़ा मान क्या हो सकता था। जहां अन्य कवियों के नायक नायिकाएँ स्वर्ग में जाने, स्वर्गीय सुख भोगों को भोगने व देवयोनि प्राप्त करने के लिए लालायित दिखाई देते है वहाँ कालिदास के पात्र स्वर्ग के सुख भोगों को छोड़ कर, मानव लोक में आकर मानवीय जीवन बिताते हुए दिखाई देते है। इन्द्र को पुरुरवा के साहाय्य की इतनी आवश्यकता है कि वह उसकी प्रसन्नता के लिए उर्वशी पर से अपना समस्त अधिकार उठा कर उसे जीवन पर्यन्त पुरुरवा के साथ दाम्पत्य जीवन बिताने की खुली छूट दे डालता है[1]।

मानव की महत्ता की भावना में कभी-कभी वह इतना बह जाता है कि समानान्तर गुणों के वर्णन में वह मानव को देवता से पूर्व रख देता है। विधाता और मानव की कलाकारिता का निरूपण करते हुए उसने ऐसा ही किया है (कुमार० १।३२); जब कि सामान्यतया देवता को मानव से पूर्व स्थान दिया जाता है।

मानवेतर पात्रों का मानवीकरण

इसी प्रकार कालिदास के नारी पात्रों के चरित्र चित्रण को देखने से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि वह मानवी के अतिरिक्त और किसी रूप में उन्हें अपने काव्यों में स्थान देने को तैयार नहीं। स्पष्ट है कि उसके प्रमुख नारी पात्रों में से उर्वशी, यक्षपत्नी और पार्वती मूलतः मानवी नहीं, किन्तु कालिदास की काव्यपरिधि में स्थान पाने के लिए सबको अपना मानवेतर बाना बदल डालना पड़ता है। जैसा कि हम कह चुके है कि कालिदास केवल मानवता का गायक है और उसके काव्य का विषय बनने की पहली शर्त है मानव धरातल पर मानवीय सीमाओं को स्वीकार करना। उर्वशी को ही लीजिए, वह इन्द्र की सभा की एक स्वच्छन्द विहारिणी अप्सरा है। उसके जीवन में न दुःख है और न बन्धन। स्वर्ग लोक तो केवल भोगभूमि है। वहां न इच्छाओं का कोई व्याघात है और न उनकी पूर्ति में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध ही। शतपथब्राह्मण में उर्वशी का रूप कुछ ऐसा ही है। वह केवल-

१. नारद द्वारा इन्द्र का सन्देश—'इयं चोर्वशी यावदायुस्तव धर्मचारिणी भवत्विति।

मात्र भोग और विलास में विश्वास करती है और एक विशेष समझोते के अधीन उसे एक निश्चित काल तक पुरुरवा के साथ रहना होता है उसमें न मानवीगत श्रद्धा है और न आत्मसमर्पण का भाव ही। पर्याप्त समय तक साथ रहने पर भी न वह उसे अपना हृदय दे पाई है और न पुरुरवा ही उसे किसी रूप में प्रभावित कर सका है। इसीलिए उसे छोड़कर जाने का बहाना हाथ लगते ही वह निर्मम रूप से उसे छोड़ कर स्वर्गलोक को चली जाती है। पुरुरवा की अनुनय-विनय का भी उस पर कोई असर नही होता[1]।

किन्तु केवल मात्र अस्थायी ऐन्द्रिक सुखभोग पर आधारित स्त्री-पुरुष सम्बन्ध कालिदास की दृष्टि में स्थान नहीं पा सकता था। केवल मानवीय सीमाओं के अन्तर्गत मानवीय सिद्धान्तों व आदर्शो पर आधारित रूप ही इस मानवता के पुजारी के काव्य में प्रतिष्ठापित हो सकता था। देव, गन्धर्व; यक्ष आदि लोकों में क्या होता है, वह अच्छा है या बुरा है इससे कालिदास को कोई मतलब नही। क्योंकि उसकी दृष्टि में तो इस सृष्टि-जगत् में मानव ही सबसे अधिक सभ्य, संस्कृत और आदर्श-जीवन का प्रतीक है। महर्षि व्यास की वाणी पर उसे पूरी-पूरी आस्था थी कि 'नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' इसीलिए हम उनके पौराणिक पात्रों में एक महान् अन्तर पाते है। वे सभी अपने मूल रूप को त्याग कर शुद्ध मानवीय रूप में हमारे सामने आते है। उनमे मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं और मानवीय उच्चादर्श भी। हम देखते हैं कि वैदिक काल की उर्वशी में और कालिदास की उर्वशी में आकाश पाताल का अन्तर है। वैदिक साहित्य में पाई जाने वाली उर्वशी जन्मजात अप्सरा है और अन्त तक अप्सरा ही रहती है, किन्तु कालिदास की उर्वशी जन्मत. अप्सरा तो है कर्मत. मानवी बन जाती है। उसमें वे सभी दुर्बलताएँ व आदेश विद्यमान है जो कि एक मानवी में पाये जाते हैं। वह एक मानवी की भाँति ही पुरुरवा के लिए विरह व्याकुल हो उठती है। कालिदास से पूर्व किसी अप्सरा को किसी मानव के लिए इस प्रकार विरह व्याकुल होते हुए दिखाया गया हो ऐसा स्मरण नही आता। इससे पूर्व की कहानी इसके विपरीत ही मिलती है। अप्सरा के सौन्दर्य पर मानव के पौरुष

१. देखिए, श० ब्रा० पुरुरवोर्वशी प्रसंग।

की विजय प्रथम बार कालिदास में ही देखने को मिलती है। कालिदास ने पुरुरवा की प्रेयसी के रूप में उसे मानव लोक में अवतरित कराने से पूर्व उसे महर्षि भरत द्वारा शापग्रस्त करा कर तथा उसे समस्त अप्सरागत शक्तियों से वंचित करा कर मानवी और पूर्णतः मानवी बना डाला है।

'विक्रमोर्वशी' के द्वितीयांक के बाद की उर्वशी केवल मात्र मानवी रह जाती है। वह प्रेयसी है, पत्नी है। वह एक पत्नी की भाँति स्वय उसकी बन कर उसे सर्वात्मना अपना बना लेना चाहती है। इसीलिए तो गन्धमादन पर्वत पर पुरुरवा को एक गन्धर्व कन्या की ओर आकृष्ट होते हुए देख कर उसका हृदय नारी सुलभ ईर्ष्या से जल उठता है। वह अपने एकछत्र साम्राज्य में अब और किसी नारी के प्रवेश को सहन नहीं कर सकती। अप्सराओं के लिए तो यह भाव विजातीय है, वहां कभी किसी के एकाधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो केवल मानवीय सीमा है जहाँ कि नारी और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों की सीमाएँ निर्धारित है तथा एक दूसरे पर नियंत्रण समाज सम्मत है।

मानवीत्व का मान्य रूप

इसके अतिरिक्त कालिदास ने जिस एक और रूप में मानवता के महागायक होने का परिचय दिया है वह सिद्धान्ततः इन से पूर्व के साहित्य में नहीं मिलता। अन्य कवियों के लिए नारी रमणी है, प्रेयसी है, भोग्या है; पर कालिदास के लिए उसमें इन रूपों की सत्ता होते हुए भी केवल यही रूप मानवीय समाज के लिए पर्याप्त नहीं। मानव समाज में नारीत्व का आदर्श है मातृत्व और इसी में पूर्ति होती है नारीत्व की भी। हम देखते है कि कालिदास की सभी नायिकाएँ इस गौरवशाली पद को प्राप्त करती हैं। करती ही नहीं अपितु कई बार तो उन्हें कालिदास के विधान के अनुसार ऐसा करना पड़ता है। शकुन्तला, उर्वशी, पार्वती, सुदक्षिणा, इन्दुमती आदि सभी नायिकाएं इसलिएँ गौरवशालिनी है कि ये प्रिय प्रेयसियाँ भी बनी और गौरवमयी जननियाॅ भी। कालिदास के नारी चित्रण के पीछे यही अन्तिम लक्ष्य रहता है। अपने इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह अपनी अप्सरा नायिका उर्वशी को अभिशप्त करा कर उसे मानव लोक की निवासिनी बनने को बाध्य करता है और

फिर उसके मोक्ष की शर्त भी रखवाता है तो पति द्वारा उसके औरस पुत्र का दर्शन ! भला सोचिए तो सही कहाँ स्वच्छन्द विहारिणी, विलासिनी एक अप्सरा और कहाँ मातृत्व का कठिन भार ! दोनों कैसी परस्पर विरोधी बाते है पर इससे कम में तो न वह कालिदास के नाटक की नायिका ही बनने की अधिकारिणी हो सकती थी और न कालिदास का मानवीय नारी का मानदण्ड ही पूरा हो सकता था। इसके लिए कालिदास को पुरुरवा-उर्वशी सम्बन्धी वैदिक कथानक के सारे विधान को ही बदलना पड़ा, तब कहीं जाकर इन्द्र के दरबार की यह नर्तकी मानव नरेश महाराज पुरुरवा की राजमहिषी व कुमार आयुष की आदरणीया माँ बन सकी।

मानवीय समाज में नारी का वास्तविक रूप तथा वास्तविक स्थान क्या होना चाहिए इसका निदर्शन उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर मिलता है। अपने महाकाव्य रघुवंश में ही वे एक स्थान पर इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए महाराज अज के मुख से कहलवाते है नारी केवल प्रेयसी के रूप में ही नहीं अपितु गृहिणी, परामर्शदात्री, सखी, शिष्या आदि अनेक रूपों में पुरुष के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है[1]।

कालिदास का कोई भी प्रबुद्ध पाठक निःसंकोच रुप से साक्ष्य दे सकता है कि कालिदास ने उनके चित्रण में पूर्ण मानवता का परिचय दिया है। उनमें स्नेह, सौन्दर्य और सहृदयता जैसे नारी सुलभ गुण तो हैं ही, पर साथ में है तेज, ओज, त्याग और तपस्या भी। सबसे बड़ी बात जो कालिदास ने उनके चरित्रों में उपस्थापित की है, वह है विपरीत परस्थितियों का साहस के साथ सामना करने की शक्ति। शकुन्तला प्रेम के समक्ष बिना शर्त आत्म समर्पण कर देने वाली सौन्दर्य-प्रतिमा ही नही, वरन् विपरीत परिस्थितियों में भड़क उठने वाली चिनगारी भी है[2]। कालिदास स्वयं भी नारी के अपमान से बहुत तिलमिला उठते हैं। राम के द्वारा निरपराध

---

१. गृहिणी सचिवः सखी मिथ प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।। रघु० ८।६७ ।।

२. शकुन्तला (सरोषम्)—अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ।। शाकु० ५।२२।२।।

सीता के परित्याग के अवसर पर उन्होंने सीता के मुख से जो शब्द कहलवाये है वे युग-युग तक अपमानिता नारी के तेज और दीप्ति की कहानी कहने को पर्याप्त है—जिस सीता की जिह्वा पर राम के लिए आज तक नाथ, आर्य और आर्यपुत्र के सिवा और कोई शब्द आया ही नहीं था वही जब लक्ष्मण से अपने परित्याग की बात सुनती है तो उसका नारीत्व सजग हो उठता है और वह लक्ष्मण के हाथ राम के लिए सन्देश भेजती हुई कहने लगती है कि हे लक्ष्मण, तुम मेरी ओर से उस 'राजा' से कह देना कि स्वयं अपने सामने ही मेरी अग्नि परीक्षा लेकर भी आज फिर तुम मुझे लोकापवाद के डर से छोड़ रहे हो यह क्या तुम्हारे प्रसिद्ध कुल के अनुरूप है[1] ? वस्तुतः राम ने एक अस्थायी अपयश से बचने के लिए सीता के नारीत्व का जो अपमान किया था उससे उन्हें तो युग-युगान्तर व्यापी अपयश मिला ही, पर कालिदास ने भी उन्हें इसके लिए क्षमा नहीं किया। जिस राम के चरित को लेकर बाल्मीकि ने इतने बड़े महाकाव्य की रचना कर डाली थी, उसे कालिदास कुछ ही सर्गों में समाप्त कर गये। अन्त में उन्होंने भवभूति के समान राम और सीता का पुर्नमिलन न करा कर राम की आखों के सामने ही ससम्मान सीता के तेजोदीप्त शरीर को पृथ्वीमाता की गोद में समा दिया। सीता परित्याग से तो लगता है कि कालिदास की अन्तरात्मा को भी इतना दुःख हुआ कि उन्होंने लक्ष्मण द्वारा परित्याग के बाद उन्हें जगल में अकेले ही बिलखने के लिए देर तक नहीं छोड़ा। कालिदास इस कारुणिक दृश्य को देर तक नहीं देख सके, केवल मात्र दो श्लोकों में उनकी व्यथा तथा उस व्यथा से व्यथित चराचर सृष्टि की वेदना का उल्लेख कर के ही परम कारुणिक महर्षि वाल्मीकि को उनके निकट ले आये[2]।

कालिदास केवल मानवता का गायक

इसी प्रकार उनके मेघदूत में भी उनके इसी मानवतावादी दृष्टिकोण का पता चलता है। सामान्यतया यक्ष जाति मानव जाति से भिन्न तो है पर उनके जीवन और संस्कृति को भी मानव जाति के जीवन से भिन्न माना गया है। उनके जीवन को मानव लोक में पाये जाने वाले सुख-दुःख के द्वन्द्व से रहित माना गया है। वहाँ न किसी प्रकार

---

१. वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकापवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥रघु० १४।६१॥

२. देखिए—रघु० १४ ७०॥

का कष्ट है और न वियोग ही। यक्षपुरी अलका, वैभव और विलास की नगरी है। धनाधिराज कुबेर की नगरी में भला कमी भी किस चीज की हो सकती थी। जहाँ मनचाही कामनाओं को तत्काल पूरा कर देने वाला कल्पवृक्ष हो वहाँ अभाव भी भला किस चीज का हो सकता है? अभाव का ही नाम तो दुःख है। जब कोई अभाव ही नही तो दुःख किस बात का? कालिदास ने इस यक्ष जाति के मधुमय जीवन की एक सुन्दर झाँकी उत्तर मेघ में प्रस्तुत भी की है[1]।

कालिदास, मानव जाति का गायक कालिदास भला ऐसे सदा बहार जगत् के गीत कैसे गा सकता है? उसके अनुसार तो सुख और दुःख का सम्मिलित नाम ही जीवन है। जीवन चक्र में तो सुख और दुःख दोनों के आरे लगे रहते हैं। जब जीवन चक्र घूमता है तो ये बारी-बारी से नीचे ऊपर होते रहते हैं। अतः गति-पूर्ण जीवन में न कभी निरन्तर दुःख रह सकता है और न निरन्तर सुख ही[2]। कालिदास के काव्य जगत् में ऐसे गतिहीन जीवन चक्र को स्थान नहीं मिल सकता जो कि सदा एक रूपता तथा एकरसता का हामी हो। यक्ष जीवन भी ऐसा ही एक रस था। अतः उस जगत का निवासी यक्ष और उसकी पत्नी कालिदास की काव्य परिधि में स्थान नहीं पा सकते थे। इसीलिये हम देखते है कि इस गीति काव्य के प्रारम्भ में ही कालिदास ने अपने नायक यक्ष को वर्षभोग्य शाप दिला कर उसे सब प्रकार की यक्षीय शक्तियों से वंचित कर डाला (**शापेनास्तं गमितमहिमा**)। अब वह सदासुखी यक्ष नहीं दुःखभोगी मानव की कोटि में आ गया है। पर इतने से ही वह कालिदास के काव्य का नायक बनने का अधिकारी नहीं बन जाता। अतः उसे सदा सुहागिन नगरी अलका से निर्वासित हो कर इस मानव लोक में आना पड़ा। यहाँ आकर इसके दक्षिणी छोर रामगिरि पर परिस्थितियों के दास सामान्य मानव की भाँति जीवन के कठोरतम दुःखों का अनुभव करना पड़ा आठ मास तक। तब कहीं वह

---

१. उत्तर मेघ० १—१४।

२. कस्यात्यन्त सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

कालिदास का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सका और उसके काव्य जगत् में स्थान पा सका[1]। हमे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कालिदास का यक्ष पूर्णरुप से मानव बन चुका है। अन्यथा अपने जीवन में कभी दुःख का नाम न जानने वाला प्राणी चराचर जगत् के सभी दुःखी प्राणियों के प्रति इतना संवेदनशील कैसे हो सकता है? मेघदूत मे हम देखते है कि वह अब दुःखों के प्रति इतना संवेदनशील हो चुका है कि वह किसी के दुःख को देख नहीं सकता। सारे संसार का दु.ख उसका अपना दुख हो गया है। इसीलिए तो वह मेघ से अपने दुख निवारण से पूर्व मेघ के मार्ग में आने जाने वाले उन सभी प्राणियों के दुःखों को दूर करने का अनुरोध करता है जो कि किसी कारण से दु.खी है[2]। कालिदास ने उसके व्यक्तित्व को मानवीय व्यक्तित्व के इतने निकट लाकर बैठा दिया है कि दोनों में किसी प्रकार का भेद करना सम्भव ही नहीं। आदि से अन्त तक उसकी सारी चेष्टाएँ और उक्तियाँ मानवीय भावों से अनुप्राणित हैं। इसीलिए तो कालिदास के यक्ष की विरह वेदना आज विश्व के प्रत्येक वियोगी मानव हृदय की वेदना है।

कालिदास द्वारा यक्ष के मानवीकरण की प्रक्रिया उसे मानव बना कर ही समाप्त नहीं हो जाती। वह इससे भी एक कदम आगे बढ़ कर उसे इसी धरती का सपूत बना डालती है। हम उसे एक सच्चे देश-भक्त की भाँति इस धरती के कण-कण के प्रति अपनी श्रद्धा व भक्ति को अर्पित करते हुए पाते है। इस विशाल भूखण्ड के सभी नदी-नाले, वन-पर्वत तथा इस देश की जनता द्वारा मान्यता प्राप्त देवी-देवताओं एवं पवित्र स्थानों के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा का परिचय पाते हैं। कालिदास ने अपने काव्य का नायक बनाने के लिए उसे प्रवासित तो कराया था केवल एक वर्ष के लिए, पर उसकी मानवीय संवेदना और श्रद्धा-भक्ति पर रीझ कर लगता है, उसे सदा के लिए इसी लोक का प्राणी बना डाला।

---

१. कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः,
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

२. देखिए—पूर्वमेघ १७, १९, २८, ३१, ४१, ४३, ४४, ५७।

यही बात कही जा सकती है उसकी वियोगिनी पत्नी के लिए भी। वह शरीर से तो अवश्य ही अलका की निवासिनी है, किन्तु उसके जीवन को श्वास-प्रश्वास मिलता है इस मानवलोक से ही। वह यक्ष लोक की निवासिनी होकर भी मानवी है। उसकी प्रत्येक चेष्टा व अभिव्यक्ति मानवीय भावों से संचालित होती है। उसका जीवन एक पतिव्रता भारतीय नारी के जीवन से किसी प्रकार भी भिन्न नही। पति के प्रवास काल में भारतीय विरहिणी नारी के लिए हमारे शास्त्रों व साहित्य परम्पराओं में जो व्यवस्थायें दी गई हैं वह उनमें शत-प्रतिशत खरी उतरी हैं[१]। वियोगिनी पतिव्रता नारी के रूप में सप्तम अंक की शकुन्तला[२] और उत्तरमेघ की यक्ष पत्नी के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। दोनों ही एक चित्र की दो प्रतिकृतियाँ हैं।

मानवीय जीवन के प्रति कालिदास के अतिमोह को न समझ सकने के कारण ही कई आलोचक कालिदास को शंकर-पार्वती के सभोग-वर्णन के लिए दोषी ठहराते है। यह ठीक है कि भगवान् शंकर और भगवती पार्वती के प्रति हमारी श्रद्धा-भावना उस वर्णन को ज्यों का त्यों सहन नहीं कर सकती। स्वयं कालिदास की भी उनके दैवी रूपों के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति थी वह उनके काव्यों और नाटकों में स्थान स्थान पर अभिव्यक्त हुई ही है। पर यहां पर हम थोड़ा सा इस बात को भूल जाते हैं कि कालिदास अपने सब पात्रों का मानवीय धरातल पर वर्णन करने के पक्षपाती है। कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में वह शंकर और पार्वती के दाम्पत्य जीवन के प्रथम समागम का वर्णन करने चले हैं। भला दाम्पत्य जीवन का सबसे उत्तम रूप मानव जाति के अतिरिक्त और कहां मिल सकता है? इसलिए कालिदास समस्त कुमारसम्भव में ही उनके ईश्वरीय रूप से कुछ हट कर उनके मानवीय रूप का ही अधिक आश्रय लेकर चले हैं, आठवाँ सर्ग ही कोई इसका अपवाद नहीं। कुमार सम्भव के शंकर पार्वती का समस्त चित्रण व उनकी समस्त चेष्टाएँ मनुष्यों से सर्वथा अभिन्न हैं। और तो और, उनका पाणिग्रहण संस्कार भी मानव जाति में प्रचलित विवाह-पद्धति के ही अनुसार ही सम्पन्न किया

१. उत्तरमेघ० २३, २४, २६ (मलिनवसना) ३० (एकवेणी), ३३ आदि।

२. बसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः॥ शाकु० ७।२१॥

जाता है। ऐसी पृष्ठभूमि में यदि कालिदास उनके प्रथम समागम का वर्णन भी मानव-धरातल पर कर बैठे हों तो इस में आश्चर्य ही क्या ! अन्यथा ऐसे शैव-भक्त कवि से ऐसी आशा कैसे की जा सकती है ?

तपोवनो के प्रति मोह का कारण

कालिदास की इसी प्रवृत्ति का परिणाम कहा जायेगा उनका तपोवन वर्णन के प्रति विशेष मोह भी । कालिदास की रचनाओं को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वे तपोवन वर्णन में जितनी रुचि लेते हैं तथा उसके प्रति जितनी आत्मीयता व्यक्त करते हैं उतना राज-सदनों के के वर्णन में नहीं। यद्यपि यह निर्विवाद है कि कालिदास ने स्वयं राजसी सुख भोगे थे और राजप्रासादों में ही अपने जीवन का और विशेष कर अपने कवि-जीवन का वृहत्तर भाग बिताया था। तपोवनों के प्रति कालिदास के इस विशेष मोह का कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि कालिदास के विश्वास के अनुसार वास्तविक मानवता इन तपोवनों में ही पलती व फलती-फूलती है । वस्तुतः सच्ची मानवता के दर्शन हमें इन आश्रमों में ही होते है । इन आश्रमों के रहने वाले इतने उदार व कृपालु है कि वहाँ मनुष्यों को तो क्या पशु-पक्षियों को भी अपने ही बच्चो की तरह प्यार से पाला-पोषा जाता है[1] । वे वृक्षों के थाँवलों में पानी भर कर इसलिए वहाँ से हट जाते है कि पक्षी निश्चिन्त होकर जल पी सकें[2] । उनके स्नेह और सौजन्य ने जगली पशुओं को भी ऐसे जीत लिया है कि वे उन पर पालतू पशुओं से भी अधिक विश्वास करते हैं[3] । इन आश्रमों में ही उन निराश्रितों को आश्रय मिलता है जिन्हें कि इस स्वार्थी संसार ने ठुकरा दिया है। मेनका से परित्यक्ता शकुन्तला को कण्वाश्रम में तथा दुष्यन्त से प्रत्याख्याता शकुन्तला को मरीचि के पुनीत तपोवन में ही आश्रय मिला था। इसी प्रकार राम से परित्यक्ता सीता को वाल्मीकि के आश्रम में ही

---

१. आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवार भागधेयोचितैं मृगैः ॥ रघु० १।५० ॥

२. सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥१।५१॥

३. तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ॥ रघु० १४।७५ ॥

शरण मिल सकी थी। मानवता की दृष्टि से ये कार्य कितने महनीय है। ये लोग दुःखियों के प्रति किस आत्मीयता का परिचय देते हैं तथा उनके दुःखों को भुलाने का किस प्रकार यत्न करते है इसका सुन्दर वर्णन सीता के प्रति कहे गये वाल्मीकि के स्नेह और संवेदना भरे शब्दों में मिलता है[१]। इन आश्रमों में अतिथि-सत्कार व जीवों पर दया की भावना कितनी जागरूक थी यह तो शाकुन्तल में बड़ी अच्छी तरह दिखाया गया है। प्रारम्भ में ही हम देखते हैं कि एक तपस्वी एक मृग की जीवन-रक्षा के लिए अपने जीवन को संकट मे डाल कर दुष्यन्त के बाण और उसके लक्ष्य मृग के बीच में आ खड़ा होता है[२]। दुष्यन्त के आतिथ्य की जो चिन्ता इस आश्रम के निवासियों को है वह तो स्थान स्थान पर व्यक्त हुई ही है[३]। महर्षि कण्व से अधिक उदार व्यक्ति और कौन मिलेगा जो कि ताप और शाप की अतुल शक्ति रखते हुए भो दुष्यन्त और शकुन्तला को उनके कृत्यों के लिए क्षमा कर देते हैं। उनके शिष्य शार्ङ्गरव को उनकी इस बात पर शिकायत भी है[४]। मानवता का संरक्षण करने वाले ऐसे पुनीत आश्रमों के प्रति कालिदास ने जो श्रद्धा प्रदर्शित की है वह ठीक ही है।

मानवीयगुणो के प्रति पक्षपात

इसी प्रकार मानवता के प्रतीक मानवों के प्रति कालिदास का जो सहज पक्षपात है, उसका अत्यन्त स्पष्ट रूप हमें उनके 'शाकुन्तल' में एक और रूप में भी देखने को मिलता है। काम भावना मानव और पशु दोनों में ही समान रूप से रहती है। किन्तु उन दोनों में भेद यह है कि पशु जहाँ केवल वासनातृप्ति को ही काम का लक्ष्य मानता है वहाँ मानव वासना की तृप्ति के साथ उससे उद्भूत उत्तरदायित्वों को भी स्वीकार करता है। इसी का नाम

---

१. पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम्
॥ रघु० १४।७७ ॥

२. सूतः—आयुष्मन् अस्य खलु ते बाणपातवर्तिन. कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विनः उपस्थिताः ॥ शाकु० अंक १ श्लोक ९ के बाद ।

३. सख्यौ—आर्य, असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम् ॥ शाकु० अंक १ श्लोक ३१ के बाद ।

४. कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयतास्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ शाकु० ५।२० ॥

वात्सल्य है। मेनका और विश्वामित्र ने कामवश होकर शकुन्तला को जन्म तो दिया पर उसके प्रति अपने कर्तव्य को नहीं निभाया। इसलिए कालिदास ने केवल एक स्थान पर केवल एक सामान्य पात्र के मुख से उस घटना का उल्लेख कराने के अतिरिक्त और कही उनका नाम तक नहीं लिया। और ठीक इसके विपरीत दूसरी ओर है महर्षिकण्व जिन्होंने काम के प्रभाव को जीवन में कभी स्वीकार न करते हुए भी मानवता के नाते दूसरे के उत्तरदायित्व को स्वयं स्वीकार किया। जंगल में एक असहाय नवजात कन्या को देखकर हृदयस्थ मानवता उमड़ चली और उस परित्यक्ता अनाथा कन्या को गोद में उठा लिया। घर लाकर एक धाय की भाँति उसका पालन पोषण किया। जब पोषण किया तो पोषक पिता के रूप में उसके जीवन की मंगलकामना और भारतीय आदर्शों के अनुसार उसके पाणिग्रहण की चिन्ता का भार भी स्वय उन्हीं के ऊपर आ पड़ा। उस महामानव ने अपने इस कर्तव्य को सभी प्रकार से निभाया। फलतः वे कालिदास की परम श्रद्धा के पात्र बने। कालिदास ने इस तपः पूत महामानव का कीर्तिगान कर अपनी वाणी को पवित्र किया। शकुन्तला नाटक में आदि से लेकर अन्त तक बड़ी श्रद्धा के साथ इनका नाम स्मरण किया गया है। यह कालिदास का मानवता के प्रति पक्षपात नहीं तो और क्या है ?

मानवीय दुर्बलताएँ व आदर्श मानव

इसी प्रकार 'शाकुन्तल' के शेष कथानक का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि कालिदास जीवन में मानवीय दुर्बलताओं की स्थिति को व उनके प्रभाव को स्वीकार तो करता है, पर वह उस मानव को महत्ता देने का पक्षपाती नहीं जो कि उनके सामने सर्वथा आत्मसमर्पण ही कर डालता है। जीवन में दुर्बलताओं के लिए अवकाश होने पर भी उसमें उनका सामना करने के लिए आत्मबल व चरित्रबल का होना आवश्यक है, तभी वह गुणगान या प्रशंसा का अधिकारी हो सकता है। यदि उसमें यह सब कुछ नहीं तो कहना होगा कि एक पशु, प्राकृत मानव तथा उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं; केवल मानव शरीर पा लेने भर से ही कोई मानवता का अधिकारी नहीं हो सकता और न वह किसी कवि की वाणी का विषय ही बन सकता है।

'शाकुन्तल' के पूर्वार्ध अर्थात तृतीय अंक के दुष्यन्त और शकुन्तला ऐसे ही मानव है जो काम की बलिवेदी पर धर्म का बलिदान कर डालते है। दुष्यन्त रक्षक होकर भी भक्षक बन जाता है और शकुन्तला काम को ही जीवन का सर्वस्व समझ कर अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व की उपेक्षा कर डालती है। इसलिए कालिदास ने इन्हें शाप दिलवाया है और खुले दरबार में खुले शब्दों में इनकी निन्दा व भर्त्सना करवाई है[1]। इस बीच इनके चरित्रों में जो मानवीय तत्त्व है वह है शकुन्तला का पशु-पक्षियों व लता वृक्षों के प्रति सहज स्नेह और दुष्यन्त का यज्ञ की रक्षा का कार्य[2]।

पर इससे आगे कालिदास ने जिस दुष्यन्त और शकुन्तला का गुण गान किया है वह किसी भी जाति वा देश की मानवता के लिए गौरव की बात हो सकती। वस्तुतः ये ही हैं वे दुष्यन्त और शकुन्तला जिनका गुण-गान कवि को अभिप्रेत है। इससे पूर्व के दुष्यन्त-शकुन्तला तो महाभारत की देन है। कालिदास की देन तो इसके आगे ही प्रारम्भ होती है। पांचवें अंक के प्रारम्भ में हम दुष्यन्त को अपने कर्तव्य के प्रति सचेष्ट मानव के रूप में पाते है। इसकी पहली झलक मिलती है उसकी उस आत्मदोष की स्वीकृति में जिसका उल्लेख कि वह हंसपदिका के सम्बन्ध में विदूषक से करता है। यही से उसके उदात्त मानवीय चरित्र का विकास प्रारम्भ होता है। इसके बाद जब वह परम रूपसी प्रेम-भिखारिणी

कर्तव्य भाव की सर्वोपरिता

---

१. (अ) शकुन्तला (सरोषम्-दुष्यन्तं प्रति)—अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।

(आ) शाङ्र्गरव　इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापल दहति।
अतः परीक्ष्य कर्तव्य विशेषात् सगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरी भवति सौहृदम् ॥५।१४॥ शकुन्तले !
यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥५।२७॥

२. शकुन्तला—न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु। (प्रथम अंक)
नवमालिका के विषय में—तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। (प्रथम अंक)
समस्त चतुर्थ अंक का प्रकृति प्रेम।

·कुन्तला को धर्म और नैतिकता के आधार पर स्वीकार करने से न्कार कर देता है तो कालिदास उसके इस उच्च नैतिक आदर्श से भावित होकर प्रतीहारी के मुख से उसके इस कार्य की भूरि-भूरि शंसा करवा डालते हैं[1]। इस प्रकार छठे अंक में दुष्यन्त-शकुन्तला ो स्मृति से पश्चात्ताप संतप्त होता हुआ भी अपने राजकीय र्तव्यों के प्रति बराबर जागरूक दिखाई देता है[2] और उसका हृदय ाजकीय कर्तव्यों के साथ साथ मानवता के उस उच्च धराघल पर हुँचता है जहां कि मानवता के नाम पर अपने पराये का भेद ही नट जाता है।[3] हम जानते है, शकुन्तला के मूल कथानक में रिवर्तन करने तथा दुष्यन्त को इस रूप में प्रस्तुत करने के पीछे ही था कालिदास का मुख्य ध्येय।

कालिदास ने द्वितीय-तृतीय अकों में भी एक स्थान पर सकी प्रशंसा की है पर वह प्रशंसा है तपोवन रक्षिता के रूप में सके शौर्य की[4]। प्रेमी के रूप में तो कालिदास ने उसकी प्रशंसा ·रवाई है केवल छठे अंक में ही[5]।

संक्षेप में उपर्युक्त प्रसंगों के विश्लेषण से यह विल्कुल ही स्पष्ट ो जाता है कि कालदास का काव्य साधना के पीछे मानवता के ्ल आदर्शो के प्रसार का एक महान् ध्येय था जिसकी अभिव्यक्ति ्रभिन्न रूपों में उनकी रचनाओं में पाई जाती है।

. प्रतिहारी—(स्वगतम्) अहोधर्मावेक्षिता भर्तुः। ईदृक् रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति। शाकु० ५।१६।१॥

. राजा—वेत्रवति, मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—चिरप्रबोधनान्न सभावितम-स्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षित पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

. येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ शाकु० ६।२३॥

. का कथा वाणसधाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति॥ शाकु० ३।१॥ वही २।१५॥

.. सानुमती—सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःख शकुन्तलायाः।
॥ शाक० ६।२२।१॥

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

राष्ट्र-कवि कालिदास—

कालिदास का राष्ट्रकवित्व

माँ और मातभूमि में एक ऐसी अलौकिक मोहिनी शक्ति है जो कि मूक से मूक प्राणी को भी मुग्ध कर लेती है। जो प्राणी जितना ही अधिक संवेदनशील होता है इनके प्रति उसका भावात्मक लगाव भी उतना ही अधिक होता है। मानव हृदय में कवि-हृदय सबसे अधिक सवेदनशील हुआ करता है। इसीलिए विश्व के सभी उच्चकोटि के कवियों की रचनाओं में किसी न किसी रूप में मातृभूमि का गान निहित रहता ही है। भारतभूमि को तो प्रकृति ने ऐसा बहुरंगी सौन्दर्य प्रदान किया है कि वह किसी विदेशी को भी मुग्ध किए बिना नहीं रह सकता; फिर कोई भारत-भारती का पुत्र उसका गान किए बिना कैसे रह सकता है। वेदों की ब्रह्मवाणी तथा बाल्मीकि और व्यास की ऐतिहासिक वाणी भी मातृभूमि की पुनीत भावना की धारा में अभिषिक्त हुए बिना न रह सकी। फिर भला भारतीयसंस्कृति और प्रकृति का पुजारी कालिदास इसके गौरवगान में पीछे कैसे रह सकता था ?

सम्पूर्ण रूप से उसकी रचनाओं में अभिव्यक्त भारत के सर्वाङ्गीण रूप को देखने के बाद कोई भी विवेकशील व्यक्ति स्पष्ट उद्घोष कर सकता है कि कालिदास भारत भूमि का सबसे बड़ा राष्ट्र कवि है। जिस ममत्व के साथ उसने अपने राष्ट्र के सौन्दर्य एवं विभूतियों का गान किया है वह इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सका है। इस धरती के कण-कण के प्रति इसके हृदय में अगाध स्नेह था। जब, जहाँ, जितना अवसर मिला उसने मातृभूमि के गुण गान से अपनी वाणी को पावन किया, जन्मभूमि के चरणों में श्रद्धा के फूल चढ़ाए। उसका दृष्टिकोण विशाल था, उसका हृदय उदार था। इसलिए उसने हिमालय से लेकर कुमारी

अन्तरीप तक के तथा अटक से लेकर कटक तक के समस्त भू-भाग को अपनी मातृभूमि समझ कर उसका गुणगान किया। फलतः आज की संकीर्ण मनोवृत्ति के राष्ट्रभक्तों को अपनी संकुचित मनोवृत्ति के अनुसार उसका जन्म स्थान निर्धारित करने में प्रमाणों की कमी नहीं रही। जिसने जिस भू-भाग में उसका जन्म-स्थान सिद्ध करना चाहा उसे उसी के पक्ष में प्रभूत प्रमाण प्राप्त हो गए। अस्तु, हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास के मन मे ऐसी क्षेत्रीय भक्ति का भाव न था। उसने भारत की समस्त भूमि का दर्शन किया था, उसने उसे विभागों में नहीं, सम्पूर्ण रूप में देखा था। जहाँ कहीं उसके जिस विशेषरूप ने उसे लुभाया वहाँ उसने उसके प्रति अपना श्रद्धा के फूल चढ़ा दिए। उसके समस्त ग्रन्थों को देखने से यह भाव मन में दृढ़तर होता जाता है कि इस राष्ट्रकवि की आत्मा भारत भूमि के सौन्दर्य का अधिकतम पान करने के लिए सदा ही सतृष्ण बनी रही। इसके वन-उपवन, सर-सरिता, नदी-पर्वत, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, नगर-घाटियां, नर-नारियाँ सभी उसे मोहित करते हैं और वह इन सबको अपने काव्य के परिवेश में समालेना चाहता है। इन सब का अपनी लेखनी से अंकन करने के लिए वह अकुलाता सा नजर आता है।

कवि की यह आकुलता 'रघुवंश' में ही देखी जाती हो ऐसी बात भी नही। उसकी प्रारम्भिक काव्य कृति 'मेघदूत' में ही उसकी राष्ट्रभक्ति का निर्मल उत्स प्रवाहमान दिखाई देता है। महाकवि भास ने जिस 'हिमवद्विन्ध्य-कुण्डला' भारतभूमि की बात कही थी उसका यथार्थ दर्शन कराया था कालिदास ने 'मेघदूत' की के रचना करके। इसमें विन्ध्य के छोर से लेकर हिमवान् के उत्तरी छोर तक की भारत भूमि तथा उसके लोक जीवन का जो जीवन्त चित्र अंकित किया है वह उसके मन के प्रच्छन्न उल्लास को स्पष्टतया व्यक्त करता है। 'मेघदूत' काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग तो था सन्देश पर राष्ट्रप्रेम के सामने वह गौण पड़ गया। कवि बड़े चाव से कहता है—

मेघ सदेश एक राष्ट्रगीत

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपम् ।
सन्देशं मे तदनु जलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ॥

देखा न? पहले मार्ग दर्शन और फिर सन्देश। उस मार्ग प्रदर्शन में क्या कुछ होगा यह किसी से छिपा हुआ है नहीं। वहाँ मालक्षेत्र, उस जनपद की स्नेही कृषकवधुएं, भ्रमरमिथुन प्रेक्षणीय पीले पीले आम्रों से लदा हुआ आम्रकूट, विन्ध्यपाद में फैली हुई रमणीय रेवा, उस प्रदेश के वनगज, काली भौंराली जामुनों से लदे जम्बूकुञ्ज, खिले कदम्ब, उन बनों में विचरण करने वाले सारङ्ग, फूलों से सुरभित पर्वत प्रदेश, केका करते हुए मयूर, खिलती हुई केतकी, नीडरचना में व्यस्त कौओं से आकुल ग्रामचैत्य, हंसों से अलंकृत दशार्ण, चञ्चल लहरों वाली वेत्रवती और उसके तट पर बसी हुई विदिशा, कदम्ब के पुष्पों से लदा हुआ नीचैः पर्वत, वन नदियाँ, उनके तटों पर पुष्प चुनती हुई पुष्पलावियां, वैभव नगरी उज्जयिनी, वहाँ की चञ्चलापाङ्गी रमणियाँ, मस्तगति से विलास के साथ बहती हुई निर्विन्ध्या, क्षीणजला सिन्धु, विलास और रोमांस की नगरी अवन्ती, उसके निकट बहने वाली विलासिनी शिप्रा, वहाँ की ललनाओं का विलास, परमपावन महाकाल का आयतन, उसकी सायंकालीन आरती की अनुपम शोभा, प्रसन्न-सलिला गम्भीरा, उसके तट के वेतस कुञ्ज, मन्दपवन से लालित देवगिरि, उसकी उदुम्बर श्री, उसके शिखर पर रचित कुमार कार्तिकेय का आवास, उस प्रदेश के प्रमुख निवासी सिद्ध, रन्तिदेव की मूर्तिमती कीर्ति स्वरूप चर्मण्वती, दशपुर और उसकी कुतूहलिनी रमणियाँ, क्षत्रियों के विनाश की सूचक महाभारत की युद्ध भूमि ब्रह्मावर्त, परमपावनी सरस्वती, भगवान् शंकर की जटाओं की दुलारी जुह्नुकन्या, पावन तीर्थ कनखल, सुरम्य चोटियों, चट्टानों, कस्तूरीमृगों, शरभों, देवदारुओं से शोभित हिमवान्, उसकी धवल चोटियाँ, किन्नरों का मधुर संगीत, मनोरम दर्रे और सबसे अधिक दर्शनीय कैलास, संसार के माता-पिता शंकर पार्वती की क्रीड़ाभूमि और उसीके पार्श्व में स्थित कनक कमलों को उत्पन्न करने वाला मानसर, उसी प्रदेश में स्थित अलका और पतितपावनी गंगा।

भला 'जीमूत के द्वारा कुशल' संदेश भेजने के लिए आकुल 'प्रकृतिकृपण' 'दयिता जीवितालम्बनार्थी' यक्ष को इन स्थानों में भटकने के लिए अवकाश कहाँ और फिर उसे इन सब चीजों से लगाव भी किस बात का! जिस भूभाग से उसका कोई मतलब नहीं

जहाँ उसे कालापानी मिला, उस देश के कण-कण के प्रति उसका इतना मोह क्यों ? उसका काम तो बस इतने से ही चल सकता था—

गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां,
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥

या अधिक से अधिक अलकापुरी तथा अपने घर का परिचय ही पर्याप्त होता। पर वह तुरन्त संदेश पहुंचाने की बात को छोड़ कर इस दीर्घ विवरण मे उलझ गया। इसके पीछे किसकी प्रेरणा हो सकती है ? कवि के राष्ट्र-प्रेम की या यक्ष की विरह व्यथा की ?

मालवप्रदेश के पक्षपाती लोगों ने जब 'मेघदूत' में इस भूमि के प्रति इस उमड़ते हुए ममत्व को देखा तो झट घोषित कर दिया कि कालिदास मालवा अथवा उज्जयिनी के निवासी थे। इन लोगों से केवल इतना ही कहना है कि वे जरा दूसरी ओर भी देखें। क्या कुमार-सम्भव में हिमालय के प्रति जिस आत्मीयता को व्यक्त किया गया है, वह क्या मालव प्रदेश की आत्मीयता से कम है ? क्या कण्वाश्रम और वशिष्ठाश्रम के विवरण में इसकी कुछ न्यूनता दिखाई देती है ? 'शाकुन्तल' में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के चित्र को अधूरा छुड़वा कर और फिर उसके द्वारा जो—

क्षेत्रीय सीमाहीन राष्ट्रप्रेम

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥६।१७॥

कहलवाया है उसमें क्या कम आत्मीयता है ? फिर उसे हिमालय के किस भाग का निवासी माने ? और अन्त में रघुवंश में आकर तो यह समस्या और भी अधिक उलझ जाती है। यहाँ आकर तो इस भारत-पुत्र ने राष्ट्रभक्ति का जो अभूतपूर्व परिचय दिया है वह उसकी क्षेत्रीय रेखाओं को मिटाकर उसे इस विशाल भूखण्ड के कण-कण में ला खड़ा कर देता है। उसे इस भूमि के चप्पे चप्पे के प्रति प्यार है और श्रद्धा है। तभी तो स्वर्ग से लौटते समय

आकाश पथ से इस विशाल भू-खण्ड की एकत्र छवि देखकर इस के प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति की अभिव्यक्ति करता हुआ इन्द्र का सारथी मातलि पुकार उठाता है 'अहो उदाररमणीया पृथिवी !' कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे कवि के लिए यह सम्पूर्ण धरती ही 'उदार' और 'रमणीय' है, अत. इसके प्रदेश विशेष से आत्मीयता और परकीयता का प्रश्न ही नही।

भारत-दर्शन रघुवंश के परिवेश मे

'रघुवंश' में तो मानो कालिदास 'भारत-दर्शन' की सम्पूर्ण कमी को पूरा कर देना चाहता है। 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' में 'हिमवद्विन्ध्यकुण्डलौ' का यथासम्भव और यथेप्सित अंकन हो चुका था, पर दक्षिण-पूर्व भारत की झाँकी दिखानी अथवा मातृभूमि के इस भाग के प्रति अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति शेष रह गई थी। अतः महाकाव्य के प्रारम्भ में ही अयोध्या से वशिष्ठाश्रम की यात्रा की योजना बनी। मार्ग में ग्राम, वन, बनस्पति, पशु, पक्षी, सभी कुछ देखने को मिले अथवा कहिए कि इस देश के जनपदीय सौन्दर्य का सर्व सामान्य रूप देखने को मिला।

राज्यों और जनपदों के समान ही ऋषियों के आश्रम भी इस देश के अंग की एक पृथक् इकाई हैं। उन्हें देखे बिना 'भारत-दर्शन' का कार्यक्रम पूरा नही हो सकता। उनका अपना रूप है, अपनी व्यवस्था है और अपना आदर्श है। उसका दर्शन कराने के लिए ही कालिदास अपने पाठक को वशिष्ठाश्रम में ले चलता है। वहाँ के शान्त और पवित्र वातावरण में पहुँच कर हम वस्तुतः एक नई सभ्यता और संस्कृति के दर्शन करते हैं; जोकि विदिशा, अवन्ती, अयोध्या, विदर्भ आदि की नागरिक सस्कृति से भिन्न है। इसी के साथ कवि एक बार फिर भारत के गौरवभूत हिमवान् की तलहटियों की सैर करा देता है। 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' में हिमालय का ऊपरी भाग ही सामने अधिक आया था और अब उसकी तराई के उन भागों को देखिए जहाँ देवदारुओं से होड़ करते हुए साल के बन हैं (२।३८)। सारसों का कलनिह्राद सुनिए (२।४१), सरसियों में अरविन्दों की मादकता सूंघिए (२।४३), कृषिप्रधान देश के घोषियों की बस्तियाँ देखिए (२।४५)। कहीं हवा से शब्द करते हुए बाँसों के बनों को देखिये कहीं हरे भरे वनों के बीच पोखरों में नागर

मोथा खाते हुए जंगली सूअरों के झुण्ड देखिए, कहीं केका करते हुए मोरों को देखिए, कहीं हरी-हरी घास चरते हुए हरिणों को देखिए,[1] कहीं हिमवान् की [illegible] पर फूलों से लदे हुए लोध के वृक्षों की छटा निहारिए[2]। संकेत से ही आपको कवि ने हरिद्वार से लेकर नेपाल तक की तराई के समस्त भूभाग के दर्शन करा दिए। इस क्षेत्र का रहा सहा रूप देख लीजिए दुष्यन्त की हस्तिनापुर से मालिनी क्षेत्र (कण्वाश्रम) की यात्रा में।

पर भारतमाता का रूप केवल यही तो नहीं, उसमें तो प्रकृति का विविध रूप विलास है। प्रत्येक का अपना सौन्दर्य है और अपना महत्त्व। कालिदास ने वह सब देखा है और उसे दिखा देना चाहता है सभी को, ताकि कोई न अपने को किसी दूसरे से अधिक उच्च समझे और न पृथक् ही। आज इस भारत की जिस भावात्मक एकता की बात करते हैं उसे कालिदास ने भलीभाँति अनुभव किया था और उसे कार्यरूप में परिणत भी किया था। कुमारसम्भव' में भारत भूमि के एक छोर 'नगाधिराज' की बात है तो 'रघुवंश' में इसके दूसरे छोर 'रत्नानुविद्धार्णवमेखला' का विशेष रूप[3]। 'समुद्ररसना' के बिना तो भारत के मानचित्र की कल्पना ही नहीं हो सकती[4]।

कवि भारत का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का अवसर खोज ही रहा था कि उसे रघु जैसा नायक सामने दिखाई दे गया।

भारत का सीमांकन

बस फिर क्या था, राज्यारोहण के तुरन्त बाद ही तैयार कर लिया उसे विजय यात्रा के लिए। बीच में कहने और दिखाने के लिए बहुत कुछ था, पर कवि को भय था कि वह फिर कहीं उस आन्तरिक चित्र के दर्शन में ही न उलझ जाय और उस की सीमा-रेखाओं का अंकन छूट जाय। अतः इस काम को किसी और उपयुक्त अवसर के लिए छोड़ कर वह अपने नायक रघु को उत्तर कौशल से विशाल वाहिनी का नेतृत्व करते हुए सीधे ले गया पूर्व समुद्र के तालीवनश्याम प्रदेश

१. स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
यथौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ रघु० २।१७॥
२. अधित्यकायामिव धातुमय्या लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥वही २।२९॥
३. रत्नानुविद्धार्णव मेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥वही ६।६३॥
४. समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥शाकु० ३।१८॥

में[1]। और फिर वेतस-प्रधान सुह्म, कलम से समृद्ध वंग, कपिशा से रक्षित उत्कल, महेन्द्र पर्वत से युक्त कलिंग आदि सभी पूर्वी प्रदेशों का दर्शन कराया। प्राची का कुछ रूप उभरा तो फिर दक्षिण की सूझी, तुरन्त ही रघु के घोड़े की बाग डोर मोड़ दी दक्षिण के लिए। सुपारी के वनों से सघन समुद्र के किनारे किनारे ले चला उसे दक्षिण की ओर[2]। कावेरी पार की और पहुँच गया 'मारीच' और 'हारीत' से सुशोभित मलयाद्रि की उपत्यकाओं में[3]। वहाँ की इलायची की सुगन्ध एवं चन्दन की शीतलता पर रीझ गया (४।४७-४८)। दक्षिण की भूमि की प्राकृतिक समृद्धि एवं सौन्दर्य पर कवि मुग्ध हो गया है। खूब जम-कर एक-एक चीज का वर्णन किया है। फिर ले चला उसे मोतियों की आगार ताम्रपर्णी के मुहाने पर स्थित पाण्ड्यों की राजधानी में और खूब सैर कराई उसे मलय, दर्दुर और सह्य पर्वतों की (४।४९-५३)। अभी तो सुदूर दक्षिण का सौन्दर्य देखना शेष था, अतः प्रस्थान हुआ केरल की ओर और सेवन हुआ मुरला के केतकी गन्ध मिश्रित वायु का (४।५४-५५)। वहाँ के राजताली वन की तो शोभा ही निराली है। पर साथ ही खजूर, पुंनाग की भी कमी नहीं (४।५६-५७)। केरल जाकर यदि 'त्रिकूट' को नहीं देखा तो और क्या देखा। वही तो दक्षिण का मानदण्ड है (४।५९)। उत्तर को यदि हिमालय का मान है तो दक्षिण के त्रिकूट को भला कालिदास कैसे भूल सकता था? वही तो इस देश का दक्षिणी विजय स्तम्भ है[4]।

लगता है इस वर्णन से कवि को काफी सन्तोष हुआ। अपने नायक को स्थल मार्ग से ले चला पश्चिम की ओर। देखा कि भारत की इस पश्चिमी सीमा के उसपार कुछ शक्तिशाली विदेशी शक्तियाँ

---

१. प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठ महोदधेः। रघु०

२. ततः वेला तटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्य जय ययौ॥ ४।४४॥

३. वलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यका.॥४।४६॥

४. लंकानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा,
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च॥ १५।१०३॥

अपना पड़ाव डाले हुए हैं। जिनके पास बड़े तेज घोड़े है, जिनके चेहरों पर मधु छत्ते सी दाढ़ियाँ है तथा सिर में कुल्ले पहने हुए हैं[1]। कालिदास की क्रांतिदर्शी दृष्टि ने उनके रूप-रंग व चाल ढाल से ही भाँप लिया कि इन लोगों से भारत भूमि को कभी भी खतरा हो सकता है। अतः देशभक्त कवि ने अपने नायक के द्वारा उन्हें वही कुचलवा दिया (यद्यपि कालिदास की यह मनोकामना सदा के लिए पूरी न हो सकी)। उस प्रदेश की जो सबसे अधिक आकर्षक चीज कालिदास को लगी, वह थीं वहाँ की 'द्राक्षावलयभूमियाँ' और बहुमूल्य 'अजिन'। यहाँ की भूमि से कोई लगाव नहीं। जिनसे कभी भारत भूमि को खतरा हो सकता था वे शत्रु पराजित हो गये और अपने शिरस्त्राणों को उतार कर विनीत भाव से इस भारतपुत्र की शरण में आ गए[2] और रघु के सैनिकों को 'द्राक्षावलय भूमियों पर कीमती मृगचर्मों में बैठ कर युद्धश्रम मिटाने के लिए अगूरी शराब मिल गई, बस, देश-भक्त कवि के लिए यही काफी था[3]। अतः वहाँ का नाम धाम आदि का कुछ परिचय दिए बिना ही चल पड़ा फिर उत्तर की ओर। भारत की उत्तरी सीमा वहुत विस्तृत है। लगभग १४०० मील। 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' में हिमवत् प्रदेश के जिस भाग का विशेष रूप से चित्रण हुआ, वह था उसका वह भाग जो कि गंगा के शीकरों से आर्द्र था[4]। कण्वाश्रम और वशिष्ठाश्रम के प्रसंग में भी इसी का गुण-गान हुआ था, अतः कवि को आवश्यक प्रतीत हुआ हिमवान् के उत्तर पश्चिमी भाग का निरूपण भी। यवनों को परास्त करके रघु के घोड़े की बागडोर मोड़ दी कुबेर की दिशा में। मार्ग में वङ्क्षुतट पर रघु के घोड़ों ने केसर की क्यारियों में लोट

---

१. संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥रघु० ४।३१॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥वही ४।६२॥

२. अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ॥वही, ४।६४॥

३. विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ वही, ४।६५॥

४. रघु० २।२६; ४।७३; कुमार० १।१५; शाकु० ६।१७;मेघ पू० ५४,६७।

कर अपना युद्धश्रम दूर किया[१]। पश्चिमोत्तर प्रदेश की उन हिमानी चोटियों के पार हूण और कम्बोज मिले उन्हें परास्त किया। कालिदास को इन सब की पराजय में ही रुचि थी अतः केरल से कम्बोज तक के वर्णन में कहीं भी भूमिका विशेष गुण-गान नहीं हुआ। पारस के द्राक्षावलीयों, वक्षुतट की केसर क्यारियों, तथा कम्बोज के अखरोटों का संकेत भर कर दिया। पर रघु की सेना के हिमालय की चढ़ाई शुरू करते ही फिर कवि का मातृभूमि-प्रेम उमड़ उठा और वह फिर उसकी उन्नत चोटियों, धातु रेणु, गुहाशायी सिंहो मर्मर शब्द करते हुए भूर्जपत्रों, शब्दायमान कीचकों, गंगाशीकरों से शीतल पवनझकोरों, नमेरुओं की शीतल छाया, कस्तूरी से सुगन्धित शिलातलों, ऊँचे ऊँचे चीड़ और देवदारुओं, रात्रि को चमकने वाली जड़ी बूटियों के वर्णन में रम गया[२]। पर्वतीयगणों के शौर्य की भी अच्छी प्रशंसा की गई। हिमालय के ऊपरी भागों का पर्याप्त परिचय दिया जा चुका है। जो कुछ 'कुमारसम्भव' में कहने से रह गया था उसे पूरा कर दिया, बस। साथ ही भारत के मानचित्र की उत्तरी सीमा का निर्देश भी हो गया। अतः कवि नायक की वहाँ पर 'अक्षोभ्य यशोराशि' की स्थापना करवा कर उसे उत्तर पूर्वी सीमा की ओर मोड लाया[३]। नेफा की लोहित नदी को पार करके अगरु की अतुल सम्पत्ति से सम्पन्न प्राग्ज्योतिष् की ओर ले चला। कामरूप का दर्शन कराया और वहाँ की गज सम्पत्ति के वर्णन के साथ-साथ भारत भूमि का गौरव गान समाप्त हुआ[४]।

पर इस सम्पूर्ण विजय यात्रा में कवि का ध्यान भारत भूमि के आन्तरिक सौन्दर्य के निरूपण के स्थान पर उसकी सीमा रेखाओं के सौन्दर्य चित्रण में ही अधिक लगा रहा। भारत भूमि की विशालता ही उसके मानव पर छाई हुई दिखाई देती है। कवि को कुछ सन्तोष तो हुआ पर तृप्ति अभी न हो पाई। दिग्विजय में तो रघु को साकेत से चलने के बाद हमने सीधे ही पूर्वसागर के तट

---

१. विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः।
　　दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥ रघु० ४।६।७॥

२. वही, ४।७४-७५॥

३. वही, ५।७७—८०॥

४. वही, ४।८१—८४॥

पर देखा था। बीच में भी तो बहुत कुछ दर्शनीय होगा ही। था तो बहुत कुछ, पर काव्य का विधान उस सब को वहाँ दिखाने की स्वीकृति नहीं दे रहा था, अत: इसके बाद जब अज की विदर्भ यात्रा हुई तो कवि ने बीच में मौका देखकर नर्मदा और उसके वन्यगज का रूप उभार दिया (५।४२-४३)। साकेत और विदर्भ के बीच यही कवि को विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतीत हुआ सो कर दिया, बाकी विन्ध्यक्षेत्र का वर्णन या तो अन्यत्र हो चुका था या हो जायेगा।

इसके बात जब इन्दुमती के विवाह का प्रसंग आया तो मानो कवि उछल पड़ा। बहुत अच्छा अवसर हाथ आ गया भारतीय जनपदों के विशिष्ट रूप का गुण-गान करने का। मगध से ही प्रारम्भ कर दिया। मगध की शान है उसकी राजधानी कुसुमपुर, उसका दर्शन काफी था। अंग की बात दिग्विजय में आ चुकी थी अतः वहाँ की गजशक्ति का उल्लेख भर कर दिया। भारत के मानचित्र में अवन्ति का विशेष महत्त्व रहा है। शिप्रा और महाकाल के कारण उसे जो गौरव प्राप्त है, वह गंगा और विश्वनाथ के कारण प्राप्त काशी के गौरव से किसी भाँति भी कम नहीं। इसलिए मेघदूत में एक बार इनका उल्लेख कर लेने पर भी कवि ने यहाँ उनका फिर से उल्लेख करना आवश्यक समझा। महाकाल के पावन दर्शन और शिप्रा का मनहर विहार जितनी बार भी हो सके अच्छा ही है[1]। अनूप जनपद की राजधानी माहिष्मती के सौन्दर्य पर कवि का मन बहुत रीझ गया। क्या ही दर्शनीय दृश्य है! माहिष्मती नगर के चारों ओर नर्मदा उसकी तकड़ी की तरह घूम गई है, उसके तट पर बने हुए राजभवन से उसकी चञ्चल तरंगे देखते ही बनती हैं[2]।

जनपदगान

भारत दर्शन में यदि भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि मथुरा-वृन्दावन का दर्शन न किया तो और क्या किया। शूरसेन जनपद का स्मरण आते ही कवि का हृदय पुलकित हो उठा। कालिन्दकन्या की उर्मिल लहरें, पुष्प-पल्लव-समृद्धि से समृद्ध वृदावन के उपवनों का

---

१. अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥ रघु० ६।३५॥

२. अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्तिकामः॥ वही ६।४३॥

विहार सभी कुछ तो आकर्षक है। विशेषकर वर्षाकाल में गोवर्धन पर्वत का सौन्दर्य तो बस देखने के ही लायक हुआ करता है। किस उमंग से कवि कहलाता है—'वर्षा के दिनों में जल की फुहारों से सिक्त और शिलाजनु आदि सुगन्धित प्रदार्थों से सुगन्धित गोवर्धन पर्वत की पत्थर की पाटियों पर बैठ कर सुहावनी गुफाओं में मोरों का मनोहर नाच देखना'[२]। कलिङ्ग में विशेष आकर्षण का केन्द्र है महेन्द्रपर्वत, उसका उल्लेख भर कर दिया और साथ ही बता डाला उसकी गज-शक्ति के बारे में भी। पर वहाँ की भूमि के जिस सौन्दर्य ने सबसे अधिक कवि के दिल को चुराया है, वह है हिलोरें लेता हुआ सागर और उसका गम्भीर गर्जन (६।५६)। ताड़ के बनों से सघन और दूसरे द्वीपों से आने वाली लोंग के फूलों की सुगन्धि से मादक, उस सागर के तटों पर विहार करने से जिस स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति होती है वह तो सर्वथा अनिर्वचनीय है[३]। और ऐसा ही अनुपम दृश्य है **'रत्नानुविद्धार्णव-मेखला दक्षिणदिशा'** का। क्या संसार में कहीं और मलय की वे रम्यघाटियाँ देखने को मिल सकती हैं? जहाँ पर कहीं तो तमाल के बनों की सघन शोभा है, पान की बेलों से ढके हुए सुपारी के वृक्ष हैं और कहीं इलायची की बेलों से लिपटे हुए चन्दन के वृक्ष हैं[४]। कितनी सुन्दरता और कितनी मादकता होगी इस वन प्रदेश में! इस सारे दृश्य का ध्यान करके ही ललक उठता है मन एक बार इन्हें देखने को। कालिदास ने अङ्ग, अवन्ती, अनूप, सूरसेन, कलिग और दक्षिणापथ का जिस उमंग और आत्मीयता के साथ वर्णन किया है वह उसे सच्चा राष्ट्रभक्त एवं आदर्श भारतपुत्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

---

१. संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥ रघु० ६।५० ॥

२. अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ वही ६।५१ ।

३. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ वही ६।५७ ॥

४. ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ वही ६।६४ ॥

भारत माँ का यह लाड़ला 'प्रकृतिपुत्र' इस देश की प्राकृतिक सौन्दर्य राशि पर तो दिलोजान से कुर्बान है। उस रूप का वर्णन करते हुए इसका जी कभी अघाता ही नहीं। इसे तो उस रूप में 'क्षणे क्षणे नवता' दिखाई देती है। भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य का यह जादू उसके सुकुमार हृदय पर ही पड़ गया था। सबसे पहले इस धरती की इसी सौन्दर्य मदिरा ने उसे उन्मादित किया था। इसी ने उसके भीतर के कवि को मुखरित होने की प्रेरणा दी थी। इसी के फलस्वरूप काव्य जगत् में 'ऋतु-संहार' की सृष्टि हुई और हमने देखा इस देश की प्रकृति-सुन्दरी के रंग बिरंगे रूप को। 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' में भी इसे खूब देखा और देखा उसकी नाट्य कृतियों में भी। 'रघुवंश' में भी कवि ने इस के लिए अवसर ढूढ़ निकाला है। महाराज दशरथ को कहीं विजय यात्रा की आवश्यकता नहीं पड़ी न सही, पर कवि उनके लिए वन यात्रा की योजना तो कर ही सकता था। अपनी इस यात्रा में दशरथ ने उत्तर भारत की प्रकृति के जिस वासन्ती रूप को देखा वह किसी भी हृदय को उन्मादित करने की क्षमता रखता है[1]। यह सारा का सारा वर्णन बहुत ही रोचक है। उत्तर भारत की वसन्तकालीन शोभा का जीवन्त चित्रण है। लता-पुष्प, पशु-पक्षी वृक्ष-वनस्पति के विविध रूपों एवं चेष्टाओं के भावुक वर्णन द्वारा कवि ने अपनी मातृभूमि के प्राकृतिक गौरव का ही गान किया है। ऐसा लगता है जैसे कि मानों अपनी रचनाओं में वह इस धरती के प्रत्येक रूप को अंकित कर देना चाहता है। प्रकारान्तर से देखा जाय तो उसकी रचनाओं की मूलध्वनि ही भारत-भारती का गान है।

भारत भूमि का आन्तरिक रूपांकन

भारत का यह सर्वोच्च राष्ट्रकवि अब तक अपनी रचनाओं में इस भूमि के उत्तरी भूभाग अथवा उत्तरापथ के रूप का निरूपण अनेकत्र और अनेक रूपों में कर चुका है। पर अनुपात की दृष्टि से दक्षिणापथ के भीतरी भूभाग का अधिक परिचय प्राप्त नहीं हो सका है। रघु की दिग्विजय में तथा इन्दुमती के स्वयंवर में कवि ने इसका जो गान किया उसका सम्बन्ध इसके भीतरी भाग से इतना नहीं जितना कि बाहरी भाग से है। भारत-गान की इस कमी

---

१. देखिए—रघु० ९।२४-४७

को पूरा किया गया है रघुवंश के तेरहवें सर्ग में। कवि ने विमान मार्ग से राम के द्वारा सेतुबन्ध से लेकर सरयू तक की समस्त भूमि के महत्त्वपूर्ण स्थलों का सम्यक् निरूपण कर दिया है। प्रारम्भ में ही पहले तो कवि ने १६ पद्यों में (१६।२-१७) 'लवणाम्बुराशि' के भयावह एवं मनोरम रूप का, उसकी जीव-जन्तु प्रकृति का तथा उसके वेलातट के अनुपम सौन्दर्य का निरूपण कर डाला है। समुन्द्ररचना से सम्बन्धित पौराणिक गाथाओं का भी उल्लेख कर दिया लगे हाथ ही।

समुद्र की बात समाप्त हुई, विमान ने भारतीय प्रदेश में प्रवेश किया तो कवि ने स्वयं 'रामाभिधानो हरि.' के द्वारा इस धरती की महिमा का गान कराया। देखिए भगवान् राम को कवि की यह भारतभूमि कैसी प्रिय लग रही है। जनस्थान की तपोभूमि उसके मृग, तथा लता-वृक्षों ने प्रभावित कर लिया (१३।२२-२५)। आगे दृष्टि पड़ी तो सामने गगन चुम्बी चोटियों के साथ माल्यवान खड़ा था। क्या ही अद्भुत रूप बन जाता है उसका वर्षाकाल में! वर्षा के कारण पोखरों से उठने वाली सौंधी-सौंधी गन्ध, खिलते हुए कदम्ब, उन पर गूजते हुए भौरों के झुण्ड, कन्दलियों की लाल-लाल कोपले, मेघों का गर्जन, सभी कुछ तो रमणीय होता है। यह दूसरी बात है कि किसी वियोगी के लिए कभी वही दुःखदायी बन गया हो (१३।२६-२८)। इस पर्वत से अनतिदूर ही तो स्थित है वह वेंतों के वनों से घिरा हुआ, सारस, हस और चक्रवाक के जोड़ों से अध्यासित कमलाकर, पम्पा सरोवर। यही तो है इस प्रदेश की विशेष पावन एव सुन्दर स्थली (१३।३०-३१)।

गायन्ति देवा किल गीतकानि

अन्दर को आते जाइए। एक से एक रमणीय स्थान देखने को मिलेंगे। गोदावरी और उसके तट पर स्थित पञ्चवटी का तो कहना ही क्या। इसकी सुखद. श्रमहर पवन और वेतस कुञ्जों की शोभा का तो रूप ही निराला है। पञ्चवटी से बढ़कर तपोभूमि कहाँ देखने को मिलेगी? जहाँ पर अगस्त्य, शातकर्णी, सुतीक्ष्ण, शरभङ्ग आदि एक से एक अधिक श्रेष्ठ साधकों ने सिद्धि प्राप्त की[1]। इनके

१. रघु० १३।३३-४६।

व्यक्तित्व और कृतित्व के बखान में कवि की लेखनी उमंगित सी हो उठी है। यही तो वे लोग हैं जिन्होंने अपने तप, तेज और ज्ञान से इस भूमि को पावन एवं गौरवान्वित किया है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की जड़ों को सींचा है। इन्हीं की शिक्षा का प्रभाव है कि इनके सम्पर्क में आने वाले वृक्ष भी अपने घर आये हुओं का सादर आतिथ्य सत्कार करते हैं। देखिए न! क्या थी यहाँ की संस्कृति!

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥रघु० १३।४६॥

(शरदभङ्ग ऋषि के आश्रम के वृक्ष उनकी मृत्यु के उपरान्त आश्रम में आए हुए अतिथियों का शीतल छाया और मधुर फलों से ऐसे ही आतिथ्य सत्कार किया करते है जैसे कि किसी पिता की सुयोग्य सन्तान उसके मरने के बाद भी उसके धर्म का पालन करती रहती है।)

पञ्चवटी का दिव्य प्रभाव अभी अपना रंग दिखा ही रहा था कि सामने उच्चशिखरों वाला चित्रकूट और उसके नीचे बहती हुई मन्दाकिनी के दृश्य ने मोह लिया। कवि मातृभूमि के कण्ठ में मोतियों का हार पहनाने के लिए उत्सुक हो उठा[1]। भारत माता के कण्ठ में मुक्तामाल पहनाने की कल्पना कवि को बहुत प्रिय है। मेघदूत में भी इसकी अभिव्यक्ति हुई थी[2]। ठीक तो है। पर्वत ही हमारी भारत माता के उन्नत उत्तमाङ्ग हैं और उसकी तलहटियों में प्रवाहित होने वाली निर्मलजला सरिताएँ है उसकी मुक्तामालाएँ। यही है वह अत्रि और अनसूया से पवित्रीकृत प्रदेश जहाँ परम पावनी गगा की धार भी प्रवाहित हुआ करती है।

त्रिवेणीसंगम को देखकर तो मानों कवि हर्ष विभोर होकर नाच उठा। उसका हृदय इतना भावाभिभूत हो उठा कि वह उस

१. एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमे. ॥१३।४८॥

२. त्वय्यदातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धो. पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमामज्यं दृष्टिम्,
एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूल-मध्येन्द्रनीलम् ॥ मेघ० ५० ॥

सौन्दर्य को नये तुले शब्दों में बाँध ही नहीं पाया। उस अलौकिक सौन्दर्य का आभास कराने के लिए अपने सक्षम एवं सिद्ध उपकरण उपमा का सहारा लिया पर वह भी लक्ष्य सिद्धि में असमर्थ ही रहा। एक, दो, तीन, चार, छह, सात उपमाएँ दे गया[1]। फिर भी शायद सन्तोष नही हुआ। ऐसा लगता है जैसे कवि उस समस्त सौन्दर्य का दर्शन अपने पाठकों को करा देना तो चाह रहा है, पर ज्यों-ज्यों वह शब्दों की पकड़ में उसे लाना चाह रहा है। त्यों-त्यों वह उसकी पकड़ से दूर खिसकता जा रहा है। शायद सौन्दर्याकन की ऐसी ही विकट परिस्थिति में कविवर बिहारी ने कहा होगा—

> लिखन बैठी जाकी छबी गहि गहि गरब गरूर।
> भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

गंगा-यमुना के सौन्दर्य का वर्णन तो क्या उपमाओं की ही गंगा-यमुना बहा दी। बस आगे आ रही थी उत्तर कौशल के इक्ष्वाकु शासकों की धात्री तथा उनके अश्वमेध स्नान से 'पुण्यतरीकृत' जलों वाली, ब्रह्मसरोद्गता सरयू[2]। इसके गुणगान में भी कवि ने काफी रस लिया है। पर यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि रघुवंश महाकाव्य के तेरह सर्ग समाप्त हो चुके हैं; रघुवंश के पांच परम प्रतापी शासकों को भी गुणगान हो चुका है; कम से कम चार यात्राओं की योजना भी हो चुकी है, पर न कहीं इस प्रसिद्ध राजधानी अयोध्या का ही संकीर्तन हुआ और न इस **'तुरंगमेधावभृथ'** से **'पुण्यतरीकृतजला'** सरयू का ही। अस्तु, सरयू की महिमा का गान तो यहाँ पर हो गया पर अयोध्या की बात को तो कवि ने फिर आगे के लिए टाल दिया है। शायद यह भी कवि की किसी **'उदार रमणीया'** नीति का ही अंग हो।

देश भक्त कवि के लिए 'हिमवत्किरीटा' और 'रत्नाकरमेखला' पृथ्वी का एक-एक कण पूजनीय है, पावन है। उसमें न कोई कम और न अधिक। किसी क्षेत्र विशेष में कोई व्यक्ति-विशेष जन्म परिग्रह करले तो इसका यह अभिप्राय तो नहीं कि समस्त राष्ट्र में

---

१. रघु० १३।५४-५७॥ श्लोकोद्धरण, देखिए—यथास्थान 'कालिदास की उपमाओं का वैशिष्ट्य'।

२. रघु० १३।६०-६३

उस स्थान का विशेष महत्त्व हो और अन्यों का कम। क्या काश्मीर में उत्पन्न होने वाला सच्चा देश-भक्त काश्मीर की भूमि की अपेक्षा केरल की भूमि के महत्त्व को कम समझेगा ? क्या वह उसे पराधीन होने देगा ? उसकी पावन धूलि को मातृभूमि की धूलि समझ कर माथे पर नही लगायेगा ? विगत चीनी सघर्ष में लद्दाख की बलिवेदी पर क्या लद्दाखियों या काश्मीरियों का ही खून बहा ? क्या उस पर किए गए आक्रमण के लिए समस्त राष्ट्र के राष्ट्र-भक्तों को समान रूप से दुःख व आक्रोश न था ? कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास ऐसा ही उदारहृदय देशभक्त कवि था।

अयोध्या के विषय में जानने की उत्सुकता हो तो प्रतीक्षा कीजिए। समय आने पर कवि उसके सारे नये पुराने रूप से आपका परिचय करा देगा। पर यदि आप चाहें कि क्योंकि वह वीर रघुवंशियों की राजधानी है, अतः उसे वर्णन में प्राथमिकता मिलनी चाहिए, यह शायद कालिदास से सम्भव नहीं हो सकेगा। उसकी दृष्टि में भारत-भूमि के किसी भी भूभाग का उतना ही महत्त्व है जितना कि अयोध्या का। उसके शासकों के चरित्रों में विशिष्टता है यह दूसरी बात है। क्षेत्रीय पक्षपात संकीर्ण-मनोवृत्ति के लोगों में हुआ करता है। दिलीप-रघु-दशरथ-राम आदि राष्ट्र-नायक थे, उनके ऊपर राष्ट्र को मान था, अतः उनको प्राथमिकता मिली। पर अयोध्या और सरयू मे तो कोई ऐसी बात नहीं थी। वे भी महत्त्व पूर्ण है, अतः उनका संकीर्तन प्रसंगवश हो जायेगा। प्राथमिकता वा पक्षपात का प्रश्न ही नहीं। हाँ तो अयोध्या का निरूपण हुआ इस महाकवि की शक्तिशाली लेखनी से रघुवंश के सोलहवे सर्ग में। तेहरवें सर्ग मे राजधानी का वर्णन करते भी तो कैसे करते ? जब राजा ही वनवासी और उपवन वासी हो गए तो फिर राजधानी की शोभा ही क्या रही होगी ? इन चौदह वर्षों मे राजमहलों का उपयोग न होने से सभी उजाड़ सा, सूना सा लगता होगा। इसीलिए कवि ने राम को साकेत के उपवनों में ही ठहरा लिया (१३।७९)।

इस बार तो अयोध्या को आशा थी कि चौदह वर्ष के बाद ही सही उसका पालक लौटकर आयेगा। उसको मातृभूमि एवं जन्म भूमि का स्नेह उसे सुवर्ण की लका को भी त्याग कर अपनी

कुल-राजधानी में आने के लिए बाध्य करेगा। पर इस बार जब उसने देखा कि कुश कुशावती के मोह से आकृष्ट हो कर सदा के लिए उसे छोड़ कर चला गया है तो फिर उससे न रहा गया। जब धैर्य और प्रतीक्षा का बाँध टूट गया तो स्वयं अयोध्या की अधिदेवता कुश के पास जा पहुँची, और रो-रो कर अयोध्या के विगत वैभव और विद्यमान विनाश का एक साथ ही बड़े जोरदार शब्दों में जीवन्त चित्र खींच डाला राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण कवि की वाणी 'भारत-भारती, भी इसी रूप में फूटी थी। देश की रक्षा करने वाले देशभक्तों के अभाव में देश की यही दशा हो जाती है। कुबेर की अलका को भी तिरस्कृत करने वाली यह वैभव नगरी अब इधर उधर छितराए हुए खंडहरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसकी दयनीय दशा देखकर रोना आता है। सारे कोठे और अटारियाँ टूट कर जमीन पर आ गए हैं। रात्रि में जिन राजपथों पर चमकते हुए बिछुए पहन कर नवयौवना अभिसारिकाएँ चला करती थीं उन पर अब सियारनें बोलती हैं। रमणियों की क्रीडागार बावलियों में जंगली भैंसे तैरते फिरते हैं। पालतू मोर जंगली हो गए हैं। सुन्दरियों के पैरों के महावर से रंजित हो वाली सीढ़ियाँ अब बाघों के खूनी पंजों से रंजित होती हैं। महलों के भीतर बने हुए जीवन्त भित्तिचित्र या तो हिंसक जीवों के नाखूनों से खुरच दिए गए हैं या साँपों की केंचुलियों से ढक गए हैं। मोतियों सी निर्मल अटारियाँ काई लगने से काली पड़ गई हैं। उद्यान की प्यारी-प्यारी लताओं को जंगली बन्दरों ने झकझोर कर छिन्न-भिन्न कर दिया है। झरोखों पर मकड़ियों के जाले भर गए हैं। सरयू तट की सारी रौनक ही जाती रही। सब ओर उजाड़ और सुनसान ही दिखाई देता है[1]।

कुश जन्म-भूमि की इस करुण कथाको सुनकर उसकी उपेक्षा न कर सका। एक बसे बसाए ऐश्वर्य सम्पन्न राजनगर को 'श्रोत्रियसात्' करके चल पड़ा जननी जन्मभूमि के खोए हुए गौरव को लौटाने के लिए[2]। कुश के समान कालिदास भी जल्दी से जल्दी अयोध्या पहुँचने के लिए उतावला दिखाई देता है। इसलिए कुश के प्रभावशाली सैन्यप्रयाण के अतिरिक्त

जननी जन्मभूमिश्च
स्वर्गादपि गरीयसी

१. रघु० १६।८-२१ ॥
२. कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः। रघु० १६।२५॥

और किसी बात का उल्लेख उसने नहीं किया[1]। विशेष वर्णनीय स्थान कोई था भी नहीं। विन्ध्य जरूर बीच में पड़ा, पर कवि ने कुश की सेना के द्वारा छिन्न-भिन्न रूप में मार्गान्वेषण की ओर संकेत करके उसने बीहड़पन के अतिरिक्त और किसी पक्ष पर प्रकाश नही डाला[2]। आवश्यकता भी शायद नहीं थी क्योंकि 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' में इस प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य पर पहले ही काफी प्रकाश डाला जा चुका था। यही कारण है कि कवि अज की विदर्भ यात्रा के समय भी मार्गस्थ विन्ध्य के विषय में मौन ही रहा। केवल नर्मदा का उल्लेख हुआ। वह भी उसकी वन्यगज शोभा के प्रसंग में।

कुश ने अयोध्या में वापस आकर फिर से उसे उसके प्राचीन गौरव एव समृद्धि को प्राप्त करा दिया[3]। जन्मभूमि के भक्त पुत्र से यह तो आशा की ही जाती थी। पर कालिदास ने विशेष रूप से टाँकने योग्य जो बात यहाँ लिखी है वह है—

वसन् स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम्।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय॥रघु० १६।४२॥

(अयोध्या अपने पुराने गौरव को प्राप्त हो गई और उसमें रहते हुए जानकी-सुत कुश को इतनी आत्मतृप्ति हुई कि उसे अब न देवताओं की वसति को प्राप्त करने की कामना रही और न कुवेर की बस्ती अलका को ही।) ठीक भी है, '**जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**'। समस्त रघुवश में कालिदास का जो देश प्रेम उमड़-उमड़ उठता था उसकी यहाँ इस उक्ति में पूर्णाहुति दिखाई देती है। इस सम्पूर्ण कथानक की योजना ही किसी विशेष अभिप्राय को सामने रख कर की गई प्रतीत होती है। संवेदनशील मानव कहीं कितने ही सुख वैभव वाले स्थान में क्यों न चला जाय पर जन्मभूमि की स्मृति उसके अवचेतन मन में छाई ही रहती है। उसे जन्मभूमि का

---

१. देखिए—रघु० १६० १६।२६—३६॥

२. मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥रघु० १६।३१॥

३. देखिए—रघु० १६।३८-४२॥

स्नेह पुकारता ही रहता है। और उस पुकार को सुन सकने वाला पुरुष कभी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह उसके दुःख को सुनकर आकुल हो उठता है और शीघ्र से शीघ्र वहाँ पहुंच कर उसके कष्ट को दूर करना चाहता है उसके चरणों में अपनी सेवाएँ अर्पित करना चाहता है। भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के अनेक सेनानी ऐसे ही थे जो कि अपने वैदेशिक सुखों एवं धन्धों को छोड़कर भारत माँ की पुकार पर उसकी दासता की बेड़ियों को काटने के लिए भारत की ओर चल पड़े थे।

साथ ही एक बात यह भी है कि जब तक मनुष्य अपनी जन्मभूमि से दूर नहीं होता तब तक उसे ठीक ठीक अनुभव ही नहीं हो सकता कि जन्मभूमि का प्यार कैसा होता है। और एक वार उस प्यार की तड़पन की अनुभूति को लेकर जब वह अपनी जन्मभूमि में आता है तो फिर वह भी कुश की भाँति उसे छोड़कर विश्व में कहीं भी नहीं जाना चाहता। वही उसे स्वर्ग और अलका से प्रिय लगती है। जन्मभूमि का प्यार ऐसा ही होता है। कालिदास इसे भली भाँति जानते थे। भारत-भूमि के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे विशेष अभिप्राय से राम को 'रामाभिधानोहरिः' कह कर फिर उनके द्वारा इस धरती के सौन्दर्य का आकाश से बखान करवाते हैं। है न वही स्वर! 'गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।' मैथिलेय कुश के द्वारा स्वर्ग और अलका से भी अयोध्या की जो श्रेष्ठता दिखलाई है वह तो उनका स्थान भारत-भक्तों में 'धुरि कीर्तनीय' ही सिद्ध करता है। इतने पर भी जिन लोगों को उसे 'राष्ट्रकवि' तथा उसकी रचनाओं को 'राष्ट्रगीत' कहने में संकोच होता हो उनकी बुद्धि पर तो दया ही की जा सकती है।

हिमवान् भारत माँ का मुकुट है, शीर्ष है, वहीं से भारतीय सभ्यता व संस्कृति का जन्म एवं पोषण हुआ है। हिमपुत्रियों के तटों पर ही हमारे वेदों व पुराणों का गान हुआ है। इन्ही तटों पर रामायण और महाभारत की रचना हुई है, यहीं के पावन आश्रमों में भारतीय जीवन तथा दर्शन को मार्गदर्शन मिला है। उसका यशोगान किए बिना भारतीय राष्ट्र का गान कैसे पूरा हो सकता है, वरन् सच तो

देवतात्मा का यशोगान

यह है कि इसके बिना भारतीय राष्ट्र की कल्पना ही अधूरी रह जाती है।

कालिदास ने प्रायः अपनी सभी रचनाओं में हिमवान् का बड़ा भव्य यशोगान किया है। उसके लिए हिमालय केवल भौतिक पदार्थों का ढेर ही नहीं, अपितु एक दिव्य रूप है। इसीलिए 'कुमारसम्भव' में इसके परिचय का प्रसंग आते ही बड़े उल्लास के साथ इसे 'देवतात्मा' कह कर तथा इसकी विशालता को 'पृथिवी का 'मानदण्ड' कह कर इसके प्रति अपनी अपूर्व गौरवमयी आस्था को व्यक्त किया[1]। वस्तुतः हिमवान् के प्रति कवि के अपूर्व प्रेम, श्रद्धा और भक्ति को देखकर यह विचार दृढ़ होता जाता है कि हो न हो कवि का जन्म स्थान यही हिमवत् प्रदेश है। साथ ही यह भी दर्शनीय है कि कवि ने न तो किसी अन्य प्रदेश के वर्णन में इतनी तन्मयता दिखलाई है और न किसी एक प्रदेश को अपनी सभी रचनाओं में इतना गौरवमय स्थान ही प्रदान किया है। तथा इसके इतने भौगोलिक परिचय तथा वनस्पति आदि के इतने निकट ज्ञान को देख कर तो विश्वास और भी अधिक दृढ़ होने लगता है। हिमालय का प्रसंग आते ही कवि का हृदय उल्लसित सा हो उठता है और वह भाव-विभोर होकर उसका निरूपण करने लगता है। अपनी प्रथम काव्य-रचना 'मेघदूत' से लेकर अन्तिम काव्यरचना 'रघुवंश' तथा नाट्य रचना 'शाकुन्तल' तक सर्वत्र ही उसने यथावसर इसका, इसके शिखरों और घाटियों का, इसके खनिजों तथा वनस्पतियों का, आश्रमों और सरिताओं का, वहाँ के निवासियों तथा लोक जीवन का चित्रण बड़े लगाव के साथ किया है। इस प्रदेश के वर्णन का उल्लास कवि में कुछ अधिक ही दिखाई देता है। इसलिए वह अपने सभी कथा-नायकों को किसी न किसी बहाने इस परमपावनी प्रकृति की क्रीड़ा स्थली में ले गया है। यहाँ पर प्रसगवश इतना और भी टाँक लेने योग्य है कि यद्यपि **'पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्ड.'** की अभिव्यक्ति द्वारा राष्ट्रकवि के रूप में कालिदास ने पूर्व से लेकर पश्चिम समुद्र तक फ़ैले हुए भारत माँ के इस विशाल मुकुट के प्रत्येक कण के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त किया है, किन्तु निकट वर्णन की दृष्टि से उसने जिस रूप को अधिक जीवन्त

---

१. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ कुमार० १।१।

एवं परिचित रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है वह उसका वह रूप प्रतीत होता है जिसे कि हम आजकल उत्तराखण्ड वा बद्री-केदार के नाम से जानते हैं। इसके समर्थन में दो बातें प्रमुख रूप से हमारे सामने आती हैं। एक तो यह कि क्या 'मेघदूत' क्या 'कुमारसम्भव' तथा क्या 'विक्रमोर्वशी' सर्वत्र ही कवि ने अपरिहार्य रूप से हिमवान् के साथ गंगा का उल्लेख किया है[१]। मानो कि गंगा के बिना हिमालय की कल्पना ही नही हो सकती। दूसरा यह कि 'मेघदूत' में यक्ष मेघ को इतना घुमा फिरा कर हिमवान् के जिस प्रदेश में भेजता है वह हरिद्वार अथवा कनखल के आगे का हिमवत् प्रदेश है। यदि कवि के मेघ का लक्ष्यस्थान काश्मीर वा अमरनाथ वाला भूखण्ड होता तो वह अवश्य ही मेघ को सरस्वती का जलपान करा कर वहीं से उत्तर की ओर मोड़ देता तथा मार्ग में शतद्रु, विपाशा आदि वैदिक काल से ही प्रसिद्ध एवं पावन सरिताओं का दर्शन व जलपान कराता। इस प्रसंग को हमने यहाँ इसलिए उठाया है कि कवि के इस विशेष मोह से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलने पर भी कि यही हिमवत् प्रदेश उसकी शैशव की क्रीड़ा स्थली है, उसने इस विशाल भूखण्ड के अन्य स्थानों के वर्णन में अपने राष्ट्र प्रेम को संकीर्ण नहीं होने दिया है। फलतः दक्षिण का भी उसी लगाव तथा आस्था के साथ गुणगान किया जैसे कि उत्तर का। 'मेघदूत' तथा

---

१. (क) तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलाम्...। पूर्व मेघ ६३।

(ख) (i) भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः।
गंगासीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे॥ रघु० ४।७३।

(ii) गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश।
रघु० २।२६।

(ग) (i) भागीरथीनिर्झरसीकराणा वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥
कुमार० १।१५।

(ii) गंगास्रोत. परिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितोषधि। आदि।
कुमार० ६।३८॥

(घ) मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलिभिः क्रीडन्ती...
विक्रम० ४।२ के बाद।

'रघुवंश' में कवि ने हिमवान् के जिस रूप का गुणमान किया है उसका संकेत हम ऊपर कर ही चुके हैं। अब यहाँ हम विशेष कर 'कुमारसम्भव' तथा उसकी नाट्य कृतियों के परिवेश में देखेंगे कि उसने हमारे सामने हिमालय के आन्तरिक सौन्दर्य को किस रूप में प्रस्तुत किया है।

हिमवान् के आन्तरिक भागों की मनोहारिणी प्राकृतिक छटा व पुनीत आश्रमों का दर्शन कराने से पूर्व उसके बाह्य तथा स्थूल रूप के दर्शन कराता हुआ वह कहता है—'भारतवर्ष के उत्तरी छोर पर संसार के सभी पर्वतों से उन्नत हिमालय नाम का दिव्य पर्वत है। इसकी शृंखलाएँ पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैली हुई हैं। जिनके कारण यह ऐसा लगता जैसे कि इस पृथ्वी को तोलने का मानदण्ड हो[1]।' जैसे कि अपनी व्यञ्जनात्मक शैली से थोड़े से चुने हुए शब्दों में कालिदास किसी का परिचय दिया करते है, वैसे ही प्रारम्भ में ही उन्होंने हिमालय का परिचय दे दिया। ग्रन्थारम्भ में मंगल श्लोक के स्थान पर कालिदास ने इसे रखा है, इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस 'देवतात्मा' के प्रति कालिदास का क्या भाव है।

हिमवत्-दर्शन कुमारसम्भव के परिवेश में

जिस प्रकार उज्जयिनी एवं मालव प्रदेश के भूभाग को कवि ने निकट से देखा था और उसके प्रसंग में वहाँ की छोटी-छोटी चीजों का भी उल्लेख कर गया, वैसे ही हिमवान् के भूभाग को भी उसने अति निकट से देखा था, उसके शिखर, पर्वत-शृंखलाएँ, नद, नदी, वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, वनज, खनिज आदि सभी के रूप रंग को देखा था। स्वयं अनेक बार प्रकृति के बदलते हुए रूपों को देखा था, उन्हें सराहा था और उनसे प्रेरणा प्राप्त की थी।

कालिदास का अनुशीलन करने वाले विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में '**पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य**' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल में '**पूर्वापरः समुद्रावगाढ़**' के द्वारा हिमालय की जिन पर्वत शृंखलाओं का उल्लेख किया है वे वही दो पर्वत शृंखलाएँ है जिनका उल्लेख आधुनिक भूगोलवेत्ता **जान आर्थर** ने अपने ग्रन्थ 'ऑक्सफोर्ड स्कूल एटलस' में किया है तथा

---

१. कुमार० १।१।

जिनमें से प्रथम श्रेणि १२००० फुट ऊँची और दूसरी ६००० फुट ऊँची है। ये दोनों पर्वत श्रेणियाँ समानान्तर रेखा बनी हुई पूर्वी समुद्र तक पहुँचती हैं। हवाई जहाज में चढ़कर कालिदास के इस कथन की सत्यता आँकी जा सकती है। कि 'दोनों पर्वत श्रेणियाँ पूर्वी समुद्र और पश्चिमी समुद्र में स्नान करती हुई सी जान पड़ती हैं'। हिमालय की ये दोनो पर्वत श्रेणियाँ नामकिउ, पतकोई और आराकान नामों से पूर्व में बंगाल सागर तक पहुंचती हैं और पश्चिम में हिन्दूकुश, सफेदकोह, सुलेमान और किरथर नामों से अरबसागर तक पहुँचती हैं। इन दोनों पर्वत श्रेणियों की पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में स्नान की कालिदास ने जो कल्पना की है वह सार्थक और यथार्थ है[१]।

हिमवान् तथा उसकी उपत्यकाओं के साथ कवि का इतना निकट परिचय है तथा उनकी मोहनी उसके मन पर ऐसी छाई हुई है कि उनका प्रसंग आते ही वह समस्त विश्व को उसका मनोहारी अद्भुत रूप दिखाने के लिए उतावला सा हो उठता है। कुमार-सम्भव में इसे दिखाने का अच्छा अवसर मिल गया। अतः 'देवतात्मा' के मंगलाचरण के बाद ही उसकी एक से एक विशेषता का निरूपण करने में तन्मय हो गया। सबसे पहले उन जड़ी बूटियों का उल्लेख हुआ जिनके अमोघ प्रभाव को सभी चिकित्साविशारदों ने माना है। कवि ने हिमालय की चोटियों पर बादलों के उन बदलते हुए रंगों को भी देखा था जो कि वहाँ की गेरू आदि की रंगीन चट्टानों के प्रभाव से हो जाते हैं। अतः उस अद्भुत प्राकृतिक दृश्य का भी उल्लेख हो गया (१।४)। जिन लोगों ने कभी पर्वतों पर वर्षाकाल व मेघों की क्रीड़ा नहीं देखी है उनके लिए यह भी कम कौतूहल की बात न थी कि वहाँ पर मेघ लोगों की आवास भूमि से भी नीचे उतर आते हैं। किसी चोटी पर बसा हुआ गाँव बादलों से ऊपर होता है और नीचे का गाँव बादलों से नीचे। जिसने कभी यह रूप न देखा हो उसके लिए तो यह 'कौतुकाधान' होगा ही। क्या ही अद्भुत रूप होता है प्रकृति का, कि नीचे के भाग में वर्षा हो रही होती है और ऊपर के भाग में धूप चमक रही होती है (१।५)। हिमवान् की गुहाओं में शयन करने वाले सिंह कितने मस्त होते हैं इसका उल्लेख कवि ने 'रघुवंश' में भी किया और यहाँ भी[२]। हिमालय दर्शन में

---

१. श्री देवदत्त शास्त्री—कालिदास : एक अनुशीलन पृ० ४३—४४

२. कुमार० १।७।

यदि देवदारु, नमेरु और भूर्जपत्र के दर्शन न किए तो और क्या किया, यही तो उसकी शान है और बहुमूल्य वन-सम्पत्ति है। कालिदास भला इनको कैसे भूल सकता था ? लम्बा-तड़ंगा, आकाश को छूता हुआ सा देवदारु, घनी छाया वाले नमेरु तथा अपनी त्वक् सम्पत्ति के धनी भूर्ज तो हिमालय के अभिन्न अंग है। कवि ने तो उन्हें बहुत निकट से देखा था। जब हवा चलती थी तो भूर्जवृक्ष के सूखे हुए त्वक्-पत्र खड़ा-खड़ा उठते थे, उन पर लिखे गए अक्षर ऐसे लगते थे जैसे कि हाथी की सूंड पर बनाई गई लाल बुँदकियाँ हों, लोग इसकी छाल के कपड़े भी पहन लेते थे[1]। नमेरु की घनी और शीतल छाया किसी भी श्रान्त की थकान को मिटाने के लिए पर्याप्त थी[2]। देवदारु स्वयं दर्शनीय तो था ही पर उसकी छाल या शाखाओं को छीलने या काटने से उसके दुग्ध-रस से जो एक मादक गन्ध आती थी वह सारे वन को ही महका डालती थी। कवि को यह गन्ध बड़ी प्यारी लगती थी[3]। इसलिए कवि ने 'रघुवंश' 'कुमारसम्भव' तथा 'मेघदूत' सभी में इसका उल्लेख किया है।

इसी प्रकार हिमवान् के दर्शन में यदि 'कस्तूरी मृगों' और 'चमरियों' का दर्शन नहीं किया तो हिमालय दर्शन अधूरा ही कहलायेगा। भूर्ज और देवदारु यदि वन सम्पत्ति में मूर्धन्य है तो 'नाभिगन्धमृग' तथा 'चमरी' पशु सम्पत्ति में। ये दोनों ही जीव ऐसे हैं जोकि हिमवान् के अतिरिक्त संसार के और किसी

---

१. रघु० ४,७३; कुमार० १।७।

२. विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिका।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभि॥ रघु० ४।७४।

३. रघु० ४।७[illegible], २।३६; कुमार० १।१५; १।५३; १।६।
भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः॥ उत्तर मेघ०।

४. (क) आसीनानां सुरभितशिलं [illegible]। पूर्व मेघ०।
(ख) तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसघट्टजन्मा।
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः॥ मेघ०॥
(ग) रघु० ४।७३ कुमार० १।१३; ५३ आदिः। ५. कुमार० १।१०
रघु० २।४६।

भाग में होते ही नहीं। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' में इनका विशेष रूप से उल्लेख किया है[1]। ऐसे ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है यहाँ की चमकदार जड़ी-बूटियाँ जोकि अन्धकार में चमकती थीं तथा वे गहन गुफाएँ है जहाँ कि दोपहर के समय भी अन्धकार ही छाया रहता था[2]। यह तो है हिमालय का वह रूप जोकि ८००० फुट से लेकर १४—१५ हजार फुट तक के बीच पाया जाता है। इस बीच इसकी कुछ घाटियाँ ऐसी हैं जोकि सदा हिम से आच्छादित रहती है तथा कुछ ऐसी हैं जहाँ हिम-पात होता तो है पर सूर्य की किरणों से पिघल उठता है। इन्हें ही शायद हिमकूट वा हेमकूट कहा जाता था। कवि ने स्वयं उस दृश्य को देखा भी था जब कि सूर्य की किरणों के स्पर्श से बर्फ पिघल उठती है और सूर्य की सुनहरी किरणों से वह बहता हुआ हिम-जल सुवर्णरस (**कनकरसनिःस्यन्दः०** शाकु० अंक ७) सा दिखाई देता है।

हिमवान् की उपत्यकाओं का सौन्दर्य

पर हिमवान् की उपत्यकाएँ तथा तलहटियाँ भी तो कम रमणीय नहीं। मानवजीवन तथा प्राकृतिक जीवन की जो विविधता इन क्षेत्रों में देखने को मिलती हैं वह उन उन्नत भागों में नहीं। इन्हीं प्रदेशों में ऋषियों और मुनियों के वे आश्रम हैं जिनसे भारतीय-संस्कृति को जीवन तथा पोषण मिला है। कवि का हिमवान् के इन भागों से भी कुछ इतना अधिक लगाव है कि उसके सीमाहीन राष्ट्र-प्रेम के बावजूद भी इनके वर्णन के प्रति उसका कुछ आन्तरिक पक्षपात सा व्यञ्जित होने लगता है। इनका चित्रण कवि ने जिस लगाव के साथ तथा जिस जीवन्त रूप में किया है उससे कम से कम इतना तो अवश्य स्पष्ट हो उठता है कि कवि ने इस भूभाग का बड़े निकट से तथा दीर्घ काल तक सौन्दर्य बोध किया है। इन प्रदेशों के प्रति कवि के पक्षपात का स्पष्ट रूप 'रघुवंश' के प्रथम तथा द्वितीय सर्ग में देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि दिलीप आदि रघुवंशी नरेश 'उत्तर कोशल' के शासक थे, गुरु वशिष्ठ का आश्रम भी अयोध्या के निकट ही था, पर हमारा कवि जब दिलीप को उनके आश्रम की ओर लेकर चलता है तो ऐसा लगता जैसे कि वे हिमालय की तराई

वाले भाग में होकर जा रहे हैं। जिन्होंने हरिद्वार से लेकर नेपाल की सीमा तक के भू-भाग को तथा वन-प्रदेश को देखा है वे साक्षी दे सकते है कि कवि साल वृक्षों के जिन सघन वनों, वहाँ की वनस्पति तथा पशु-पक्षियों के जिन रूपों का वहाँ वर्णन करता है वे केवल हिमालय की इस तराई वाले भाग के साथ ही समुचित रूप से मेल खाते है। 'गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरमाविवेश' की संगति भला इस प्रदेश के अतिरिक्त और कहाँ हो सकती है?

कवि के जन्मभूमि विषयक विवाद में पड़ना अभिमत न होने पर भी यहाँ प्रसंगतः उसके हृदय की उस दुर्बलता का संकेत कर दिया जिसके प्रति प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की भी आस्था है। प्रसंग है हिमवान् के निचले भागों के सौन्दर्य का दर्शन। हम कह ही चुके हैं कि कवि ने इन स्थानों की स्थिति तथा प्रकृति को बहुत निकट से देखा है तथा वह इनके सौन्दर्य पर मुग्ध है। उसने अपनी अमर लेखनी से उसके कुछ विशिष्ट रूपों का दर्शन अपने पाठकों को भी कराया है। विशेषकर 'रघुवंश' तथा 'शाकुन्तल' में उसने इन रूपों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की अधिक चेष्टा की है।

हिमवान् के ऊपरी भागों के विषय में 'रघुवंश' 'कुमारसम्भव' तथा 'मेघदूत' में जो कुछ कहा गया है उसकी ओर ऊपर की पंक्तियों में प्रकाश डाला गया है अब हम यहाँ उसके निचले भागों की सौन्दर्य राशि पर कुछ विचार करेंगे।

ये स्थान वस्तुतः इतनी शान्ति और सौन्दर्य के आगार हैं कि इन्हें देखते ही कोई भी कह उठेगा—'यह तो स्वर्ग से भी अधिक शान्तिप्रद स्थान हैं' 'यहाँ आकर तो ऐसा लगता है जैसे कि अमृत के सरोवर में स्थान कर लिया हो[१]'। उच्चतर हिमालय यदि अपने भूर्ज और देवदारु की सम्पत्ति से आपको मुग्ध करता है तो यह निम्न हिमालय अपने मन्दार, अशोक, बकुल, सप्तच्छद, केसर, को विदार, आम्र और साल के अतुल और अनोखे वैभव से आप

१. राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृत्तिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि। शाकु० ७।११। प०

को मुग्ध किए बिना नहीं रह सकता[१],† । इन बनों में एक बार चले जाइए—कहीं तो साल के गोंद की गन्ध से तथा फूलों के पराग से युक्त सुगन्धितवायु आपकी सेवा में उपस्थित हो जायेगा[२] और कहीं पहाड़ी झरनों की फुहार से लदा हुआ पुष्यगन्धी शीतल वायु आपकी सेवा में प्रवृत्त होगा[३] । इसके अतिरिक्त नवमालिका, माधवी (वासन्ती), मालती, आदि लताएँ भी जहाँ एक ओर अपनी सुगन्धि से वायु को सुगन्धित करके आपकी सेवा करेंगी, वहीं उनके निकट जाने पर अपनी पुष्पवृष्टि के द्वारा आपका भरपूर स्वागत भी करेंगी[४] । इन्हीं वनों में बाँसों के घने कुञ्जों में से हवा के कारण गूंज उठने वाले वेणुवादन की मधुर ध्वनि भी आपके स्वागत के कार्य में पीछे नहीं रह सकती[५] । कहीं जल-प्रपापों के निकट की हरियाली आपकी दृष्टि का अनुरञ्जन करेगी तो कहीं लाल लाल मिट्टी की अधित्यकाओं पर फूले हुए लोध्र के वृक्ष अनुपम छटा दिखलायेंगे[६] । हिमवान् के इन भागों में भी आपको ऐसी गहन

---

१. शाकु० ७। अदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षम्; अस्मिन्नशोकमूलेतावदास्यतामायुष्मन् । शाकु० २।१ एष वातेरित···मां केसरवृक्षकः; इयं स्वयंवरवधू बालसहकारस्य; ऋतु० ३।६, १३ ऋतु० ६ ।
रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः ।
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ॥ उत्तर०, तु० ऋतु० २।२१ ।

† वनस्पतिशास्त्रियों के अनुसार चारहजार फुट तक ही इनकी उत्पत्ति सम्भव है ।

२. सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ रघु० १।३८ ।

३. पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी । रघु० २।१३ ।

४. अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥
रघु० २।१० । ऋतु० २।१५।

५. सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भि० । वही २।१२ ।

६. गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पम् (२।२६), अपि च २।१७, सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६।६० ।
अधित्यकायामिवधातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ।
॥ वही २।२९ ॥ तु० ऋतु० ४।१ ।

गुहाएँ देखने को मिल सकती हैं जिनमें कि दिन के समय भी घना अन्धकार छाया रहता है और आपकी ध्वनि से प्रतिध्वनित हो उठती हैं[१]।

उच्चतर हिमवान् यदि अपनी चमरी और कस्तूरी मृगों की पशु सम्पत्ति से गौरन्वित है तो उसकी तलहटियाँ भी किसी प्रकार उससे कम नहीं। भोले-भाले, बड़ी-बड़ी आखों वाले, प्यारे-प्यारे हिरन तो मानो यहाँ के जीवन के अभिन्न अङ्ग हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के भयावने जंगली सूअर, जंगली भैंसे, जंगली हाथी, रीछ, चीते और सिंह भी शिकार के शौकीनों के लिए कम आकर्षण नहीं रखते[२]। हिमालय की तराई का यह प्रदेश आज भी अपनी इस वन्य समृद्धि के लिए देश-विदेश के साहसी लक्ष्यवेधाभिमानियों को चुनौती देता रहता है।

इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों के पक्षि-कुलों का भी कम आकर्षण नहीं। भारत का राष्ट्रीय पक्षी मोर तो इस प्रदेश में बहुतायत से देखने को मिलेगा। कालिदास को भी यह बहुत प्रिय था। इसीलिए अनेकत्र वह इसका उल्लेख करना नहीं भूले[३]। शुक[४], हंस[५],

---

१. अथान्धकारं गिरिगह्वराणाम्० रघु० (२।४६) प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन रघु० २।५१; ८।५४।

२. (क) स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥
वही २।१७।

(ख) गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्० शाकु० २।६।

(ग) विदूषकः—'अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल.,' इति० 'नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य मुखे पतिष्यसि।' वही, तथा च – विक्रम० ४।५; १४; २३; २८; ४८।

३. रघु० २।१७; १।३९, पूर्व मेघ० २४; ४८, उत्तर० १९; शाकु० ४, १२; ऋतु० २।६, विक्रम० ४।२०–२२।

४. शाकु० १।१४; नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखाः, रघु० ५।७४; ऋतु० ३।८; ११; १६।

५. विक्रम० ४।१–३; ६; ४१, रघु० ४।१९, शाकु० ६।१७, उत्तर मेघ०, १६ ऋतु० १।५।

सारस[1] चक्रवाक[2] कोकिल[3] कुररी[4] आदि न जाने कितने प्रकार के पक्षियों से इस प्रदेश का प्राकृतिक सौन्दर्य भरपूर है। इनके रंग-विरंगे रूपों तथा कल निनाद से सर, सरोवर, नदी, वन, पर्वत एवं उद्यान आदि सभी में एक अनोखा आकर्षण देखने को मिलता है। शरत् के प्रारम्भ होते ही उच्चतर हिमालय में रहने वाले अनेक पशु-पक्षी भी हिमवान् के इन निचले भागों में उतर आते हैं। इन सबका रूप व शोभा दर्शनीय होती है।

इन प्रदेशों में बहने वाली छोटी-छोटी पहाड़ी नदियों का भी अपना विशेष सौन्दर्य एव महत्त्व है। उनके कलकल निनाद की मधुरता किसी प्रकृति-प्रेमी को मुग्ध किए बिना नहीं रह सकती। इनके किनारों के लतावलय[5], सुकोमल रेतीले तटों पर पक्षियों की क्रीड़ा[6] और इन्हीं के रम्य वातावरण में स्थित ऋषियों के आश्रम सभी कुछ तो परम दर्शनीय हैं[7]। इन नदियों का महत्त्व भी पतित पावनी गंगा से कम नहीं। ऋषियों और मुनियों ने अपने स्नान से इनके जलों को पवित्र कर दिया है तथा अपने पावन सम्पर्क से इस समस्त भू-भाग को ही परम पावन तीर्थों के रूप में परिवर्तित कर डाला है[8]। इस प्रसंग में कालिदास ने हिमवान् के पादप्रदेश (गढवाल के तराई प्रदेश) में बहने वाली मालिनी नदी तथा उसके तट पर स्थित कण्वाश्रम के प्रति विशेष अनुराग दिखलाया है[9]। इस प्रदेश का जो आँखों देखा वर्णन कालिदास

---

१. रघु० १।४०; ऋतु० ३।८; १६; ४।८; ५।१।

२. शाकु० ३।२२ प० चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरम्। ४।१६ तथा पूर्व।

३. ऋतु० ६।१६; २३; २६ शाकु- ४।१०; ६।४ विक्रम० ४।२४।

४. रघु० १४।६८ चक्रन्द्र विग्ना कुररीव भूयः।

५. लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु। शाकु० ३।

६. सैकतलीनहंस०। शाकु० ६।१७।

७. एष खलु कण्वस्य महर्षेरनुमालिनीतीरम् आश्रमो दृश्यते। शाकु० १।

८. रघु० १४।७६; कण्वाश्रमं कौटितीर्थम्। अग्निपुराण अ० १०६ श्लो० १०।

९. (क) एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः। शाकु० अंक ५

(ख) कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाकु० ०६।१७।

ने किया है उसकी तुलना में यदि कोई वर्णन टिक सकता है तो वह है मालव प्रदेश का। पर परिचय के साथ आत्मीयता की झलक फिर भी इस प्रदेश में अधिक देखने को मिलती है। यदि भारत की छहों ऋतुओं का नर्तन और विलास आपको कहीं देखने को मिल सकता है तो वह भी बस इसी प्रदेश में। लगता है कि इसी प्रदेश को सम्मुख रख कर कालिदास ने ऋतुसंहार की रचना की है। इसमें वर्णित प्रत्येक ऋतु सम्बन्धी प्राकृतिक विशेषताओं, शस्यान्नों, वनस्पदियों एवं जीवजन्तुओं का जो रूप इन वर्णनों में उभारा गया है वह समस्त रूप से भारत के किसी अन्य भू-भाग में सामान्यतया नही पाया जा सकता। हिमवान् की उपत्यकाएँ तथा उसकी तराई के भू-भाग इन सभी प्राकृतिक निधियों से अत्यधिक सम्पन्न हैं, कालिदास ने विशेष कर ऋतुसंहार में अपने पाठकों को भारत भूमि के जिस भाग के उन्मुक्त एवं बहुरंगी दर्शन कराए हैं हमारे विचार से वह यही हिमवान् की तलहटियों का सम्पन्न प्रदेश है।

उप-संहार

कहने का अभिप्राय यह है कि कवि मूलतः चाहे जिस भू-भाग का भी निवासी रहा हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसका राष्ट्रीय दृष्टिकोण विशाल था। वैदिक ऋषि के समान ही उसके समक्ष यही उदात्त आदर्श था- **'माता पृथिवी पुत्रोऽहं तस्याः'**। इसी उदात्त आदर्श को लेकर उसने जहाँ भी जितना भी हो सका कैलास से लेकर कन्याकुमारी तक तथा द्वारिका से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वर तक की समस्त भूमि को मातृभूमि मान कर उसके कण-कण में पावनता एवं महानता की अनुभूति करके उन्मुक्त कण्ठ से उसका गुण-गान किया है और इससे अपनी वाणी को सार्थक माना है। मातृभूमि के इस परम पावन यशोगान का ही परिणाम है कि उसका भौतिक पिण्ड कब का नष्ट हो जाने पर भी उसका यशःशरीर अब तक जीवित है। आज भारत के प्रत्येक कोने का निवासी उसे अपना कहने में गौरव समझता है और इस कवीश्वर को सश्रद्ध स्मरण करता है। धन्य है भारत और भारती का लाड़ला पूत ! ठीक ही है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

संस्कृति एवं आदर्शों का निरूपक : कालिदास

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

कालिदास भारतीय संस्कृति के व्याख्याता (exponent of Indian culture) कहे जाते हैं और उनके रघुवंश को भारतीय संस्कृति के निरूपक ग्रन्थों में तीसरा स्थान दिया जा सकता है। प्रथम दो स्थान रामायण और महाभारत को प्राप्त हैं ही। आर्य संस्कृति के वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक आदि सभी आदर्शों का निरूपण कालिदास ने अपनी इस महान् कृति में किया है। इस ग्रन्थ में भारतीय जीवन की सम्पूर्णता एव विविधता को उसके मूल रूप में प्रतिविम्बित किया गया है। संस्कृत साहित्य का कोई भी ऐसा अन्य ग्रन्थ नहीं जिसमें कि भारत देश और भारतीय संस्कृति का ऐसा साङ्गोपाङ्ग निरूपण हो सका हो। इसीलिए कालिदास ने इस ग्रन्थरत्न के नायकत्व के लिए किसी एक व्यक्ति को नायक न चुनकर एक उदात्तचरित वंश को ही इसका नायक चुना है। व्यक्ति स्वय में चाहे कितना ही पूर्ण क्यों न हो पर उसकी भी सीमाएँ हैं। भारतीय संस्कृति विशाल एवं विविध रूपा है। इसमें अनेकता भी है और एकता भी। वह सब एक व्यक्ति में सम्भव नहीं हो सकता था। जो कुछ इस संस्कृति में पोषित प्रत्येक आदर्श व्यक्ति में सम्भव हो सकता था, वह था मनुविहित वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप जीवन-यापन। वर्णव्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था ही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। इसलिए समाज के मूलाधार आश्रमव्यवस्था के सर्वसामान्य रूप की व्यवस्था उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कर दी। बचपन में विद्याध्ययन, यौवन में संसारिक सुख-भोग, वार्धक्य में मुनिवृत्ति और अन्त में योग से शरीरत्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। यही तो है न आर्य जाति की आश्रम व्यवस्था[1] ? इन्हीं

---

१. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुः त्यजाम् ॥ रघु० १।८।

का विधिवत् पालन करने से समाज में सुख, शान्ति और समृद्धि की वृद्धि हो सकती है। मानवमात्र का इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण हो सकता है। कालिदास ने अपने आदर्शतम नायक रघु' मे इस व्यवस्था को भली भाँति दिखाया है[1]। अन्यत्र किसी में उसके किसी रूप को और किसी में किसी रूप को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया।

गृहस्थाश्रम

जिस प्रकार समाज की आधारभित्ति 'वर्णाश्रम' व्यवस्था है, उसी प्रकार आश्रमों की आधारभित्ति 'गृहस्थाश्रम'! कालिदास ने इसे सब आश्रमों का उपकारक आश्रम कहा है[2]। चतुर्वर्ग में से 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति भी इसी आश्रम में होती है। कालिदास तो इसे इहलोक के कल्याण के साथ पारलौकिक कल्याण का भी आधार मानता है। क्योंकि सन्तति को देने वाला आश्रम यही है, इसी से मानव पितृऋण के बन्धन से मुक्त होता है[3]। उत्तम सन्तान इहलोक और परलोक उभयत्र कल्याण करने वाली होती है[4]। धार्मिक क्रियाओ में सत्पत्नियों का महत्त्वपूर्ण योग होता है[5]। इस प्रकार देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'पुरुषार्थचतुष्टय' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति केवल इसी आश्रम का विधिवत् पालन करने से हो सकती है। अतः कालिदास ने आश्रम व्यवस्था में इस आश्रम पर सबसे अधिक प्रकाश डाला है। 'कुमारसम्भव' में भी हम देखते है कि वशिष्ठ के सद्गृहस्थ का भगवान् शकर पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन में भी गृहस्थी बनने की भावना प्रबल हो उठी थी[6]।

---

१. देखिए—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ रघु० ३।२८—३३।
वानप्रस्थ और सन्यास—रघु० ७।७१, ८।१५—२४।

२. कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीय सर्वोपकारक्षममाश्रम ते ।। रघु० ५।१०।

३. ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवल तथा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ।।
रघु० ३।२०।

४. लोकान्तरसुख पुण्य तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।। रघु० १।६९।

५. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ।। कुमार० ६।१३।

६. कुमार० ६।११-१३ (तद्दर्शनादभूच्छम्भोभूयान्दारार्थमादरः)।

स्पष्ट है कि गृहस्थ का आधार है विवाह। अतः कालिदास ने केवल काम या वासना की पूर्ति के लिए विवाह की व्यवस्था नहीं दी है[१]। गृहस्थ की पूर्ति के लिए शास्त्र सम्मत विवाह दीक्षा की आवश्यकता है। 'रघुवंश' में सभी का विवाह धर्मसम्मत विधि से हुआ है। वरवधू का चुनाव चाहे माता पिता की सम्मति से (रघु०), स्वयंवर से (अजदशरथ-राम) अथवा प्रतिकृति से (सुदर्शन), जैसे भी हुआ हो पर उसकी पूर्ति शास्त्रीय विधान द्वारा ही हुई है[२]। इस प्रकार गृहस्थाश्रम मे दीक्षित व्यक्ति ही अपना तथा वंश का कल्याण कर सकता है। अग्निवर्ण के विवाह के विषय में कवि मौन है। लगता है वह शास्त्रीय विधि से नही हुआ था, अग्निवर्ण ने गृहस्थ की दीक्षा नहीं ली थी। परिणामतः गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्वपूर्ण निर्वाह नहीं हो सका। गृहिणी की अपेक्षा रूपाजीवाओं की आराधना हुई (१९।१९)। फलतः गृहस्थ चौपट हो गया। इहलोक भी असमय में चला गया और परलोक तो गया ही। 'शाकुन्तल' में शकुन्तला और दुष्यन्त की विपत्ति का कारण उनका अशास्त्रीय विवाह ही बना। दुष्यन्त ने शकुन्तला को गृहिणी बनाने के लिए वा गृहस्थ बनने के लिए प्यार नहीं किया था। यह तो शकुन्तला का सौभाग्य था कि वह अनचाहे ही गृहस्थ बन गई और यही गृहस्थ था जिसने कि उसे गौरवान्वित किया था। यहाँ तक कि शंकर और पार्वती का इतना प्ररूढ स्नेह भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने के लिए शास्त्रीय दीक्षा की अपेक्षा रखता है। अज और इन्दुमती[३] तथा शंकर और पार्वती[४] के विवाह में भारतीय विवाह दीक्षा का जो सविस्तर वर्णन किया है उससे ही स्पष्ट हो जाता है कि वे विवाह के किस रूप को अधिक उपयुक्त समझते थे।

---

१. प्रजायैगृहमेधिनाम्, रघु १।७।

२. रघु० ३।३३; ७।१७-२७; ११।५३; १८।५३ ।

३. रघु० ७।१७–२८ ।

४. कुमार० ७।७२-९० ।

समाज में दाम्पत्य जीवन का क्षेत्र बड़ा विशाल है। उसकी इदृक्ता तथा इयत्ता नहीं आँकी जा सकती। कालिदास ने 'रघुवंश' में इसके अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला है।

आदर्श दाम्पत्य

दाम्पत्य जीवन का आदर्शतम रूप उभरा है 'अज और इन्दुमती' में। भारतीय आश्रम व्यवस्था में पत्नी का क्या स्थान होता है इसे सुनिए अज के मुख से ही—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥
रघु० ८।६७।

गृहस्थ में दीक्षित व्यक्ति के लिए पत्नी केवल 'भोग्या' ही नही और भी बहुत कुछ होती है। उसका जीवन्त रूप उभरता है 'अज' में। किन्तु जहाँ यह भाव नहीं वहाँ अग्निवर्ण ही आदर्श कहा जा सकता है। 'कुश' में भी 'अवरोधप्रमदासखत्व' के रूप में गृहस्थ के विलासी रूप की अभिव्यक्ति हुई है[1] पर वह अग्निवर्ण की भाँति सर्वथा एकाङ्गी नही। गृहस्थ के एक पक्ष का उभारमात्र है।

दाम्पत्य के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों को उभारा है कालिदास ने दिलीप, दशरथ और राम के प्रसंग में। दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य का रूप ही निराला है। सुदक्षिणा सी **'दाक्षिण्यरूढ़ा' 'मनस्विनी'** तथा सबसे बढ़कर **'आत्मानुरूपा'** पत्नी को पाकर महाराज दिलीप अपने को धन्य समझते थे। और उस गृहस्थ की सबसे बड़ी कामना थी 'आत्मज' की प्राप्ति[2]। ये थे **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** के आदर्श पर चलने वाले। कालिदास ने 'रघुवंश' में इनके दाम्पत्य के इसी पक्ष को विशेष रूप से उभारा है[3]। पर कही कहीं वह उनके मधुर स्नेह की भी मधुर झाँकी प्रस्तुत कर गए है। कितना एकान्त स्नेह होगा उस दम्पति का जहाँ 'दोहदलक्षणा' प्रिया के मिट्टी खाए हुए मुख की सुवास से प्रिय की तृप्ति ही नहीं होती[4]। लज्जालु प्रिया स्वयं किसी चीज के लिए इच्छा व्यक्त नहीं करेगी; इसलिए उसकी सखियों से बार-बार उसकी

१. रघु० १६।७०-७१।
२. रघु० १।३१-३३।
३. रघु० १।६५।
४. तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ॥३।३।

कामनाओं की पूछताछ होती है और प्रिया जिस वस्तु के लिए भी अपनी अभिलाषा व्यक्त कर देती है वह तुरन्त ही उसके समक्ष प्रस्तुत हो जाती है[१]। समझदार के लिए इशारा ही काफी। ऐसा स्नेही पति हो और ऐसी परम पतिव्रता पत्नी हो (**अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया २।२**) तो दाम्पत्य में कमी किस बात की रह सकती है? इसलिए हम देखते है कि इस दम्पति का स्नेहसम्बन्ध अन्त तक एक रूप रहा[२]। उनमे न कहीं कोई विकृति आई और न विरसता ही।

पर इस विविधरूपा सृष्टि में सभी कुछ एकरूप और आदर्श तो नहीं। जीवन विटप पर कटु और मधुर फल लगते रहते हैं। इसी से आती है इसमें विविधता एवं रुचिरता भी। कटु के बिना मधुर न आदर्श है और न आकर्षक ही। प्रेमपारखी भवभूति ने '**अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्**' के द्वारा दाम्पत्य के जिस आदर्श की कल्पना की थी उसकी प्राप्ति सामान्य जगत् में कठिन ही होती है। दाम्पत्य का आधार पारस्परिक स्नेह और विश्वास होता है, और सफल दाम्पत्य के लिए इसमें स्थायित्व एवं एक रूपता की अपेक्षा होती है। प्रेम दिव्य होता हुआ भी स्वभाव से असहिष्णु होता है। वह सदा ही अपने प्रति एकनिष्ठ रति चाहता है, किसी प्रकार के **द्वैधीभाव** को सहन नही कर सकता। इसीलिए कालिदास ने अपने नायकों के लिए '**अवरोधेमहत्यपि**' '**अवरोधसखः**' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर भी प्रत्यक्षतः हमारे सामने दाम्पत्य की दृष्टि से एक-पत्नीत्व का ही आदर्श प्रस्तुत किया है। इसमे दिखाई है दाम्पत्य की समृद्धि और बंश की वृद्धि भी। पर कालिदास जिस युग में रहेते थे उस युग के सामन्तवर्ग

---

१. न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकौशलेश्वरः॥३।५।
उपेत्य सा दोहददुःखशीलता यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्॥ रघु० ३।६।

२. अथ स विषयव्यावृतात्मा यथाविधि सूनवे।
नृपतिककुदंदत्वा यूने सितातपवारणम्॥
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्। – रघु० ३।७०।

का न ऐसा आदर्श था और न ऐसा व्यवहार ही। फलः स्वरूप अनेक बार समाज की भित्तिरूप गृहस्थ और दाम्पत्य में विकृति आ जाने से सारे समाज का ढाँचा ही हिलने लगता था। वंश वृद्धि तो क्या वंश विनाश की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी। भारतीय समाज को इस स्थिति से सचेत करने के लिए उन्होंने हमारे सामने दशरथ के दाम्पत्य का विषम रूप प्रस्तुत किया। यह ठीक है कि वाल्मीकि में भी दशरथ के दाम्पत्य का यह रूप है, कवि ने उसमें कोई नवीन उद्भावना नहीं की; किन्तु जरा प्रसंग को ध्यानपूर्वक देखने से किसी भी व्यक्ति को कालिदास की नवीन उद्भावना तो नहीं, पर नवीन व्यञ्जना अवश्य दिखाई दे सकती है। पहले तो दशरथ की तीनों रानियों का उल्लेख करके तीनों को 'पत्नीत्व' का समान महत्त्व दिया और फिर उनके प्रति दशरथ के व्यवहार में अन्तर का संकेत करके उसमें विषमता को व्यञ्जित कर दिया। राजा दशरथ ने यज्ञ में प्राप्त चरु का आधा भाग अपनी 'अर्चिता' रानी कौशल्या को तथा आधा भाग 'प्रिया' रानी कैकई को दे दिया। और इच्छा प्रकट की कि वे अपने-अपने भाग में से थोड़ा-थोड़ा सुमित्रा को भी दे दें[२]।' एक को 'आदर' मिला तो दूसरी को 'प्यार' मिला। दाम्पत्य का संतुलन नहीं रहा। इस द्वैधी भाव ने ही गृह-कलह को जन्म दिया और अन्ततो गत्वा समाप्त ही कर डाला दाम्पत्य को। दशरथ और कैकई का विवाह किस विधि से हुआ था यह कालिदास ने नहीं बतलाया। हो सकता है इसके मूल में कोई संस्कारगत दोष ही हो।

दाम्पत्य के जिस बहुमुखी एवं आदर्श रूप के दर्शन हमें राम और सीता के दाम्पत्य में होते है वह अन्यत्र कही नहीं। राम और सीता के दाम्पत्यजीवन की झाँकी यद्यपि हमें अयोध्या के राजमहलों में नही मिल सकी, पर उनके वनवास में कवि ने केवल दो शब्दों में ही उसे व्यञ्जित कर दिया है। युवा राम अपने अलौकिक प्रभाव से वृक्ष की छाया को बाँध कर कुछ थके से

१ तमलभन्तपति पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपित मार्गणम् ॥९।१७॥

२. अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा।
अतः संभाविताँ ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः॥ रघु०१०।५५।

सीता जी की गोद में सिर रख कर सोए थे ; इतने में इन्द्र के पुत्र जयन्त ने कौवे का रूप धारण कर सीता जी के उस स्तनमण्डल पर अपने नाखूनों से खरौंच लगा दी जोकि 'प्रिय के उपभोग चिन्हों से अंकित था''। राम की थकान का कोई कारण न बताकर केवल मात्र 'शिश्ये किंचिदिव श्रमात्' कह कर तथा 'प्रियोपभोग-चिन्ह' का उल्लेखमात्र करके उन्होंने हमारे सामने उनके मधुर दाम्पत्य सम्बन्धों की झाँकी प्रस्तुत कर दी है। राम ने वन मे ही अपनी गृहस्थी बसा ली थी। दोनों ओर समान स्नेह हो तो क्या वन और क्या उपवन। अस्तु, कवि को इनके दाम्पत्य के इस सांकेतिक निरूपण से सन्तोष नहीं हुआ तो उसने पुनः इसी का प्रकारान्तर से निरूपण करने के लिए रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में अवसर निकाल लिया है। सुनिए राम द्वारा समुद्र के दाम्पत्य की प्रशंसा की जा रही है—

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥
रघु० १३।९।

क्या समुद्र के द्वारा नदी-वधुओं के अधरपान की इस भावुक उक्ति में राम की अपनी भावना का आभास नहीं मिलता ? यदि नहीं तो देखिए कि राम प्रिया के अधर के लिए कैसे 'बद्धतृष्ण' है तथा किस प्रकार की कृतज्ञता प्रकट कर रहे है 'वेलानिल' के प्रति जिसने कि तुरन्त ही सीता जी के मुख को केतकी के पराग से मण्डित कर दिया[2]। इस वन्य जीवन में किस प्रकार प्रिय अपनी प्रिया का मण्डन किया करता था इसका भी आभास करा दिया है इसी प्रसंग में[3]। प्रिय के द्वारा परिकल्पित तमाल की कोमल कोंपल

---

१. प्रभावस्तिमितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम्।
कदाचिदके सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात्॥१२।२१।
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददारस्तनौ द्विज.।
प्रियोपभोगचिन्हेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्॥ रघु० १२।२२।

२. वेलानिल. केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम्॥ रघु० १३।१६।

३. रघु० १३।४९ अयं सुजातो······मयावतंसः परिकल्पितस्ते।

का कर्णफूल भी प्रिया को खूब फबता होगा इसे तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। उनका परस्पर कितना प्रगाढ़ प्रेम था यह तो इसी से प्रकट हो जाता है कि राम सीता के वियोग में विक्षिप्त से हो जाते हैं[१] और सीता जी इस बात से लज्जित है कि वे राम की मृत्यु का सामाचार सुन कर भी क्यों कर जीवित रहीं, मर क्यों नहीं गईं[२]।

किन्तु इस दम्पति के इतने प्रगाढ़ प्रेम का भी जब कर्तव्य से संघर्ष हुआ तो प्रिय को हृदय पर पत्थर रख कर प्रिया के लिए व्यवस्था देनी पड़ी—

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्॥
रघु० १४।४५।

पर बाह्य रूप से कर्तव्य की विजय होने पर भी आन्तरिक विजय हुई प्रेम की ही। राजा राजमहलों में ही वैरागी होकर रहने लगा। और इस विजय का रहस्य खुला प्रतिकृति में[३]। पर इस 'परित्यागदुःख' की समाप्ति के साथ ही दाम्पत्य जीवन का भी अन्त हो गया और पीछे छोड़ गया एक तीखी कसक और अपूर्ण कामना। राम और सीता के दाम्पत्य के उक्त रूप के द्वारा कवि ने यही दिखलाया है कि पतिपत्नी का सम्बन्ध तन का नहीं मन का हुआ करता है। वह सांसारिक दुःख-सुख से परे 'जन्मजन्मान्तरानुबन्धी' होता है। इसीलिए तो कवि सीता से कहलवाता है—

साहंतपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥
रघु० १४।६६।

---

१. इमां तटाशोकलतां च तन्वी'''सौमित्रिणा साश्रुरह निषिद्ध ॥रघु० १३।३२।

२. कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम्।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता॥ रघु० १२।७५।

३. सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां,
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः,
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे॥ रघु० १४.८७।

और राम के विषय में तो कवि ने स्वयं ही स्पष्ट कह दिया—

कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ वही, १४।८४

कालिदास कहते है 'गृहस्थ सर्वोपकारक्षम आश्रम' हे अतः समय आने पर उसका पालन होना ही चाहिए[1]। पर साथ ही उन्होंने स्वय इस सूत्र पर भाष्य भी किया है। केवल विवाह कर लेने मात्र से न सभी आश्रमों का उपकार हो सकता है और न **'पुरुषार्थचतुष्टय'** की प्राप्ति ही। यह तो तभी होगा जब कि इस आश्रम में प्रवेश करने वाला ब्रह्मचारी **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** का उदात्त लक्ष्य सामने रख कर इसमें प्रवेश करेगा। सुयोग्य प्रजा' की उत्पत्ति तभी सम्भव हो सकती है जब कि माता-पिता वासनाभिभूत न हो कर किसी पवित्र संकल्प से सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रेरित हों। इस प्रकार की संन्तान ही **'परत्रेह च शर्मणे'** हो सकती है।

सन्तति

सुसन्तान के लिए जहाँ पवित्र संकल्प की आवश्यकता होती है वही उसे चमकाने के लिए शास्त्रीय संस्कारों की भी आवश्यकता होती है। कालिदास ने रघुवंश' में पुँसवनादि जातपूर्व सस्कारों से लेकर 'और्ध्वदेहिक' संस्कारों तक सभी संस्कारों को जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना[1]। संस्कारों से जीवन में शुद्धता आती है, चमक आती है। अच्छे संस्कारों का प्रभाव जन्मान्तर तक बना रहता है[3]।

धार्मिक सस्कार

---

१. (क) यथाक्रम पुंसवनादिकाः क्रियां धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः। रघु० ३।१७।

(ख) स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसस्कार इवाधिकं बभौ।
वही, ३।१८।

(ग) अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेन गुरवो गुरुप्रियम् ॥ वही, ३।२९।

(घ) अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरु. ॥ वही ३।३३।

(ङ) श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिक यतिभि. सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ रघु० ८।२५।

(च) कुमारा. कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ॥ वही १०।७८।

२. फलानुमेयाः प्रारम्भाः सस्काराः प्राक्तना इव ॥ रघु० १।२०।

३. क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधान तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्।
विक्रम० सर्ग ४।

अतः वे मानते है कि प्रत्येक गृहस्थ को सन्तान का जातकर्मादि संस्कार अवश्य ही करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने पिता के अभाव में भी 'आयुस्' और 'लव कुश' के संस्कार की व्यवस्था करादी है[1]। भारतीय संस्कृति का गायक भला इसे भूल भी कैसे सकता था।

भारतीय संस्कृति के शक्तिपीठ तपोवन

ऐसे संस्कार सम्पन्न बालकों की शिक्षा-दीक्षा जब राजनीतिक दावपेचों तथा सामाजिक घुटन से दूर शान्त एव स्वच्छन्द वातावरण में हो तो फिर उनमें स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं उदात्त चरितों का विकास क्यों न हो सकेगा? कालिदास ने ऐसे ही शान्त और सयमित वातावरण में भरत, आयुस् और लवकुश जैसे वीर सिंहशावकों का, कौत्स जैसे आत्मविश्वामी ब्रह्मणों का तथा शकुन्तला-सी पतिप्राणा कन्याओं का पालन पोपण कराया है। भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही इन्हें विद्यापीठों के रूप में माना गया है। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत यही तपोवन रहे हैं। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति कालिदास के वीर बालकों की भाँति इन्ही आश्रमों में जन्मी, पली और बड़ी हुई है। कालिदास की कृत्तियों में इन तपोवनों को बड़ा महत्त्व प्राप्त है। उसने बड़े ही उल्लास व श्रद्धा के साथ अपनी कृतियों में इनका गान किया है। कण्व, वशिष्ठ, च्यवन, मरीचि, बालमीकि और वरतन्तु ही यह स्रोत है जहाँ से कालिदास की काव्यकला को प्राण मिला है। रघुवंश के प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और त्रयोदश सर्ग में तथा शकुन्तला में उसने जिस भावप्रवणता के साथ ऋषियों, मुनियों और उनके तपोवनों का निरूपण किया है वह दर्शनीय है। इन ऋषियों की कृपा से ही समाज को मार्गदर्शन, शक्तिशाली नेतृत्व प्राप्त होता है। इसीलिए तो गुरु वशिष्ठ के द्वारा पूछे जाने पर राजा दिलीप कहते हैं—आपकी कृपा से मेरी सम्पूर्ण प्रजा किसी प्रकार दैवी आपत्तियों (अग्निदुर्भिक्षादि) तथा मानुषी आपत्तियों (चोर, शत्रु आदि) से सर्वथा मुक्ति है। और आपकी नीति युक्त मंत्रणा के कारण मेरे राज्य के सातों अंग (राजा, मंत्रिमडल, कोष

१. तपस्विसंसर्गविनीतसत्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन्।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसस्कारमयो विधिस्ते ॥ रघु० १४।७५ ।

सेना, प्रजा आदि) स्वस्थ है। आपका बुद्धिबल ही हमारी सब प्रकार की रक्षा कर डालता है। हमें तो शस्त्र उठाने तक की आवश्यकता नहीं होती। आपके द्वारा विधिवत् किए गए यज्ञों के कारण समय पर वर्षा होती है तथा च निर्भय और कष्टहीन होकर प्रजा के लोग सौ वर्ष की पूरी आयु भोगते हैं[१]।

आश्रम व्यवस्था की माँग है कि जब इस प्रकार की संस्कार सम्पन्न तथा विद्याविनीत सन्तति कुटुम्ब का भार संभालने योग्य हो जाय तो फिर माता पिता को चाहिए कि सांसारिक मोह को त्याग कर समाज के कल्याण तथा आत्मिक शान्ति के लिए देश का तथा राष्ट्र के कर्णधार इन ऋषियों के तपोवनों में आकर वास करें[२]। समाज और पितरों के ऋण से मुक्त होकर गृहस्थ के उत्तरदायित्व को पूरा करने के बाद ही इस आश्रम में प्रवेश करना उपयुक्त है। इसीलिए तो जब विदाई के समय शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है—'पिता जी, मै फिर कब इस आश्रम के दर्शन करूँगी' तो कण्व कहते हैं—'जब दुष्यन्त और तुम्हारा प्रतापी पुत्र कुटुम्ब का भार संभालने योग्य हो जायेगा तो तब तुम उस पर कुटुम्ब का भार सौप कर इस शान्त तपोवन में पति के साथ ही प्रवेश करोगी।' कैसी कठोर व्यवस्था है।

---

१. उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥
तव मन्त्रकृतो मंत्रैदूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रह विशोषिणाम् ॥
पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ रघु० १।६०—६३।

२. (क) मुनिवनतरुच्छाया देव्या तया सह शिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ रघु० ३।७०।

(ख) तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्,
नहि कुलधुर्य्ये सूर्य्यवंश्या गृहाय ॥ रघु० ७।७१।

(ग) भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धम्।
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ शाकु० ४।२०।

साँसारिक सुख भोगों से निस्पृह होकर इस प्रकार आत्मिक शान्ति के साथ कुछ समय बिता कर तथा योग समाधि की दीक्षा लेकर ही सन्यास का मार्ग अपनाया जा सकता है। यह बात दूसरी है कि रघु जैसे किसी व्यक्ति ने गृहस्थ भी निस्पृह-सा ही होकर भोगा हो तो उसे बानप्रस्थ की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं। कालिदास ने सन्यस्त जीवन का एक बड़ा ही दिव्य रूप 'रघुवंश' के आठवें सर्ग में खींचा है। जिस प्रकार दिलीप युवा रघु को राज्य-भार सौप कर 'देवी' के साथ 'मुनिवनतरुच्छाया' वाले आश्रम में चला गया था वैसे ही रघु भी युवा अज को 'कुटुम्बभार' सौंप कर 'शान्तिमार्ग' का पथिक बन गया। उस 'यतिलिङ्गधारी' ने किस प्रकार योगमार्ग से 'परम प्रकाशमय अव्यय पद' को प्राप्त किया, इसे कालिदास ने बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है[1]।

वर्णव्यवस्था

राष्ट्र और समाज के संम्यक् सचालन के लिए सभ्य-असभ्य सभी समाजों को कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य ही करनी पड़ती है। इसके बिना किसी भी समाज की सत्ता सम्भव नहीं हो सकती। व्यवस्था का रूप देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। कई व्यवस्थाएँ जोकि समय और व्यवहार की कसौटी पर कसने पर समाज के लिए अधिक उपयोगी होती हैं उन्हें स्थायित्व प्राप्त हो जाता है शेष समय के साथ बदल जाती हैं। किसी समाज की स्वतंत्र व्यवस्था उसके स्वतंत्र अस्तित्व की प्रतीक भी मानी जाती है। आर्य जाति की समाज व्यवस्था के जो अनेक प्रयास समय-समय पर हुए थे, उनमें से मनु द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था समाजकल्याण की दृष्टि से सबसे अधिक उपयोगी समझी गई। क्योंकि इसमें समाज की एक व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी, जिसके कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज में एक निश्चित, निर्धारित स्थान था एवं निर्धारित कार्य भी था। न किसी प्रकार का व्यत्यय और न व्यति-क्रम। न किसी भाग में न्यूनता और न किसी भाग में अधिकता। समाज का संतुलन बनाए रखना ही इस व्यवस्था का प्रमुख प्रयोजन था। बाद में इसमें कुछ विकृतियाँ आ गई यह दूसरी बात है।

---

१. देखिए—रघु० ८।१३-२४।

समय बीतने पर सभी व्यवस्थाओं में विकृति आ ही जाती है। यह प्रकृति का नियम ही है। आज के युग में संसार की श्रेष्ठतम समझी जाने वाली व्यवस्था का पाँच सौ वर्ष बाद ही क्या रूप होगा कह नहीं सकते। पर इतना निश्चित है कि विश्व के समाज-व्यवस्था के इतिहास में जितने अधिक समय तक मनु द्वारा निर्धारित व्यवस्था उपयोगी सिद्ध होती रही उतनी और कोई नही हो सकी है और भविष्य में भी हो सकेगी, सन्देहास्पद ही है। अनेक अंशों में अनुपयोगी हो जाने पर भी अनेक अंशों में इसके महत्त्व को आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं[1]।

मनु द्वारा विहित यह आर्यों की समाज-व्यवस्था 'वर्णाश्रम व्यवस्था' के नाम से पुकारी जाती है। इसमें आश्रम-व्यवस्था के विषय मे पिछले पृष्ठों में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। अब संक्षेप में कालिदास द्वारा अनुमोदित 'वर्णव्यवस्था' के विषय में भी कुछ विचार करेंगे। वर्णव्यवस्था' को ही हम 'कर्मव्यवस्था' भी कह सकते हैं। बस अन्तर केवल इतना है कि इसमें 'कर्मणा' जाति की व्यवस्था को न मान कर 'जन्मना जाति' की व्यवस्था की गई है। 'कर्मणा जाति' में प्रत्येक प्रकार के कर्म के लिए एक वर्ग वा जाति की व्यवस्था होती है और जन्मना जाति में प्रत्येक वर्ग वा जाति के लिए एक विशेष प्रकार के कर्म की व्यवस्था। बस यही मूल अन्तर है। इनमें से कौन श्रेष्ठ है और क्यों ? इस विषय का विशर्म न यहाँ अपेक्षित है और न प्रकरण प्राप्त ही। हाँ आज के अर्थशास्त्री वा समाजशास्त्री फिर से जन्मना जाति के महत्त्व पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने लगे है।

अस्तु, कहने का अभिप्राय है कि कालिदास से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व ही इस व्यवस्था को एक जबरदस्त चुनौती दी जा चुकी थी। लोग दूसरे प्रकार से भी सोचने लगे थे, किन्तु कालिदास के ग्रन्थों के अध्ययन से पता लगता है कि इस महाकवि को, हो सकता है इसके आश्रम दाता को भी, मनु द्वारा प्रणीत वर्णाश्रम व्यवस्था पर पूरी आस्था थी। वे समझते थे कि राष्ट्र और समाज के कल्याण

---

१. cf "The scheme of four stages is in many ways perfectly adopted to Indian life, for it starves no side of a man's life." A. B. keith. HS. PL. 98.

के लिए किसी न किसी व्यवस्था का होना नितान्त आवश्यक है और प्रस्तुत सभी व्यवस्थाओं में से मनु की व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ है। क्योकि उसमें समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्गों में विभाजित किया गया था और प्रत्येक वर्ग वा जाति के लिए जीवन का एक निश्चित कार्यक्रम था। प्रत्येक व्यक्ति और समाज का कल्याण इसी में था कि वह निर्धारित व्यवस्था के अनुसार कार्य करता चला जाय। ऐसा न करने से सारा समाज ही अव्यवस्थित हो जायेगा और अव्यवस्थित समाज अन्ततो गत्वा स्वयं नष्ट होकर राष्ट्र को भी नष्ट कर डालेगा। यह व्यवस्था इतनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक है कि आज के युग में भी रहा उससे कुछ भिन्न आधारों पर ही सही संसार के सभी समाजों को इसे मानना पड़ रहा है। आज भी विश्व के सभी समाजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की स्थिति है और आगे भी रहेगी। विभाजन का आधार अवश्य भिन्न हो सकता है।

सभी सभ्य समाजों को आज भी सेवक, व्यवसायी, रक्षक और शिक्षक वर्ग की आवश्यकता है। इनमें से प्रत्येक के अपने अपने क्षेत्र में तन्मयता से काम करते रहने से ही समाज की आवश्यकताएँ समुचित ढंग से पूरी हो सकती हैं और उसका विकास हो सकता है। व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज के कल्याण में ही उसका कल्याण है। समाज के लिए प्रत्येक वस्तु और कार्य का अपना अपना पृथक् पृथक् महत्त्व है। एक दूसरे का काम नहीं दे सकता। न जूता पगड़ी का काम दे सकता है और न पगड़ी जूते का ही। पर साथ ही न जूता पगड़ी से कम उपयोगी है और न पगड़ी जूते से अधिक ही। दोनों का अपने अपने स्थान में समान उपयोग है और समान महत्त्व भी। समाज के वृहत्तर स्वार्थ को सम्मुख रख कर कार्य करने में ही आत्मकल्याण निहित है। इसीलिए गीता के '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर-धर्मो भयावह.**' के स्वर में स्वर मिलाकर कवि कालिदास भी कहते हैं—'**सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।**' क्योंकि ऐसा न करने से फिर समाज की सारी व्यवस्था ही भग हो जायेगी। कर्म का संतुलन बिगड़ जायेगा।

कालिदास ने रघुवंश में अनेक स्थलों पर 'वर्णाश्रमव्यवस्था' के प्रति अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है। महाकाव्य के प्रारम्भ में दिलीप की राज्यव्यवस्था की प्रशंसा करते हुए कहते है—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ रघु० १।१७ ।

मानो कि कवि को रघु की शासन व्यवस्था में यही बात सबसे अधिक महत्त्व की दिखाई दी कि उसकी प्रजा में कोई भी व्यक्ति मनु द्वारा विहित वर्णाश्रम व्यवस्था से रत्ती भर भी इधर उधर नही हो सकता। रघु के प्रसंग में कवि उसे '**वर्णाश्रमाणां गुरुः**' (५।१९) कह कर उसके प्रति अपना सम्मान प्रकट करता है। यही क्यों, दुष्यन्त की भी यही स्थिति है। उसे देख कर शार्ङ्गरव कहता है—यह राजा इतना धर्मात्मा है कि न तो यह स्वयं कभी मर्यादा का उल्लंघन करता है और न इसके राज्य में नीच से नीच वर्ण के लोग भी कभी सामाजिक व्यवस्था का उल्लंघन करते हैं[1]। शासक के अन्दर यह एक ऐसा गुण है जिसे कि कालिदास सुव्यवस्था के लिए अत्यावश्यक मानते हैं। इसीलिए निर्वासिता सीता के द्वारा कालिदास ने राम के प्रति कहलवा दिया है मनुविहित विधि से वर्णाश्रम का पालन करना ही राजा का धर्म है।'

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया॥रघु० १४।६७।

समष्टि के हित के लिए व्यष्टि का बलिदान

और राम ने इस 'वर्णाश्रम व्यवस्था' का कैसे पालन किया यह भी उन्होंने इसके आगे ही शम्बूकबध के प्रसंग में दिखला दिया है। 'वर्ण-धर्म में दोष' अथवा समाज-व्यवस्था के एक अंग में दोष आ जाने से समाज का दूसरा अंग अवश्य ही दुःखी हो जायेगा। शम्बूक अपने 'वर्णधर्म' को त्याग कर अन्य के धर्मक्षेत्र में वा कर्मक्षेत्र में अनधिकार चेष्टा करने लगा तो ब्राह्मणकुमार की अकाल मृत्यु तो होनी ही थी। इधर शूद्र द्वारा तपस्या से वर्णव्यवस्था खंडित हुई तो उधर इसी के फलस्वरूप आश्रम व्यवस्था भी खडित हो गई। ब्राह्मणकुमार ब्रह्मचर्यावस्था में ही शरीरत्याग कर गया। 'वर्णाश्रमों का गुरु' यदि एक बार इस विषैले चक्र को चलने दे तो यह सिलसिला सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करके ही समाप्त होगा। अतः शासक

---

१. महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ।
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ॥शाकु० ५।१०।

का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार की 'वर्णविक्रिया' को पनपने ही न दे। इसीलिए तो राम को उस धूमपायी शूद्र तपस्वी शम्बूक का शीर्षच्छेद करना पड़ा (१५।४९—५२)। तो क्या राम ने अनुचित कार्य किया तपस्वी शूद्र का बध करके? आज का युग अवश्य ही उन्हें दोषी ठहरायेगा, पर यदि हम शासन व्यवस्था की दृष्टि से देखें तो शायद कुछ संगति बैठ सकती है। अपराध (crime) क्या है? समाज को चलाने के लिए बनाए गए विधान का उल्लंघन ही तो न? जब एक व्यक्ति के 'अपचार' से समाज के दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचती है तो शासक का उसे दण्ड देना कर्तव्य हो जाता है। कभी आने वाला युग शायद न समझ सकेगा कि अपने धन से खरीदे हुए सोने अथवा अन्न भण्डार को घर में छिपा कर रखना कैसे अपराध हो गया? क्यों इन लोगों को दण्ड दिया गया? जो हो समय-समय का विधान है। उसी के पालन करने में व्यष्टि और समष्टि का कल्याण है। कभी-कभी समष्टि के हित में व्यष्टि का बलिदान करना पड़े तो वह भी कर दिया जाता है। तो क्या वर्णव्यवस्था का द्वार केवल कुछ लोगों के लिए ही खुल सकता है? निवेदन है नहीं। वह तो सबके लिए खुला है। कोई भी वहाँ जा सकता है। पर उसके लिए अपना काम छोड़ कर दूसरे के काम में टाँग अड़ाने की आवश्यकता नहीं। उसके लिए तो सीधा सा नियम है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'**

कालिदास दिखलाते हैं कि शूद्र शम्बूक के लिए भी स्वर्ग का द्वार उसी प्रकार खुला है जिस प्रकार कि प्रजापालक क्षत्रिय रघु, मर्यादापालक राम, परमज्ञानी वशिष्ठ एवं किसी अन्य व्यक्ति के लिए। सचाई और ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति उसका अधिकारी है। उसे वह अपने विहित कर्म को करते रहने से भी प्राप्त कर सकता था। पर उसने समझा कि शायद तपस्या से ही स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है। अतः 'स्वधर्म' को छोड़ कर 'परधर्म' में प्रवृत्त हो गया। फलतः वर्ण और आश्रम दोनों धर्मों में 'विक्रिया' आ गई। यदि समाज के 'नियन्ता' लोग समाज-व्यवस्था के स्वीकृत नियमों में इस प्रकार की मनमानी करने की स्वीकृति दे दें और समाज के स्वीकृत

नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड न दें तो फिर समाज की क्या दशा होगी ? समाज नाम की कोई चीज रहेगी या नहीं कह नहीं सकते। मानव समाज में प्रत्येक प्राणी का अभ्युदय और निःश्रेयस् इसी में है कि वह 'स्वधर्म' का सच्चे हृदय से पालन करता रहे। शूद्र भी स्वर्ग का अधिकारी है यह तो इसी बात से सिद्ध है कि राम के द्वारा शिरच्छेद कर दिए जाने पर शम्बूक 'सद्गति' को प्राप्त हो गया। आगे आने वाले युग के लोगों को कहीं यह भ्रम न हो कि शूद्रों के लिए वर्णव्यवस्था में 'सतां गति' नहीं थी और शम्बूक को जो दिव्यगति प्राप्त हुई वह उसकी तपस्या के कारण हुई, इसलिए कालिदास ने यहीं पर लिख दिया—

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम्।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना॥ रघु० १५।५३।

(राजा के द्वारा स्वयं दण्ड पाने के कारण शूद्र शम्बूक को वह सद्गति प्राप्त हो गई जोकि उसे वर्णधर्म का उल्लंघन करके कठोर तपश्चर्या से भी न मिल पाती)। उसके 'अपचार' से उस समाज के एक व्यक्ति को अपने प्राणों से अकाल में ही हाथ धोने पड़े। अतः दण्डविधान के अनुसार वह प्राणघात का अपराधी बन गया। इस प्रकार के अपराधी के लिए भला आज भी प्राणदण्ड के अतिरिक्त और क्या समुचित् दण्ड व्यवस्था हो सकती है ? राम ने केवल न्यायाधीश के कर्तव्य का पालन किया। हाँ, उसकी तपस्या का इतना लाभ उसे अवश्य हुआ कि उसे प्राणदण्ड चाण्डालों के द्वारा न मिल कर स्वयं न्यायाधीश के हाथों मिला। यदि हम इन सारी बातों को प्रतीक मान लें तो समाज-व्यवस्था की सारी बात स्पष्ट हो जाती है।

दण्डविधान की निष्पक्षता

जिस प्रकार वर्तमान समाज व्यवस्था में भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की आचार संहिताओं (Code of conduct) की आवश्यकता होती है उसी प्रकार का कर्तव्य विधान वर्णव्यवस्था में भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए नियत था। उसे ही 'स्वधर्म' या 'स्वकर्म' कहा जाता था। समाज की दृढ़ता एवं स्थायित्व के लिए इनका पालन बड़ी कठोरता के साथ कराया जाता था। ऐसी बात नहीं कि निम्नवर्ग के लोगों को ही इस

आचार संहिता के नियमों का उल्लघन करने के लिए दण्डित किया जाता था । कालिदास ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखलाया है कि समाज के सम्यक् सचालन के लिए इस प्रकार के दोषों के लिए किसी को रत्ती भर भी क्षमा न किया जाय। चाहे वह कोई सम्राट् हो या कोई सुकुमारी, अपराध, अपराध है । उसमें यदि पद, जाति (sex) आदि का विचार करके किसी प्रकार का पक्षपात दिखाया जायेगा तो फिर समाज व्यवस्था दृढ़ नहीं रह सकेगी । दुर्बल चरित्र के लोगों को 'अपचार' का अवसर मिल जायेगा और धीरे-धीरे यह रोग सारे समाज वा राष्ट्र को ही खोखला कर डालेगा । इसकी एक जीवन्त मिसाल हमारे सामने ही है । आज हमारे राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग तथा क्षेत्र में 'भ्रष्टाचार' ही भ्रष्टाचार दिखाई दे रहा है। कोई भी चीज शुद्ध तथा विश्वसनीय रूप में नही मिलती। यह सब क्या एक दम हो गया ? निवेदन है नहीं। प्रारम्भ मे कुछ स्वार्थी, दुर्बल चरित्र के लोगों ने इसे अपनाया। पकड़े भी गए पर कई कारणों से कोई अनुकरणीय कठोर दण्ड नही मिला। इसका फल यह हुआ कि यह रोग दिन पर दिन बढ़ता ही गया और आज हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रत्येक अंग इसका शिकार बन चुका है। अब भी यदि सर्जन की भाँति निर्दय होकर इसकी शल्यचिकित्सा न की गई तो सारा राष्ट्र ही क्षयीभूत हो जायेगा। शासन न करुणा से ही चल सकता है और न पक्षपात भावना से ही। शासक का तो एक ही धर्म है, और वह है, समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नियमों का समाज के प्रत्येक सदस्य से पालन करवाना तथा उनका उल्लंघन करने वाले को 'आत्म' 'पर' भाव से निरपेक्ष्य होकर दण्ड देना। इसीलिए 'प्रजावती' 'अदोषा' सीता का परित्याग करते समय राम को इस बात को स्पष्ट कर देना पडा कि भावुक या 'करुणार्द्रचित्त' से शासन व्यवस्था नही चल सकती[१]। न्यायाधीश यदि यह सोचने लगे कि जिस अपराधी को वह प्राण दण्ड दे रहा है। उसके वृद्ध माता पिता, पतिप्राणा पत्नी, नवजान शिशु का क्या होगा, वे किस प्रकार विकल होंगे आदि आदि तो वह शायद न्याय व्यवस्था न दे सकेगा। और इसका परिणाम होगा 'व्यष्टि' का हित पर 'समष्टि' का अहित। इसलिए भारतीय सस्कृति में 'समष्टि'

१. तदेष सर्ग. करुणार्द्रचित्तैर्नमे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान् प्राणान्मया धारयितुं चिर वः ॥ १४।४२ ।

के हित के लिए 'व्यष्टि' के बलिदान की स्वीकृति दी गई है। कालिदास ने उसका अनुमोदन भी किया है।

उपर्युक्त प्रसंगों में न्याय और सामाजिक व्यवस्था का पालन समष्टि के हित की दृष्टि में हो तो गया, पर आज के युग का 'वर्णाश्रम व्यवस्था' का विरोधी आलोचक इस में भी छिद्रान्वेषण कर के कह सकता है कि यह 'ब्राह्मणवादी पुरुष संस्कृति' का कठोरतम रूप ही तो प्रस्तुत करता है। द्विजातिवर्ग और पुरुष वर्ग तो इससे बचा ही रहता है। निवेदन है जरा धैर्य रखिए और कालिदास के विधान को देखिए। अभी इसी सर्ग में आपको इसका दूसरा रूप भी देखने को मिल जायेगा। महाकाल राम से बातें कर रहा है। भ्रातृभक्त लक्ष्मण द्वार पर पहरा दे रहे है। व्यवस्था है कि उन दोनों की बात-चीत के बीच में जो कोई भी वहाँ आएगा, राम उसे देश निर्वासन दे देंगे। उसी समय सुलभकोप दुर्वासा भी आकर द्वारस्थ लक्ष्मण से कहते है कि 'अभी राम से जाकर कहो कि मैं उनसे मिलना चाहता हू। अन्यथा मै तुम्हारे सम्पूर्ण कुल को अभी शाप से भस्म कर देता हूं। लक्ष्मण जानते थे कि रामराज्य में व्यवस्था के पालन में किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं हो सकता। स्वयं राम का प्राणप्रिय भाई भी किसी व्यवस्था के लिए अपवाद नही हो सकता। अतः इस समय उनके पास जाने का मतलब होगा 'देश निर्वासन' और न जाने का अभिप्राय होगा 'कुलनाश'। पर लक्ष्मण 'समष्टि' के हित में 'व्यष्टि' का बलिदान करने के लिए तैयार हो गए। जाकर राम को सूचना दे दी और राम की व्यवस्था की रक्षा के लिए स्वयं सरयूतट पर जाकर योग मार्ग से प्राण त्याग दिए[1]। हुआ न 'स्वधर्म' का पालन और व्यवस्था का निर्वाह भी ? इसे ही कहते हैं '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**'।

हमने अभी कहा था कि कालिदास 'वर्णाश्रमव्यवस्था' के पालन के घोर पक्षपाती थे। उन्होंने किसी को भी मर्यादा के उल्लंघन के लिए क्षमा नहीं किया[2]। 'आसमुद्रक्षितीश' और

---

१. रघु० सर्ग १५।९२—९५।

२. (क) अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्या प्रजेति त्वा शशाप सा।।रघु० १।७७।अपि च वही १।७५-७६
(ख) ईप्सित तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः।
प्रतिबन्धाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।। १।७९।

'आनाकरथवर्त्मा' दिलीप ने स्वार्थ से प्रेरित होकर 'पूज्य पूजा का व्यतिक्रम' किया था। फलतः संतति हीनता का कठोर दण्ड भोगना पड़ा[१]। वह सम्राट् है अतः उसके इस छोटे से अपराध को क्षमा कर दिया जाय, ऐसा नहीं कहा। सम्राट् को एक छोटे से नियम के उल्लंघन की छूट देने का मतलब होता प्रजा को बड़े से बड़े नियम या व्यवस्था का उल्लंघन करने की छूट देना। कि कही उसके अधिकारी प्रजा के लोगों की मुर्गियों को ही मुफ्त में न खाने लगें इस भय से आवश्यकता होने पर भी प्रजा से मुफ्त में एक अडा न लेने वाला शासक क्या इसी विधान का अनुसरण नहीं कर रहा है ?

अस्तु, दिलीप को दण्डमिला कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा करने का। सम्राट् ने इस व्यवस्था को इसलिए सहर्ष स्वीकार किया कि उसकी प्रजा में किसी को भी 'पूज्यपूजाव्यतिक्रम' का दुःसाहस न हो। इस दण्ड को भोगने के लिए उसे अपने व्यक्तित्त्व तक को मिटा देना पड़ा। वह नन्दिनी की छाया मात्र रह गया। तब जाकर कही उसे इस कठोर दण्ड से मुक्ति मिल सकी। इस प्रसंग में कालिदास ने प्रकारान्तर से 'वर्णाश्रम' सस्कृति में गो के महत्त्व को भी दर्शाया है।

ऐसे ही 'स्वधर्म' की उपेक्षा के कारण ही कालिदास ने तापस कन्या शकुन्तला को भी ऋषि के शाप से अभिशप्त करा कर उसे दण्डित कराया है। क्योंकि वह कुलपति द्वारा निर्धारित 'अतिथि सत्कार' के विधान की अवहेलना कर आत्मस्वार्थ में लीन हो गई। दिलीप अपनी पत्नी के भाव में लीन होने के कारण 'पूज्यपूजा का व्यतिक्रम' कर गया तो शकुन्तला 'पति के भाव में लीन' वही कुछ कर गई। वह बाला है क्या इसलिए उसे क्षमा कर दिया जाय ? नहीं, वर्णाश्रमव्यवस्था की कठोरता की माँग है कि अपराधी को अवश्य दण्ड भोगना पड़ेगा। 'व्यष्टि' के बलिदान में यदि 'समष्टि' का कल्याण निहित है तो वर्णाश्रम व्यवस्था अवश्य ही उसका अनुमोदन करेगी और कालिदास अपनी कृतियों में उसका विधान भो अवश्य हीं करेंगे।

---

१. स्थित. स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ रघु० २।६।

'पूज्यपूजा व्यतिक्रम' का समाज में बोलबाला न हो जाय इस व्यवस्था के लिए कालिदास दिलीप और शकुन्तला को जिस रूप में दण्डित कराया है वह दर्शनीय है। दिलीप पर तो इसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि दिलीप-सिंह सम्वाद के उपरान्त उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर जब नन्दिनी ने उसे पुत्र का वरदान दे दिया और फिर उससे कहा कि तुम एक पत्ते के दोने में मेरा दूध दुह कर उसका पान करो[1] तो दिलीप कहता है—

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥
॥ रघु० २।६६।

(हे मां, मै चाहता हूँ कि बछड़े के पीछे और होमक्रिया से शेष बचे हुए दूध को मै ऋषि की आज्ञा से ऐसे ही ग्रहण करूँ जैसे कि पृथ्वी के रक्षक के रूप में प्रजा द्वारा दिए गए षष्ठांश को ग्रहण करता हूँ।)

शकुन्तला भी तो इसके प्रभाव में बंधी सी रह गई। पति ने भरी सभा में सबके सामने लांछित कर प्रत्याख्यान कर दिया। पर आर्य मर्यादा कि जिसे एक बार 'आर्यपुत्र' कह चुकी उसके सिवा फिर कभी किसी परिस्थिति में भी अन्य की कल्पना न हो सकी। वरन् 'नियमव्यापृता शकुन्तला' से तथा मरीच के आश्रम में चल रहे 'पातिव्रत' सम्बन्धी विचार चर्चा से तो यही प्रकट होता है कि वह प्रतिप्राणा, पतिव्रता आर्यनारी की भाति उससे तिरस्कृत होकर भी उसी का ध्यान करती रही। क्योंकि 'वर्णाश्रम' प्रधान संस्कृति में इसके विरुद्ध सोचने के लिए अवकाश ही नही।

वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रसार निर्धन गरीब मत्स्यजीवी धीवर से लेकर कण्व और वरतन्तु तक समान रूप से है। सभी 'स्वकर्म' तथा 'स्वधर्म' में निरत। कोई भी न सहज (जन्मजात) कर्म से विमुख और न समाज व्यवस्था के नियमों का उल्लघन करने के लिए सचेष्ट। न किसी में किसी कर्म के कारण हीन भाव और न किसी में किसी कर्म के कारण उच्चभाव। पर कालिदास की दृष्टि समाज में ऐसे इक्के-दुक्के लोगों को भी ताकने से न चूकी जो कि अपने आपको

सहजकर्म की श्रेष्ठता

१. संतानकामाय तथेति काम राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ २।६५॥
२. (क) दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै ····कथयति।
(ख) सुव्रते! एहि। वृत्तान्त नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः।शाकु० अंक ७

जन्मना वा कर्मणा दूसरों से श्रेष्ठ समझते थे। 'शाकुन्तल' के छठे अंक में मत्स्यजीवी धीवर की जाति और आजीविका पर आक्षेप करने वाले राजकर्मचारी[1] तथा अपनी सिद्धियों के कारण किसी और को महत्त्व न देने वाले शार्ङ्गरव जैसे साधु[2] इन्ही लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्यथा वहाँ तो ऋषि मुनि तक सामाजिक जीवन से पृथक् रहते हुए भी वर्णाश्रम व्यवस्था के नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते है। राजा यद्यपि उनकी तपस्या तथा यज्ञादि के द्वारा प्राप्त होने वाले सामाजिक लाभ को अधिक महत्त्व देता हुआ उनसे 'षष्ठांश' की उघाई आवश्यक नही समझता[3]; पर वे है कि अपने जगली धान्यों में से भी राज्यांश को नदियों के तटों पर रख आते हैं[4]। राजा लेने नहीं आता न सही, पर वे क्यों कर मर्यादा का उल्लंघन करें ? कितनी जागरूकता है वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति !

वर्ण और कर्म का सामञ्जस्य

वर्णव्यवस्था का कठोर पक्षपाती होने पर भी कालिदास किसी व्यक्ति को केवल इसीलिए महत्त्व देने को तैयार नहीं कि वह किसी वर्ण विशेष में जन्मा है। ब्राह्मण वशोद्भव होने पर भी उसने शाकुन्तल में विदूषक को 'मूर्ख' सम्बोधन करवाया है[5]। 'मालविकाग्निमित्र' में दासी से उसका परिचय **'विपणिगत इव वृषभः'** 'हताशः कितवः' **'सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमौदकैः कुक्षिं 'पूरयित्वा०' ब्रह्मबन्धु' 'महाब्राह्मण'** आदि

१. शाकु० अंक ६, प्रवेशक।

२. शाकु० अंक ५, शार्ङ्गरव—'स्वाधीनकुशला. सिद्धिमन्त.'।

३. राजा-मूर्ख ! अन्यमेव भागधेयमेते तपस्विनो निर्वपन्ति यो रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यते। पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः षड्भागमक्षय्य ददत्यारण्यका हि नः ।। शाकु० २।१३।

४. निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठांकितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ।।
रघु० ५।८।

५. शाकु० अंक २, श्लो० १३ से पूर्व।

कह कर दिलवाया। जिसे ब्रह्म से प्रेम नहीं वह ब्राह्मण किस बात का? और किस बात की उसकी पूजा[1]? है। जब कि इसके विपरीत दुष्यन्त और अग्निवर्ण के पुरोहितों के प्रति आदर भाव दिखाया है, उनकी सूझ-बूझ की प्रशंसा की है[2]! कण्व, वरतन्तु, कौत्स, वशिष्ठ आदि ब्राह्मणों का तो कहना ही क्या है। वे तो ब्रह्मतेज की जीवन्त मूर्ति हैं। महर्षि कण्व का कुशलवृत्त पूछते हुए दुष्यन्त कहता है—"अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः?" संसार का कल्याण ही उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है जिसका कि दुष्यन्त प्रमुख रूप से यहाँ उल्लेख करना चाहता है। 'लोकानुग्रह' ही यदि उनके जीवन का ध्येय न होता तो ये इतने अनाथ कहाँ शरण पाते? लोकानुग्रह' की प्रबल भावना ही तो इस वृद्ध तपस्वी को शकुन्तला के दुष्ट ग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ तक खीच कर ले गई थी। इसी भावना ने तो उन्हें इतना उदार और क्षमाशील हृदय प्रदान किया था।

वशिष्ठ जी का तो कहना ही क्या? ब्रह्मतेज और ब्रह्मज्ञान की साक्षात् मूर्ति। उन्हीं के ब्रह्मतेज और तपस्या का प्रभाव है कि सम्पूर्ण राष्ट्र दैवी और मानुषी आपत्तियों से बचा रहता है। मंत्रों का ऐसा प्रभाव कि उनके सामने शस्त्रास्त्र भी व्यर्थ हो जाँय। यज्ञों का ऐसा शास्त्रीय अनुष्ठान कि राष्ट्र में अनावृष्टि का नाम नहीं और ब्रह्मतेज का प्रभाव ऐसा कि देश के प्रजाजनों में न अकाल-मृत्यु, न किसी प्रकार का भय-संकट और न किसी प्रकार की इति (बाढ़, सूखा, युद्ध आदि) ही[3]। और अधिक क्या, संसार में कोई कार्य ऐसा न था जो कि उनके ब्रह्मतेज और राष्ट्र के क्षात्रतेज के

---

१. (क) विदूषकः—भवति! किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्? न वा अश्यते न वा पीयते। विक्रम०

(ख) विदूषकः—प्रथमोपदेशदर्शने ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।

गणदासः—महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां···माल०।

२. रघु० १६।५४; शाकु० ५।२६ तथा पश्चात्।

३. रघु० १।६०—६३॥ दैवीनांमानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम्।
पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम्॥ ६३।

सम्मिलित हो जाने पर साध्य न हो सकता हो"[1]। 'विकृतिर्जीवित-मुच्यते' का जो अभूतपूर्व तत्त्वज्ञान इस ब्रह्मर्षि ने संसार को दिया है वह तो अद्वितीय है[2]। उसका एक-एक शब्द दार्शनिक जगत् के लिए अमूल्यनिधि है। ऐसे लोकानुग्रही, राष्ट्र-पिता, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों को यदि वर्णाश्रम संस्कृति में उच्चस्थान दिया गया तो अनुचित भी क्या? सांसारिक सुख वैभवों से विमुख रह कर भी 'कायेन मनसा वाचा' संसार के ही कल्याण में निरत ऐसे ब्राह्मण की चरणरज को यदि हजार बार भी मस्तक पर लगाया जाय तो वह भी कम ही है। ऐसा कालिदास का भाव है और इसके विपरीत केवल ब्राह्मण वश में जन्म लेकर पूजा और आदर की कामना करने वालों के लिए उसके हृदय में जो स्थान है वह भी आप अभी देख ही चुके है।

कालिदास की दृष्टि में 'वर्णाश्रमव्यवस्था' के अन्तर्गत एक ब्राह्मण का सच्चा आदर्श, स्वरूप और स्वधर्म क्या होना चाहिए।

ब्रह्मकर्म

इसका एक बड़ा ही सुन्दर, मार्मिक एवं साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है, कौत्स और वरवन्तु के वर्णन में। कालिदास की ऐसे विश्ववन्द्य ब्राह्मणों के प्रति कितनी आस्था थी यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कौत्स को रघु के दरबार में उपस्थित होने पर पहले तो 'सर्वस्वक्षिणयाजी' रघु के द्वारा शास्त्रीय विधि से आतिथ्य कराया[3] और फिर कुशल प्रश्न के बहाने गुरु वरतन्तु के जीवन के सभी उदात्त पक्षों पर प्रकाश डलवाया है। संक्षेप में 'इन मन्त्रदृष्टा' ब्राह्मणो का जीवन ऐसा था कि वे सूर्य के प्रकाश की भाँति सारे संसार को ज्ञान और विद्या का प्रकाश वितरित करते थे। मन, वचन और कर्म की ऐसी शुद्धता एव संयम ऐसा कि इन्द्र भी उनके सामने इन्द्रासन पर बैठते हुए अपने आप को अयोग्य सोचने लगे। आश्रम के लता वृक्ष भी उनके 'सुतनिर्विशेष' स्नेह के भागी। आश्रम के मृगों के प्रति ऐसी आत्मीयता कि उनके

१. वशिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः।
किं तत्साध्य यदुभये साधयेयुर्न संगताः॥ रघु० १७।३८।

२. रघु०८।८५-९०।
मरण प्रकृति शरीरिणा विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥रघु० ८।८७।

३. रघु० ५।२-३।

नवजात शिशुओं का 'नाभिनाल' भी उनकी गोदी में गिरे। वर्णाश्रम व्यवस्था का ऐसा ध्यान कि राजा के न माँगने पर भी चुने हुए अन्न के षष्ठांश भाग को नदियो के तट पर रख आते। अतिथि सत्कार की भावना अहर्निश जागरूक। ब्रह्मचर्यावस्था में समाज के सदस्यों को अपने पास रखकर उन्हें शिक्षा और ज्ञान के द्वारा सुयोग्य नागरिक बनाकर, उनका गृहस्थ में प्रवेश कराकर आश्रम व्यवस्था को जीवित रखना।[1] है न पूजनीय वर्ग ?

वर्णव्यवस्था के नियम सभी ओर से कठोर थे। इसने जहाँ एक ओर ब्राह्मण को इस व्यवस्था में ऊँचा स्थान दिला कर अन्य वर्णों से उसका आदर-सम्मान करने की माँग की, वहीं ब्राह्मण से भी निस्पृह होकर समाज की सेवा करने की माँग की। अपने सञ्चित ज्ञान से समाज की प्रत्येक नई पौध को प्रकाशित करना तथा अपने सञ्चित तप से समाज के प्रत्येक संकट का निवारण करना ही उसका 'स्वधर्म' था। वह न 'स्वधर्म' में प्रमाद कर सकता है और न उसके पालन मे किसी प्रकार के अतिरिक्त पुरस्कार की आशा ही। वह समाज के लिए यदि कुछ करता था तो समाज भी तो अपने-अपने क्षेत्र में उस के लिए कुछ करता था। यह केवल कार्य कुशलता के लिए कार्य का विभाजन भर था। न कोई कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण और न कोई कम महत्त्वपूर्ण।

वरतन्तु ने कौत्स को चौदह विद्याएँ सिखलाई। इसमें उसने केवल वर्णाश्रम व्यवस्था में विहित अपने 'स्वधर्म' का पालन किया था। इसके बदले में उसे कौत्स की सेवा-भक्ति प्राप्त हो ही गई थी। अतः किसी अतिरिक्त पुरस्कार वा गुरुदक्षिणा की कोई आवश्यकता न थी। जब न्यायाधीश को न्याय देने के बदले में पुरस्कार की आवश्यकता नहीं होती, शासनाधीश को शासन और व्यवस्था के बदले में वेतन से अतिरिक्त किसो प्रकार के पुरस्कार की आवश्यकता नैतिक दृष्टि से नही होती, तो फिर वरवन्तु को ही क्यों हो ?

---

१. रघु० ५।४-१० ।। विशेष—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वयाज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ।। वही ४।
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगाणामनघा प्रसूतिः ।। वही ७।

इसीलिए तो जब विद्याध्ययन की समाप्ति पर कौत्स ने गुरुदक्षिणा की बात कही तो वरतन्तु ने कह दिया कि वह उसकी दीर्घकालीन श्रद्धाभक्ति से ही प्रसन्न है[१]। वैसे भी उसे धनादि की कोई कामना नही। पर गुरु के स्नेह पूर्ण व्यवहार का शिष्य के हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि वह गुरु के उस महान् दान के समक्ष अपनी सेवा भक्ति को कुछ भी नहीं समझ रहा है। अभी कुमार ही है, शायद वर्णाश्रम व्यवस्था की प्रेरणा को. उसकेर हस्य को पूरो तरह नहीं समझता। अतः अति आग्रह कर बैठा गुरुदक्षिणा के लिए अथवा गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के मूल्य के लिए। पता ही नहीं कि वर्णाश्रम व्यवस्था में विद्या आजकल की तरह व्यावसायिक वस्तु नहीं। गुरु अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार अपने 'स्वधर्म' का पालन कर रहा है और शिष्य अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार अपने स्वधर्म का पालन करे, बस इतना ही अपेक्षित है इस व्यवस्था में। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हुए समष्टि के हित में निरत रहे यही है इस व्यवस्था का मूल आधार। न व्यक्तिगत कोई स्वार्थ हो और न कोई पुरस्कार, सभी एक विशाल समुदाय के अंग हैं और उस समाज के हित में ही सबका हित है। अपेक्षित है केवल अपने अपने निर्धारित कर्त्तव्य का सचाई के साथ पालन करते जाना।

कौत्स का भावुक हृदय जब भावुकता में आकर अत्याग्रह कर ही बैठा तो गुरु ने भी उसके 'निर्बन्ध' से रुष्ट होकर अपनी गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ सुवर्ण मुद्राओं की मांग कर डाली[२]। पीछे भी हम कह आए हैं कि वर्णव्यवस्था में भावुकता और करुणा के लिए अवकाश नही। दरिद्र शिष्य इतनी वडी गुरु दक्षिणा की बात सुनकर स्तम्भित रह गया। पर उस आत्मविश्वासी ब्राह्मण ने धैर्य नही खोया। उसे पूरा करने का संकल्प लेकर वह पहुंचा 'सर्वस्वदक्षिणयाजी' रघु के पास। पर वहाँ तो अब केवल मिट्टी के पात्र ही उसके पास बच गए थे, वहाँ से संकल्पपूर्ति की कोई आशा

---

१. समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत् पुरस्तान्॥ रघु० ५।२०।

२. निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ रघु० ५।२१।

न थी। पर ऐसा आग्रही ब्रह्मचारी कौत्स इतने से ही हिम्मत हारने वाला न था। रघु के आतिथ्य और सद्भाव के लिए उसे आशीर्वाद देकर चल पड़ा किसी और दानी का द्वार खटखटाने के लिए[१]। यह दूसरी बात है कि रघु ने इसे अपने लिए अपमान की बात समझ कर उसे अन्यत्र जाने से रोक लिया[२]।

कौत्स भी था तो वर्णाश्रम व्यवस्था में पालित ब्राह्मण कुमार। भावुकता वश गुरु से 'निर्बन्ध' कर बैठा और उसके लिए चौदह करोड़ सुवर्ण मुद्राओं की आवश्यकता पड़ गई अतः उसके लिए किसी दानी का द्वार खटखटाया। ठीक है, पर उसके निस्पृह ब्राह्मणत्व की परीक्षा तो तब हुई जब कि उसके सामने चौदह करोड़ की अपेक्षा चौदह अरब सुवर्ण मुद्राओं की ढेरी लगा दी गई और आग्रह किया गया कि वह उस समस्त सुवर्ण राशि को ले जाए[३]। पर वाह री वर्णाश्रम व्यवस्था! वाह रे ब्राह्मण कुमार!! चौदह करोड़ से अधिक एक रत्ती भर भी लेने को तैयार नहीं हुआ। वह आवश्यकता से अधिक दान और ग्रहण से निषेध सारी दुनियाँ के लिए एक तमाशा बन गया, चिरस्मरणीय घटना बन गई[४]।

कालिदास ने भी रघु की इस महान् सफलता के रहस्य का उद्घाटन कर दिया है, वर्णाश्रम की भाषा के केवल एक शब्द से[५]।

वृत्त-स्थिति

वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक 'वृत्त', परिधि वा दायरा बना हुआ है और उसके अन्दर ही रह कर अपने कर्तव्य और अधिकारों का निर्वाह करने वाले व्यक्ति के लिए कुछ भी दुर्लभ नही। उसकी समस्त ऐहलौकिक

---

१. तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि॥ रघु० ५।१७।

२. रघु० ५।२४–२५

३. तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात्।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम्॥ वही ५।३०।

४. जनस्य साकेत निवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥ वही ५।३१।

५. किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते: स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा॥ वही ५।३३।

और पारलौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा 'वर्गचतुष्टय' की प्राप्ति उसी 'वृत्त' के अन्तर्गत हो जाए, उसे न किसी अन्य के 'वृत्त' में जाने की आवश्यकता हो और न कोई उसके 'वृत्त' में आ सके बस इसीलिए बनाई गई थी यह वर्णाश्रम की मर्यादा। जो कि काल चक्र में पड़कर अपनी 'प्रकृति' को भूल कर 'विकृति' को प्राप्त हो गई। विकृति के साथ विनाश तो अवश्यम्भावी है ही। कालिदास भी और हम भी उसकी विकृत दशा के पोषक नहीं। कालिदास के समय में शायद यह इतनी विकृत अवस्था में न थी, विकार आ अवश्य गया था। इसीलिए कालिदास ने फिर एक बार जनता के समक्ष उसके वास्तविक रूप को काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करने का यत्न किया था; और सन्देश दिया था अपने-अपने 'वृत्त में स्थित' रहने का।

वर्गचतुष्टय

भारतीय संस्कृति में जीवन का सामान्य लक्ष्य निर्धारित किया गया है 'पुरुषार्थ' की प्राप्ति। 'पुरुषार्थ' का अभिप्राय है धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इसे ही 'चतुवर्ग' के नाम से भी पुकारा जाता है[1]। मोक्ष का विषय बड़ा जटिल है। सर्वसाधारण इसे प्राप्त भी नहीं कर सकता, अतः सर्व सामान्य के लिए जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था वह था 'त्रिवर्ग' का। जीवन की सफलता एवं सम्पूर्णता के लिए 'त्रिवर्ग' में संतुलन का होना अत्यावश्यक था। कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनेकत्र 'त्रिवर्ग' के इस पक्ष पर विशेष जोर दिया है[2]। अपने इसी रूप में ही ये एक दूसरे के पूरक है। इसे ही आचार्य चाणक्य ने 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। एको हि अत्यासेवितो धर्मार्थकामाना-मितरौ पीडयति' कहा था।

वर्णाश्रम व्यवस्था में 'धर्म' शब्द का विस्तृत अर्थ है। उसकी परिधि में 'त्रिवर्ग' समा जाता है। कालिदास ने इसे 'त्रिवर्गसार'

---

१. स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक्॥ रघु० १०।८४।

२. (क) पितुर्नियोगाद्वनवासमेव निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्॥ वही १४।२१।

(ख) न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ वही १७।५७।

कहा है[१]। वस्तुतः धर्म से रहित न काम ही मगलकारक हो सकता है और न अर्थ ही। अपने 'वृत्त' की परिधि में प्राप्त किया गया 'अर्थ' भी और 'काम' भी 'धर्म' ही कहा जाता है। इसीलिए तो दिलीप के विषय में कालिदास ने लिखा था—**अप्यर्थकामौ तस्यासन् धर्म एव मनीषिणः** (१।२५)। 'पुरुषार्थ चतुष्टय' में भी इसीलिए इसको सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। 'काम' की परिधि क्या है? 'अर्थ' की परिधि क्या है? किस आश्रम में किस का कितना स्थान है? इन सबको जाने बिना उनकी प्राप्ति न व्यक्ति के लिए कल्याणकारी हो सकती है और न समाज के लिए ही। इसलिए आश्रम व्यवस्था में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में ही व्यक्ति को इन सब का समुचित ज्ञान करा दिया जाता था। फिर न 'त्रिवर्ग' का कोई विरोध होता था और न 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की प्राप्ति में कोई वाधा।

परम्परा का अन्धानुसरण अभिमत नही

कालिदास केवल कोरी परम्परा के पोषक न थे। उन्होंने परम्परा के पालन में देश-काल और परिस्थिति को भी महत्त्व दिया था। अन्यथा वर्णाश्रम व्यवस्था का ऐसा कट्टर पक्षपाती अपने प्रमुखतम कथापात्र 'रघु' के विषय में इसके बाह्य रूप में शिथिलता न दिखलाता। हम देखते है कि रघु के पुंसवनादि सभी संस्कार पूरे शास्त्रीय विधान के अनुसार किए गए थे[२]। फिर भी कवि ने उसे न विद्याप्राप्ति के लिए गुरुकुल में भिजवाया है और न वानप्रस्थ के लिए पत्नी सहित 'मुनिवनतरुच्छाया' वाले आश्रम में। घर पर ही उसकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी[३] और गृहस्थ में ही वानप्रस्थ भी बीता था। उसका गृहत्याग वानप्रस्थ नहीं सन्यास ही था। कालिदास ने स्पष्ट ही इसे 'अन्त्याश्रम' कहा है[४]। और फिर आगे चल कर उसे 'यति' शब्द से अभिहित किया है, तथा योग समाधि द्वारा उसके

---

१. अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसार. प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनो निर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते। कुमार० ५।३८।

२. रघु० ३।१०, १८।

३. वही ३।२९-३१।

४. स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया॥ वही ८।१४।

देहविसर्जन की बात को भी यहीं स्पष्ट कर दिया है[1]। यहाँ पर स्वयं ही यह प्रश्न उठता है कि कालिदास ने ऐसे प्रमुखतम पात्र से आश्रम व्यवस्था का पालन पूरी तरह क्यों नहीं कराया ? निवेदन है, कराया अवश्य है, पर देश-काल-परिस्थिति को उचित महत्त्व देकर। विद्योपलब्धि के समस्त साधन घर पर ही उपलब्ध थे, क्षत्रियोचित धनुर्विद्या की वह शिक्षा शायद उसे गुरुकुल में नहीं मिल सकती थी जो कि अद्वितीय धनुर्धर उसका पिता उसे दे सकता था। अत. ब्रह्मचर्य्याश्रम घर पर ही बीता[2]। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसने घर पर मुगल राजकुमारों की भांति राजसी जीवन बिताया। वर्णाश्रम धर्म का पक्षपाती कवि भला इसे कैसे सहन कर सकता था। उसने विद्या की व्यवस्था घर पर अवश्य करवा दी, पर बिताना पड़ा उसे आश्रमवासी ब्रह्मचारी का ही जीवन[3]। भारतीय सस्कृति के परम पुजारी कवि ने रघु जैसे राजकुमार को भी पहनवा दिया रुरुमृग का पवित्र चर्म सम्पूर्ण विद्याध्ययन काल मे। हुई न ब्रह्मचर्य्याश्रम की समुचित व्यवस्था ? भाव चाहिए स्थान कोई भी हो सकता है। यहाँ पर कालिदास ने दिलीप को ही शस्त्रास्त्र विद्या की शिक्षा के लिए रघु के गुरु पद पर नियुक्त करके यह दिखला दिया है कि शिक्षा का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ग को ही नहीं। विषय की दक्षता चाहिए फिर कोई भी गुरु बन सकता है।

अब रही वानप्रस्थ की बात। जिस व्यक्ति ने पूरी आस्था के साथ 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' के आदर्श को निभाया हो उसके लिए पृथक् रूप से वानप्रस्थ की आवश्यकता ही नही। वह तो केवलमात्र परम्परा का ढोल पीटना ही होगा। दिलीप, अज, दशरथ, राम आदि सभी के जीवन में हमें नारी की महत्त्वपूर्ण स्थिति दिखाई देती है। उनका दाम्पत्य में पूरा लगाव दिखाई देता है। पर रघु का जीवन इस पक्ष में निस्पृह ही दिखाया गया है। कवि ने वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन तथा वंश वृद्धि के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति

---

१. रघु० ८।१६, २४-२५।

२. वही ३।२६-३१।

३. त्वचं मेध्यां परिधाय रौ खीमशिक्षितास्त्र पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिव. क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ वही ३।३१।

पर उसका विवाह तो करा दिया। पर न कहीं उसकी पत्नी का कोई परिचय दिया और न उसके दाम्पत्य जीवन की कोई झाँकी ही दिखाई। ऐसे निर्लिप्त व्यक्ति के लिए वानप्रस्थ की आवश्यकता थी ही कब ? जो कुछ आवश्यक था वह दिखा दिया। समझदार को इशारा ही काफी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में शूद्र वर्ग को तपस्या का अधिकार नहीं और कालिदास भी इसका पक्षपाती है, यह हम देख ही चुके हैं। ऐसे व्यवस्था भङ्ग करने वालों को व्यवस्था के रक्षकों द्वारा कठोर दण्ड मिलना चाहिए इसमें कालिदास का पूरा-पूरा अनुमोदन है; यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने शम्बूक-बध के तुरन्त बाद ही 'अगस्त्य' मुनि द्वारा राम का अभिनन्दन कराया है और कराया है उन्हें 'दिव्यालंकरण' से पुरस्कृत भी[1]।

नारी का योग और संन्यास में अधिकार

कार्य-व्यवस्था के विभाजन में वर्ग विशेष को कोई विशेष कार्य करने का अधिकार नहीं, न सही, पर क्या लिङ्ग-विशेष को भी ऐसा अधिकार नहीं ? जैसा कि बाद के युग में भारतीय संस्कृति के ठेकेदारों ने इसे बना डाला था। कालिदास की रचनाओं को देखने से पता लगता है कि भारतीय संस्कृति के परम मर्मज्ञ एवं अनुरागी इस महाकवि को कम से कम इस प्रकार का जाति-भेद बिल्कुल पसन्द न था। वर्णाश्रम विभाजन में तो कम से कम समाज का वृहत् हित सन्निहित था, पर इसमें तो कोई ऐसी बात न थी। अतः कालिदास ने नारी को भी पुरुष के ही समान वानप्रस्थ, योग और संन्यास की अधिकारिणी माना है। दिलीप की रानी सुदक्षिणा गृहस्थ का पालन करने के बाद उसके साथ ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करती है।[2] कण्व शकुन्तला से गृहस्थ का भार पुत्र को सौंप कर तपोवन आने की बात कहते हैं[3]। महर्षि मरीचि की पत्नी दाक्षायणी तथा अगस्त्य की पत्नी 'अरुन्धती' तपोवन का

---

१. रघु० १५।५४–५५।

२. वही ३।७० मुनिवनतरुच्छाया देव्या तया सह शिश्रिये।

३. शाकु० ४।२० भर्त्रातदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदम्०।

ही जीवन बिताती हैं[1]। कवि की पार्वती ब्रह्मचर्यावस्था में ही कठोर तप-साधना करती है[2]। शाकुन्तल की गौतमी और मालविकाग्निमित्र की परिव्राजिका तो संन्यास की जीवन्त मूर्ति हैं। परिव्राजिका को कहीं बौद्ध भिक्षुणी न समझ लिया जाय इसलिए कवि विशेष रूप से उसे 'यति वेषधारिणी' कह कर सन्देह को दूर कर देता है[3]। 'यति' शब्द से उसका क्या अभिप्राय होता है यह देखना हो तो देखिए रघुवंश के आठवें सर्ग में[4]। इसमें भी यदि कोई सन्देह रह गया हो तो सुनिए कवि की गूढ़ गिरा को कुमार सम्भव में और विचार कीजिए 'योगविसृष्टदेहा' पर[5]। पुरुष जाति (रघु, अज, राम, लक्ष्मण आदि) यदि योगसमाधि के द्वारा शरीर त्याग कर सकते है तो स्त्री जाति भी इस अधिकार से वंचित नहीं। हो भी कैसे ? जिस संस्कृति में 'योगिराज' का रूप ही 'अर्धनारीश्वर' हो वहाँ स्त्री-पुरुष भेद हो भी क्यों कर सकता है ? कालिदास ने तो इस भावना को और भी स्पष्ट कर दिया है—

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ कुमार० २।७ ।

(हे ब्रह्मन् स्त्री और पुरुष की सृष्टि करते समय आप स्वयं अपने आप को ही स्त्री और पुरुष इन दो रूपों में विभक्त कर लेते हैं और यही रूप संसार के माता-पिता कहे जाते है।)

देखा न कवि का क्या भाव है नारी के प्रति ? वर्णाश्रम व्यवस्था के बाद के अधिकारियों की दृष्टि दूषित हो गई, उसके मूल रूप के दर्शन ठीक ठीक न कर सकी तो इस में मूल व्यवस्थापकों का क्या दोष ? उन्होंने तो समाज-हित की भावना से ही इसे स्थापित किया था न ? आज की समाज व्यवस्था भी जो है वह इसी रूप में बनी रहेगी इसमें भी क्या गारंटी ?

---

१. शाकु० अक ७, रघु० ६।११-१३, ३० ।
२. कुमार० ५।१६-१६ ।
३. यतिवेषधारिणी आर्यकौशिकी दुःखेन बिभाव्यते । माल० अंक ५ ।
४. रघु० ८।१६-२३ ।
५. अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधू प्रपेदे ॥ कुमार० १।२१ ।

कालिदास को अभिमत समाज व्यवस्था का ढाँचा लगभग स्पष्ट हो गया। उसमें अब तक विशेष रूप से देखा कि इस 'वृत्त' के अन्तर्गत ब्राह्मण का क्या स्वधर्म था

क्षात्र कर्म

अब हम थोड़ा सा अन्य वर्णो पर भी विचार कर लें तो अच्छा है। शासक के रूप में किसी क्षत्रिय का स्वधर्म क्या है? यह तो रघुवंशी शासकों का गुणगान करते हुए कालिदास ने स्पष्ट कर ही दिया है। हम भी उसके राजनीतिक आदर्शो पर विचार करते हुए पृथक् रूप से भी इन पर विचार करेंगे ही, पर यहाँ पर क्षत्रिय के स्वधर्म के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है दिलीप का वह कथन जो कि उसने **'अल्पस्य हेतोः बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्'** के प्रत्युत्तर में सिंह को कहा था[१]। संकट से दूसरों की रक्षा करना, यही है क्षत्रिय का मुख्य स्वधर्म, दिलीप के समक्ष प्रश्न न गो का था और न गुरु के कोप का जिसकी ओर कि सिंह ने उसका ध्यान दिलाया था[२]। उसके सामने तो प्रमुख प्रश्न था 'स्वधर्म' के पालन का। वैसे वर्णाश्रम धर्म में गो और ब्राह्मण को विशेष महत्त्व प्राप्त है ही। कालिदास ने उसे दिखाया भी है[३]। पर यहाँ पर तो उसकी दृष्टि प्रत्यक्षतः **'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषुरूढः'** पर है। यदि वह अपने इस 'वर्ण-विहित' कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता तो उसे फिर जीवित रहने का अधिकार भी नहीं। कर्तव्य अथवा स्वधर्म-पालन में फिर 'भौतिक पिंड में आस्था' कैसी[४]? जो समाज उसके लिए 'स्वधर्म भाव से और सब कुछ कर रहा है उसे संकट से छुड़ाते समय यदि उसे इस 'एकान्त विध्वंसी भौतिक पिंड' के प्रति मोह हो जाय तो वह समाज को क्या मुंह दिखलाएगा? जिस सेना पर सरकार देश की कुल आय का अधिकतम भाग व्यय करती है, उसके समस्त उत्तरदायित्वों का वहन करती है वही यदि शत्रु से पाला पड़ने पर मृत्यु से डर कर मुँह फेर ले तो क्या शासन व्यवस्था कायम रह सकेगी? कर्तव्य के प्रतिजागरूक व्यक्ति उस

---

१. रघु० २।५३-५८।

२. वही २।४८-४६।

३. वही सर्ग २ तथा सर्ग ३।४०-४१; ५।२-३, शाकु० अंक ५ आदि।

४. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ रघु० २।५७।

शरीर को बचा कर भी क्या करेगा, जिसने कि एक न एक दिन नष्ट हो ही जाना है। उल्टा कलंकित जीवन का बोझ ढोना पड़ेगा। इसलिए कर्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति को तो अपने 'यशः शरीर' की ही अधिक चिन्ता रहेगी। रघुवंश में क्षत्रियत्व के आदर्श रूप का निरूपण अग्निवर्ण को छोड़ कर प्रायः सभी रघुवंशियों में हुआ है। उनके नाटकों में भी यह रूप काफी उभरा है। अपने पास कुछ न होते हुए भी रघु इस बात को बर्दाश्त नही कर सकता कि उसके द्वार से याचक खाली हाथ चला जाय।

वैश्य और शूद्र के 'स्वधर्म' का अधिक निरूपण कालिदास की रचनाओं में नहीं हो सका है। पर ढाँचा सर्वत्र वही है और सर्वत्र ही पुकार है कि—'**सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्**'। शाकुन्तल मे वणिक् धनमित्र की प्रभूत सम्पत्ति और गर्भवती पत्नी के पुसवन संस्कार का संकेत अवश्य मिलता है[१]।

विवाह और वर्णशुद्धि

वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि वर्णशुद्धि पर विशेष बल दिया जाय। वर्णशुद्धि के लिए आवश्यक है रक्तशुद्धि और रक्तशुद्धि के लिए आवश्यक है सवर्ण विवाह। वंशशुद्धि के लिए रक्तशुद्धि का होना आवश्यक है। इस प्रकार के माता-पिता से उत्पन्न सन्तान ही व्यक्ति के ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिए हो सकती है[२]। वर्णाश्रम व्यवस्था में विवाह केवल दो व्यक्तियों का शारीरिक मिलन तथा वासना की पूर्ति नहीं, वरन् एक ओर 'धर्माचरण' के लिए 'सहधर्मचारिणी' का होना आवश्यक है[३] तथा दूसरी ओर वंश-वृद्धि तथा स्वर्गत पितरों की तृप्ति के लिए 'औरस सन्तान' का होना भी आवश्यक है[४]। अतः यह भारतीय सामाजिक जीवन का अभिन्न अङ्ग है। यह जितना ही शुद्ध एवं संस्कार सम्पन्न होगा समाज तथा व्यक्ति का जीवन भी उतना ही स्वस्थ एवं सुखी होगा। इसीलिए इस पर एक

१. शाकु० अक ६ (देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते।)

२. रघु० १।६६।

३. कुमार० ६।१३; ८।२६; ५१; शाकु० अंक० ५।१५ प०; विक्रम ५।२० पू०

४. रघु० १।६६-७१; शाकु० अंक ६।

ओर तो वर्ण-व्यवस्था का नियमन रहता है तथा दूसरी ओर आश्रम व्यवस्था का भी। कालिदास ने भी वर्णाश्रम व्यवस्था के इस पक्ष पर अपनी कृतियों में सबसे अधिक प्रकाश डाला है।

'सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे' कह कर उन्होंने सवर्ण विवाह के विषय में अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त कर दिया है। पर इतने विस्तृत समाज में कहीं न कहीं शिथिलता के लिए अवकाश हो ही जाता है। पर कालिदास देखते है कि इसमें दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण के कारण व्यक्तित्व का सम्यक् विकास नही हो पाता। उसका व्यक्तित्व दो भिन्न तत्त्वों में विभक्त हो जाता है। साथ ही इस प्रकार की स्वीकृति से वर्णव्यवस्था भी कायम नहीं रह सकती। क्योंकि प्रत्येक वर्ण का अपना पृथक् 'स्वधर्म' वा कर्तव्य विहित है। एक व्यक्ति एक साथ उन दोनों को नहीं निभा सकता है, और यदि निभाता है तो पूर्णता किसी में भी प्राप्त नहीं कर पाता है। कालिदास ने इस प्रकार के असवर्ण संयोग के फल को भी परशुराम जी के जीवन में दिखाने का यत्न किया है। पहले तो उनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते है कि उस तेजस्वी पुरुष के शरीर पर एक ओर तो ब्राह्मण पिता के अंश को सूचित करने वाला यज्ञोपवीत शोभित हो रहा था तथा दूसरी ओर क्षत्रिया माता के अंश को सूचित करने वाला धनुष'। फिर अन्त में संघर्ष की समाप्ति पर उन्ही के मुँह से राम को कहलवाया है—'आपने मेरा निग्रह करके मेरा बड़ा उपकार किया है। क्योंकि मैं अब क्षत्रिया माता के अंश रजोगुण से मुक्त होकर ब्राह्मण पिता के अंश सतोगुण को प्राप्त हो गया हूँ[२]। अतः अब मैं एकाग्र होकर अपने 'स्वधर्म' में संलग्न होता हूं।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्यों कालिदास वर्णशुद्धि पर जोर देते है।

अनुलोम विवाह सम्मत

जैसा कि हमने अभी कहा कि कभी-कभी अपवाद के रूप में सामान्य स्वीकृत सिद्धान्तों में शिथिलता के लिए भी अवकाश रहता ही है। इसके लिए वर्णाश्रम व्यवस्था में जो विधान किया गया था वह 'अनुलोम' प्रथा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उच्चवर्ण का पुरुष अपने से निम्नवर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था।

१. पित्र्यमंशमुपवीतलक्षण मातृकं च धनुर्र्जितं दधत् ॥ रघु० ११।६४।

२. राजसत्त्वमवधूयमातृकं पित्र्यमस्मि गमित. शमम्। वही ११,९०।

'शोणित' की अपेक्षा 'शुक्र' को अधिक प्रबल माना गया है। अन्ततोगत्वा वह अपने 'स्वधर्म' को प्राप्त हो जाता है; जैसा कि हम अभी परशुराम के प्रसंग में देख चुके हैं। मालविकाग्निमित्र में भी रानी धारिणी के सौतेले भाई वीरसेन के लिए 'वर्णावरो भ्राता' शब्द का प्रयोग हुआ है'[1], जिससे स्पष्ट है कि वह क्षत्रिय पिता तथा वैश्या वा शूद्रा माता से संभव संतान था। ऐसे ही शाकुन्तल में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने जो **'अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्'** की आशंका व्यक्त की है उससे भी एक ओर अनुलोम विवाह का अनुमोदन तथा दूसरी ओर प्रतिलोम विवाह का निषेध स्पष्ट हो जाता है।

वर्णाश्रमसम्मत विवाह-दीक्षा की मान्यता

वंश की शुद्धि तथा सन्तान की श्रेष्ठता के लिए आवश्यक है कि विवाह सवर्ण हो और पूरे संस्कार के साथ हो। यदि वर्ण में किसी प्रकार का दूषण भी हो तो वह संस्कार से शुद्ध हो जाता है। पुरुरवा और उर्वशी का विवाह किसी विधि से नहीं हुआ था, किन्तु फिर भी उनके पुत्र आयुस् के जो विधिवत् संस्कार किए गए थे[2] उन्होंने उसे चमका दिया। विश्वामित्र और मेनका की सन्तान शकुन्तला यद्यपि कामज सन्तान थी। इसीलिए उस में काम का अंश प्रबल रहा, किन्तु साथ ही तपोवन की शिक्षा-दीक्षा ने उसमें सत्त्व का अंश भी जागृत कर दिया था; जिसके बल पर वह अपने आपको पूर्ण पतन से उबार सकी थी।

केवल शारीरिक आकर्षण वा काम से प्रेरित हो कर दो प्राणियों का मिलन किस प्रकार दुःखदायी हो सकता है इस बात को कालिदास ने शाकुन्तल में तथा अग्निवर्ण के प्रसंग में भली भाँति दिखा दिया है। शाकुन्तल में तो कम से कम विवाह की एक मान्य विधि 'गान्धर्व' का बन्धन तो था, पर अग्निवर्ण में वह भी नही था। इसीलिए एक तो चट्टान से टकरा कर भी बच गया और दूसरा स्वयं ही आश्रय सहित नष्ट हो गया। गान्धर्व विवाह भारतीय संस्कृति में

---

१. अस्ति देव्या वर्णावरो भ्रातावीरसेनो नाम (माल० अंक १ विष्कम्भक)।

२. तापसी-यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवताच्यवनेनाशेष-मनुष्ठितम्॥ विक्र० अंक ५।

कभी मान्य रहा[1] इसलिए कालिदास ने उसका निरूपण अवश्य कर दिया है; पर है उसे इस परम्परा पर शिकायत ही। गौतमी का असन्तुष्ट स्वर[2] तथा शार्ङ्गरव की निर्दय फटकार[3] इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य दे रहे है। उर्वशी को तो कवि ने पुरुरवा की 'सहधर्मचारिणी' बनाकर ही छोड़ा है[4]।

वर्णाश्रम सस्कृति में विवाह की मान्य विधियों में से कालिदास को सवर्ण तथा प्राजापत्य पद्धति ही अधिक मान्य है। इसीलिए उसने संसार के माता पिता भगवान् शंकर और पार्वती का विवाह इसी विधि से करवाया है, और किया है इस विधि का साङ्गोपाङ्ग निरूपण भी[5]? विशेष कर राजन्य वर्ग में प्रचलित स्वयंवर विधि का भी उसने अनुमोदन किया है। अज-इन्दुमती के विवाह में कवि ने विशेष रुचि से इसका निरूपण किया है[6]। राम और सीता का विवाह यद्यपि स्वयंवर विधि से नही हुआ था, वह तो परीक्षा विधि ही थी, पर फिर भी लोग इसे स्वयवर ही कहा करते है। अस्तु, जो भी विधि हो पर कालिदास सुखद एव सुदृढ़ दाम्पत्य के लिए विवाह-बन्धन में धार्मिक सस्कारों की सम्पन्नता को उसका एक अत्यावश्यक अग समझते हैं। इसीलिए इन्दुमती के द्वारा अज को तथा सीता के द्वारा राम को वर माला पहना दिए जाने के बाद भी वह शास्त्रीय विधान के अनुसार उनका विवाह-सस्कार कराना आवश्यक समझते है[7]। यह संस्कार प्राजापत्य पद्धति में विहित सस्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं। स्वयंवर के बाद भी पिता

१. गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यका।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥ शाकु० ३।२१।

२. नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य ॥ शाकु० ५।१६।

३. अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ शाकु० ५।२४।

४. नारद.—इय चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।
विक्र० ५।२० पू०।

५. कुमार० ७।७१-९०; रघु० ७।१८-२८।

६. रघु० सर्ग ६, सम्पूर्ण।

७. रघु० ७।१८-२८; ११।५३-५६।

और बान्धवों के द्वारा 'कन्यादान' की विधि को पूरा किया गया है। युवक युवतियों को अपना सहधर्मी वा सहधर्मिणी चुनने का अधिकार हो, यह तो ठीक है, पर उस सम्बन्ध के स्थायित्व के लिए तथा सुसन्तान की प्राप्ति के लिए उसे संस्कृत होना भी आवश्यक है। अन्यथा दुष्यन्त और शकुन्तला के सम्बन्ध की भाँति उसके टूटने की आशंका सदा बनी रह सकती है। आज के युग का वैवाहिक विधान इसका साक्ष्य दे सकता है।

विवाह के साथ गृहस्थ पर चारों आश्रमों अथवा समाज का बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ता है। अतः यह कार्य खूब देखभाल कर और सोच विचार कर होना चाहिए। नवयुवक तथा नवयुवतियों में परस्पर मिलन के लिए काम का आवेग तो होता है पर उस मिलन से उत्पन्न होने वाले सामाजिक उत्तरदायित्वों को भली भाँति समझने का अनुभव नहीं। इसलिए चुनाव की स्वतंत्रता के साथ साथ कालिदास इस बात को अधिक प्रशंसनीय समझते है कि संतान इस विषय में अपने अनुभवी माता-पिता की सम्मति की प्रतीक्षा करें[१], जिससे कि शीघ्रता में हो सकने वाली त्रुटियों से बचाव हो सके। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों का हित है।

गो-ब्राह्मण

वैदिक संस्कृति में गो और ब्राह्मण का विशेष महत्त्व रहा है। गाय राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति थी और ब्राह्मण राष्ट्र का कर्णधार। राष्ट्र का धार्मिक एवं सामाजिक जीवन बहुत कुछ इसी राष्ट्रीय सम्पत्ति पर निर्भर था। हवन-यज्ञ की धार्मिक क्रियायें, जनता का स्वास्थ्य तथा कृषि सभी में गाय का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसीलिए पुरातन आर्य संस्कृति में इसे माता का स्थान दिया गया तथा इसकी सेवा-भक्ति पर विशेष बल दिया गया। हिन्दू पुराण-कथा के अनुसार निखिल ब्रह्माण्ड के चौदह श्रेष्ठतम रत्नों में गाय भी एक है। इस राष्ट्रीय निधि के प्रति कालिदास ने भी अपने पूर्वजों की भावना को जीवित रखा था।

गो पूजनीया है, आदरणीया है, इसी पर हमारे तथा हमारे बच्चों का सुख स्वास्थ्य एवं व्यवसाय निर्भर करता है। इसलिए

---

१. श्रीसाभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष ॥ रघु० ५।३८

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में प्रत्येक भारतीय को इसकी सेवा एवं सम्मान करना चाहिए। इसी भावना की अभिव्यक्ति के रूप में उन्होने 'रघुवंश' के प्रारम्भ में ही दिखलाया है कि गो के प्रति सम्यक् सम्मान प्रकट न करने के कारण ही दिलीप के घर में सन्तति का अभाव हो गया था[१]। इसके प्रायश्चित्त स्वरूप उसे फिर गाय की ही आराधना करनी पड़ी। वर्णाश्रम प्रधान संस्कृति में गो का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि वही हमारे देवकार्य, पितृकार्य और अतिथिकार्य की प्रधान हेतु है[२]। 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग मे जिस अनन्य श्रद्धा और भक्ति के साथ कालिदास ने दिलीप के द्वारा नन्दिनी की सेवा करवाई है वह भारतीय संस्कृति के इतिहास में अभूतपूर्व है[३]। और अन्त मे तो वह उसकी रक्षा के लिए अपना जीवन ही अर्पित करने को तैयार हो जाता है[४]। आज के यांत्रिक तथा वैज्ञानिक युग मे हमे अपने राष्ट्रीय जीवन में गाय का उतना महत्त्व चाहे प्रतीत न होता हो, तथा इस गो-पूजा और गो-भक्ति को एक ढोंग और आडम्बर ही समझा जाता हो, पर प्राचीन भारत में हमारे पूर्वजों ने इसके राष्ट्रीय महत्त्व को समझ कर ही इसे यह स्थान दिया था। गाय के बिना भारतीय जीवन की कल्पना भी नही की जा सकती थी। आज के युग में उसका धार्मिक महत्त्व तो समाप्त हो ही गया है, पर नकली घी-दूध, नकली खाद, तथा यांत्रिक वाहनो के कारण उसका भौतिक महत्त्व भी घट गया है। इसी

---

१. रघु० १।७५-७७; (क) अवजानासि मा यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥रघु० १।७७।

२. तां देवता पित्र्यतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ॥ वही, २।१६।

३. आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ वही, २।५।
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ वही, २।६।
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनी ता सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥
वही, २।२१; २।७१।

४. स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ वही, ४५।

उपेक्षा का फल यह हुआ है कि हमारे देश की 'घटोघ्नी' और 'कुण्डोघ्नी' गायों की तथा 'ककुद्मान' वृषभो की नस्ल समाप्त हो गई और अब हमें इन्ही के लिए विदेशों से भीख मांगनी पड़ रही है।

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कालिदास ने भी गाय में दिव्य शक्तियों की सत्ता स्वीकार की है। कामधेनु के श्राप से दलीप की सन्तति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। नन्दिनी की कृपा से उसे **'वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिम्'** पुत्र का वरदान प्राप्त होता है और नन्दिनी की कृपा से ही रघु को वह दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है जिससे कि वह इन्द्र के मायाजाल का भेदन कर उस 'अश्वचोर' को देख सकता है[१]।

त्यागी, तपस्वी, राष्ट्रहित मे निरत तथा राष्ट्र की बौद्धिक शक्ति के प्रतीक ब्राह्मणों के प्रति कालिदास की आस्था किस प्रकार की थी इसका कुछ रूप हम पीछे देख ही चुके है। इन तेजस्वी ब्राह्मणो की मंत्रशक्ति का सिक्का कालिदास के मन पर कैसा बठा हुआ था इसका यहाँ पर केवल एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। जब गुरुदक्षिणार्थी कौत्स को अन्यत्र जाने से रोक कर रघु कुबेर पर चढ़ाई करने को उद्यत हुआ तो उसके बारे मे कालिदास लिखते हैं कि 'जिस प्रकार वायु के प्रभाव से बादल कही भी जा सकता है वैसे ही गुरु वशिष्ठ के मत्रो के प्रभाव से रघु का रथ भी समुद्र, आकाश और पर्वत पर बे रोक-टोक आ जा सकता था'[२]। ऋषियों के शाप और वरदान से तो कालिदास के कथानकों को नए रूप और नए मोड़ मिले हैं। कालिदास मानते है कि जब राष्ट्र के बुद्धि-बल और शक्ति-बल के प्रतीक ब्राह्मण और क्षत्रिय शक्तियाँ जागृत रहती है ती राष्ट्र आन्तरिक एव बाह्य उपद्रवों के अभाव के कारण सुख और समृद्धि को प्राप्त होता है। उसके लिए किसी भी निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन नहीं[३]। ब्राह्मण से उनका

---

१. तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृत सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः॥ रघु० ३।४१।

२. वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव वलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य॥ वही, ५।२७।

३. वशिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः॥ वही, १७।३८।

क्या भाव है वह किस प्रकार के ब्राह्मणों को पूजनीय तथा राष्ट्र का गौरव मानते हैं यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

भारतीय संस्कृति में आतिथ्य को बड़ा महत्त्व प्राप्त है। अतिथि को देवस्वरूप माना गया है[1]। उसकी पूजा को परम कर्तव्य तथा उपेक्षा को महान् अपराध समझा गया है।

आतिथ्य

कालिदास की कृतियों में भारतीय संस्कृति का यह रूप भी छूटने नहीं पाया है। जब भगवान् शंकर ब्रह्मचारी का वेष बना कर पार्वती की परीक्षा लेने के लिए उसके तपोवन में पहुचे तो पार्वती ने बड़े आदर के साथ आगे बढ़ कर उनका आतिथ्य सत्कार किया[2]। इसी प्रकार सप्तर्षि मण्डल जब शंकर के साथ पार्वती के पाणिग्रहण का प्रस्ताव लेकर हिमवान् के घर पहुंचे और हिमवान् ने जब उन्हें दूर से ही आते देखा तो वे उनकी पूजा के लिए हाथ में अर्घ्य-पाद्य लेकर उनके पास गये और पूरे विधि-विधान के साथ उनकी पूजा की तथा आतिथ्य किया[3]।

'रघुवंश' में तो आतिथ्य की भावना और भी अधिक जागरूक दिखाई देती है। वशिष्ठ जी यद्यपि दिलीप के गुरु थे लेकिन जब वह उनके आश्रम में पहुंचा तो उसका पूरी तरह स्वागत सत्कार किया गया[4]। रघु के द्वारा कौत्स का जो आतिथ्य हुआ वह तो दर्शनीय ही है[5]। ऐसे ही और भी इस भावना को रघुवंश में अनेकत्र अभिव्यक्ति मिली है[6]।

'शाकुन्तल' में भी अतिथि के पहुंचने पर आश्रम कन्याएं उसके स्वागत करने के लिए हड़बड़ा उठती हैं[7]। यह दूसरी बात

---

१. अतिथिदेवो भव।

२. तमातिथेयी बहुमान पूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ॥
कुमार० ५।३१।

३. वही, ६।५०-५२ (तानर्घ्यानर्घमादाय दूरात्प्रयुद्ययौ गिरिः)।

४. रघु०, १।५८।

५. वही, ५।२-३।

६. वही, ११।६६।

७. हला शकुन्तले ! गच्छोटजम्, फलमिश्रमर्घ्यमुपाहर, इदं पादोदकं भविष्यति। शाकु० अंक, १।

है कि अतिथि को अर्घ्य और मधुपर्क से अधिक रस उनकी बातों में ही आ गया। पर फिर भी उन्हें इस बात की बड़ी ग्लानि है कि वे उसका आतिथ्य नहीं कर सकीं[१]। अतिथि का परिभव कितना बड़ा अपराध समझा जाता था यह तो दुर्वासा की घटना से स्पष्ट ही है[२]।

इस देश की संस्कृति में अतिथि सत्कार की भावना कितनी प्रबल थी तथा उसके प्रति कालिदास का क्या भाव था इसका सुन्दर आभास मिलता है शरभङ्ग ऋषि के तपोवन के वर्णन के प्रसंग में। कवि कहता है कि इस आश्रम के वृक्ष ऋषिवर के सुपुत्रों के समान यहाँ आने वाले अतिथियों का शीतल छाया तथा मधुर फलों से आतिथ्य किया करते हैं[३]। जिस देश में आतिथ्य की भावना इतनी उच्च हो वहाँ का राष्ट्रीय कवि उसका अंकन कैसे भूल सकता है।

वर्णाश्रम संस्कृति में 'वर्ण' को महत्त्व देने का एक प्रमुख कारण है जन्मान्तर में विश्वास। वह मानता है कि मृत्यु के उपरान्त जब उसका दूसरा जन्म होता है तो उसके पिछले जन्म का ज्ञान, संस्कार और प्रवृत्तियाँ साथ जाते हैं। उन्हीं के कारण उसे वर्ण विशेष में जन्म मिलता है। जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं कि कहीं किसी व्यक्ति के घर में किसी जीव का जन्म हो जाय। यह तो गतिमती संसृति का एक व्यक्त रूप मात्र होता है जोकि उसके पूर्वजन्म के कर्मों एवं संस्कारों पर आधारित हुआ करता है। हमारे इस जन्म की अनेक घटनाएँ जैसी होती है जिनका कि हमारे इस जन्म के कार्यों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध ही नहीं बन पाता। वे निश्चय ही हमारे पूर्व जन्म

जन्मान्तर और कर्मविपाक

---

१. आर्य ! असंभावितातिथिसत्कार भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्य विज्ञापयितुम्। शाकु० अंक १।

२. दुर्वासा—आ ! अतिथिपरिभाविनि !—विचिन्तयन्ती०॥शाकु० ४।१।

३. छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु॥ रघु० १३।४६।

के किए हुए कर्म होते हैं जिनका कि हमें इस जन्म में फल दिखाई देता है[१]। कालिदास स्पष्ट रूप से लिखते है कि दक्ष के यज्ञ में योगमार्ग से देह विसर्जन कर सती ने ही मैना के गर्भ से पार्वती के रूप में जन्म लिया[२]। पार्वती ने जब पढ़ना आरम्भ किया तो उन्हें पूर्व जन्म की सारी विद्याएँ अपने आप स्मरण हो आईं[३]। राम जब वामन भगवान् के आश्रम में गए तो उनका मन अपने पूर्वजन्म (वामनावतार) की घटनाओं का ठीक-ठीक स्मरण न कर सकने के कारण वहाँ पर कुछ उन्मन सा हो गया[४]। अज और इन्दुमती के विषय में यही विचार व्यक्त किया गया है कि ये दोनों पूर्व जन्म के रति और कामदेव रहे होंगे, इसीलिए तो इन्दुमती ने इतने राजाओं में से अज को ही वरा। क्योंकि मन पूर्वजन्म के सम्बन्धों के कारण ही किसी की ओर आकृष्ट हुआ करता है[५]। राम के द्वारा परित्यक्ता सीता भी फिर अगले जन्म में भी राम को ही पति के रूप में प्राप्त करने की कामना से तपस्या करने की बात कहती है[६]। इन्दुमती अपने पूर्व जन्म में अप्सरा थी और इस जन्म के बाद फिर अप्सरा ही बन गई[७]। तारकासुर और रावण भी अपने पूर्वजन्म के राक्षस ही थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास का 'लोकान्तर' या 'परलोक' में पूरा विश्वास था[८]। भारतीय आध्यात्म परम्परा के अनुसार वे मानते थे कि जीवन शाश्वत है, मृत्यु उसका अन्त नहीं।

---

१. फलानुमेयाः प्रारम्भा. संस्काराः प्राक्तना इव ।। रघु० १।२०।

२ अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भव पूर्वपत्नी ।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ।। कुमार० १।२१ ।

३. स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्या ।। वही, १।३१।

४. वामनाश्रमपदं तत परं पावनश्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मना प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ।। रघु० ११।२२ ।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।। शाकु० ५।२ ।

५. रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ।। रघु० ७।१५ ।

६. भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ।। वही, १४।६६ ।

७. वही, ८।७९-८१ ।

८. वही, १।६९; ८।४९; ८५।

उसे अगला जीवन ग्रहण करने तक अपने कर्मों के अनुसार स्वर्गादि लोकों में निवास करना पड़ता है।

अतः वे यह मानते थे कि मनुष्य जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार उसे परलोक प्राप्त होता है। कर्म भेद के अनुसार प्रत्येक मानव का स्वर्ग के लिए मार्ग-भेद भी होता है[१]। हमें अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, कभी वह एक जन्म में ही प्राप्त हो जाता है और कभी जन्मान्तर में। कालिदास के अनुसार कामदेव के दाह का कारण भगवान् शंकर का कोप नहीं वरन् उसका वह कर्म था जिससे कि उसने प्रजापति को ही अपनी पुत्री के प्रति आसक्त कर डाला था[२]। कालिदास के ग्रन्थों में पाई जाने वाली शाप की घटनाएँ प्राय कर्म-विपाक ही हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार ही कालिदास भी मानते हैं कि जीव इस आवागमन अथवा 'शरीरबन्ध' से तब तक छुटकारा नही पा सकता जब तक कि वह अच्छे या बुरे सभी प्रकार के कर्म फल को ज्ञान की अग्नि में भस्म नहीं कर डालता[३]। अच्छे कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग तथा स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं[४], पर वे स्याथी नही। जब पुण्यक्षीण होने लगते हैं तो उन्हें फिर मृत्यु लोक में आना पड़ता है[५]।

कई बार जीवात्मा जब स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा सकता तो उसे पितृलोक में स्थान प्राप्त होता है। पितृलोक के निवासी पितर कहलाते हैं और वे अपनी आने वाली पीढ़ियों से श्राद्ध और तर्पण की कामना रखते हैं[६]। यही वह पितृऋण है जिससे मुक्त होने के लिए प्रत्येक वर्णाश्रमी हिन्दू को गृहस्थाश्रम तथा पुत्र

---

१. रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयोभिन्नपथा हि देहिनाम्॥ रघु० ८।८५।

२. कुमार० ४।४१।

३. इतरो दहने स्वकर्मणा ववृते ज्ञानमयेन वह्निना॥ रघु० ८।२०।

४. रघु० ७।५३; ८।९५; ११।८७; १५।२९; १८।२२; कुमार० ६।३७ आदि।

५. स्वल्पीभूते सुचरितफलैर्स्वर्गिणा गा गतानाम्॥ पूर्वमेघ० ३२।
तुलनीय:-क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति (गीता)।

६. रघु० १।६७, ७१, ५।८; ६।२०; ८।३०, १२।६१; शाकु० ६।२४-२५।

सन्तान की आवश्यकता होती है। कालिदास ने इस पर पूर्ण आस्था प्रकट की है[1]।

वर्णाश्रम प्रधान भारतीय संस्कृति में यज्ञ, अनुष्ठान, जप, उपासना, व्रतोत्सव, संस्कार, धार्मिक विश्वास आदि का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये ही इस संस्कृति के मौलिक तत्त्व है। कालिदास के ग्रन्थों में इन सभी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सच तो यह है कि भारतीय जीवन तथा संस्कृति का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो कि इस राष्ट्रकवि की दृष्टि से बच गया हो। संस्कारों पर कुछ थोडा प्रकाश पीछे पड़ ही चुका है। धार्मिक विश्वासों पर भी 'अतिमानवीय तत्त्वों' के प्रकरण में थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ ही जाता है। यहाँ पर हम अब प्रमुख रूप से यज्ञ और उपासना के प्रसंग में ही कुछ विचार करेंगे।

यज्ञानुष्ठान

यज्ञ वैदिक संस्कृति का मूल है, प्राण है। 'होता' और 'यज्ञ' के परिवेश में ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शन समाया हुआ है। यज्ञानुष्ठान में अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओं में अग्नि का स्थान सबसे प्रमुख होता है। हमारे वैदिकमन्त्रों का प्रारम्भ ही **'अग्निमीळे पुरोहितम्॰'** से होता है। अग्नि से ही हमारे समस्त ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कृत्य पूर्ण होते है। पवित्र अग्नि में ही ब्रह्मचारी अपने दैनिक यज्ञों को किया करता है। इसी अग्नि को साक्ष्य करके वह गृहस्थ में प्रवेश करता है और आजीवन इसी से देवता, पितर और अतिथियों का कार्य करता हुआ अन्त में इसी में लीन हो जाता है। अग्नि उसके जीवन की ज्योति है, जीवन का प्रतीक है और जोवन-ज्योति के बुझने के साथ ही यह ज्योति, यह तेज भी बुझ जाता है। कालिदास ने दक्षिणात्य, गार्हपत्य तथा आहवनीय इन तीन प्रकार की अग्नियों का उल्लेख विशेषरूप से किया है[2]। गार्हपत्य अग्नि ही वह अग्नि है जिसे कि द्विजाति का ब्रह्मचारो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय अपने पिता से प्राप्त करता है और फिर इसी प्रकार आगे अपनी सन्तान को सौप देता है। गृहस्थ के समस्त धार्मिक क्रियाओं की आधार यही गार्हपत्याग्नि है।

१. रघु॰ १।६७–७१; शाकु॰ ६।२५।

२. वही, ५।२५ (वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे)।

आहवनीय अग्नि वह यज्ञाग्नि है जो निरन्तर प्रज्वलित रहती है तथा जिसमें यज्ञ क्रिया सम्पन्न की जाती है। जहाँ इस अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखा जाता था, उसे 'अग्न्यागार' या 'अग्निशरण' कहा जाता था।

कालिदास की रचनाओं में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से यज्ञों तथा यज्ञ से सम्बन्धित क्रियाओं, वस्तुओं एवं व्यक्तियों का इतना अधिक संकेत है कि उन सबका पृथक्-पृथक् निरूपण प्रस्तुत प्रकरण में सम्भव नहीं हो सकता[१]। उसके तपोवन तो 'क्रतुधूमपूत' हैं ही उसके गृहस्थों के घर भी 'अग्न्यागार' और 'अग्निशरणों' से रहित नहीं। 'गार्हपत्याग्नि' तो उनके जीवन का अङ्ग ही हैं। दुष्यन्त, 'अग्निशरणालिन्द' में अपने अतिथियों का स्वागत करता है तो रघु अपने 'अग्न्यागार' में अपने अतिथि कौत्स से तीन अग्नियों के साथ चतुर्थ अग्नि के रूप में आवास की प्रार्थना करता है। समस्त शुभ कार्यों का प्रारम्भ 'आहवनीय' अग्नि की पूजा एवं प्रदक्षिणा के साथ ही होता है[२]।

यज्ञ के लिए यजमान द्वारा ली जाने वाली प्रारम्भिक 'दीक्षा'[३] यज्ञ के अन्त में किया जाने वाला 'अवभृथ' स्नान,[४] यज्ञ के बलि पशु को बाँधने वाला स्तम्भ 'यूप'[५], 'होता'[६], 'ऋत्विज'[७], पुरोहित वा ऋत्विज को दी जाने वाली 'दक्षिणा',[८] 'मेध्य' पशु,[९] 'हवि'[१०],

---

१. यज्ञ—रघु० १।२६; ४४; ८।३० कुमार० १।१७; २।४६; ६।७२, अध्वर-रघु० १।३१; ५।१; ६।२३ आदि क्रतु—रघु० ६।२०; १७।८० कुमार० १।५१, सत्र—रघु० १।८० आदि।

२. रघु० ४।२५, शाकु० ४।८।

३. रघु० ८।७५; ११।२४।

४. वही, १।८४; ६।८२; १३।६१।

५. वही, १।४४; ६।३८; ६।३०; ११।३७; १३।६१; १६।३५।

६. वही, १।८२।

७. वही, १०।४; ११।२५; ३०; १७।८०।

८. वही, १।३१; १७।८०।

९. वही, १।८४।

१०. वही, १।७६; १३।३७, कुमार० २।१५; ४६; ६।२८।

'चरु'[१], 'श्रुवा'[२] 'अरणि'[३], 'आहुति'[४], 'अजिन'[५], आदि यज्ञ में काम आने वाली तथा उससे सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों का विविध रूपों में प्रयोग एवं वर्णन ही यह सिद्ध करता है कि कालिदास के मन पर इन वैदिक क्रियाओं की एक गहरी छाप थी तथा इनके प्रति उसके मन में एक गहन आस्था भी थी। यद्यपि लगता है कि यज्ञों में पशुबलि के प्रति उसका दृष्टिकोण अहिंसावादी अधिक था। इसीलिए उसने अश्वबलि के बिना ही दिलीप के अश्वमेघ यज्ञ को पूरा करने की कल्पना कर डाली है[६]। शाकुन्तल में भी 'श्रोत्रिय ब्राह्मण के द्वारा पशुमारण के कर्म के' प्रति कालिदास की अरुचि ही मूलतः व्यक्त होती है[७]। नर्मदा के जल से निकलते हुए वन्य गज पर केवल उसे डराने के लिए हलका सा तीर मारना[८], अज के द्वारा विरोधी राजन्यों की सेनाओं का संहार न करके केवल सम्मोहनास्त्र के प्रयोग से ही उन्हें परास्त कर देना[९], दुष्यन्त और दशरथ के मृगया विनोद के प्रति अरुचि दिखलाना[१०] आदि इसी प्रकार के प्रसंग हैं जिनसे कि कालिदास की अहिंसा की ओर बढ़ती हुई आस्था का परिचय मिलता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था में विहित सामान्य यज्ञों के अतिरिक्त कालिदास ने जिन यज्ञों का विशेष रूप से उल्लेख किया है वे हैं—अश्वमेघ[११], विश्वजित्[१२] पुत्रेष्ठि[१३] और 'दीर्घसत्र'[१४]। अश्वमेध यज्ञ

---

१. रघु० १०।५१। २. वही, ११।२५। ३ कुमार० ६।२८।
४. रघु० १।८२। ५. वही, ६।२१।
६. अमोच्यमश्व यदि मन्यसे प्रभो तत. समाप्ते विधिनैव कर्मणि।
अजस्रदीक्षा प्रयत: स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम्॥
रघु० ३।६५।
७. शाकु० ६।१।
८. निवर्तयिष्यन् विशिखन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्ग.॥ रघु० ५।५०।
९. यशोहृन सम्प्रति राघवेण न जीवित व. कृपयेति वर्णा.॥ रघु० ७।६५।
१०. रघु० ६।४७; शाकु० अक २।
११. रघु० ३।३८-३९; ६।६१; १५।५८; माल० अंक ५।१५ और पूर्व।
१२. स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्। रघु० ४।८६; ५।१।
१३. वही, १०।४ (आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामृष्टिमृत्विज)।
१४. वही, १।८०, महाक्रतु-१७।८०; ८।७६।

एक प्रकार की राजनीतिक विजय का सूचक था इसे 'राजसूय' भी कहा जाता है। विश्वजित् यज्ञ भी दिग्विजय से ही सम्बन्धित होता हुआ भी राजसूय से इस रूप में भिन्न था कि इसके पूर्ण होने पर विजेता अपना सर्वस्वदान कर देता था, इसे 'सर्वस्वदक्षिणयाग' भी कहा जा सकता है। 'पुत्रेष्टि' यज्ञ पुत्र प्राप्ति की कामना से किया जाता था। दीर्घसत्र बहुत लम्बे समय तक चलने वाले यज्ञ हुआ करते थे। इन सब का विधि-विधान व अनुष्ठान भिन्न-भिन्न हुआ करता था जैसा कि कर्मकाण्ड ग्रन्थों से प्रतीत होता है। इन विशिष्ट यज्ञानुष्ठानों के अतिरिक्त गृहस्थ लोग अपने सामान्य जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों के निवारण के लिए अथवा किसी प्रकार की विशेष सिद्धि की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान भी किया करते थे। प्रत्येक प्रकार के अनुष्ठान के लिए विशेष प्रकार का विधि-विधान विहित होता है। साधक उसके अनुसार किसी विशेष मंत्र का जाप तथा अन्त में विशेष प्रकार की सामग्री से हवन किया करता है। आज भी हिन्दू समाज में ऐसे अनुष्ठान विशेष कर शैव और शाक्त मतानुयायियों में पाए जाते है। कालिदास के समय में भी इनका महत्त्व समाज में प्रचलित हो चुका था।

व्रत

व्रत भी बहुत प्राचीन काल से ही हिन्दू संस्कृति के अभिन्न अङ्ग बन चुके थे। किसी विशेष अभिलाषा की पूर्ति के लिए तथा आत्मिक शुद्धि के लिए विशेष दिनों, तिथियों वा अवसरों पर व्रत या उपवास रखे जाते थे। व्रत के दिन शरीर तथा मन को अधिक से अधिक शुद्ध और वासनाहीन रखने का यत्न किया जाता था। इसीलिए व्रत के दिन स्त्रियाँ बहुत ही सीमित व सादी वेष-भूषा रखती थीं[1]। कालिदास ने ऐसे व्रतों का अनेकत्र उल्लेख किया है[2]। व्रत के अन्त मे संक्षिप्त आहार के रूप में उसका 'पारण' किया जाता था[3]। कालिदास ने ऐसे व्रतों का भी उल्लेख किया है जो कि उपवास के द्वारा शरीर त्याग के

१. विक्रम० ३।१२ (सिताशुका मगलमात्रभूषणा०)।

२. शाकु० ७।२१; विक्रम० ३।१२ तथा ३।१३ से पूर्व।

३. रघु० २।३९, ५५।

निमित्त किए जाते थे[१]। व्रतों के अतिरिक्त स्त्रियाँ किसी विशेष कामना की पूर्ति के उपलक्ष्य में मनौतियाँ भी किया करती थी[२]।

तीर्थ

कालिदास से पूर्व ही हिन्दू समाज में तीर्थों का महत्त्व स्थापित हो चुका था। विश्वास किया जाता था कि पवित्र नदियों तथा उनके संगमों में स्नान करने से पापों का नाश होता है और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है[३]। कालिदास ने तीर्थों के प्रति हिन्दू समाज की इस आस्था को बड़ी श्रद्धा व आदर के साथ दुहराया है। त्रिवेणी संगम के प्रति तो कवि की जो अगाध श्रद्धा और विश्वास है वह दर्शनीय है। त्रिवेणी संगम का प्रसंग आते ही वह श्रद्धा से गद्गद् हो उठता है। उसे त्रिवेणी का रूप इतना प्रिय है कि वह अनेकत्र इसकी योजना कर डालता है[४]। इन तीर्थों की पावनी शक्ति पर कालिदास को भी बड़ा विश्वास है। कण्व शकुन्तला के दुष्टग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ की यात्रा करते हैं[५]। यक्ष का विश्वास है कि मेघ जब सरस्वती का जलपान करेगा तो उसी से उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाएगा[६]। प्रिया-वियोगी अज ने गंगा और सरयू के संगम पर शरीर त्याग कर देवत्व प्राप्त किया[७]। 'रामाभिधानो हरि' का कथन है कि गंगा और यमुना के संगम पर स्नान करने की मनुष्य की आत्मा इतनी पवित्र हो जाती है कि वह तत्त्वज्ञान के बिना ही 'शरीर बन्ध' से छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेती है[८]। राजाओं के राज्याभिषेक के लिए इन पावन तीर्थों का जल अवश्य मंगाया

---

१. रघु० ८।९४।

२. वही, १३।५३।

३. वही, १३।५८; ८।९५।

४. वही, ८।५४-५७; ६।४८; पूर्व मेघ० ५५ आदि।

५. शाकु० अक १।

६. पूर्व मेघ० ५३, कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीनामन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता०।

७. तीर्थे तोयव्यतिकरभवेजह्नुकन्यासरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः। रघु० ८।९५।

८. समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वाववोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्तिशरीरबन्धः॥ वही, १३।५८।

जाता था[१]। उपर्युक्त तीर्थस्थलों के अतिरिक्त जिन प्रमुख तीर्थों का कालिदास के ग्रथों में उल्लेख आया है वे हैं—शचीतीर्थ, गोकर्ण, पुष्कर और अप्सरस तीर्थ[२]।

वैदिक संस्कृति में स्वर्गप्राप्ति तथा मोक्ष मानव जीवन की सबसे बड़ी साधना है[३]। मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्टय में सबसे अन्तिम स्थान दिया गया है। कालिदास की आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा पर हम पीछे कुछ विचार कर आये हैं। उनकी सूक्तियों के अध्ययन में भी इस पर कुछ विचार हो चुका है। मानना होगा कि उनके दार्शनिक विचार बहुत स्पष्ट है तथा उनका आध्यात्मिक आदर्श बहुत उदार। उनके ग्रन्थों में अनेक वैदिक तथा पौराणिक देवी देवताओं का रूप निखरा है[४]। पर ईश्वर या ब्रह्म के रूप में उन्होंने ब्रह्मा[५], विष्णु[६] और शंकर[७] को ही प्रस्तुत किया है। इन तीनों में भी उन्हें एकत्व के दर्शन हुए हैं। उनकी दृष्टि में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होने वाले

उपासना

---

१. अथाभिषेकं ·····तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः। रघु० १४।७।

२. शाकु० अंक ५, ६; रघु० ८।३३; १८।३१।

३. स्वर्गकामो यजेत।

४. इन्द्र, अग्नि, वरुण सूर्य, यम, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, स्कन्द, कुवेर; लोकपाल, राम और कृष्ण। शची, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी, सप्तमातृका।

६. (क) आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥ कुमार० २।१०।

(ख) त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ वही, १३।

५. सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्॥ रघु० १०।२०।

ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये॥ वही, १०,२३।

७. वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी,
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निश्रेयसायास्तु वः॥ विक्रम० १।१।

उस परम ब्रह्म के ये तीनों रूप कार्य भेद से एक ही शक्ति के तीन रूप हैं[१]।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों मार्गों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने भक्ति मार्ग को ही अधिक उपयुक्त बतलाया है[२]। एक आस्तिक हिन्दू के समान कालिदास का भी विश्वास है कि वह निर्गुण, निराकार ब्रह्म भक्ति के क्षेत्र में सगुण और साकार बन जाता है[३]। उनकी रचनाओं में अनेक देवस्थलों तथा उनकी पूजा आराधना के निमित्त निर्मित 'प्रतिमागृहों' आदि का उल्लेख मिलता है[४]। कालिदास का मेघ कार्तिकेय को व्योमगङ्गा के जल से स्नान कराता है। महाकाल के मन्दिर में उनकी सायंकालीन आरती में सम्मिलित होता है तथा हर की पौडी में उनके चरण चिन्हों की प्रदक्षिणा करता है[५]। अपनी वीणा से भगवान् शंकर की आराधना करने के लिए ही नारद जी 'गोकर्णधाम' को जाते हैं[६]। व्युषिताश्व ने भगवान् विश्वनाथ की आराधना करके ही विश्वसह नामक पुत्र को प्राप्त किया था[७]। कालिदास का कथन है कि पूरी श्रद्धा-भक्ति के साथ भगवान् की इन प्रतिमाओं की पूजा और आराधना करने वाले भक्त को स्वयं भगवान् के निकट शाश्वत पद प्राप्त हो जाता है (कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदः प्राप्तये श्रद्दधानाः)।

कालिदास पर वैदिक धर्म तथा भगवद्गीता के दर्शन का बहुत बड़ा प्रभाव था। उनकी रचनाओ मे वही 'एकोऽहं बहु स्यामः'

---

१. तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां ययौ॥ कुमार० २।६।
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधात्मने नमः॥ रघु० १०।१६।

२. स्थिरभक्तियोगसुलभ.। विक्रम० १।१।

३. लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥ रघु० १०।३५।

४. रघु० १६।३९।

५. पूर्व मेघ० ३८, ४७, ५९।

६. अथ रोधसि दक्षिणोदधे. श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥ रघु० ८।३३।

७. आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे॥ वही, १८।२४।

की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। मूलतः शैव होते हुए भी उन्होंने सभी देवी देवताओ के प्रति अपनी उदारता का परिचय दिया है। गीता के स्वर में स्वर मिलाकर वे भी कहते है—'**सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति**'। चाहे जिस विधि से जिस देव की आराधना उपासना करो वह उसी परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होती है[1]। उपर्युक्त व्रतों तथा अनुष्ठानों में भी उपासना का ही योग मुख्यतया रहा करता है।

भारतीय सस्कृति मे राजधर्म का स्वरूप

भारतोय सस्कृति मे राज-पद फूलों की सेज नहीं, वह तो वर्णाश्रम धर्म के अन्य अङ्गों के समान ही एक अंग है। अतः उसे भी 'राजधर्म' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस धर्म में दीक्षित होने वाले व्यक्ति को धर्म भावना से ही इसका पालन करना होता था। कालिदास की रचनाओं में भारतोय संस्कृति में विहित राजधर्म का निरूपण विस्तृत रूप में प्राप्त होता है।

राजधर्म का आदर्श

रघुवंश की रचना के अन्य बहुमुखी उद्देश्यों में एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि कालिदास लोक के समक्ष राजधर्म का एक आदर्श रूप प्रस्तुत करना चाहता था। इसके लिए पहले तो उसने रघुवंश के प्रारम्भ में ही शासक के आदर्श रूप को सूत्र रूप में उपस्थित कर दिया[2], और फिर आगे चल कर एक-एक सूत्र पर सोदाहरण भाष्य प्रस्तुत करता चला गया।

चाणक्य ने जीवन के लिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओ को प्रमुख माना है। पर इन पर पृथक्-पृथक् विचार करने के पश्चात् वह इस स्पष्ट परिणाम पर पहुंचा है कि इन सब में दण्डनीति ही सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण है। अन्यों की सफलता उसी की सफलता पर निर्भर हो सकती है। सच भी है समाज में सुख, शान्ति, समृद्धि, ज्ञान, विज्ञान के विकास

१. बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थान. सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ रघु० १०।२६।

२. वही, १।५–८।

आदि के लिए पहली आवश्यकता है सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित शासन की। उसके अभाव में लोक में अराजकता फैल जायेगी और उस स्थिति में ज्ञान-ध्यान, विद्या, व्यवसाय कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता।

राजनीतिक शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है विशिष्ट गुणसम्पन्न शासक का होना। यही कारण है कि कालिदास ने स्थान-स्थान पर अच्छे एवं सुयोग्य शासक के गुणों को सम्मुख रखने तथा उन पर जोर देने का यत्न किया है।

सबसे पहली बात तो यह है कि वह राज-पद को अपना जन्म सिद्ध अधिकार नहीं, वरन् एक उत्तरदायित्व पूर्ण कर्तव्य समझे।

राज्य अधिकार नहीं, धर्मव्यवस्था है।

जिस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था में पतिधर्म, पत्नीधर्म, पिता-धर्म, पुत्र-धर्म, गृहस्थ धर्म, ब्राह्मण धर्म आदि धर्मों की व्यवस्था है, उसी प्रकार यह भी एक व्यवस्था है, जिसके अनुसार चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों का मानवधर्म शास्त्र में विहित विधि के अनुसार पालन करना उसका धर्म है[1]। जिस प्रकार गृहस्थ धर्म के पालन में पति-पत्नी अपने-अपने सुख से उदासीन होकर एक दूसरे के दुःख को दूर करने का यत्न करते हैं अथवा माता-पिता अपने सुख से निरभिलाष होकर सन्तान के दुःख को दूर करने के लिए अधिक सचेष्ट रहते हैं, उसे अपना कर्तव्य वा धर्म समझते हैं, उसी प्रकार राजा को भी अपने राजधर्म का पालन करने के लिए अपने सुख की अपेक्षा प्रजा के दुःख को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए[2]। उसे तो अपने सुख के मूल्य पर भी प्रजा के दुःख को दूर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। राम ने प्राण-प्यारी पतिव्रता सीता के निर्वासन में राजधर्म के इसी अङ्ग का ही तो पालन किया था। 'राजा' शब्द की सार्थकता ही इस बात पर निर्भर करती है कि वह प्रजा के अनुरञ्जन का हेतु हो[3]।

---

१. नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीत.।। रघु० १४।६७। शाकु० ५।१०; रघु० ५।१९; १५।४८। वर्णाश्रमावेक्षणजागरूक.। वही, १४।८५।

२. स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतो।
प्रतिदिनमथवा ते वृतिरेवं विधैव।। शाकु० ५।७।

३. (i) राजा प्रकृतिरञ्जनात्। रघु० ४।१२।
(ii) प्रकृतिमण्डलमनुरञ्जयन् राज्य करोति। विक्रम०।
(iii) राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः। रघु० ६।२१।

कालिदास ने राजा और प्रजा के सम्बन्ध को साधारणतया शासक और शासित का नहीं वरन् पिता और सन्तति का माना है[१]। केवल इतनी सी बात को समझ लेने से ही कालिदास का राजधर्म का भाव बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार पिता का धर्म है कि वह अपनी संतान के ऊपर नियंत्रण रखता हुआ उसे कुमार्ग से रोके, अच्छे मार्ग पर लगावे उसकी रक्षा करे, और उसका भरण-पोषण करे तभी वह अपने कर्तव्य को निभाता है बस यही स्थिति राजधर्म का पालन करने वाले राजा की कही गई है[२]। यदि राजा इस से भी एक कदम और आगे बढकर अपनी प्रजा को अर्थ, विघ्न, विनय और शोक की चिन्ता से ही मुक्त करदे तब तो वह साक्षात् रामराज्य ही हो जायेगा[३]। न धन की कमी, न क्रिया में विघ्न, न अव्यवस्था की समस्या और न शोक के लिए अवकाश, इससे बढ़कर भी क्या कही, कभी किसी देश में राजधर्म की कल्पना की गई ! क्या ही उदात्त कल्पना है ! कि राजा प्रजा का पिता भी है पुत्र भी ! ऐसे राजा को पाकर फिर पिता या पुत्र की कामना ही कब बाकी रह सकती है। कालिदास की रामराज्य की कल्पना इसी रूप में साकार हुई है।

पिता होने पर भी कभी-कभी संतान का नियमन इसलिए भी आवश्यक हो जाता हे जिससे कि वह कुमार्गगामी न हो जाय[४] अथवा उसके आचरण से घर की एक मान्य व्यवस्था भङ्ग न हो जाय[५]; किसी स्वार्थ, स्वेच्छा या द्वेष भाव से प्रेरित होकर नहीं। अन्यथा उसके लिए तो कालिदास जो सबसे बड़ी कामना कर सकते है वह यही है कि वह प्रजा के मंगल के लिए ही सदा प्रयत्नशील

---

१ (i) प्रजा प्रजानाथ पितेव पासि। रघु० २।४८।
(ii) प्रजां प्रजास्वा इव तन्त्रयित्वा० शाकु० ५।५।

२ प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तेषां केवलं जन्महेतवः ॥ रघु० १।२४।

३. तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ वही, १४।२३।

४. नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्ड.। शाकु० ५।८।

५. स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्० रघु० १।२५।

रहे[१]। उसका दण्ड भी लोक कल्याण के लिए हो। प्रजा को अपने-अपने कर्म में व्यापृत रखने में उसका तथा लोक का कल्याण है। यही उसकी महानता का मानदण्ड है[२]। इसीलिए व्यक्ति के रूप में न कोई उसका मित्र होता है और न कोई शत्रु ही। राजधर्म के पालन के सम्बन्ध से ही उसके मित्रत्व और शत्रुत्व का निर्णय हुआ करता है[३]।

कालिदासानुमोदित राजतन्त्र का स्वरूप

यद्यपि वाह्य रूपरेखा के अनुसार कालिदास ने जिस शासन व्यवस्था को प्रस्तुत किया है उसे आजकल की राजनीति-शास्त्र की भाषा में राजतन्त्र ही कहा जायेगा; पर जरा निकट से विश्लेषण करने पर बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास को वह 'राजतन्त्र' बिल्कुल पसन्द न था जिसका कि संकेत बोध आजकल के 'राजतन्त्र' शब्द से होता है। कालिदास द्वारा विहित राजपद परम्परा प्राप्त होने पर भी उसमें निरंकुशता के लिए कोई अवकाश न था। वह वर्ण और आश्रम के धर्मों से पूरी तरह नियमित था। राजकुमार को भी ब्रह्मचर्यावस्था में 'रौरवी-त्वचा' पहन कर विद्याभ्यास करना पड़ता था। उसमें निरंकुशता अथवा स्वेच्छाचारिता का विकास न हो इसलिए उसे शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना पड़ता था[४]। धर्म भावना अथवा कर्तव्य भावना ही उसके सब कार्यों का नियमन करती थी[५]। इसीलिए कालिदास इसे 'राजतन्त्र' न कह कर 'लोकतन्त्र' कहना अधिक उपयुक्त समझते है। इस लोकतन्त्र के भार को सँभालने के बाद राजा की क्या स्थिति होती है इसका निरूपण शाकुन्तल के पाँचवे अंक में भली प्रकार हुआ है। इस

---

१. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः ॥ शाकु० ७।३४।

२ किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ॥ रघु० ५।३३।

३. द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्ट प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ वही, १।२८।

४. शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धि। वही, १।१९; विद्यानां पारदृश्वनः। वही, २३; चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना। वही, ४।१३। चतस्त्रविद्याततार। वही, ३।२०।

५. तस्य धर्मरतेरासीत्। वही, १।२३, अप्यर्थकामौतस्यासन् धर्म एव मनीषिणः। वही, १।२५।

भार को एक बार अपने कंधों पर उठा लेने के बाद राजा के लिए व्यक्तिगत सुख-दुःख तथा विश्राम के लिए तो कोई अवकाश ही नही रह जाता था[१]। उसकी स्थिति सूर्य, वायु वाशेषनाग की सी समझी जाती थी जो कि एक कार्य को प्रारम्भ करके फिर रात-दिन अनवरत रूप से उसे निभाए चले जा रहे हैं[२]। लोकहित ही उसकी सबसे बड़ी कामना है और इसी में मिलता है उसे सबसे अधिक सन्तोष भी[३]। प्रजा को कष्ट पहुंचाने वालों को उचित दण्ड देना, प्रजा के आपसी विवाद का निर्णय करना, उनकी रक्षा के लिए सदा तत्पर रहना तथा उनके सभी प्रकार के दुःखों का निवारण करने के लिए उद्यत रहना यही है राजधर्म की माँग[४]। कालिदास ने राजा के प्रजारक्षण के पक्ष पर काफी जोर दिया[५]। कर्तव्य की पुकार होने पर वह अपने बड़े से बड़े दुःख, प्रेम व स्वार्थ की उपेक्षा करके पहले कर्तव्य का पालन करता है। दुष्यन्त और राम इसके जीवन्त उदाहरण हैं[६]। मन्दबुद्धि, दुर्बल, स्वेच्छाचारी वा विलासी शासक इन कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता, इसलिए कालिदास ने राजा में उच्चकुल, सुसंस्कार, शास्त्रो में पारंगतता, शक्तिमत्ता, एवं निर्विषयता का होना भी आवश्यक माना है[७]। क्षात्र शक्ति प्रबल होकर निरंकुश न हो जाय इसलिए उसे परम विरागी, तपोनिरत ब्राह्म शक्ति के साथ संयुक्त करके रखा है।

---

१. अविश्रमोऽय लोकतन्त्राधिकारः। शाकु० ५।४ से पूर्व।

२. वही, ५।४।

३. वही, ५।७।

४. नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः,
प्रशमयसि विवाद कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम,
त्वयि तु परिसमाप्त बन्धुकृत्य प्रजानाम्। शाकु० ५।८।

५. (i) प्रजाक्षेमविधानदक्षम्॥ रघु० १८।९।
(ii) जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्॥ रघु० २।५।
(iii) क्षतात् किल त्रायत०॥ रघु० २।५३।

६. शाकु० अंक ६ अन्त; रघु० सर्ग १४।

७. रघु० ३।१०; १८; २९; ३३; १०।७८; १।१९; २३; ४।१३, ३।२०; १।१३; जुगोपात्मानमत्रस्तो० १।२१; अनाकृष्टस्य विषयै० १।२३; स्ववीर्यगुप्ता हि मनोःप्रसूतिः॥ रघु० २।४ आदि।

पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि कालिदास अपने शासकों को समस्त मानवीय भावनाओं एव संवेदनाओं से विरहित कर उन्हें शासन तन्त्र के पुर्जे ही बना डालना चाहता है। उसने अपने आदर्श शासकों में सुख-भोग, ऐश्वर्य, विलास आदि सभी की योजना की है, पर है सब 'वृत्तेस्थित'। इस वृत्त से बाहर निकल जाने पर शासक वर्ग की क्या स्थिति हो सकती है यह दिखाने के लिए ही शायद कालिदास ने रघुवंश के अन्तिम शासक अग्निवर्ण का ऐसा उग्रविलासी रूप प्रस्तुत किया है। यह हमें यही संदेश देता सा प्रतीत होता है कि राजधर्म की मर्यादा का उल्लघन करके स्वेच्छाचारिता तथा विलासिता का आश्रय लेने वाला बड़े से बड़ा राजवंश भी क्षय का ग्रास बन जाता है। राजत्व एक धर्म दीक्षा है, अपने धर्म का पालन करते हुए निधन को प्राप्त होना भी गीता के अनुसार श्रेय कहा गया है[१]। कालिदास ने भी धर्म वा कर्तव्य पालन के विषय में इस 'भौतिक पिण्ड के प्रति अनास्था' व्यक्त की है[२]। शरीर तो नाशवान् है, अजर-अमर तो है यशःशरीर, और वह प्राप्त होता है अपने विहित कर्म का निर्वाह करने से। राजधर्म का मुख्य अग है पीड़ित की रक्षा तथा लोकानुगह। ऐसा न कर सकने पर न उसे जीने का अधिकार है और न राजपद का ही[३]। अतः कालिदास का कथन है कि यदि इस धर्म के पालन में राजा को अपने प्राणों की भी बलि देनी पड़े तो वह उसके लिए भी तत्पर रहे। पर इसका यह भाव भी नही, कि राजा अपने शरीर के प्रति सर्वथा निरपेक्ष्य रहे। नहीं, शरीर धर्म के लिए अवश्य है पर धर्म शरीर के बिना नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म का सबसे प्रमुख साधन तो शरीर ही है[४]। अस्वस्थ शरीर न अपना कल्याण कर सकता है और न किसी अन्य का। इसलिए कालिदास ने अपने नायकों में शारीरिक आदर्शों की

१. स्वधर्मे निधनं श्रेय.।। गीता। ३।३५।

२. एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ।। रघु० २।५७।

३. क्षतात्किलत्रायत इत्युदग्र क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ।। रघु० २।५३।

४. शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम् ।। कुमार०। ५।३३।

भी स्थापना की है। दिलीप[१], रघु[२], अज[३], दशरथ[४], राम[५] सभी शक्ति और तेज में एक से एक बढ़कर है। ऐसे ही वीर शासक तो दुष्टों का शासन, और 'उर्वी की रक्षा' करने में समर्थ हो सकते हैं न कि अग्निवर्ण जैसे विलासी और क्षय के शिकार! कलिदास ने बड़े सुन्दर एवं व्यञ्जनात्मक ढंग से 'देह' के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है 'आत्म कर्मक्षमं' पद के द्वारा। यदि देह अपने विहित कर्म को निभा सकने योग्य भी नही तो फिर उस देह का क्या उपयोग ?

कालिदास सम्मत राजधर्म में एक विशिष्ट तत्त्व यह है कि शासक यावज्जीवन राज्य को अपना भोग्य एवं बपौती समझ कर न बैठ जाय। शक्तिहीन बूढा राजा तो राज्यलक्ष्मी का भोग करता रहे और नवयुवक राजकुमार उसकी प्रतीक्षा में ही बूढ़ा हो जाय यह परम्परा उसे पसन्द न थी। एक अनुभवी राजनीतिज्ञ की भांति वह समझता था कि यह व्यवस्था महत्त्वाकांक्षी युवा राजकुमारों में असन्तोष को जन्म देने वाली होती है। इसी के फल स्वरूप राजकुलों में कलह और षड्यंत्रों का जन्म होता है[६]। जब राजकुल में ही अशान्ति और अव्यवस्था होगी तो फिर प्रजा में शान्ति कैसे रहेगी और कैसे हो सकेगी शत्रुओं से राज्य की रक्षा। इसलिए कालिदास ने विधान किया कि जब पुत्र आवश्यक शासकीय योग्यता प्राप्त करले, अपने कुल परम्परागत आदर्शों को भली भाँति आत्मगत करले

---

१. व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः रघु० ॥ १।१३ ।
सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थित. सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ वही, १।१४ ।

२. युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुप्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ वही, ३।३४ ।

३. रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणत्वाद्विभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥ वही, ५।३७ ।

४. दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ वही, ९।५ ।

५. वही, १०।७२-७७ ।

६. दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् । वही, ८।२ ।

और गृहस्थ में प्रवेश कर जाय तो शासक अपने आपको शासन से एक दम दूर हटा ले। सामान्य तपस्वियों का जीवन व्यतीत करे। रघुवंश में कवि ने सभी शासकों से इसी परम्परा का पालन कराया है। यही भावना व्यक्त हुई है शाकुन्तल में भी। इसमें प्रत्येक शासक को पता होता था कि राज्य उसके लिए कुछ काल के लिए एक उत्तरदायित्व पूर्ण कर्तव्य है, उसे धर्म भाव से उसका पालन करना है तथा एक निर्दिष्ट समय पर उसके सुख वैभव से विरत हो जाना है। ऐसी स्थिति में कोई शासक अन्याय और अनिष्ट का आचरण कर भी कैसे सकता है? इसीलिए कालिदास के युवराज राज सिंहासन को ऐश्वर्य भोग के लिए नहीं वरन् पिता की आज्ञा पालन के रूप में ग्रहण करते हैं[1] और शासक 'रजो गुण से रिक्त मन' से राजलक्ष्मी का भोग करते हैं[2]। ऐसी स्थिति में असन्तोष और षड्यंत्रों के लिए अवकाश ही कहाँ रह जाता है?

राजधर्म पर इस प्रकार के विचारों को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त कालिदास ने राजनीति एवं उनकी राजनीतिक सफलताओं के बारे में भी बड़े सैद्धान्तिक एवं परिपक्व विचारों को व्यक्त किया है। यों तो सभी शासकों के सम्बन्ध में विभिन्न राजनीतिक सूत्रों को अभिव्यक्ति मिली है पर अतिथि के प्रसंग में इस पर अधिक विस्तार के साथ विचार हुआ है। हम जानते है कि कालिदास ने रघुवंश के प्रत्येक पात्र को किसी न किसी आदर्श के प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से दिलीप और राम राजधर्म के प्रतिनिधि है तो अतिथि राजनीति के आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है।

कूटनीति

राजनीति के ६ अंग और ४ उपायों के दाँव-पेच क्या होते हैं, कूटनीति में कुशल शासक को अपनी स्थिति और शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए क्या करना चाहिए; शत्रुपक्ष की दुर्बलताओं का कैसे लाभ उठाना चाहिए; कब, कैसे और किस प्रकार के शत्रु के साथ किस नीति को काम में लाना चाहिए, अपनी प्रजा के साथ किस प्रकार की नीति का बरताव करना चाहिए; राजनीति में

---

१. तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया॥ रघु० ८।२।

२. स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास॥ वही, १४।८५।

गुप्तचरों एवं दूतों का क्या महत्त्व होता है; इन सभी प्रश्नों पर अतिथि के प्रसंग में अच्छा प्रकाश डाला गया है[1]।

पर कालिदास की समस्त राजनीतिक विचारधारा को सूत्र रूप में देखना हो तो देखा जा सकता है निम्नलिखित रूप में—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ रघु० १७।४७।

(केवल कूटनीति से काम लेना कायरता है और केवल शक्ति का प्रदर्शन पशु प्रवृति। इसलिए उसने (अतिथि ने) दोनों का ही सम्यक् उपयोग करके राजनीतिक सफलता को प्राप्त किया)[2]।

राजनीति के इसी मध्यम मार्ग को कालिदास ने आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों के लिए उपयुक्त समझा है। बाह्य क्षेत्र का प्रसंग ऊपर आ ही चुका है, आन्तरिक क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि कवि प्रारम्भ से ही इसी पक्ष को लेकर आगे बढ़ा है। दिलीप[3], रघु[4], अज[5], दशरथ, राम[6] सभी में इस मध्यम मार्ग का अनुसरण दिखाया गया है। राजनीति की सफलता के लिए आवश्यक है कि जो काम भी किया जाय पहले खूब सोच विचार के बाद किया जाय और काम के पूरा होने तक उसे किसी पर प्रकट न किया जाय[7]। आन्तरिक नीति की सफलता इस बात में नहीं कि किसी प्रकार के असन्तोष को सफलता पूर्वक दबा दिया या कुचल दिया जाय

---

१. रघु० १७।४०–७६।

२. काले खलु समारब्धा फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ रघु० १२।६९।

३. भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्,
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः रघु० १।१६।

४. स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्ण नभस्वानिव दक्षिण ॥ वही, ४।८।

५. न खरो न च भूयसा मृदु पवमानः पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ वही, ८।९।

६. वही, ९।६; १४।२३।

७. भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे। वही, १७।५३।

वरन् सच्ची राजनीतिक सफलता तो यह है कि असन्तोष को उत्पन्न ही न होने दिया जाय[१]। प्रजा के प्रति उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति यही समझे कि राजा मुझे ही सबसे अधिक चाहता है[२]। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों का पूरा विश्वास प्राप्त करने के लिए उसे सदा मृदुभाषी तथा प्रसन्नमुख होना चाहिए[३]। उसे यौवन ऐश्वर्य और सौन्दर्य के अभिमान से उत्पन्न होने वाले दोषों के प्रति सदा सतर्क रहना चाहिए[४]। धर्म, अर्थ और काम के बीच बराबर संतुलन रखना चाहिए। न अर्थ और काम के लिए धर्म को त्यागे, न धर्म से बंध कर अर्थ और काम की ही उपेक्षा करे। और न अर्थ के कारण काम को और न काम के कारण अर्थ को ही त्यागे[५]। प्रजा में व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि राजा स्वयं कभी व्यवस्था को भङ्ग न करे (स्थितेरभेत्ता)[६]। प्रजा से कर वा धन संग्रह के पीछे राजा की कोई व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना न हो। लोक कल्याण की ही भावना प्रमुख रूप में हो[७]. यही तो है भारतीय संस्कृति सम्मत राजधर्म का रूप जिसे कि कालिदास ने काव्य के आवरण में प्रस्तुत किया है।

---

१. काम प्रकृतिवैराग्यं सद्य शमयितुं क्षम.।
कस्य कार्य.प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ रघु० ५५।

२. अहमेवमतो महीपतेरितिसर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ॥ वही, ८।८।

३. वही, १७।३१।

४. वही, १७।४३ (वयोरूपविभूतीनामकैकं मदकारणम्)।

५. न धर्ममर्थकामाभ्यां बवाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु। वही, १७।५७।

६. वही, ३।२७।

७. वही, १७।६०, प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। वही १।१८।

कालिदास की सूक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

> निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
> प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥ बाणभट्ट ।

सूक्तियों का उद्भव

सूक्तियों का जन्म ही मानव की गहन अनुभूतियों एवं सूक्ष्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति से होता है। जिस व्यक्ति का हृदय जितना ही अधिक संवेदनशील और बुद्धि जितनी ही अधिक सूक्ष्म-तत्त्वान्वेषिणी होगी उसके मुख से निकलने वाली बात उतनी ही अधिक प्रभावकारी एवं हृदय-स्पर्शी होगी। जीवन के विविध रूपों एवं स्थितियों की अनुभूति व दर्शन तो सभी को होते हैं किन्तु उसे ठीक-ठीक शब्दों में अभिव्यक्ति सभी नहीं दे पाते हैं। इसीलिए जब कोई व्यक्ति किसी ऐसी सारभूत उक्ति को सुनता है जिसका कि उसे भी किसी न किसी रूप में अनुभव है तो वह उसे सुन कर, उसे अपने ही मन की अभिव्यक्ति समझ कर उस पर मुग्ध हो जाता है, वह उसे अपना लेता है और समय आने पर अन्य व्यक्तियों के समक्ष उसे दुहराता है। ऐसे ही सधे, मंजे हुए वाक्य सूक्ति का रूप धारण कर लेते है, उनका प्रसार प्रारम्भ हो जाता है तथा अन्ततोगत्वा प्रायः स्थिति यहाँ तक पहुंच जाती है कि लोग उसके मूल वक्ता को भी भूल जाते है, और वह समस्त लोक-मानस की वस्तु बन जाती है।

संस्कृत के कवि प्रारम्भ से ही अपनी बात को सूत्र रूप में कहने के धनी रहे हैं। संस्कृत साहित्य में सूक्तियों का जितना विशाल एवं अक्षय भण्डार है उतना शायद ही किसी साहित्य में होगा। संस्कृतज्ञों में ही नहीं, संस्कृत से अनभिज्ञ जनों में भी संस्कृत की सूक्तियों का मूल वा विकृत किसी न किसी रूप में प्रचार पाया ही जाता है। भारतीय भाषाओं की सूक्तियों में भी बहुत बड़ी मात्रा ऐसी सूक्तियों की है जो कि किसी न किसी रूप में संस्कृत-सूक्तियों के अनुवाद कहे जा सकते हैं।

सभी महाकवियों एवं चिन्तकों की वाणी में सूक्तियों की सत्ता रहती ही है। संस्कृत के सभी कवियों की रचनाएँ प्रायः इस गुण से अनुप्राणित हैं ही, किन्तु जो लोक-प्रियता कालिदास की सूक्तियों को मिली है वह और किसी को नहीं मिल सकी है। इसका कारण यह है कि कालिदास ने स्वयं जीवन के विविध रूपों को अति निकट से देखा था। उसका हृदय बड़ा संवेदनशील तथा बुद्धि बड़ी विश्लेषणात्मक थी। उसने जो कुछ भी कहा स्वयं अपनी अनुभूति के आधार पर कहा। उसमें केवल कोरी कल्पना वा चिन्तन ही नहीं, जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ भी संवलित हैं। मानव मन की गहराइयों में पैठ कर उसका विश्लेषण किया गया है। उनमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का ऐसा निखरा हुआ रूप पाया जाता है कि वे सभी देशों एवं सभी कालों के मानवों के मन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ जाते हैं। इसीलिए उनमें न कभी कोई पुरानापन आ सकता है और न कभी कोई विकार ही। आखिर मानव मन की मूलभूत प्रवृत्तियाँ तो सदा एक सी रहेगी ही। सभ्यता एवं संस्कारों से उनमें ऊपरी परिवर्तन आ सकता है किन्तु मौलिक परिवर्तन शायद सम्भव ही नहीं। यही कारण है कि मानव मन की मूलभूत प्रवृत्तियों के बारे मे दो हजार वर्ष पूर्व कही गई कालिदास की बातें आज भी उतनी ही तथ्य तथा प्रभावकारी हैं जितनी कि उनके अपने युग में रही होंगी।

सूक्तिकारों मे कालिदास का स्थान

कालिदास ने सवेदनशील कवि हृदय तो पाया ही था पर साथ ही उन्हें जीवन के विविध रूपों को देखने तथा विविध क्षेत्रों में कार्य करने का जो अवसर मिला उसने जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण के निर्माण में बड़ी सहायता की। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग, संपत्ति-विपत्ति आदि सभी द्वन्द्वात्मक स्थितियों को उन्होंने निकट से देखा, सुना और परखा था।

कालिदास की सूक्तियों का विस्तार क्षेत्र

इसके अतिरिक्त प्रेम, सौन्दर्य, सौभाग्य-दुर्भाग्य, आशा-निराशा, जीवन-मृत्यु आदि जीवन की शाश्वत समस्याओं पर भी उन्होंने

विचार विमर्श किया था, उनके विषय में उनकी अपनी विशेष धारणाएँ बनाई थी और अपनी उन धारणाओं को अभिव्यक्ति दीं अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर। जहाँ कहीं भी उन्हें उपयुक्त अवसर मिला है वहीं उन्होंने अपने जीवन-दर्शन (Philosophy of life) के इन निचोड़ों को एक दो या आधी पंक्ति में ही बांध कर रख दिया है। प्रकृति और मानव जीवन का कोई क्षेत्र, कोई रूप ऐसा नहीं जो कि उनकी तत्त्वान्वेषिणी सूक्ष्मेक्षिका से बच पाया हो। इसीलिए उनकी सूक्तियों में जहाँ मार्मिकता एवं गहनता दर्शनीय है वहीं उनकी विविधता एवं विशालता भी विशेष रूप से दर्शनीय है।

आज ही नहीं अति प्राचीन काल से ही सहृदय जनों ने इनकी सरसता, मार्मिकता एवं मनोवैज्ञानिकता के रूप को पहचान लिया था। जीवन की विविध कड़वी-मीठी अनुभूतियों के तथा कवि हृदय के धनी महाकवि बाण भट्ट ने आज से डेढ हजार वर्ष पूर्व कालिदास की सूक्तियों के विषय में जो प्रमाण-पत्र दिया था (**निर्गतासु न वा कस्य०**) वह आज भी उसी रूप में अक्षरशः सत्य है।

बाण के बाद अनेक कवियों एवं आचार्यों ने इन हृदयस्पर्शी मधुर उक्तियों के विषय में बहुत कुछ कहा है। इसी प्रकार की सरस श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए श्री गोवर्धनाचार्य लिखते हैं—

साकूत-मधुर-कोकिल-विलासिनी-कण्ठ-कूजितप्राये ।
शिक्षा-समयेऽपि मुदे रतिलीला कालिदासोक्तिः ॥

जीवन के विभिन्न अंङ्गों पर प्रकाश डालने वाली ये उक्तियाँ वस्तुतः ज्ञान और माधुर्य से सराबोर हैं। हमें मानना होगा कि कालिदास ने अपनी अथवा मानव-जीवन की बातों को कुछ ऐसे सच्चे एवं सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है कि उनमें कभी किसी प्रकार की परकीयता वा बासीपन नहीं आने पाया है। सभी ने सदा ही उन्हें अपने ही भावों के अनुरूप पाकर उनमें अपनत्व की अनुभूति की है। आज के युग का मनोविज्ञानशास्त्र जिन तथ्यों पर वर्षों की खोजों एवं परीक्षणों के बाद पहुंच पाया है उन गहन एवं उलझी हुए बातों को कालिदास ने अपनी प्रतिभा के बल पर बड़े सरल एवं सुन्दर ढंग से प्रस्तुत कर दिया है।

कालिदास एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक थे, उन्होंने मानव स्वभाव एवं मानवीय गुणों का बडा सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया था। उनकी अधिकतर सूक्तियों का सम्बन्ध मानव मन, उसके स्वभाव एव उसकी बाह्य क्रिया प्रतिक्रियाओं से है।

मानव-मन स्वयं में एक अति जटिल विषय है। इसकी प्रवृत्तियों, क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को समझना अति कठिन कार्य है। आज का मनोविज्ञानी भी उसे पूर्ण रूप से समझने तथा उसका विश्लेषण करने में सफल नहीं हो सका है। प्रतिदिन नये-नये अनुसन्धान किये जा रहे हैं तथा बदलते हुए परिणाम निकाले जा रहे हैं। मन की चेतन, अचेतन और अवचेतन अवस्थाओं पर फ्रायड के बाद बहुत कुछ नवीन प्रकाश पड़ चुका है। अब भी अनुसन्धान की दिशा में कार्य जारी है, अब भी अनेक ऐसी समस्याएं मौजूद हैं जिनका समाधान ढूंढ़ लेना बाकी है।

मनोविश्लेषण

भारतीय साहित्य में कालिदास ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने कि मन की इन सूक्ष्म गतिविधियों का यथातथ्य जीवन्त चित्रण किया है। कालिदास ने दिखाया है कि मानव जीवन में कभी कुछ कार्य वा संस्कार ऐसे होते हैं जिनका कि हमारे मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ जाता है। कालान्तर में स्थान वा समय का आवरण आ जाने पर यद्यपि वह बात चेतन मन से उतर जाती है पर उसका प्रभाव हमारे अवचेतन मन में बराबर बना रहता है। यहां तक कि साधारणतया हम जो कुछ भी कहते, करते, देखते या सोचते हैं उसका कुछ न कुछ अंश हमारे अवचेतन मन में पड़ा रह जाता है और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उभर आता है। कालिदास तो यहाँ तक भी मानते हैं कि कई संस्कार वा भावनाएँ तो इतनी प्रबल होती हैं कि वे सूक्ष्म शरीर वा मन के साथ जन्मान्तर में भी अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उभर सकती हैं[१]। अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि फ्रायड से दो हजार वर्ष पूर्व जब कि

---

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शाकु० ५।२।

संसार अवचेतन मन की स्थिति तथा उसकी क्रियाओं के विषय में अपरिचित सा ही था तभी कालिदास ने अपनी प्रतिभा एवं अनुभूतियों के बल पर उस पर आश्चर्य जनक प्रकाश डाल दिया था (शाकु० अंक ५ श्लोक २) कालिदास ने अपनी रचनाओं में कई बार इस बात को दुहराया है और कथानकों से व्यक्त किया है कि मन के साथ जन्मान्तर का साहचर्य बना ही रहता है[१]।

उन्होंने स्पष्ट किया है कि मन की सीमाएँ और शक्तियाँ अनन्त है। भूत और भविष्य की जिन घटनाओं का ज्ञान हमें ज्ञान के किसी साधन (agency) के द्वारा नहीं हो सकता उसका आभास हमारा अवचेतन मन हमें करा देता है। हमारे भावी सुख-दुःख का प्रतिबिम्ब उस पर पहले ही पड़ जाता है[३]। किसी कार्य की सिद्धि से पूर्व मन का अचानक ही खिल उठना इस बात का संकेत है कि निकट भविष्य में ही हमारी कार्य सिद्धि अवश्य होगी[४]। कालिदास कुण्ठा-रहित निर्मल मन की प्रवृत्तियों पर बहुत विश्वास करते हैं[५]। मनोविज्ञान भी मानता है कि हमारी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो का निर्णायक हमारा मन ही हुआ करता है। मन ही सम्पूर्ण रूप से हमारी इन्द्रियों का नियन्त्रण करता रहता है। जब मन किसी विचार में उलझा हुआ होता है तो हमारी इन्द्रियाँ भी अज्ञात रूप से मन के ही भावों को अभिव्यक्ति दे डालती हैं[६]। पुरुरवा के विचार में डूबी हुई उर्वशी जिह्वा से कहना तो चाहती है 'पुरुषोत्तम', पर वहाँ निकल पड़ता है 'पुरुरवा' ही। पर साथ ही उन्होंने इस बात को भी बता दिया है कि किसी विषय की बार-बार प्रवृत्ति के कारण इन्द्रियाँ स्वयं प्रबल हो उठती है और फिर अन्तःकरण के निषेध करने पर भी वे अपनी प्रवृत्ति से विरत नहीं हो पाती हैं[७]।

---

१. मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्। रघु० ७।१५।

२. मनोरथानामगतिर्न विद्यते। कुमार० ५।६४।

३. आगामि सुखं दुखं वा हृदयसमवस्थां कथयति। माल० ५।६ (प०)

४. अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु वृजतिनिर्वृतिमेकपदे मनः॥ वि० २।९।

५. सतां हि सन्देह पदेषुवृत्तिषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥ शाकु० १।२१।

६. भवितव्यातानुविधायीनि इन्द्रियाणि॥ विक्र० ३।१।

७ स्वादुभिस्तुविषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते॥ रघु० १६।४६।

प्रेम और काम मानव जीवन की एक शाश्वत एवं महत्त्वपूर्ण समस्या है । यही मुख्यत. हमारे समाज तथा हमारे व्यक्तिगत क्रिया कलापों का आधार है। आज के मनोविज्ञान

२ काम

शास्त्र की तो यह आधार-भित्ति ही है। कालिदास ने अपनी रचनाओं मे इन पर बडे विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। जीवन में इनके महत्त्व को स्वीकार किया है तथा इसके विविध रूपों तथा स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डाला है और अपने निष्कर्षों को यत्र-तत्र सूत्ररूप मे बाँध कर भी रख दिया है।

कालिदास ने जीवन में काम की प्रबल एवं प्रचण्ड शक्ति को पूर्णरूप से स्वीकार किया है। यह एक ऐसा प्रबल मनोवेग है कि मनुष्य की सम्पूर्ण चेतन शक्ति पर हावी हो जाता है और कभी-कभी तो स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि वह स्वयं विवेकशून्य हो उठता है; वह चेतन और अचेतन के भेद को भी भूल जाता है[1]। उसका अभिप्रेत ही उसकी चेतना शक्ति पर छा जाता है और उसे सर्वत्र उसी का भान होने लगता है, उसकी सारी चेष्टाएँ उसी की भावना से अनुप्राणित हो उठती है। इतना ही नहीं, जन्म से ही सामाजिक रेखाओं में सीमित मानव उन्हें तोड़ने पर उतारू हो जाता है। वह किसी की अच्छा-बुरी बात की भी कोई परवाह नहीं करता। उसे अपने प्रियजन में न कोई दोष ही दिखाई देता है और न वह उसके विरुद्ध कुछ सुनने को ही तैयार होता है[2]। कालिदास ने बड़े सुन्दर ढ़ग से दिखाया है कि काम-भावना से अभिभूत मानव की मनोवृत्ति सामान्य मानव की मनोवृत्ति से भिन्न हो जाती है। उसे अपने अभिलषित जन के प्रत्येक क्रिया-कलाप मे अपने प्रति व्यक्त किये गये अनुराग का ही भ्रम होता है। प्रत्येक बात का अर्थ अपने ही स्वार्थ के अनुकूल लगाने लगता है[3]। कालिदास की इस उक्ति मे कितनी सचाई तथा मनोविश्लेषण की कितनी बारीकी है इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं।

---

१. कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा॰ चेतनाचेतनेषु ॥ पूर्वमेघ॰ १।५।

२. न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ कुमार॰ ५।८२।

३. कामी स्वतां पश्यति ॥ शाकु॰ २।२।

कालिदास ने कामियों की मनस्थिति के बारे में जो एक और महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह कि काम की प्रबलता में कामी का मन विवेक दुर्बल हो जाता है। वह स्वयं कोई निर्णय करने अथवा कोई निर्णयात्मक कदम उठाने में अपने आप को असमर्थ पाता है। प्रेम प्रसंग में बिचौले व्यक्ति पर उसका अतिशय विश्वास होता है। वह हर बात के लिए उसी पर पूरी तरह निर्भर होता है। उस पर उनका इतना अधिक विश्वास एवं अतिशय निर्भरता होती है कि कालिदास उसे काव्य भाषा में व्यक्त करते हुए कहते है कि कामियों के प्राण दो दूतियों के ही अधीन होते हैं[1]। वे चाहें तो झूठी-सच्ची दिलासाओं से टूटते हुए हृदय को बनाये भी रख सकती हैं और झूठी-सच्ची बातों के द्वारा उनके दिल को तोड़ कर उनके जीवन का अन्त भी कर सकती हैं। क्योंकि मिलन की आशा और अभिलषित जन के अनुराग का विश्वास ही उनका जीवन है और उसका अभाव ही उनकी मृत्यु।

काम मानव की सहज एवं जन्मजात भावना है। इसे केवल सामाजिक, धार्मिक, जातीय वा आर्थिक सीमारेखाओं के परिवेश में ही बाँध कर नहीं रखा जा सकता। जब भी इसे थोड़ी छूट मिलती है तब ही यह मानव-निर्मित इन कृत्रिम सीमाओं को लाँघ जाता है। वह धनी-निर्धन, ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि के बाह्य आवरणों को नहीं मानता। काम-वासनाभिभूत मन इन सबसे निरपेक्ष होकर किसी को भी चाह सकता है, किसी पर भी मुग्ध हो सकता है[2]। दुष्यन्त की सामाजिक स्थिति एवं परम्परागत संस्कार चाहे उसे थोड़ी देर शकुन्तला की ग्राह्यता वा अग्राह्यता के विचार में डाल दें, पर उसका मन तो इन सबसे पूर्व ही शकुन्तला की सामाजिक स्थिति अथवा जातीय स्थिति का विचार किये बिना ही उसके सहज सुन्दर लावण्य पर रीझ चुका था। जाति का विचार तो केवल सामाजिक स्वीकृति के लिए अपेक्षित था; परस्पर प्रेम के लिए नहीं। राजा तपस्वी-कन्या अथवा तथाकथित सेविका (मालविका) पर मुग्ध हो गया, इससे बड़ा क्या प्रमाण दिया जा सकता है काम के द्वारा आर्थिक सीमा के उल्लंघन का।

१, स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥ माल० ३ १४।

२. दुर्लभाभिनिवेशी मदनः।

काम भावना अत्यन्त प्रबल होती है, वह जब एक बार जागृत हो जाती है तो तब तक वेगवती होती जाती है जब तक कि उसे विरेचन वा संगम का अवसर नहीं मिलता। दमित या विघ्नित होने पर उसकी प्रतिक्रिया और भी उग्र हो उठती है[1]। आज का मानसिक चिकित्साशास्त्र बताता है कि हमारे अनेक मानसिक रोगों तथा हमारी कुण्ठाओं का जन्म इसी दमित वासना के फल स्वरूप होता है। कालिदास ने इस महत्त्वपूर्ण मानसिक तथ्य का उद्घाटन बड़े ही सरल एवं सरस ढंग से कर दिया है। विघ्न बाधा पुरस्सर जिन दो अतृप्त वासनाओं का सगम होता है उसमें सामान्य निर्विघ्न समागम की अपेक्षा सैकडों गुणा अधिक आनन्द भी होता ही है।

कालिदास ने वासनात्मक प्रेम के भी महत्त्व को स्वीकर किया है। उसके विविध रूपो का विश्लेषण किया है और अपनी रचनाओ में उसे अनेक रूपों में अभिव्यक्ति दी है; किन्तु दूसरी ओर उसने वासना रहित शुद्ध प्रेम की भी पृथक् सत्ता स्वीकार की है। यह दूसरी बात है कि उसने आदर्शरूप मे शुद्ध प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया है।

३. प्रेम

प्रेम का सच्चा स्वरूप वह है जहाँ दोनों ही ओर से समान आकर्षण हो, दोनों ही हृदय मिलकर एक हो जाने के लिए समान रूप से व्याकुल हो। ऐसे ही दो हृदय मिल कर वस्तुतः एकाकार हो सकते है जब कि वे लोहे के दो टुकड़ों की तरह प्रेम की तपन से भली भाँति पिघल चुके हों[2]। प्रेम की इसी उदात्त स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर वे लिखते है—'जहां दोनों ओर से मिलने के लिए आकुलता नहीं, तड़पन नहीं, वरन् केवल एक पक्षीय आतुरता है वहाँ उनका मिलना और न मिलना बराबर है, किन्तु जहाँ दोनों ही हृदय एक दूसरे से मिलने के लिए, एक दूसरे को पा लेने के लिए अधीर हुए बैठे हों, पर मिलन नहीं हो सकता हो, एक दूसरे की प्राप्ति की आशा न रहे, तो वहाँ एक दूसरे के लिए प्रेम के नाम पर प्राण भी देने पड़ें तो वह श्रेष्ठ है, सराहनीय है[3]। संसार में प्यार

१. विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति ।। विक्रम० ३।८।

२. तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् । विक्रम० २।१५।

३. अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ।। माल० ३।१५।

परीक्षा केवल प्यार से ही हो सकती है और किसी चीज से नहीं[१]। अर्थात् कालिदास मानते है प्यार लेने देने से नहीं पहचाना जा सकता, उसे चन्द चाँदी के टुकड़ों पर भी नहीं खरीदा जा सकता, वह तो केवल प्रेमी हृदय से परखने की वस्तु है।

प्रेम की कुछ अपनी विशेषताएं (Characteristics) होती हैं। प्रेम बड़ा असहिष्णु होता है। वह अपने प्रियजन पर सर्वतोभावेन छा जाना चाहता है। वहाँ दो के सिवा तीसरे के लिए अवकाश होता ही नहीं। असल मे तो वे दो भी नही, एक ही रह जाते है। पूर्णता को प्राप्त हुए प्रेम की प्रायः यही स्थिति होती है। इसीलिए देखा जाता है कि प्रेमियों में तुनकमिजाजी बहुत बढ़ जाती है, वह प्रेम के क्षेत्र में प्रियजन की मामूली सी भी गलती को सहन नहीं कर पाता। बात-बात पर रूठ जाना, नाराज हो जाना अतिशय प्रेम की ही स्थिति का परिचायक है।

सच्चे और झूठे प्रेम के परीक्षण का जो मानदण्ड कालिदास ने निर्धारित किया है वह यही कि सच्चा प्रेम एक दूसरे से पृथक् हो जाने पर भी दिनों-दिन बढता है, उसकी अनुभूति तीव्रतर हो जाती है; किन्तु इसके विपरीत झूठा प्रेम वियोग या पृथक्ता की स्थिति में घटता ही नही, नष्ट भी हो जाता है[३]। सच्चे प्रेम का स्वभाव ही होता है कि वह अपने प्रियजन के सुख में सुखी और उसके दुःख में दुःखी हो उठता है। उसे किसी प्रकार के संकट में देखकर उसके निराकरण के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील हो उठता है[४]। किन्तु साथ ही प्रेमी हृदय में कृपणता भी बढ़ जाती है। कजूस के धन की भाँति वह सदा उसे संभाले रखना चाहता है। उसके खो जाने की आशंका उसके मन मे सदा बनी रहती है। इसीलिए तो वह आंखों से ओझल होते ही अपने प्रियजन को देखने के लिए आकुल हो उठता है। उसके विलम्ब से आने, रोगग्रस्त होने अथवा

---

१. अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्यः ॥ माल० ३।१३ (पश्चात्)।

२. दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहन ॥ विक्र० ४।२ (प०)।

३. स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशी भवन्ति ॥ उ० मेघ० ५५।

४. अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी ॥ विक्र० २।८। (प०)

ऐसी ही किसी अन्य स्थिति के उत्पन्न होने पर उसके बारे में अशुभ कल्पनाएँ करने लगता है[१]।

कालिदास सच्चे स्नेह का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर से मानते हैं[२]। और सच्चे स्नेह का यह सम्बन्ध इतना दृढ़ होता है कि कभी टूट नहीं सकता, एक के अभाव में दूसरे का जीवन ही दूभर हो जाता है[३]। उसके प्रियजन के अतिरिक्त संसार का कोई ऐसा रूप या शक्ति नहीं जो कि उसे आनन्दित कर सके, उसे आकृष्ट कर सके[४]।

प्रेम असहिष्णु होता है, संकीर्ण होता है, पर साथ ही अधीर भी होता है। वह अपने प्रियजन को देर तक तड़पते नही देख सकता, उसके सुख-दुःख के प्रति सर्वथा निरपेक्ष नही हो सकता। ऐसा करना सच्चे प्यार के लिए शोभनीय ही नही[५]।

कालिदास ने वासनात्मक प्रेम तथा शुद्ध प्रेम के बीच होने वाले अन्तर को कई स्थानो पर स्पष्ट किया है। वासनात्मक प्रेम अन्धा होता है, प्रबल होता है, अनेक सीमारेखाओं को तोड़ कर दो प्राणियों का मिलन तो करा देता है पर इतने से ही उसमें स्थायित्व नही आ पाता। प्रेम के स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि दोनों व्यक्ति एक दूसरे को निकट से भली-भाँति जानते हों। काम-वासना के प्रभाव में दो शरीरों का मिलन तो हो जाता है किन्तु उसकी बाढ़ उतर जाने पर हृदयों के मिलन के अभाव में वह कभी-कभी दुःखदायी हो जाता है। वह जीवन के लिए अभिशाप हो जाता है[६]।

प्रेम के क्षेत्र में कालिदास ने मित्रप्रेम को प्रेम का आदर्शतम रूप माना है। स्त्री-पुरुषगत प्रेम शुद्ध होने पर भी सर्वथा वासना-रहित नही हो सकता। जहाँ वासना का अंश है वहाँ प्रेम को

---

१. स्नेह पापशङ्की ॥ शाकु० ४.१६ (पू०)

२. भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शाकु० ५.२।

३ सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ उ० मेघ० २०।

४. नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥ विक्र० ३.१६।

५. न शोभते प्रणयिजने निरपेक्षता ॥ माल० ३.२० (पूर्व)।

६ अज्ञात-हृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ शाकु० ५.२४।

विचलित होने के लिए अवकाश भी हो ही सकता है, किन्तु जहाँ वासना नही वहाँ उसके विचलित होने के लिए अवकाश भी नही हो सकता। इसीलिए वह कहता है कि नारी के प्रति पुरुष का प्रेम कभी किसी स्थिति में विचलित भी हो सकता है पर मित्र के प्रति होने वाले स्नेह में कभी किसी प्रकार का विकार हो ही नही सकता[१]। सच्चा मित्र अपने मित्र के प्रति कभी निरपेक्ष नही हो सकता है। उन दोनों का सुख-दुःख एक होता है[२]। सच्चा मित्र न कभी मित्र के उपकार को ही भूलता है[३] और न मित्र के कार्य के प्रति कभी मन्दोत्साह ही होता है[४]। अपने स्वार्थ का बलिदान करके भी मित्र कार्य करता है।

मनोवैज्ञानिक तथ्यो का निरूपण

आज का मनोविश्लेषक बता सकता है कि दमित वासनाएँ जीवन के लिए कितनी कष्टदायक सिद्ध हो सकती हैं। इसीलिए आधुनिक मानसचिकित्सक अनेकानेक व्याधियों के उन्मूलन के लिए यह आवश्यक समझता है कि पहले मन से दमित वासनाओं का सम्यक् विरेचन करा दिया जाय। चेतन वा अवचेतन मनस्थ भावों के विरेचन से मन हल्का हो जाता है, शान्ति का अनुभव करता है और इसके अभाव मे वह परेशान, व्याकुल हो उठता है। कालिदास मन की इस प्रवृत्ति से भलीभाँति अवगत थे। उन्होंने शाकुन्तल में इस भाव को बड़े सुन्दर ढग से अभिव्यक्ति दी है[५]।

सभी जानते है कि मानव मन के निर्माण में उसकी शिक्षा-दीक्षा, परम्परागत संस्कार तथा वातावरण का बहुत बड़ा हाथ होता है। किन्तु फिर भी कुछ ऐसी मूलभूत प्रवृत्तियाँ होती है जिन्हें सभी देशों तथा सभी कालो के मनुष्यों मे समान रूप से पाया जाता है। इन्हें ही मनोवैज्ञानिक तथ्यो (Psychological facts) के

---

१. दयितास्वनवस्थित नृणा न खलु प्रेम चल सुहृज्जने ॥ कुमार० ४।२८।

२. समदुःखसुखः सखीजन.। रघु० ८।६५।

३. न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः ॥ मेघ०।

४. मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ पू० मेघ० ४२।

५. विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ॥ शाकु० ३।१६ (प०)।

नाम से पुकारा जाता है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों ही मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश डाला है। ऐसे ही अनेक तथ्यों को सूत्र रूप से अपनी सूक्तियो में भी समाविष्ट कर डाला है जिनमें से कुछ को निम्न रूप मे उपस्थित किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि किसी भी भाव, स्थिति या घटना का जैसा गहरा एव यथातथ्य प्रभाव अव्यस्त वा निर्मल मन पर पड़ता है वैसा किसी भावान्तर से व्यस्त मन पर नहीं[1]। मन जब अपनी अभिलषित वस्तु को पा लेता है तो फिर तृप्त हो जाता है, किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा उसमें शेष नहीं रहती[2]। उसकी मनचाही वस्तु किस प्रकार की हो सकती है इसकी कोई रूपरेखा प्रस्तुत नही की जा सकती है। सच तो यह है कि मन जिस पर मुग्ध हो जाय वही उसकी अभिलषिततम वस्तु है। अनन्त पुष्पसमृद्धि वाले वसन्त में भौरे का मन जब आम की बौर पर मुग्ध हो जाता है तो वही उसकी अभिलषिततम वस्तु बन जाता है।

स्वभावतः प्रत्येक मानव का मन अपने चारों ओर कुछ परिधियाँ वा रेखाएँ खींच लेता है जिन्हें वह अपना कहता है। यह देश, भाषा, जाति, आकृति, प्रकृतिगत कई प्रकार की होती है। इसे मनकी दुर्बलता कहिए या प्रकृति, किन्तु अपेक्षा होने पर वह अपनी परिधि के व्यक्तियों वा प्राणियों पर ही अधिक विश्वास करता है[3]।

यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हमारे चेतन मन पर काम, क्रोध, शोक, बुभुक्षा आदि मनोवेगों का प्राबल्य होता है तो हमे अपने चतुर्दिक सभी वस्तुओं में उसी की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। कालिदास ने काम, बुभुक्षा आदि के उदाहरणों द्वारा इसे बड़े ही उपयुक्त ढग से अभिव्यक्ति दी है। वे कहते हैं काम मनोवेग की प्रबलता की स्थिति में मानव को सर्वत्र उसी का

मनोवेगों की स्थिति

---

१. छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे, शुद्धे तु दर्पणतले सुलभप्रकाशा ॥शाकु० ६,३२।

२. (i) नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदालिः ॥रघु० ६।६९।
(ii) अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥कुमार० १।२७

३. सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति ॥ शाकु० ५ २२ (पूर्व)।

रूप दिखाई देने लगता है[1] तथा भूख की प्रबलता की स्थिति में भूखे को सब कुछ भोज्य ही दिखाई देने लगता है[2]।

कितनी मनोवैज्ञानिक सचाई है कालिदास के इस कथन में भी कि संसार में प्रत्येक मनुष्य अपने आपको सुन्दर ही देखता है[3]।

आत्म-सौन्दर्य

मनुष्य स्वयं चाहे कितना भी कुरूप क्यों न हो किन्तु जब वह अपने आपको शीशे में देखता है तो उसे अपना रूप 'कान्त' ही दिखाई देता है। किसी जाति वा वर्ग-विशेष का स्त्री-पुरुष किसी अन्य नृवंश के व्यक्ति को चाहे जितना कुरूप क्यों न दीखता हो पर स्वयं उसे वह सुन्दर ही लगता है। इस आत्मीयता की सीमा स्वयं व्यक्ति-विशेष तक ही सीमित न रह कर उसके बन्धु-बान्धव, सगे सम्बन्धी, इष्ट-मित्र, एवं सवर्गीय-सजातीय जनो तक फैल जाती है। कभी कोई भी व्यक्ति नैसर्गिक रूप से अपने माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि को कुरूप नही देखता। यहाँ तक अपनी जाति-विशेष के लोगों को भी अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक मनोनुकूल पाता है।

स्वार्थ मानव की एक सहजात प्रवृत्ति है। यहाँ तक कि सहज स्नेह वा मैत्री के पीछे भी प्रच्छन्न रूप से उसकी

स्वार्थ-भावना

स्वार्थी प्रवृत्ति ही कार्यशील दिखाई देती है। बादल चातक का प्रिय मित्र अवश्य है पर वह उसी बादल का अभिनन्दन करता है जो कि जल से भरपूर होता है[4]।

सुख वा दु:ख का भाव बड़े प्रबल वेग से हमारे समस्त मन, बुद्धि वा कल्पना पर छा जाता है। हम भावान्तर-निरपेक्ष हो

सुख-दु:ख मे मन:स्थिति

उठते है, विवेक जाता रहता है। प्रत्यक्ष संकट भी उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, या यों कहिए कि वह उसकी परवाह ही नही करता[5]। और यदि वह वस्तु चिरअभिलषित हो तो फिर तो कहना ही क्या! सभी जानते ही है कि सुख

---

१. कामी स्वतां पश्यति ॥ शाकु० २।२।

२. सर्वत्रौदारिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः ॥ विक्र० ३।६ (प०)।

३. सर्वः खलु कान्तमात्मीय पश्यति ॥ शाकु० २।७ (प०)।

४. अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ रघु० १७।६०।

५. नहि कमलिनी दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः ॥ माल० ३।६ (प०)।

और दुःख दोनों का सीधा सम्बन्ध हमारे मनोवेगों के साथ है। भिन्न-भिन्न शास्त्रो ने इनकी भिन्न प्रकार से व्याख्याएँ की है। पर मनोविज्ञानशास्त्र तो इसे शुद्ध रूप से मनःप्रसूत मानता है; अतः आत्मपरक (Subjective) भी। कोई विशेष वस्तु, स्थिति वा घटना स्वय में न सुख है और न दुःख। विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में उसका विशेष रूप बन जाता है। एक वस्तु किसी विशेष परिस्थिति में उसी व्यक्ति के लिए आनन्ददायक हो सकती है तथा किसी अन्य स्थिति में दुखदायी भी। अथवा एक ही समय में एक व्यक्ति उससे सुख प्राप्त कर सकता है और दूसरा दुःख। कालिदास ने अनेकों ही ऐसे प्रसंग अपनी रचनाओं मे दिखाए हैं[1]।

सुख की निकटतम परिभाषा जो कालिदास देना चाहते हैं वह शायद यही है कि 'मन की साध का पूरा हो जाना ही सुख है[2]।' यह विचार तार्किकों के 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्' के अति निकट प्रतीत होता है और साथ ही आधुनिक मनोविज्ञान के भी अति निकट है। कालिदास ने वसन्त को सुख का प्रतीक माना है। उनका कहना है कि सुख में सब कुछ ही सुन्दर लगता है[3]। जब मन आनन्दित होता है तो हर बात और हर काम में आनन्द की ही अनुभूति होती है।

कालिदास ने सुख की विभिन्न स्थितियों का बड़े सुन्दर ढग से विश्लेषण किया है। वे कहते है सुखद स्थितियाँ आनन्ददायक तो होती है; किन्तु जब वे विषम वा प्रतिकूल स्थितियों के बाद आती है तो तुलनात्मक रूप से उनमें सुख की अधिक प्रतीति होती है। इसको उन्होंने एक बहुत उपयुक्त सर्वसाधारण उदाहरण के द्वारा व्यक्त किया है। वे कहते है कि ग्रीष्म में वृक्ष की छाया सभी को सुखद लगती ही है, पर कड़ाके की धूप में चल कर आये हुए पथिक के लिए वह अपेक्षाकृत अधिक आनन्द देने वाली होती ही है[4]।

---

१. शाकु० ३।३ आदि।

२. सर्वः प्रार्थितमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः ॥ शाकु० ५।६ (पू०)।

३. सर्वं चारुतर वसन्ते ॥ऋतु० २।६।

४. यदेवोपनत दुःखात् सुख तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥ विक्र० ३।२१।

सुख के समान ही दुःख का भी हमारे जीवन के साथ एक अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अथवा यह भी मानव मन का एक मूलभूत प्रबल सवेग है। कालिदास ने भी भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुरूप ही दुःख को 'प्रतिकूलवेदनीयम्' माना है और यही बात मनोवैज्ञानिक तथ्य के निकट भी है। पराधीनता को कालिदास शायद सब से बड़ा दुःख मानते है; क्योंकि इसमें व्यक्ति को अपने मन के विरुद्ध विवश कार्य करने की स्थिति शायद चेतन मानव के लिए सबसे अधिक दुःखदायी होती है[1]। साथ ही शारीरिक दुःख की अपेक्षा मानसिक दुःख की स्थिति मानव को अधिक व्यथित कर डालती है[2]। यह एक अत्यन्त प्रबल संवेग होता है जो कि कभी कभी बड़े-बडे धीर गम्भीर और विवेकी मानव को भी हिला डालता है, विवेकहीन कर डालता है। यह इतना प्रबल हो उठता है कि चेतन मन के लिए उसके वेग को नियन्त्रित करना असम्भव हो उठता है[3]।

दुःख में मानव की मनःस्थिति में कई प्रकार के परिवर्तन आ जाते हैं। उसका एक रूप यह भी है कि दुःख संतप्त व्यक्ति उस स्थिति में जब अपने किसी प्रियजन को देखता है तो उसकी उपस्थिति से उसका दुःख कई गुना बढ जाता है। वह उसे संभाल नहीं पाता, वह अनेकों रूपों में प्रबल वेग के साथ फूट पड़ता है[3]। मानसिक दुःख की स्थिति में अन्यथा अच्छी लगने वाली चीज भी बुरी ही लगती है[4]।

दुःख में मानव मन स्वार्थी तथा संकीर्ण हो जाता है। उसे संसार में अपना ही दुःख सबसे बड़ा दिखाई देता है। दूसरे का बड़े से बड़ा दुःख भी अपने छोटे से दुःख से भी छोटा दिखाई देता है[5]।

इसके साथ ही दूसरी ओर दुःख की विभिन्न मानसिक स्थितियों का विश्लेषण करने पर कालिदास ने यह भी देखा है कि दुःख वा क्लेश के उपरान्त मनुष्य को जब सुख मिल जाता है

---

१. न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता ॥ विक्र० ५।१७।

२. अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥ रघु० ८।४३।

३. स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥ कुमार० ४।२६।

४. न खल्वक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखा सहते ॥ विक्र० २।२१ (प०)।

५. महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः ॥ विक्रम० ४।२७।

अथवा यों कहिए कि मन की प्रतिकूल परिस्थितियाँ जब हट जाती है और अनुकूल परिस्थितियाँ आ जाती है तो हमारा चेतन मन उन प्रतिकूल परिस्थितियों को तुरन्त भूल जाता है[१]। विस्मृति इसी रूप में हमारे जीवन के लिए वरदान मानी जाती है। इतना ही नहीं कालिदास ने दुःख-संवेगों के बारे में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला है। वह यह कि जहाँ एक ओर प्रतिकूल परिस्थितियों मे प्रिय जन की उपस्थिति से मन के संवेगों में अधिक उफान आ जाता है, वही जब उसे किसी प्रकार का विरेचन (Outlet) मिल जाता है तो उसकी तीव्रता बहुत घट जाती है। इसे हो यों भी कहा जा सकता है कि मन को आकुलित करने वाली 'प्रतिकूलवेदनीय' बात को किसी प्रियजन से कह देने से वह 'सह्यवेदन' हो जाती है[२]। उनकी इन उक्तियों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने दु:खी मानव के मन का कितनी गहराई से तथा कितने निकट से अध्ययन किया था।

मानव मन स्वभावतः अपने लिए सुख वा अनुकूल परिस्थितियाँ चाहता है। वह अपने लिए प्रायः सुखद स्थितियाँ एव सुन्दर वस्तुएँ चाहता है[३]। पर साथ ही वह अधिक देर तक एक स्थिति में रहना भी पसन्द नही करता। वह परिवर्तन चाहता है। मधुर के बाद अम्ल, आराम के बाद परिश्रम की उसमें एक नैसर्गिक प्रवृत्ति पाई जाती है[४]। परिवर्तन चाहे वर्तमान स्थिति की अपेक्षा कम सुखद वा कम आनन्ददायक ही क्यों न हो पर थोड़ी देर के लिए उससे मन को आनन्द तो प्राप्त हो ही जाता है।

मनोवेगो से ही हमारे जीवन का संचालन होता है। उनके होने से ही जीवन में गति और क्रियाशीलता आती है। विशिष्ट परिस्थितियों में विशेष प्रकार के सवेगों मे उभार आ जाता है और हमारी इन्द्रियाँ तदनुसार ही जागृत होकर कार्यशील हो उठती है। या यों कहिए कि हमारी सुषुप्त शक्तियाँ इन्हीं के धक्के से जागृत होकर अपने वास्तविक रूप तथा अपनी

क्षुब्ध सवेगों की प्रतिक्रिया

१. क्लेशः फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते॥ कुमार० ५।८६।
२. स्निग्धजनसविभक्तं हि दु.ख सह्यवेदन भवति॥ शाकु० ३।८ (प०)।
३. उत्सवप्रियाः खलु मनुष्या.॥ शाकु० ६।४ (प०)।
४. यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषः॥शाकु० २।८ (प०)।

वास्तविक शक्ति को प्राप्त होती एवं यह पहचानती हैं[1]। हमारे शरीर में कितनी शक्ति है, हम में कितना स्नेह क्रोध, सहिष्णुता, प्रतीकार की भावना आदि है, इसका पता हमारे तत्तत् संवेगों के जागृत होने पर ही लग सकता है। पर कोई भी संवेग कितना ही प्रबल क्यों न हो, तब तक ही बना रह सकता है जब तक कि उसे उभारने वाली परिस्थितियाँ बनी रहें। उनके समाप्त होते ही उसका वेग भी समाप्त हो जाता है। कालिदास ने इसे पानी का उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह से व्यक्त किया है। पानी का स्वभाव शीतल है, किन्तु जब उसे आग पर रख दिया जाता है तो वह गरम हो जाता है तथा आग से दूर होने पर वह फिर ठंडा हो जाता है[2]। यह वस्तु वा व्यक्ति की विशेष प्रकृति वा मनःस्थिति पर भी निर्भर होता है। कभी कोई चीज़ उतने ही उद्दीपक से शीघ्र तथा अधिक मात्रा में उद्दीप्त हो सकती है और कोई देर से तथा न्यून मात्रा में; पर उद्दीप्त होने के लिए उद्दीपक का होना आवश्यक है ही।

मनोविज्ञान में साहचर्य वा संसर्ग का बड़ा प्रभाव माना जाता है। कालिदास भी इस बात को मानते हैं कि एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न साहचर्य के कारण भिन्न-भिन्न आचार-विचार वा प्रकृति वाला हो जाता है[3]। निरन्तर के साहचर्य से एक व्यक्ति के गुणों का दूसरे व्यक्ति के गुणों में संक्रमण हो जाया करता है[4]।

साहचर्य का प्रभाव

हमारे मनोवेगों को उद्दीप्त करने अथवा प्रभावित करने में हमारे चारों ओर की बाह्य-प्रकृति का भी बड़ा हाथ होता है। कालिदास ने अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में इस प्रभाव को माना है। तथा स्पष्ट किया है।[5] प्रकृति के अनेक रूप अज्ञात रूप से ही हमारे मन में भय, आनन्द, प्रेम, आशंका आदि का भाव उत्पन्न कर देते हैं। कालिदास ने तो इस प्रभाव को बहुत अधिक माना है।

बाह्यरूपों का आन्तरिक प्रभाव

१. प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः। शाकु० ६।३१।

२. उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगात् शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ रघु० ५।५४।

३. रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ॥ रघु० १०।१७।

४. मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ॥ माल० १।७।

५ (i) अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः।

(ii) मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ॥ पू० मेघ० ३।

इसके अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती है जो कि किसी वर्ग-विशेष वा जाति-विशेष में ही पायी जाती है[१]।

नारी जाति की विशिष्ट मन स्थितियाँ

इन्हे जन्मजात, वंशपराम्परानुप्राप्त अथवा जातीय तत्त्व कहा जा सकता है। उनकी स्थिति विशेष रूप से वर्ग-विशेष अथवा जाति-विशेष मे ही पाई जाती है।

कालिदास ने भिन्न-भिन्न वर्गों के व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों पर बडे विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। प्रेम, सौन्दर्य और शृङ्गार का कवि होने के नाते कालिदास ने स्त्री-मनोविज्ञान का बहुत निकट से एव बारीकी से निरीक्षण किया है। वह इतना पूर्ण है कि आज भी उसमें अभिव्यक्त तथ्यों को झुठलाना सम्भव नही। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से पुष्ट हो सकता है कि स्त्रीजाति में कौतूहल और प्रदर्शन की भावना पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है, पर इसके बावजूद भी देखा यह जाता है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक लज्जाशील होती है[२]। इसीलिए प्रेम की प्रथम अभिव्यक्ति मे भी वे वाचिक प्रगल्भता का परिचय नही दे सकतीं। उन्हें इसके लिए वाणी की अपेक्षा अपने विभ्रम (हाव-भाव) का ही अधिक सहारा लेना पड़ता है[३]। प्रौढ़ाओं की अपेक्षा नई नवेलियों में प्रेमाभिव्यक्ति की यह चटक-मटक अधिक मात्रा मे पाई जाती है[४]।

कालिदास का पर्यवेक्षण कहता है कि प्रेमवासना की अभिव्यक्ति में सामान्यतया अत्यन्त संयत होने पर भी जब नारी में काम-भावना अत्यन्त तीव्र हो जाती है तो फिर उसके लिए इस पर नियंत्रण रखना अति कठिन हो जाता है और कभी-कभी तो वह इसकी तीव्रता में शालीनता का घेरा भी तोड़ फेंकती है[५]।

प्रगाढ प्रेम की स्थिति में प्रियजन से ज़रा-ज़रा सी बात पर

---

१. न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ।। विक्रम० ५।१८।
२. कूतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्री-जनः ॥ माल० ४।८ (पृ०)।
३. स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु । मेघ० पू० ३०।
४. रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः ।। माल० ४।१५ (पृ०)।
५. अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभुवः ।। रघु० १२।३३।

रूठ बैठना शायद नारी में जन्मजात प्रवृत्ति है। वह शायद इसे अपना अधिकार ही समझती है। ऐसा सम्भवतः इसलिए होता है कि प्रेम मे प्रेमी अपने प्रियजन की विमुखता को सहन नहीं कर सकता। वह उसे किसी मूल्य पर भी प्रसन्न रखना चाहता है। प्रायेण प्रेयसी उसकी इस मानसिक दुर्बलता का लाभ उठा कर उस पर हावी हो जाना चाहती है। इसीलिए तो वह कभी बिना बात के ही रूठ पड़ती है[1]।

नारी-जाति में सौन्दर्य-भावना भी पुरुषों को अपेक्षा अधिक होती है। वह अपने सौन्दर्यप्रसाधनों के बारे में अधिक सजग रहती है। किन्तु इस सब के पीछे उसकी जो मनोभावना काम करती है वह यही कि अधिकतम आकर्षक बन कर अपने प्रियतम को अपनी ओर और अधिक तीव्रता के साथ आकृष्ट करना[2]। कालिदास मानते है कि यही वह प्रेरणा है जो कि उसे अधिकाधिक सजने-धजने के लिए प्रेरित करती है[3]। इसीलिए जब नारी अपने सौन्दर्य-प्रसाधन को विफल होता हुआ देखती है तो उसे वही समस्त सौन्दर्य-प्रसाधन ऐसे लगने लगते है जैसे कि उसे काट खाने को दौड़ पड़ते हों। वह चोट खाये हुए साँप की तरह फुफकार उठती है। उस समय इन सब के प्रति उसकी मानसिक प्रतिक्रिया दर्शनीय होती है। कुमारसम्भव में इसका अच्छा रूप देखने को मिलता है।

इसी प्रकार यह भी एक स्वीकृत तथ्य है कि नारी-जाति में पुरुषों की अपेक्षा चतुरता एवं व्यवहार-कुशलता का अंश अधिक मात्रा मे पाया जाता है। कालिदास इसे उनका स्वाभाविक गुण मानते है[4]। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी होती है, वे प्रथम दृष्टि में ही बड़ी सरलता से दूसरों के मनोभावों को भाँप सकती हैं। इसीलिए उनके सामने बनावटी बातें बहुत कम चल सकती है[5]। चातुर्य एवं

१. प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ।। विक्रम० ४।२६ ।

२. स्त्रीणा प्रियालोकफलो हि वेशः ।। कुमार० ७।२२ ।

३. प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।। कुमार० ५।१ ।

४. निसर्गनिपुणाः स्त्रियः ।। माल० ३।२ (प०) ।

५. उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ।। माल० ३।३ ।

'प्रत्युत्पन्नमतित्व' तो मानो उन्हें मातृस्तन्य में ही मिल जाता है[१]।

सामान्यतया यह भी देखा जाता है कि पुरुष की अपेक्षा नारी में प्रेम और समर्पण की भावना अधिक मात्रा मे होती है। इसीलिए प्रियजन-वियोग की व्यथा भी पुरुष की अपेक्षा नारी में ही अधिक तीव्र होती है[२]।

सामाजिक परिवेश मे मानसिक सामञ्जस्य
(i) नारीगत

कालिदास ने भारतीय नारी के मनोवैज्ञानिक पक्षों के अतिरिक्त उसके सामाजिक पक्ष पर भी अनेकत्र विचार किया है। उसकी झलक उनकी अनेक सूक्तियों में भी देखने को मिल जाती है। वे मानते हैं कि भारतीय समाज में नारी का स्थान प्रेयसी की अपेक्षा गृहिणी के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हमारे सामाजिक ढाँचे मे नारी के लिए स्वच्छन्द प्रेम की सीमाएँ अति प्राचीन काल से ही अतिसकीर्ण कर दी गई थीं। वह प्रेमिका बनते ही पत्नी बन जाती है और उसके परम्परा-प्राप्त संस्कार उसके मनोभावों में उसी के साथ एक नूतन परिवर्तन ला देते है। प्रेम के साथ ही धर्म और कर्तव्य की भावना भी जुड़ जाती है। पुरुष प्रेमी से पति और जीवन-सर्वस्व बन जाता है। उसके साथ उसी क्षण से जन्म-जन्मान्तर का अविच्छिन्न सम्बन्ध जुड जाता है। इसलिए वह पति की अनुकूलता के लिए अपनी कामनाओं एवं स्वार्थ का भी बलिदान करने लगती है[३]। अब वह शुद्ध रूप से प्रेमिका नही गृहिणी भी बन जाती है। वरन् गृहिणी पहले है और प्रेमिका बाद में। इसलिए अब वह अपने प्रियजन, अथवा पति से बिना विशेष कारण से रूठ नही सकती। वह गृहस्थ की सुख-शान्ति के लिए व्यर्थ में छोटी-मोटी तकरार को बढ़ाने की अपेक्षा उसे टालने में ही श्रेय समझने लगती है[४]। पति की हाँ में हाँ मिलाना ही उसे ठीक लगता है[५]।

---

१. (i) स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वम्० ॥ शाकु० ५।२२।
(ii) प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम् ॥ शाकु० ५।२१ (प०)।

२. इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥
शाकु० ४।३।

३. प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः ॥ माल० ५।१६।

४. प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥ माल० १।१८।

५. भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥ कुमार० ६।८६।

ऐसी नारियों के विषय में पुरुषों की मनोवृत्ति भी बदल जाती है। वे अब उनकी केवल काम-सहयोगिनी ही नहीं; अपितु धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग की सहयोगिनी बन जाती है। गृहस्थ के सभी कार्यों मे उनका परामर्श लेना अत्यावश्यक समझा जाता है[1]। वैवाहिक सम्बन्धो के निर्धारण के सम्वन्ध में तो स्त्रियों को विशेष रूप से कुशल समझा जाता है[2] और लड़कियों के नाते-रिश्ते के विषय मे तो प्रायः उन्हीं की सलाह को माना जाता है[3]। पुरुष अन्य कार्यों में अपने को अधिक योग्य एव चतुर समझता हुआ भी इन विषयों मे स्त्री की दृष्टि को ही अधिक विश्वसनीय समझता है।

भिन्न लिङ्गियों में यौनाकर्षण की सहजता एवं स्वाभाविकता को मानते हुए भी कालिदास ने स्वयं भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को ही अधिक मान्यता दी है। भारतीय सामाजिक मनोवृत्ति के अनुसार किसी भी विवाहित स्त्री या पुरुष के द्वारा किसी अन्य स्त्री वा पुरुष को वासनात्मक दृष्टि से देखना नैतिक दृष्टि से अनुचित माना है। बहुविवाह की स्वीकृति के कारण यद्यपि वर्गविशेष के विवाहित होने पर भी नवीन प्रेम-सम्बन्ध का अवसर रखा गया है पर वहाँ भी यह सर्वथा निषिद्ध कर दिया गया है कि वह किसी विवाहित स्त्री के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करे। कालिदास ने भारतीय समाज की इस मनोवृत्ति को ठीक इसी रूप में देखा और अभिव्यक्त किया है[4]। विवाहिता स्त्रियों को अति गौरवपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था[5]। पर विवाह के बाद पति को छोड़कर माता पिता के घर में रहना किसी स्थिति में भी अच्छा नहीं समझा जाता था[6]।

---

१. क्रियाणां खलु धर्म्याणा सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥ कुमार० ६।१३।

२. प्रायेणैवविधे कार्ये पुरन्ध्रीणा प्रगल्भता ॥ कुमार० ६।३२।

३. प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेपु कुटुम्बिनः ॥ कुमार० ६।८५।

४. अवर्णनीय परकलत्रम् ॥ शाकु० ५।१३ (प०); अनार्यः परदार-व्यवहारः। वही, ५।२० (प०)।

५. कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत ॥ शाकु० ६.६ (प०)।

६. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमती विशङ्कते ॥ शाकु० ५।१७।

कालिदास केवल आदर्शों की दुनियाँ में ही नहीं विचरण करते रहे है। उन्होने समाज की वास्तविकताओं को भी देखा है और उन्हे स्वीकार भी किया है। कड़े से कड़े बन्धनों के बावजूद भी समाज को सर्वथा अवाञ्छनीय तत्वों से हीन नही किया जा सकता। भिन्न-भिन्न रुचि, प्रवृत्ति, एव संस्कार वाले व्यक्तियों को एक ही बधे-सधे रूप में नही रखा जा सकता। अतः कालिदास ने समाज मे ऐसे स्त्री-पुरुषों की सत्ता भी स्वीकार की है जो कि विवाहित होने पर भी यौन-स्वातन्त्र्य का आचरण करते हैं। ऐसी स्त्रियों के कामान्ध आचरण को उन्होने नदियो के बाढ़ की भाँति कहा है, जोकि शालीनता की सीमाओं का उल्लंघन कर डालती है और फलतः अपने कुल का ही विनाश कर डालती है[1]।

कालिदास की नारी-विषयक इन सूक्तियों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की पृष्ठभूमि पर नारी की मनःस्थिति एवं कार्यकलापों का कैसा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार कालिदास ने पुरुषगत मानसिक प्रवृत्तियों का भी सामान्य एव विशेष रूप में बड़ा ही रुचिकर एव विशद लेखा प्रस्तुत किया है। प्रेम के सम्बन्ध में सामान्यतया कालिदास ने पुरुष को नारी की अपेक्षा अस्थिर और अविश्वसनीय ही कहा है[2]। नारी जहाँ एक बार किसी को अपना हृदय देकर सदा के लिए उसकी ही हो जाती है, उसके प्रति उसका प्रेम जन्म-जन्मान्तर के लिए सुदृढ़ एवं अचल हो जाता है; वहाँ पुरुष का प्रेम नारी के प्रति प्रायः चलायमान रहता है। राम आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों की बात दूसरी है। चतुर नागरिकों की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहलाया है कि अन्य किसी प्रेमिका से प्रेम करने वाले चतुर नागरिक दिखावे के लिए अपनी पत्नी के प्रति अधिक आदर का भाव प्रकट करने लगते है[3]।

(ii) पुरुषगत

१. स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमा. प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ ऋतु० २।७।

२. अविश्वसनीयाः पुरुषाः ।।माल० ३।१६ (प०)।

३. अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिका भार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति ॥ विक्र० ३।१३ (प०)।

यौन सम्बन्धों के विषय में भी कालिदास मानते हैं कि नारी की अपेक्षा पुरुष में अधिक यौन दुर्बलता होती है। एक पत्नी के रहते हुए भी वह दूसरी पत्नी की कामना करने लगता है। उसकी इस वृत्ति को उन्होंने 'भ्रमरवृत्ति' कहा है, पर कहीं भी, किसी रूप में भी कालिदास ने स्वयं इस बात की स्वीकृति नहीं दी है कि पुरुष अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए किसी अन्य व्यक्ति की विवाहिता पत्नी को कामुकभावना से देखे। उन्होंने सर्वत्र इसी भाव को दुहराया है कि किसी की विवाहिता पत्नी को वासनात्मक दृष्टि से देखना अत्यन्त निन्दनीय है[1]। उनके पुरुष पात्रों के चारित्रिक विश्लेषण से उनकी पुरुष सम्बन्धी मनोवृत्तियों का अच्छा खासा विवरण प्राप्त हो जाता है। पुरुष-जाति को उन्होने विभिन्न वर्गों के रूपों में देखा था और इसी रूप मे उनकी मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया है।

मन.स्थिति पर वातावरणगत प्रभाव

मानवमन के एक होने पर भी उसके निर्माण तथा विकास में हमारी शिक्षा-दीक्षा, वर्ग, सस्कार एवं वातावरण का बहुत बडा हाथ होता ही है। इसलिए स्वाभाविक है कि प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक तौर पर कुछ भिन्नता होती ही है[2]। कालिदास ने अपनी सभी रचनाओं में भिन्न-भिन्न स्थितियों एवं वातावरण में पोषित लोगों की मानसिक भिन्नताओं का अनेक रूपों में चित्रण किया है। उनकी सूक्तियाँ भी इस प्रकार के भावों स भरी पड़ी है। अब हम नीचे कुछ इसी प्रकार की सूक्तियों पर विचार करेंगे।

कालिदास मानते है कि भिन्न-भिन्न वातावरण में पले लोगों पर एक ही क्रिया की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें होती हैं[3]। अच्छे संस्कार वाले व्यक्ति पर अच्छी क्रिया की प्रतिक्रिया भी अच्छी ही होती है[4]; किन्तु कुण्ठित वा दूषित मन वाले व्यक्ति पर उसी

१. अनार्य. परदार-व्यवहार ॥ शाकु० ५।२० (प०)।
२. भिन्नरुचिर्हि लोक· ॥ रघु० ६।३०।
३. पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातु ॥ माल० १।६।
४. क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ रघु० ३।२९।

क्रिया की प्रतिक्रिया सर्वथा भिन्न ही हुआ करती है। धन, शक्ति या ऐश्वर्य को पाकर एक व्यक्ति अभिमानी, क्रूर और उच्छृंखल भी हो सकता है और विनीत, दयालु और परोपकारी भी।

वर्ग विशेष की मनस्थिति :
(i) अधिकार सम्पन्न

हमारी शिक्षा-दीक्षा या संस्कारों के अतिरिक्त कुछ ऐसी चीजें भी होती हैं जिन्हें पाने पर मनुष्य के मन में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। सभी व्यक्तियों की मनोवृत्ति में यह परिवर्तन लगभग एक ही रूप में आता है इसलिए इस प्रकार के लोगों का एक वर्ग-विशेष ही बन जाता है। कालिदास ने नवयौवन, शारीरिक सौन्दर्य, लौकिक ऐश्वर्य तथा पदाधिकार जैसी चीजों को ऐसा ही माना है जिससे कि इस वर्ग के लोगों की एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति बन जाती है[१]। ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों में उच्च भावना (Superiority Complex) जागृत हो जाती है साथ ही सद्गुणों की हानि होने लगती है[२]। राजनैतिक जीवन यापन करने वालों में छलकपट पूर्ण व्यवहार की प्रवृत्ति पाई जाती है। उनकी बातों पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता[३]। विशिष्ट पदाधिकार पा लेने पर व्यक्ति के मन में अधिकार चेतनता (Power Consciousness) आ जाती है और वह आशा करता है कि लोग उसके अधिकार के प्रति अपनी मान्यता प्रकट करें। चौराहे पर खड़ा पुलिस वाला भी चाहता है कि लोग उससे संकेत पाकर ही अपनी निर्दिष्ट दिशा में चलें। उन लोगों की मनःस्थिति (mood) बड़ी विचित्र हो जाती है। वह किसी समय भी किसी अकिंचन आघात से क्षुब्ध हो सकती है अतः कालिदास का कथन है कि इन लोगों के मूड को देख कर ही इनके पास जाना चाहिए[४]। इनके पास जाने पर यदि ये सेवक को किसी कार्य के लिए आदेश करें तो समझना चाहिए कि ये प्रसन्न हैं अन्यथा नहीं[५]।

---

१. वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ॥ रघु० १७।४३।
२. मूर्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ शाकु० ५।१८।
३. परातिसन्धानमधीयतेयैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ शाकु० ५।२५।
४. नन्ववसरोपसर्पणीयाः राजानः। शाकु० ६।१ (प०)
५. विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्णुषु ॥ कुमार० ६।६२।

अपने पद और कर्तव्य के प्रति सचेष्ट रहने वाले व्यक्ति की मन:स्थिति पर भी कालिदास ने बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है। ऐसा व्यक्ति प्राय. बाहरी रूप से सुखसाधन-सम्पन्न दिखाई देने पर भी आन्तरिक दृष्टि से दु:खी और अपने जीवन से असन्तुष्ट ही रहता है[1]। पदाधिकार एक ऐसी चीज है जो इसे पाने वाले व्यक्ति के प्रति दूसरों के मन में भय और आदर की भावना जागृत कर देती है। अति निकट का परिचय रखने वाला व्यक्ति भी सहसा उसके पास जाते हुए हिचकिचाता ही है[2]।

कालिदास ने चतुर, मूढ़, निकम्मे, दुर्जन आदि सभी कोटि के व्यक्तियों के चरित्रों का विश्लेषण किया है तथा सूत्र रूप में कहीं-कही उनकी चारित्रिक विशेषताओं को भी आबद्ध कर दिया है।

मूढ़ व्यक्ति में स्वयं विवेक-बुद्धि का अभाव होता है। जैसा कोई उसे समझा देता है वह उसे उसी रूप में मान लेता है[3]।

(ii) मूढ़

ऐसे विचार-मूढ़ व्यक्ति स्वयं अपना लाभ-हानि भी नही सोच सकते। थोड़े लाभ के लिए बहुत हानि भी कर लेते हैं[4]। किसी चीज की अच्छाई या बुराई का मानदण्ड उनके लिए केवल दूसरों के द्वारा उसे अच्छा या बुरा कह देना मात्र होता है[5]।

संसार में कुछ मनुष्यों की मनोवृत्ति ऐसी भी हो जाती है कि उन्हें विना कारण ही किसी दूसरे को किसा प्रकार की हानि

(iii) दुर्जन

पहुंचाने, निन्दा करने, चुगली करने आदि में विशेष आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे लोग अच्छे से अच्छे लोगों की बुराई करने में भी नही चूकते[6]। ये लोग भी वस्तुतः मूर्ख होते है। पर ऐसे मूर्ख लोग समझाने बुझाने

---

१. राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ॥ शाकु० ५।६ (पू०)।

२. अहो दुरासदो राजमहिमा ॥ माल० १ १ (प०)।

३. मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ माल० १।२।

४. अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ रघु० २।४७।

५. पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः ॥ माल० २।१० (प०)।

६. अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुक द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ कुमार० ५।१५।

से नहीं माना करते हैं। इनका तो बस एक ही इलाज है, वह यह कि इन्हें प्यार के बजाय फटकार ही दी जाय। तभी ये लोग शान्त हो सकते हैं[१]। कालिदास का विचार है कि ऐसे लोगों को उचित दण्ड देना ही चाहिए। वे दण्ड के ही अधिकारी होते हैं[२]। इसके अभाव में वे लोग समाज और भले लोगों के लिए एक मुसीबत बन जाते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी समझदार व्यक्ति होते है जो कि देश, काल और परिस्थिति को देख कर ही कोई काम करते हैं। कोई भी ऐसी चेष्टा नहीं करते जिससे कि किसी कार्य के बिगड़ने की सम्भावना हो[३]।

कालिदास ने उदात्त, मनस्वी एवं उदारचरित व्यक्तियों तथा विद्वान् व्यक्तियो की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अपनी सभी रचनाओं में उनके सहज गुणों एवं नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है।

(iv) मनस्वी

बुद्धि संसार की सबसे बड़ी शक्ति है; जिसके पास बुद्धि है उसके लिए सृष्टि का कोई भी कार्य ऐसा नही जिसे कि वह न कर सकता हो। उसकी गति सर्वत्र सभी कार्यों तथा सभी रूपों में सम्भव है[४]।

इस मानव सृष्टि में अधिकतर लोग अवसरवादी मनोवृत्ति के पाये जाते है। ऐसे लोग दुष्यन्त के सेनापति के समान जिधर को हवा बहती है उधर को ही बहने लगते हैं[५]। पर कुछ मनस्वी लोग ऐसे भी होते हैं जो कि एक बार जिस बात को स्वीकार कर लेते हैं अथवा जिस मार्ग पर कदम रख लेते हैं फिर लाख प्रलोभन वा संकटों के होने पर भी पीछे को मुड़ना नहीं जानते। ऐसे बात के धनी लोगों के स्वभाव की तुलना कालिदास ने उस पर्वतीय नदी

---

१. शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥ कुमार० २।४०।

२. के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ पू० मेघ० ५८।

३. को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ॥ शाकु० ४।२ (पू०)।

४. न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ॥ वही, ४।१७ (प०)।

५. वही, २।५ तथा तत्रस्थ वार्तालाप।

की धारा से दी है जो कि एक बार आगे बढ़ कर फिर कभी भी पीछे मुड़ना नहीं जानती[१]।

तेजस्विता प्रायः जन्मजात होती है और वह किसी भी समय अपना प्रभाव दिखा सकती है[२]। तेज का अपना विशेष स्वभाव एव विशेष गुण होता है। उसकी एक नैसर्गिक प्रवृत्ति यह होती है कि वह किसी दूसरे तेज को देख कर अनायास ही उद्दीप्त हो उठता है[३]। उसका लक्ष्य हमेशा महान् तेज वा महान् शक्ति ही हुआ करती है। अपने से निम्न पर वह कभी अपने तेज को प्रकट नहीं करता[४]। तेजस्वी व्यक्ति में तेज की स्थिति अग्नि के स्फुलिङ्ग के समान मानी गई है जो कि समुचित ईंधन के मिलने पर किसी भी क्षण धधक सकती है[५]। तेजस्वी व्यक्ति का तेज प्रतिकूल परिस्थितियों में और भी अधिक उद्दीप्त हो उठता है[६]। उसमें प्रबल दाहक शक्ति होती है और जो कोई उसका अभिभव करने की चेष्टा करता है उसे वह जला कर भस्म कर डालता है[७]। ऐसे व्यक्ति ही होते हैं जो किसी महनीय कार्य को करने की सामर्थ्य भी रखते है। वस्तुतः तेजस्वी व्यक्ति का प्रभाव ही बड़े-बड़े कार्य करने की सामर्थ्य रखता है[८]। उसके व्यक्तित्व में ही कुछ ऐसी बात होती है जो कि उसके बड़े-बड़े कार्यों को सम्पन्न करा देती है। पर कालिदास ने अपनी ओर से पराक्रम का बड़प्पन इसी में माना है कि पराक्रम के साथ विनय भी होनी चाहिए; इसी में उसकी शोभा है, गौरव है[९]। इसीलिए

(v) तेजस्वी

१. क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चय मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥
कुमार० ५।५।

२. तेजसां हि न वय. समीक्ष्यते ॥ रघु० ११।१।

३. तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥ शाकु० २।७।

४. किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ? ॥ रघु० ११।२७; और भी देखिए शाकु० ३।१५।

५. स्फुलिङ्गापेक्षया वह्निरेधापेध इव स्थितः ॥ शाकु० ७।१५।

६. धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥ रघु० ७।५५।

७ कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति ॥ शाकु० ४।१ (प०)।

८. वसुधाधरकंदराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥ विक्र० १।१७।

९. (i) अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ॥ विक्र० १।१७ (प०)।
(ii) निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ रघु० ११।८९।

कालिदास ने यह भी बतलाया है कि यदि तेजस्वी व्यक्ति सर्वत्र अपनी तेजस्विता का प्रदर्शन नहीं करता फिरता अथवा कहीं शान्त-एकान्त रूप में अपना समय व्यतीत करता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसमें तेज अथवा नहीं, वह डरपोक हो गया। वरन् यह तो केवलमात्र उसके स्वभाव की विशेषता होती है[1] जो कि उसके गौरव को बढ़ाती ही है, घटाती नहीं। तेजस्वी व्यक्ति का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। उसकी उपस्थिति में अन्याय और अत्याचार जैसी कोई चीज नही टिक सकती। उसकी सत्ता ही उन्हें नष्ट कर डालती है[2]।

(vi) महापुरुष

ससार में इस मानव समाज का एक वर्ग ऐसा भी है जिसके आचार-व्यवहार मे सामान्य जन समाज की अपेक्षा कुछ विशिष्टता पाई जाती है। इस वर्ग को हम महापुरुषों का वर्ग कह सकते है। इस वर्ग के लोग बड़े धीर-गम्भीर एवं उदारचेता होते है। इनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध और धनी-निर्धन का कोई भेद नही होता। वे केवल व्यक्ति के आचरण को देखते है[3]। वे स्वभाव से ही धीर होते हैं और विकृति के अवसर आने पर भी उनके मन में कभी विकार नहीं आ सकता[4]। उनका जीवन परोपकार के लिए होता है। परोपकार के लिए वे सदा अपने स्वार्थ का बलिदान कर डालते है। अपने मित्रों के प्रति वे सदा सच्चे और ईमानदार रहते है। अपने तथा मित्र के कार्य के बीच यदि चुनाव का प्रश्न आ जाय तो खुशी से अपने स्वार्थ को त्याग कर मित्र-कार्य को ही प्राथमिकता देते है[5]। ये लोग स्वभाव से ही बड़े कृतज्ञ होते हैं। उनके साथ किसी ने यदि थोड़ा भी उपकार किया हो तो वे सदा उसका प्रत्युपकार करने को तत्पर रहते है[6]। शरणागतवत्सल तो वे इतने होते है कि यदि कोई नीच व्यक्ति भी उनकी शरण में आ जाय तो वे उसके प्रति ऐसा ही

१. न हि सिंहो गजस्कन्दी भयात् गिरिगुहाशयः ॥ रघु० १७।५२।
२. तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ॥ शाकु० ५।१४; अपि च। रघु० ५।१३।
३. स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥ कुमार० ६।१२।
४. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥कुमार० १।५९।
५. स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥ विक्रम० ४।३१।
६. सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥ पू० मेघ० १९।

अपनत्व दिखलाते है जैसे कि बड़े लोगों के प्रति[1]। इनकी अभिलाषाएँ भी बड़ी होती है[2] किन्तु बड़ी से बड़ी सम्पत्ति पा लेने पर भी वे संयत ही रहते है; कभी भी अपनी मर्यादाओं को सीमा का उल्लंघन नहीं करते[3]। इन्हें अपने सम्मान का बड़ा ध्यान रहता है इसलिए कभी किसी के आगे हाथ नहीं फैलाते और यदि आवश्यक भी हो तो बीच में किसी मध्यस्थ को रख कर ही ऐसा करते हैं ताकि अभ्यर्थना के पूरा न होने पर उनके सम्मान को किसी प्रकार की प्रत्यक्ष ठेस न लगे[4]। ये लोग एक बार जिस कार्य-भार को स्वीकार कर लेते हैं वह फिर चाहे कितना ही बड़ा या कठिन क्यों न हो उसे सदा ही निभाये चले जाते हैं[5]। वस्तुतः बड़े लोग ही बड़े काम को निभा भी सकते है[6]। अथवा छोटे लोग भी जो बड़े कार्यो के करने में सफलता प्राप्त करते है उसमें भी बड़े लोगों के प्रताप को ही उसका कारण समझना चाहिए[7]।

कालिदास का कथन है कि ये लोग स्वभाव से बड़े दयालु और कारुणिक होते हैं[8]। दूसरे के दुःख को देख कर इनका हृदय पिघल उठता है और उसके दुःख को दूर करने के लिए वे अपना सब कुछ न्यौछावर कर डालते हैं[9]। इन लोगों को अपने धन और जीवन का विशेष मोह नही होता, मोह यदि किसी चीज का होता है तो वह केवल अपने यश और मान का[10]। इसीलिए आवश्यकता पड़ने पर अपने यश और मान की रक्षा के लिए ये लोग अपना धन

---

१. क्षुद्रेऽपि नून शरण प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ कुमार० १।१२।

२. उत्सर्पिणी खलु महता प्रार्थना ॥ शाकु० ७।१२ (प०)।

३. वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थान लवणाम्भसः ॥ रघु० १७।५४।

४. अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ कुमार० १।५२।

५. भानुः सकृद्युक्त-तुरङ्ग एव…शेषः सदैवाहित-भूमिभार० ॥ शाकु० ५।४।

६. व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेष. ॥ कुमार० ३।१३।

७. सिद्धयन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः सम्भावना-गुणमवेहि तमीश्वराणाम् ॥ शाकु० ७।४।

८. प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तिरात्मा ॥ उ० मेघ० ३५।

९. आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ पू० मेघ० ५७।

१०. यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ रघु० १४।३५।

और जीवन भी अर्पित कर डालते है। अपने द्वार पर आये हुए याचक को खाली हाथ लौटाना इनके लिए मरण से भी बढ़कर होता है। इसीलिए ये अपना प्राण दे सकते हैं पर याचक को खाली हाथ नहीं लौटा सकते[1]। दु:ख, संकट या प्रतिकूल परिस्थितियाँ इन्हें विचलित नहीं कर सकतीं, ये पर्वतों के समान निश्चल रह कर बड़े से बड़े तूफानों का भी आसानी से सामना कर लेते हैं[2]।

(vii) सिद्ध

कालिदास ने कुछ ऐसे परम सिद्ध महापुरुषों के चरित्र एवं प्रभाव का भी वर्णन किया है जिनकी सिद्धि और साधना अपने चरम रूप को प्राप्त हो चुकी होती है। ऐसे लोग अपनी वाणी से जो कुछ कह देते हैं वैसा ही हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का व्याघात नहीं हो सकता[3]। वे प्रकृति और नियति के विधान को भी बदलने की सामर्थ्य रखते हैं। इनके व्यक्तित्व का ही ऐसा प्रभाव होता है कि जन्मजात वैर रखने वाले प्राणी भी पारस्परिक वैरभाव को सर्वथा भूलकर आपस में प्रेम से रहने लगते हैं[4]। इन लोगों का अपने मन पर ऐसा असाधारण अधिकार होता है कि वे जब किसी चीज पर मन को एकाग्र (समाधिस्थ) कर लेते हैं तो फिर ससार की कोई भी शक्ति उसे विचलित नहीं कर सकती[5]। इन लोगों का स्वभाव उस बादल के समान होता है जिसमें कि आग और पानी इकट्ठा ही रहता है[6]। इनका क्रोध भी महाविनाशक होता है और करुणा भी महान् उपकारक। ये लोग तेज और तप के पुजारी होते हैं इसलिए सभी के प्रति ये निर्विशेष रूप से अपना आदर भाव प्रकट किया करते हैं[7]। आत्म-संयम इन लोगों के चरित्र की प्रमुख

---

१. अप्यसुप्रणयिनां रघो: कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ रघु० ११।२।

२. ननु प्रवाते निष्कम्पा गिरय: ॥ शाकु० ६।९ (पू०); द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चला: ॥ रघु० ८।१०।

३. नहीश्वर-व्याहृतय: कदाचित् पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥ कुमार० ३।६३।

४. सिद्धाश्रमं शान्तमिवेत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोध: ॥ रघु० ६।४६।

५. आत्मेश्वराणाँ नहि जातु विघ्ना: समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥ कुमार० ३।४०।

६. अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनय: ॥ वही, ४।४३।

७. भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवा: क्रिया: ॥ वही, ५।३१।

विशेषता होती है। वशित्व तो इनमें इतना होता है कि ये पराई स्त्री की ओर कभी स्वप्न में भी कुदृष्टि से नहीं देख सकते[१]। शायद ऐसे ही सिद्ध महापुरुषों के प्रति कालिदास ने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा होगा कि जिस भूमि पर ऐसे लोगों के चरण पड़ते हैं वह स्थान तीर्थ के समान पावन हो जाता है[२]।

अन्याय और अपमान के प्रति इनके मन में जो उग्रता आ जाती है वह तभी तक रहती है जब तक कि दोषी जन विनीत भाव से उनके सामने झुक नही जाता[३] और आत्म समर्पण नहीं कर देता। ऐसे ही लोगों के स्वभाव की अनिर्वचनीयता के विषय में तो महाकवि भवभूति ने कहा था —

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ? ॥

इन सिद्ध, तेजस्वी और मनस्वी महापुरुषों के अतिरिक्त इस संसार में महापुरुषों का एक ऐसा भी वर्ग है जिसे हम सज्जन के नाम से पुकार सकते हैं। ये लोग सद्गुणों के अवतार होते हैं। बड़े सरलहृदय एवं सौम्य प्रकृति के होते हैं। थोड़ी देर के सम्पर्क में ही किसी के साथ अपनत्व स्थापित कर लेते है[४]। इन में न स्वार्थ होता है, न अभिमान और न किसी प्रकार के प्रदर्शन की भावना ही। इनका व्यवहार इतना शुद्ध, निश्छल एवं स्पष्ट होता कि उनके द्वारा किये गये कार्यो में किसी प्रकार के झंझट की गुंजाइश ही नहीं रहती[५]। इनका स्वभाव इतना निर्मल होता है कि उसमें दोष आ ही नही सकते। यदि कभी समय के फेर से काई दोष आ भी जाय तो वह देर तक टिक नहीं सकता[६]। क्योंकि ये लोग स्वयं

(viii) सज्जन

१. वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥ शाकु० ५।२८।
२. यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥ कुमार० ६।५६।
३. (i) प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ रघु० ४।६४।
(ii) प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥ रघु० १६।८०।
४. यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ कुमार० ५।३९।
५. विक्रियायै न कल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः ॥ कुमार० ६।२९।
६. विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥ कुमार० ८।६५।

धर्म-विहित मार्ग का आचरण करके दूसरों का पथप्रदर्शन करने वाले होते है, इसलिए कभी भी निन्दनीय पथ पर कदम नहीं बढ़ाते[१]। क्रोध तो इनके स्वभाव में मानों होता ही नहीं, दूसरे लोगों पर सदा इनकी कृपापूर्ण दृष्टि ही पड़ती है, क्रूर दृष्टि नहीं[२]। यदि किसी की दुष्टता पर कभी क्रुद्ध हो भी पड़ते हैं तो वह क्रोध केवल उतनी देर तक के लिए होता है जितनी देर कि अपराधी उनके सामने आकर विनीत भाव से अपना अपराध स्वीकार नहीं कर लेता[३]। क्योंकि क्रोध या शाप से मनुष्य की संचित आत्म-शक्ति का क्षय होता है, इसलिए किसी दूसरे साधन से काम चल सकने पर वे क्रोधाभिभूत होकर अपने संचित तप का नाश करना नहीं चाहते[४]। दूसरे के द्वारा किये गये छोटे से छोटे उपकार को भी ये कभी नहीं भूलते और अवसर आने पर सदा उसका प्रत्युपकार करने को जी जान से तैयार रहते हैं[५]। ऐसे लोग प्रायः साँसारिक सुख-दुःखों के प्रति निरपेक्ष ही रहते हैं इसलिए बडे से बड़ा संकट भी इनके लिए दुख वा शोक देने वाला नही हो सकता[६]। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों से कुछ लेना तो जानते ही नही। जब कभी दूसरे से कुछ लेते भी हैं तो वह केवल दूसरों को देने अथवा उनके संकट को टालने के लिए ही होता है[७]। परोपकार की भावना तो इन में जन्मजात होती है। स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को सुख देने में इन्हें आत्मिक सुख एवं शान्ति का अनुभव होता है। कालिदास ने इनकी तुलना उन वृक्षों से की है जो कि ग्रीष्म में स्वयं कड़ी धूप को अपने ऊपर सहकर अपने आश्रय में आये हुओं को शीतल छाया प्रदान कर उनके संताप को हरते हैं[८]। किन्तु स्वभाव

१. पथः श्रुतेः दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ रघु० ३।४६।
२. प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥
शाकु० ६।२९।
३. प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥ रघु० १६।८०।
४. त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ रघु० १५।३।
५. येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥ कुमार० ८।४४।
६. नहि कदाचित् सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या भवन्ति ॥ शाकु० ६।९ (पू०)।
७. आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ रघु० ४।८६।
८. अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम् शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥
शाकु० ५।७।

की विनीतता ऐसी कि ज्यों-ज्यों पद और सम्मान में वृद्धि होती है त्यों-त्यों वे नम्रता से और भी अधिक झुकते चले जाते हैं[१]।

इन लोगों का जीवन खुली पुस्तक के समान होता है। उनके जीवन, व्यवहार या आचरण में कोई छिपाने वाली बात ही नहीं होती है[२]। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ये लोग अन्याय और अपमान की स्थिति में भी ऐसे ही नम्र तथा आत्मचेतना शून्य बने रहते हैं। वस्तुतः ये लोग यदि अपने तेज वा शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करते तो इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि उनमें कुछ कर सकने की शक्ति ही नहीं और इसीलिए वे शान्ति का प्रचार एवं पालन करते है। कालिदास कहते हैं कि ऊपर से शान्त दीखने वाले इन तपस्विजनों में ऐसी छुपी हुई शक्ति विद्यमान् रहती है जो कि क्षुब्ध होने पर दूसरों को भस्म कर सकती है[३]। पर ऐसा होता बहुत कम है। वे लोग कठोर साधना से अर्जित आत्मिक शक्ति का दुरुपयोग विना पर्याप्त कारण के करते नहीं और इसी में उनकी शोभा है कि वे पर्याप्त उग्र शक्तियों के स्वामी होते हुए भी शान्ति और सज्जनता का मार्ग अपनाते है।

जीवन-दर्शन की परिचायक सूक्तियाँ

कालिदास की सूक्तियों की एक बहुत बड़ी मात्रा ऐसी है जिसमें कि उन्होंने धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक विषयों पर वड़े ही सुन्दर एवं सुलझे हुए रूप में अपनी एवं अपनी समकालीन विचार धारा को अभिव्यक्ति दी है। इनमें से अनेक तो ऐसी है जो कि लोकोक्ति का रूप धारण कर जन-मानस का कण्ठहार बन चुकी है। कालिदास का समस्त अनुभव एवं जीवन-दर्शन ही इनमें झलक उठा है। ये भारतीय विचार-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं तथा उसकी अमूल्य निधि वन चुकी हैं। उनकी सौन्दर्यविषयक सूक्तियों को ही देखिए कि उन्होंने किस बारीकी एव औचित्य के साथ सौन्दर्य की व्याख्या एवं उसके मानदण्डों को प्रस्तुत करने में परिपक्व सौन्दर्य-भावना एव भारतीय परम्परा का परिचय दिया है।

---

१. भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमे ॥ शाकु० ५।१२।

२. अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम ॥ शाकु० १।२५ (पू०)।

३. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ॥ शाकु० २।७।

सौन्दर्यभावना मानव की जन्मजात प्रवृति नहीं भी हो तो वंशपरम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त रिक्थ अवश्य है। खुदाई आदि से प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि अपनी मूलभूत शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही मानव का ध्यान सौन्दर्यानुभूति की ओर जाने लगा था। विभिन्न युगों एवं स्तरों के अवशेषों की तुलना करने से पता चलता है कि मानव उत्तरोत्तर अपनी कलाकृतियों के परिष्कार में संलग्न हो चुका था। उसके आभूषण, हथियार, मिट्टी के बर्तन आदि सभी इसी का संकेत करते हैं।

सौन्दर्य भावना

सौन्दर्यभावना के विकास के साथ साथ ही कला भी स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ चली। उसके आयामों (dimentions) में कमी होती चली गई और भवन, मूर्ति, चित्र आदि से उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर होती हुई संगीत और काव्य जैसे सूक्ष्म एव आयाम-हीन आधार तक पहुंच गई।

सौन्दर्य क्या है इस विषय पर संसार के कवियों, दार्शनिकों एवं कलापारखियों ने अनेक दृष्टियों से विचार किया है। कोई इसे विषयगत (objective) मानते हैं और कोई विषयीगत (subjective)। इसके तत्त्वों और आधारों के विषय में भी मत भेद है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। जैसा कि हम अभी ऊपर कह आये है कि मानव को सौन्दर्यभावना जातीय रिक्थ के रूप में प्राप्त होती है। सभी जानते हैं कि प्रत्येक देश, जाति, सभ्यता, संस्कृति के सौन्दर्य सम्बन्धी मानदण्ड भिन्न-भिन्न होते है। इसलिए एक वस्तु जिस रूप-रंग आकार-प्रकार में एक विशेष संस्कारों में पालित व्यक्ति को अच्छी लगती है वह उसी में तद्भिन्न संस्कारों में पोषित व्यक्ति को भी अच्छी ही लगे यह सम्भव नहीं। ऐसा क्यों होता है, इसका मनोविज्ञान-सम्मत उत्तर स्वयं कालिदास ने '**भिन्न रुचिर्हि लोकः**' कह कर दे दिया है। पर साथ ही सौन्दर्य के कुछ ऐसे तत्त्व एवं आधार भी हैं, जोकि सभी देशों एवं सभी कालों के सौन्दर्यप्रेमी मानवों की सौन्दर्य-भावना को उद्दीप्त करने का सामर्थ्य रखते है। इन्हें सौन्दर्य के सार्वभौम तत्त्व कहा जा सकता है। पर ये स्वयं

सौन्दर्य का आधार

आकार-विशेष से हीन केवल मात्र भावनाविशेष के प्रतीक होते हैं अथवा प्रकृति के विशुद्ध भण्डार की निधि होते है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में इसी प्रकार के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति दी है। इसीलिए कालिदास का सौन्दर्य सब देशों और सब कालों के लिए है।

सौन्दर्य के विषयगत या विषयीगत होने का विवाद भी कुछ ठीक नही। हमें इसे उभयगत ही मानना पड़ेगा। यदि सौन्दर्य विषयगत हो माना जाय तो तब तो मानना पड़ेगा कि किसी एक सुन्दर वस्तु को देख कर बिना किसी रुचि एवं संस्कार भेद के सब को उस पर रीझ जाना चाहिए और यदि विषयीगत ही माना जाय तो फिर उन सौन्दर्याधायक तत्त्वों के विषय में क्या कहना होगा जिन्हें देखकर सबको समान रूप से आह्लाद होता है। इसलिए उचित तो यही होगा कि हम मान लें कि—**'रूप रिझावन-हार अरु ये नैना रिझवार'**। विषय में उद्दीप्त करने की शक्ति हो और विषयी भी उसे सराहने वाली सुसंस्कृत दृष्टि रखता हो।

साथ ही हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि जब महाकवि माघ सौन्दर्य की विषयपरक परिभाषा देता हुआ कहता है— **"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"**[1] अथवा जब ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन सौन्दर्य को उसके आधार से पृथक् करके कहते हैं—**'यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्य-मिवाङ्गनासु'**[2] तो उनका अभिप्राय उसे सर्वथा विषयीनिरपेक्ष कहने से कभी नही। परख करने वाली आँख और सराहने वाले हृदय के बिना तो उनका कोई मूल्य ही नही। तभी तो सौन्दर्य के विषयीगत होने की वकालत करते हुए नैषधकार श्रीहर्ष ने कहा था—यदि केवल विषय को ही सौन्दर्याधायक माना जाय तो युवकों की दृष्टि को उन्मादित कर देने वाला तरुणी-सौन्दर्य बालकों की दृष्टि को भी ऐसे ही उन्मादित कर डालता, पर ऐसा होता नही[3]। पर

१ माघ ४।१७ "सौन्दर्य वह है जिसको बार-बार देखने पर भी प्रतिबार नवीनता ही दिखाई दे।"

२. ध्वन्यालोक १।४ "सौन्दर्य अंग-विन्यास में रहता हुआ भी उन से भिन्न होकर दमकता है"।

३. यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरण नैव कुरुते ॥ नैषध २२।२५२

ध्यान रहे कि यहाँ पर उसने विषयी को प्राधान्य देते हुए भी विषय की सौन्दर्याधायकता को भी स्वीकार किया है। यदि रमणी 'परमरमणीया' न हो तो युवकों का 'अन्तःकरण' हरण भी नहीं हो सकता। उसकी रमणीयता का भी इसमें महत्त्व है ही। अस्तु, अब हम इस विषय में अधिक विस्तार में न जाकर कालिदास के सौन्दर्य-विषयक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली कुछ सूक्तियों पर विचार करेंगे।

सौन्दर्य की सार्वभौमता एवं सर्वोपरिता

कालिदास जानते थे कि रुचि-भिन्नता तो मानव की सहजात प्रवृत्ति है ही। साथ ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ, वातावरण एव संस्कार उसमें और भी भिन्नता ला देते हैं। इसीलिए उन्होंने जहाँ तक हो सका है अपनी रचनाओं में सर्वत्र ही सौन्दर्य-चित्रण में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि वे चित्र किसी देश, काल वा जाति-विशेष के सौन्दर्य-भावना सम्बन्धी चौखटे में ही फिट होने वाले न हों। शायद यही कारण है कि ये अपने नायक-नायिकाओं के नखशिख वर्णन में प्रवृत्त न होकर केवलमात्र उदात्त नारीसौन्दर्य वा पुरुषसौन्दर्य की व्यञ्जना भर कर देते है और उसकी कोई बंधी-सधी रूपरेखा प्रस्तुत ही नहीं करते। ताकि विषयी स्वयं अपनी कल्पना के अनुरूप वहाँ पर उस सौन्दर्य-प्रतिमा की स्थापना कर ले। कभी-कभी तो वे **'अये लब्ध नेत्र-निर्वाणम्'**[1] जैसे निःसंग पदों से ही उसकी व्यञ्जना कर डालते हैं। ऐसे स्थान पर पाठक स्वयं ही नेत्रों को कृतकृत्य कर देने वाली प्रतिमा की कल्पना अपनी रुचि एवं सस्कार के आधार पर कर लेता है।

सौन्दर्य को विषयगत मानते हुए भी कालिदास ने उसकी सार्वभौमता बनाये रखने के लिए कहीं भी 'इदमित्थं' कह कर उसे सीमा-रेखाओं में बांधने का यत्न नहीं किया है। उसने ऐसे स्थलों पर जान बूझ कर 'आकृतिविशेष' शब्द का प्रयोग किया है। ताकि प्रत्येक सहृदय सौन्दर्य-पारखी को अपनी कल्पना व संस्कारों के अनुकूल आकृति की भावना में 'रूपरेखा' की कोई कठिनाई न हो। कालिदास सौन्दर्य को चिरन्तन एवं सार्वभौम मानता है। इसी लिए वह कहता है. सुन्दर रूप वह है जो कि हर हालत में सुन्दर

१. शाकु० ३।६ (प०)।

ही दिखाई दें[1]। उसे चाहे जिस किसी कोण (angle) से, जिस किसी अंश पर देखिए सुन्दर ही दिखाई देगा[2]। महाकवि माघ के ही समान कालिदास का भी विचार है कि सच्चे सौन्दर्य को जब भी, जितनी बार भी देखा जाय वह पहले की अपेक्षा और भी अधिक सुन्दर दिखाई देने लगता है[3]। सौन्दर्य स्वयं में एक जादू होता है, सम्मोहनास्त्र होता है, उस पर जिसकी भी दृष्टि पड़ती है वह उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता[4]। पर ऐसा सौन्दर्य सर्वसाधारण मिट्टी के पुतलों मे नही पाया जा सकता[5]। वास्तव में वह एक जगमगाती हुई ज्योति होती है जो कि उस सभी को अपनी अलौकिक आभा से जगमगा डालती है, सौन्दर्याधायक बना डालती है जो कुछ कि उसके सम्पर्क में आता है[6]। इसी का भाष्य करते हुए कहा गया है कि 'कमल की शोभा केवल भौरों से ही होती हो ऐसी बात नहीं वरन् शैवाल से भी उसका सौन्दर्य उतना ही निखर उठता है[7]। अतः यह समझना भूल है कि सौन्दर्य किसी विशेष प्रकार के अलकरण का मुहताज होता है।

सौन्दर्य और अलंकरण

पर साथ ही अलंकार-प्रसाधनों के महत्त्व का सर्वथा निषेध भी कालिदास नही करता है। अनुरूप वस्तु के संसर्ग से सौन्दर्य में कुछ अधिक निखार आ ही जाता है। लोक-प्रसिद्ध मणिकाञ्चनसंयोग' की बात को कालिदास ने भी माना ही है[8]। रघुवंश में ही एक अन्य प्रसंग में वे कहते है कि मोती में स्वयं दमक तो होती ही है और यदि उसे चमचमाते हुए इन्द्रनील मणि के साथ गूथ दिया तो फिर उसकी आभा का कहना ही क्या[9]। कहने का अभिप्राय यह है

१. सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्॥ शाकु ६।६ (पू०)।
२. सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य॥ माल० २।२ (प०)।
३. अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तर पुष्यति॥ माल० २।६ (पू०)।
४. आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति॥ माल० १।३ (प०)।
५. न प्रभातरल ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ शाकु० १।२४।
६. किमिव हि मधुराणां मण्डन नाकृतीनाम्॥ शाकु० १।१९।
७. न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते॥ कुमार० ५।९।
८. रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन॥ रघु० ६।७९।
९. प्रागेवमुक्ता नयनाभिरामा प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम्॥ रघु० १६।६९।

कि दिव्य सौन्दर्य प्रसाधनों का दास नहीं होता पर फिर भी उचित सौन्दर्य-प्रसाधनों का स्थान तो है ही।

बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य का सम्बन्ध

कालिदास बाह्य-सौन्दर्य और आन्तरिक-सौन्दर्य का अविनाभाव सम्बन्ध मानते है। वे मानते हैं कि यदि आकृति सुन्दर है तो उसमें रहने वाला मन भी सुन्दर ही होना चाहिए। सौन्दर्य और पाप का मेल नही हो सकता[1]। सुन्दर आकृति से असुन्दर कार्यों की उत्पत्ति नही हो सकती[2]। सामान्य जीवन मे हमें इसके अपवाद् भले ही मिल जॉय पर साधारणतया कालिदास के इस कथन पर सन्देह नही किया जा सकता। दुष्ट लोगों की शकल-सूरत से दुष्टता या नीचता टपकती है। कालिदास किसी विशेष प्रकार के नखशिख वा रूप-रग को सौन्दर्य का नाम नहीं देते। सौन्दर्य तो एक 'प्रभातरलज्योति' है जो कि सौन्दर्य के विषय पर छाई रहती है। ऐसे सौन्दर्य में गुणविरोध की सम्भावना कम ही रहती है। **'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति'** की लोकोक्ति भी तो हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आ ही रही है। लोकोक्ति का स्थान लेने वाली बात झूठी कम ही होती है, ऐसा अनुभवसिद्ध है।

विषयीगत सौन्दर्य

हम देखते हैं कि कालिदास ने विषयगत सौन्दर्य पर इतना कुछ कहा अवश्य है पर वे उसे केवल विषयगत ही नहीं मानते। उन्होंने उसे विषयीगत भी माना है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो ज्यों-ज्यों कालिदास की भावनानुभूति परिपक्वता की ओर बढ़ी है उसमें यह परिवर्तन साफ दिखाई देने लगता है। मालविकाग्निमित्र में उनकी दृष्टि केवल विषयगत सौन्दर्य को ही महत्त्व देती रही है (ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है) किन्तु कुमारसम्भव और शाकुन्तल में जाकर इसमें विषय के साथ-साथ विषयी का भी महत्त्व बढ़ चला है। तभी तो कुमारसम्भव में सौदर्न्य की व्याख्या करते हुए वे कह उठते हैं—'सौन्दर्य वह है जो चाहने वाले की आँख में समा जाय, उस पर जादू कर सके[3]।

---

१. यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ॥ कुमार ५।३६।

२. न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति ॥ शाकु० ४।१ (पू०)

३. प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ कुमार० ५।१।

स्वयं में कोई विषय (object) चाहे जितना भी सुन्दर क्यों न हो पर यदि प्रिय की कल्पना पर न छा सके तो उसका क्या महत्त्व। प्रिय की आँख वा दिल ही तो उसके सौन्दर्य का सही मानदण्ड हो सकता है।

प्रसाधनगत सौंन्दर्य का भी मूल्याँकन केवल इस बात से हो सकता है कि वह विषयी को प्रभावित कर सकता है या नहीं। यदि उसमें विषयी के हृदय को आकृष्ट करने की शक्ति नहीं तो दूसरे के लिए सौन्दर्य का आकार होने पर भी वह सब उस विषयी की दृष्टि से व्यर्थ ही है[1]। अतः सौन्दर्य का विषयगत आधार होते हुए भी उसका असली महत्त्व विषयी की दृष्टि से ही आँका जायेगा और कहना पड़ेगा—'**तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्।**' पर हम देखते है कालिदास ने दोनों ही स्थितियों में सौन्दर्य का पृथक्-पृथक् महत्त्व स्वीकार करके भी व्यवहार में समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाया है। उनकी नायिकाओं में अलौकिक मादक सौन्दर्य है[2] और उनके नायकों में सौन्दर्य को पहचानने वाली पैनी दृष्टि और सौन्दर्य भावना से ओतप्रोत सुसंस्कृत हृदय। न कहीं शारीरिक कुरूपता है और न कहीं मानसिक कुरूपता। यों तो अपने आपको सुन्दर समझते ही हैं[3]। अतः यदि कोई रूप किसी रूप को भा जाय तो उसकी दृष्टि में उसे भी सुन्दर कहना ही पड़ेगा, और सौन्दर्य की सामान्य परिभाषा के रूप में कहना होगा—

'समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती इते तित तेती रुचि होय॥'

मधुमास में अनन्त प्रकार के रंग-बिरंगे मधुभरित पुष्प होते है पर भौरों का मन यदि आम की बौर पर ही अधिक रीझता है तो उसके लिए वही सुन्दरतम है[4]।

---

१. प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥ कुमार० ५।१।
२. शाकु० १।१७।
३. सर्वः खलु कान्तमात्मीयं पश्यति॥ शाकु० २।७ (प०)
४. अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥ कुमार० १।२७।

जिस प्रकार जीवन में शारीरिक अथवा बाह्य-सौन्दर्य का स्थान है उसी प्रकार आन्तरिक-सौन्दर्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया गया है। मानव के शील, सौजन्य, वीरता आदि गुण ही उसके आन्तरिक सौन्दर्य के अभिव्यञ्जक होते है। जिस प्रकार बाह्य सौन्दर्य सबके लिए नेत्ररञ्जक होता है वैसे ही आन्तरिक सौन्दर्य अर्थात् गुणों का भी सर्वत्र आदर होता है[1]। वरन् यों कहना चाहिए कि इसका क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत होता है। क्योंकि शारीरिक सौन्दर्य तो देश काल की सीमा से सीमित भी होता है किन्तु गुण सर्वत्र समान रूप से पूजनीय होते है। गुणों का ऐसा प्रभाव होता है कि गुणवान् व्यक्ति मे यदि कभी कोई दोष भी आ जाय तो वह ऐसे ही उपेक्षणीय हो जाता है जैसे कि चाँद में कलंक[2]। अच्छे गुणों का महत्त्व इसी मे है कि गुणज्ञ जन उसे मान्यता दें। इससे गुणवान् व्यक्ति को भी विशेष सन्तोष प्राप्त होता[3] है।

आन्तरिक सौन्दर्य का रूप

कालिदास की अनेक सूक्तियाँ ऐसी है जिनमें कि जीवन के विविध विषयों पर उनकी व्यक्तिगत एव सामाजिक धारणाओं की अभिव्यक्ति पाई जाती है। व्यक्तिगत रूप से कालिदास मानते है कि पुरातन सभी कुछ अच्छा ही नहीं होता और नवीन सब कुछ बुरा ही नहीं होता अर्थात् पुराना भी खराब हो सकता है और नया भी अच्छा हो सकता है। इसलिए किसी चीज की अच्छाई या बुराई के लिए समझदार व्यक्तियों को चाहिए कि वे स्वय उसकी परीक्षा करके ही उसकी अच्छाई या बुराई के विषय में अपना मत निर्धारित करें। मूर्खो की भांति किसी के कह देने मात्र से ही नहीं[4]। समय की दृष्टि से ये विचार क्रान्तिकारी थे।

कालिदास की व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यञ्जक सूक्तियाँ : नया-पुराना

---

१. पद हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ रघु० ३।६२।

२. एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो. किरणेष्विवाङ्कः ।।कुमार० १।३।

३. प्राय: प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ॥ कुमार० ६।२०।।

४. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ माल० १।२।

स्वय विद्वान् होने के नाते कालिदास विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। पर ऐसे लोगों के लिए उनके मनमें कोई स्थान नहीं था

विद्या-व्यवसायी

जो कि पेट पालने के लिए अपनी विद्या को बेचा करते हैं। ऐसे लोगों को वे ज्ञान का व्यापार करने वाले बनिये समझते थे। उन्होंने यह बात राजदरवार में एक राज्याश्रित राजपण्डित के मुख से महारानी से कहलवाई है[१]। इससे पता चलता है कि कालिदास कितने स्वाभिमानी कवि रहे होंगे। वे राज्याश्रित रहे अवश्य पर उन्होंने अपने को राजा के वेतन पर बेचा कभी नहीं। इसे वे शायद अपना ही नहीं अपने ज्ञान और प्रतिभा का भी अपमान समझते थे। उनका दृष्टिकोण था कि यदि कोई गुणज्ञ किसी विद्वान् को सम्मानित करता है तो ठीक है, इससे उसकी शोभा बढ़ती है; पर इसके लिए वह गुणवान् क्यों आत्म सम्मान को बेचे। जो बेचते है वे कालिदास की दृष्टि में किसी प्रकार भी सम्माननीय नही हो सकते।

कालिदास ने सन्त और विद्वान् की मानसिक प्रवृत्ति में एक बहुत बड़ा अन्तर देखा था। वह यह कि सन्त पुरुष दूसरे सन्त के

सन्त और विद्वान् का अन्तर

बढ़ते हुए तप, तेज वा महत्त्व को देख कर प्रसन्न होता है पर विद्वान् अपने विषय के दूसरे विद्वान् के बढ़ते हुए आदर को सहन नही कर सकता[२]। शायद राजदरवार के पण्डित वर्ग की मनोवृत्ति ने ही उन्हें यह दृष्टि प्रदान की हो। इसका सम्बन्ध उनकी व्यक्तिगत अनुभूति से ही अधिक प्रतीत होता है।

कालिदास मानते है कि स्वयं पढ़ लेने तथा उस ज्ञान को दूसरे में संक्रमित करने में बड़ा अन्तर है[३]। शिक्षण एक कला है,

ज्ञान और शिक्षण

उसके लिए केवल शास्त्र में उच्च शिक्षा प्राप्त होना ही प्रर्याप्त नही। पढ़ लेना और बात है तथा दूसरों को पढ़ाना और बात। वैसे गुरु के प्रति कालिदास की बहुत श्रद्धा प्रतीत होती है। वे मानते हैं कि शिष्य पर गुरु का पूरा अधिकार है[४]। शिष्य

१. यस्यागम. केवल जीविकायै त ज्ञानपण्य वणिजं वदन्ति ॥ माल० १।१७।

२. प्रायः समानविद्याः परस्पर यशः पुरोभागाः ॥ वही, १।२०।

३. सुशिक्षितोऽपि सर्वं उपदेशदर्शने न निष्णातो भवति ॥ माल० १।१६ (पू०)।

४. प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य ॥ माल० १।१६ (प०)।

को गुरुजनों (अथवा पूज्यजनों) की आज्ञा का बिना किसी प्रकार, के संशय वा तर्क के ही पालन कर लेना चाहिए[1]। यह उस युग की सामाजिक मान्यता भी होनी चाहिए। इसी प्रकार कालिदास सेवक वर्ग पर भी स्वामी के पूर्ण अधिकार को मान्यता देते हैं[2]। पर उन्होंने स्वामिवर्ग के लोगों की मनोवृत्ति का भी अच्छा परिचय दिया है। वे कहते है ये लोग बड़े व्यावहारिक होते हैं। इन्हें सेवक वर्ग से जब जिस प्रकार का काम निकालना होता है तब उसे उसी प्रकार का आदर दिया करते हैं[3]। कालिदास इस वर्ग के लोगों को निकट से जानते थे और उनके रूपों एव उनकी मनोवृत्ति को भी भली भाँति जानते थे। उनकी अधिकतर उक्तियों का सम्बन्ध भी उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों से है। इनके सहारे ही उनके जीवन की एक सुन्दर रूपरेखा तैयार हो सकती है।

समकालीन सामाजिक स्थिति का निरूपण

(i) स्त्री की स्थिति विषयक मनोवृत्ति

स्त्रियों के विषय में भी कालिदास अपनी समकालीन उसी सामाजिक मान्यता को महत्त्व देते हुए से प्रतीत होते है जिसमें कि पति को अपनी पत्नी पर सर्वतोमुखी प्रभुता प्रदान की गई है[4]। '**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति**' की भावना शायद उस समय लोक मानस में भली भाँति घर कर चुकी थी। वह युग और समय की माँग थी। अत. स्त्री के प्रति पूर्ण सम्मान एवं आदर का भाव रखते हुए भी[5] कालिदास ने गृहस्थ की सुखशान्ति के लिए स्मृति सम्मत सिद्धान्त का ही अनुमोदन किया।

अनेक सूक्तियों में कालिदास ने अपने युग की अथवा यों कहिए कि भारतीय समाज की अनेक सामाजिक समस्याओं पर अपनी तथा तत्कालीन समाज की मनोवृति को भी अभिव्यति दी है। कन्या की समस्या भारतीय समाज में बहुत प्राचीन काल से

---

१. आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया ॥ रघु० १४।४६।

२. प्रभवति प्रभुरात्मानः परिजनस्य ॥ माल० १।१६ (प०)

३. प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणा प्रायश्चल गौरवमाश्रितेषु ॥ कुमार० ३।१।

४. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ शा० ५।२६।

५. गृहिणी सचिवः सखी० इत्यादि ॥ रघु० ८।६७।

ही एक महत्वपूर्ण स्थान रखती चली आ रही है। इसके विषय में अभिव्यक्त कालिदास अथवा तत्कालीन समाज द्वारा अभिव्यक्त कुछ विचारों को देख कर हम सहज ही अनुमान लगा सकेंगे कि यह समस्या कितनी पुरानी है और आज भी भारतीय समाज में उसी रूप में बनी हुई है जिस रूप में कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व कालिदास ने इसे देखा एवं अनुभव किया था।

(ii) कन्या के माता-पिता की मानसिक स्थिति

वर्णाश्रम-प्रधान भारतीय समाज व्यवस्था में कन्या का विवाह एक अवश्यम्भावी कार्य था। कुछ अपवादों को छोड़ कर यौवन को प्राप्त हो जाने के बाद कन्या का विवाह पिता के गृहस्थ जीवन का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व था। इसलिए उसे पराया धन समझा जाता था। दूसरे की धरोहर समझ कर ही पिता उसका पोषण एवं संरक्षण करता था और उसके विवाह से उसका बोझ ऐसे हलका हो जाता जैसा कि किसी की धरोहर लौटा देने के उपरान्त किसी उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति का होता है[1]। कालिदास ने इस उपमा के द्वारा कन्या के पिता की मानसिक स्थिति को निकटतमरूप में व्यक्त करने की चेष्टा की है।

केवल उसका विवाह कर देने मात्र से ही पिता की परेशानियों का अन्त नहीं हो जाता था इसलिए विवाह की अवश्यम्भाविता के साथ-साथ पिता की यह भी समस्या रहती थी कि वह कन्या के लिए उसी के अनुरूप वर की तलाश करे। उसकी परेशानियों एव चिन्ताओ का अन्त तो तभी हो सकता था जब कि वह योग्य गुणवान् वर के हाथों अपनी पुत्री को सौप सके[2]। उचित घर-वर के चुनाव में उसकी गृहणी ही उसकी सबसे बड़ी सहायक समझी जाती थी। उसी की सलाह से कन्यादान के कार्य को अन्तिम रूप दिया जा सकता था[3]।

---

१. अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतु:।
जातो ममायं विशद प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥ शा० ४।२२।

२. अशोच्या हि पितु: कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ॥ कुमार० ६।७९।

३. प्रायेण गृहिणीनेत्रा कन्यार्थेषु कुटुम्बिन: ॥ कुमार० ६।८५।

समाज व्यवस्था एवं कन्या की शारीरिक वा मानसिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यौवन सम्पन्ना का विवाह पिता का परम उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य था। उसे परायाधन या पराई धरोहर समझा जाता था यह तो ठीक है पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि पुत्री के प्रति उनके स्नेह वा वात्सल्य में किसी प्रकार की कमी होती थी अथवा पुत्री को घर से भेजते समय उन्हें कोई हार्दिक प्रसन्नता होती थी। सच बात तो यह थी कि समाज और सृष्टि के नियमों से विवश होकर जब माता-पिता अपनी कन्या को ससुराल के लिए विदा करते थे तो उससे बिछुड़ते हुए उन्हें इतना असीम हार्दिक दुःख होता था कि कालिदास ने शब्दों द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन न करके उसकी गहनता को केवल मात्र अनुभूतिगम्य ही कर डाला है[1]। कन्या की स्थिति भी माता-पिता से बहुत भिन्न नहीं होती थी, यद्यपि प्रिय-संगम की भावना उसकी तीव्रता में कुछ कमी अवश्य ला देती है[2]।

वस्तुस्थिति तो यह थी, और आज भी है, कि अत्यधिक वात्सल्य और ममता के बावजूद भी माता-पिता अविवाहित तो क्या विवाहिता कन्या को भी अधिक देर तक अपने पास नहीं रख सकते थे। समाज की चिन्तन धारा ही ऐसी थी। लोग उसके बारे में तरह तरह की आशङ्काएँ करने लगते थे। इसलिए समस्त स्नेह और ममता के बावजूद भी वे यही चाहते थे कि विवाहित कन्या विवाह के बाद अपने पति के ही पास रहे। यहाँ तक कि यदि उसे पति का प्रेम प्राप्त न भी हो तब भी उसका अपने पति के घर रहना ही दोनों के लिए श्रेयस्कर समझा जाता था[3]।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवाहित कन्या के माता-पिता की यही कामना रहती है कि उनकी पुत्री अपने पति के साथ रहे। वे अधिक देर तक उसे पति से वियुक्त दशा में देखना बरदास्त नही कर सकते। उनके लिए पुत्री का भर्तृवियोगजन्य दुःख असह्य हो जाता

---

१. पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ शाकु० ४।६।

२. शाकु० अंक ४।११ (प०)।

३. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रया जनोऽन्यथाभर्तृमती विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदास्वबन्धुभिः ॥ शाकु० ५।१७।

है[१]। इसके विपरीत जब वे देखते हैं कि कन्या को उसके पति की ओर से समुचित स्नेह प्राप्त हो रहा है तो उनके मन का भार हल्का सा हो जाता है और उन्हें मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है[२]।

गृहस्थ समाज का मूलाधार है। सन्तति के बिना समाज की गाड़ी आगे नहीं चल सकती। अतः कालिदास ने इन दोनों के ही विषय में अपने भावों को मधुर अभिव्यक्ति दी है। सुयोग्य संतान को मानव इस लोक तथा परलोक दोनों के लिए कल्याणकारी माना गया है[३]। सन्तान का पालन पोषण कोई सरल कार्य नहीं, इसके लिए माता पिता को बहुत त्याग करना पड़ता है तथा अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। पर इसके बदले में उन्हे अपनी सन्तति से जिस आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है वह भी कम नही। उनकी प्यारभरी किलकारी और धूल भरी देह ही उनके सारे कष्टों को भुलाकर उन्हें कृतकृत्य कर डालती है[४]। गृहस्थ के लिए संतानहीन रहना बड़ा ही दुःखदायी होता है[५]।

(iii) गृहस्थ एव सन्तति विषयक मनोभाव

भारतीय समाज व्यवस्था के बारे में भी कहीं-कहीं पर कालिदास के वड़े ठोस एवं सुलझे हुए विचार देखने को मिलते हैं। वे स्वयं भी भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था के बहुत बड़े पोषक दिखाई देते हैं। उनकी रचनाओं की अधार शिला ही वर्णाश्रम व्यवस्था वाला समाज है। वे मानते है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत जिस जाति वा वर्ग के लोगों को समाज के व्यवस्थापकों की ओर से जो कर्तव्य सौपा गया है उन्हें उसे ही करते रहना चाहिए। इसी में समाज का एवं उनका कल्याण है। उसे

समाजव्यवस्था सम्बन्धी मनोभाव

---

१. न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदु:खिता दुहितर चिरं द्रष्टुं पारयतः ॥ शाकु० ६।१० (पू०)।

२. भर्तृवल्लभतया हि मानसी मातुरस्यति शुच वधूजन: ॥कुमार० ८।१२।

३. सततिशुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ रघु० १।६९।

४. अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ शाकु० ७।१७।

५. कष्टं खल्वनपत्यता ॥ शाकु० ६।२३ (पू०)।

निन्दनीय समझ कर उसे छोड़ और कोई काम करना ठीक नहीं[१]। कार्य स्वयं में न कोई श्रेष्ठ होता है और न नीच। समाज की समुचित स्थिति के लिए सभी की समान रूप से आवश्यकता है। उसे ऊच-नीच समझना ठीक नही। ऐसा कालिदास का स्वय विचार था। यही शायद गीता का भी सन्देश था[२] जिसे कि कालिदास ने फिर से सामने रखने का प्रयत्न किया था।

वर्णव्यवस्था के अनुसार-क्षत्रिय का मुख्य कर्म है शस्त्रजीवी होकर दूसरों की संकट से रक्षा करना[३]। ऐसा करते हुए यदि उसे अपना जीवन भी दे देना पड़े तो उसे इसके लिए तैयार रहना चाहिए[४]। क्षत्रिय जाति ही राजसिंहासन की अधिकारिणी समझी जाती थी, राजन्य शब्द से उसी का बोध होता था। पर उसका कर्तव्य बहुत बड़ा होता था, प्रजा को अपनी ही सन्तान के समान पालना होता था[५], उसका प्रत्येक कार्य प्रजा के कल्याण के लिए ही होना चाहिए[६] तभी उसके लिए 'राजा' पद सार्थक माना जा सकता था[७] वह प्रजा से जो कुछ लेता था वह केवल कई गुना करके प्रजा की भलाई में ही व्यय किया जाता था[८]।

शासनतन्त्र विषयक भावना

कालिदास राजतन्त्रीय शासन व्यवस्था के हामी होते हुए भी निरंकुश राजतन्त्र के पक्षपाती कभी नहीं रहे। उन्होंने उसे राज्यतन्त्र कहने की अपेक्षा 'लोकतन्त्र' कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है। और माना है कि लोकतन्त्र की बागडोर हाथ में लेने के बाद शासनाध्यक्ष को फिर सुख-ऐश्वर्य एवं भोग-विलास के लिए कोई अवकाश ही नही रहता। उसे निरन्तर प्रजा

---

१. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।। शाकु० ६।१।
२. सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।। गीता० १८।४८।
३. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।। रघु० २।५३।
४. सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।। रघु० २।५५।
५. प्रजा प्रजाः स्वा इव पालयित्वा ।। शाकु० ५।५।
६. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवाः ।। शाकु० ७।३५।
७. राजा प्रकृति-रञ्जनात् ।। रघु० ४।१२।
८. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।। रघु० १।१८।

के दुख-सुख को देखने के लिये सतर्क ही रहना पड़ता है[१]। उसे सदा ही अवाञ्छनीय तत्वों का विनाश करने के लिए तत्पर रहना पडता है। तभी उसका शासक होना सार्थक कहा जा सकता है। सुयोग्य शासक की शासन व्यवस्था ऐसी ही होती है[२]। कालिदास मानते हैं कि मनु ने राजा के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन कराने का जो कार्य नियत किया है वह ठीक है[३]। कर्तव्य के प्रति सचेष्ट शासक के लिए राज्य फूलों की सेज नहीं, वरन् वह कष्टों का स्त्रोत भी है[४]।

दार्शनिक व धार्मिक विचारों की अभिव्यञ्जक सूक्तियाँ

(i) जन्म-मृत्यु

कालिदास की सूक्तियों में उनके सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों के समान ही उनके आध्यात्मिक वा दार्शनिक विचारों एवं धार्मिक विचारों आदि की भी सुन्दर छटा देखने को मिलती है। उन्होंने इस पञ्चभौतिक शरीर को नश्वर मानकर इसके प्रति विशेष मोह वा आस्था को व्यर्थ माना है[५]। क्योंकि यह शरीर तो असार है, क्षण भङ्गुर है[६]। साथ ही इसके विनाश का हमें शोक भी नहीं करना चाहिए। सृष्टि का अटल नियम ही है कि जिसका जन्म हुआ है उसका विनाश भी अवश्य ही होगा[७]। इस ध्रुव सिद्धान्त में कभी कोई परिवर्तन नही हो सकता[८]। शरीर धारण करने के बाद मरण तो एक निश्चित तथ्य हो जाता है। वस्तुतः विकृति तो जन्म धारण करना है। इसलिए आत्मा उस

१. अविश्रमोऽय लोकतन्त्राधिकार. ।। शाकु० ५।३ (प०) ।

२. सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथ तमिस्रा ।। रघु० ५।१३ ।

३. नृपस्यवर्णाश्रमपालन यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।। रघु० १४।६७ ।

४. नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय, राज्य स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।। शाकु० ५।६ ।

५. एकान्त विध्वसिषु मद्विधाना पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ।। रघु० २।५७ ।

६. धिगिमां देहभृतामसारताम् ।। रघु० ८।५१ ।

७. विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।। रघु० ८।८३ ।

८. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।। गीता ।

अनन्त निर्वाण पथ से लौट कर जितनी देर देह धारण कर लेती है हमें उतने से ही सन्तोष कर लेना चाहिए[१]। मृत्यु को विनाशक समझना अज्ञान है, मोह है। वस्तुतः मृत्यु ही तो आत्मा को इस शारीरिक बन्धन से छुड़ाती है[२]। फिर शरीर और आत्मा जब मूलतः दो भिन्न तत्व है तो उनमें विछोह तो होगा ही[३]। मृत्यु के बाद मनुष्य के कर्म ही उसके स्वर्गीय जीवन के नियामक होते हैं। जो जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार उसके मार्ग का निर्धारण होता है इसलिए इस जीवन मे जिन दो प्राणियों का परस्पर मिलन है, उनका स्वर्ग में भी मिलन ही होगा ऐसा नहीं माना जा सकता[४]। कालिदास मानते हैं कि हमारे कर्मफल व संस्कार जन्मान्तर में भी बने रहते है[५]।

मृत्यु का एक क्षण तथा विधान निश्चित होता है। इसलिए आयु के समाप्त हो जाने पर फिर उसे बचाने का कोई भी उपाय कारगर नही हो सकता[६]।

कर्मफल के साथ-साथ कालिदास ने होनी या भवितव्यता को भी बड़ा प्रबल माना है और उसके सामने सिर झुकाया है। वे कहते है होनहार बडी बलवती होती है[७]। वह कहीं पर भी अपना रूप दिखा सकती है। कोई देश और कोई काल उसकी पहुँच से बाहर नहीं[८]। उन्होंने यह भी माना है कि यद्यपि जीवन में सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त होता है वह मानव के भाग्य के अनुसार ही मिलता है पर साथ ही यह भी बता दिया है कि सुख-दुःख इस जीवन के स्थायी तत्त्व

(ii) भवितव्यता

---

१. मरणं प्रकृतिः शरीरिणा विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैं २।२७।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ।। रघु० ८।८७।

२. अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनमाशं हृदि शल्यर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ।। रघु० ८।८८।

३. स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।। रघु० ८।८९।

४. परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ।। रघु० ८।८५।

५. प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ।। रघु० ८।४०।

६. (i) फलानुमेया प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ।। रघु० १।२०।
(ii) मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्० इत्यादि।

७. भवितव्यता खलु बलवती ।। शाकु० ६।८।

८. भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।। शाकु० १।१६।

नहीं। वे भाग्य के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख सामान्यतया यही भाग्य चक्र है[1]। इस भाग्य को उन्होंने ईश्वरेच्छा भी कहा है। जब भाग्य अनुकूल होता है तो हानिकारक बातें वा चीजे भी लाभकारक हो जाती है और जब वह प्रतिकूल होता है तो अनुकूल बाते भी प्रतिकूल हो जाती है[2]। यदि भाग्य में बंधा हो तो मानव जीवन में उन चीजों को भी पा लेता है जिसकी कि वह कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था[3]।

किन्तु जब किस्मत खराब होती है तो मुसीबतों का ताँता बंध जाता है। मुसीबत से मुसीबत पैदा होती चली जाती है[4]। एक मुसीबत से छूटते नहीं कि दूसरी आ पहुँचती है[5]। बुरे दिन आने पर खुद ही मनुष्य का अनादर होने लगता है[6]। और सभी उसको ठुकराने और दुत्कारने लगते है[7]। और वह स्थिति मानव के लिए ऐसी ही होती है जैसे कि फोड़े के ऊपर एक और फोड़ा हो गया हो[8]।

विपत्तियाँ सदा अवसर की ताक में लगी रहती हैं[9]। इसलिए जब मनुष्य पर एक विपत्ति आई हुई होती है तो अच्छा अवसर देख कर दूसरी विपत्ति भी उसी समय उसे आ दबोचती है[10]। विपत्तियाँ सुख की विघातक तो होती ही हैं। इसलिए कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मानव किसी चिर अभिलषित सुख का क्षण भर भी भोग

---

१. कस्यात्यन्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ उ० मेघ० ५२।

२. विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया ॥ रघु० ८।४६।

३. भाग्यायत्तमत. पर न खलु तद्वाच्य बधूबन्धुभिः ॥ शाकु० ४।१७।

४. परावृत्तभागधेयानां दु ख दु खानुबन्धि ॥ विक्रम० ४।६ (प०)।

५. बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो विडालिकाया आलोके पतितः।
माल० ४।१७ (प०)।

६. परिभवास्पदं दशाविपर्ययः ॥ विक्रम० ४।६० (प०)।

७. अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः ॥ माल० ५।१२ (पू०)।

८. गण्डस्योपरि पिटकः संवृत्त। शाकु० २।१ (पू०)।

९. रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः ॥ शाकु० ६।८ (पू०)।

१०. अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः ॥ वि० ५।१६ (प०)।

नहीं कर पाता कि विपत्ति ऊपर से आ टूटती है और उस आनन्द को क्षण भर में ही विषाद में बदल डालती है[१]। किसके भाग्य में कब क्या लिखा हुआ है यह कोई नहीं जान सका और न जान ही सकेगा। पर इतना तो कम से कम कहा ही जा सकेगा की भाग्य सदा एक रूप नहीं रहेगा सौभाग्य और दौर्भाग्य का चक्र घूमता ही रहेगा। इसी आशा पर शायद सारा संसार चलता चला जा रहा है[२]।

(iii) आशा

आशा ही इस जीवन का संबल है। इसी के सहारे मानव जीवन के महान् से महान् संकट मे भी आपने आप को ढाढस बंधाता है[३] और बड़ी से बड़ी विपत्ति को भावी सुख की आशा में सह लेता है[४]। मानव जीवन में यदि आशा का मधुर बन्धन न हो तो विपत्ति के क्रूर आघात से उसका हृदय टूट कर चूर-चूर हो जाय। पर आशा की शक्ति का चमत्कार! कि वह फूल जैसे कोमल हृदयों से भी वज्र से कठोर आघात को यों ही सहन करा देती है[५]।

(iv) धार्मिक तथा लौकिक-विश्वास

इसके अतिरिक्त कालिदास की सूक्तियों में हमें उनके तथा उनके युग के अनेक प्रकार के धार्मिक तथा लौकिक विश्वासों की बहुरंगी झाँकी भी देखने को मिलती है। उनके पूव युग से ही चले आ रहे कुछ ऐसे विश्वास है जो कि भारतीय जन जीवन के साथ घुलमिल गये हैं। शगुन-अशगुन विचार बहुत पुराना है। कालिदास ने भी कार्य-सिद्धि के बारे में कुछ ऐसे ही विश्वासो का उल्लेख किया है। वे कहते है कि जो काम सिद्ध होने वाला होता है उसके शुभ लक्षण पहले से ही दिखाई देने लगते है[६]।

---

१. व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्टया वृक्षस्य वैद्युत रिवाग्निरूपस्थितोऽयम् ।। विक्रम० ४।१६।

२. कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना, चक्रारपक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः ।। स्वप्न०। १।४।

३. शक्य खलु आशाबन्धनेनात्मान धारयितुम् ।। विक्रम० ३।७ (प०)।

४. गुर्वपि विरहदु.खमाशाबन्धः साहयति ।। शाकु० ४।१६।

५ आशाबन्ध. कुसुमसदृश प्रायशो ह्यङ्गनानाम्, सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ पूर्व मेघ० ६।

६. प्रसादचिह्नानि पुरः फलानि ।। रघु० २।२२।

तत्सम्बन्धी कार्य में विलम्ब का न होना या विघ्नों का न आना भी इस बात का सूचक होता है कि कार्य अवश्य ही सिद्ध होगा[1]। किन्तु पूज्य जनों के प्रति उचित सम्मान प्रकट न करने से कार्य-सिद्धि मे विघ्न भी आ जाते हैं[2]। इसलिए मंगल चाहने वाले व्यक्ति को इस विषय में सावधान रहना चाहिए कि उसके किसी व्यवहार से पूज्यजनों का अपमान न हो क्योंकि पूज्यजनों का शुभ आशीर्वाद ही विघ्नों का विनाशक और सिद्धि का दायक हुआ करता है[3]।

कालिदास का विश्वास है कि पुण्य कर्मों में बड़ी शक्ति होती है। पुण्यवानों की अभिलाषा कल्पवृक्ष के समान सद्यः फलदायनी होती है[4]।

(v) ईश्वर की सत्ता और स्वरूप

ईश्वर के बारे में उन्होंने अनेकत्र अपने विचार व्यक्त किए है। जिसका अभिप्राय यही है कि वह सर्वज्ञ है, सर्वस्वरूप है और सर्वशक्ति समन्वित है। उसका कोई निश्चित आकार, प्रकार 'इदमित्थम्' कह कर निर्धारित नहीं किया जा सकता[5]। वह विश्वरूप है और इस सृष्टि का प्रत्येक रूप उसका अपना रूप है। फिर भी गीता दर्शन के साथ एकमत्य होकर वे मानते है कि जब धर्म पर कोई संकट आता है तो उसकी रक्षा के लिए वही विश्वरूप ब्रह्म इस संसार विशिष्ट आकार-प्रकार धारण करता है जिसे कि हम उसका अवतार कहते हैं[6]। कालिदास भक्त और श्रद्धालु तो थे ही इसलिए वे मानने है कि भगवान् के श्रद्धालु भक्त इस शरीर को छोड़ने के बाद उनके चरणों मे ही शाश्वत पद प्राप्त कर लेते हैं[7]।

---

१. अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याकार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ रघु० १०।६।

२. प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रम.॥ रघु० १।७९।

३. नहीश्वरव्याहृतय कदाचित् पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥ कुमार० ३।६३।

४. सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मिकाङ्क्षितम् ॥ रघु० ११।५०।

५. न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ कुमार० ५।७८।

६. धर्मसरक्षणार्थैव प्रवृत्तिः भुवि शार्ङ्गिणः ॥ रघु० १५।४।

७. कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ पूर्व मेघ० ५९।

स्वर्ग के विषय में कालिदास के जो विचार थे वे उनकी रचनाओं में भली भाँति व्यक्त हो जाते हैं। वे मानते हैं कि स्वर्ग भोग भूमि है और वहाँ ऐसे सुख भरे पड़े हैं जिनका कि वर्णन नही हो सकता[१]। पर साथ ही उन्होंने व्यङ्गयात्मक ढंग से स्वर्ग में विश्वास न करने वाले उन भौतिकवादियों का दृष्टिकोण भी बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत कर दिया है जो यह मानते हैं कि यह संसार ही सब कुछ है जिसमें खूब खाने पीने और आनन्द लूटने के लिए अवकाश है। स्वर्ग में क्या रखा है मछलियों की तरह आँखें फाडफाड़ कर निर्निमेष देखने के अतिरिक्त[२]।

(vi) स्वर्ग

इन सूक्तियों में अनेक लोकविश्वासों को भी अभिव्यक्ति मिली है। किसी की मृत्यु पर कुटुम्बी जनों के द्वारा अधिक आँसू बहाने से प्रेतात्मा को कष्ट होता है[३]। इस प्रचलित विश्वास को एक सूक्ति में बड़े सुन्दर ढग से उपस्थित किया गया है। हंस द्वारा नीर-क्षीर विवेक की लोकप्रसिद्धि को भी एक स्थान पर सुन्दर अभिव्यक्ति दी है[४]।

इसके अतिरिक्त अनेक सूक्तियाँ ऐसी भी हैं जो कि कालिदास के व्यावहारिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। इनमें व्यावहारिक जीवन की अनुभुतियाँ अनेक रूपों में अनुस्यूत हैं। कालिदास ने स्वयं जीवन के विविध रूपों को देखा था और अनेक प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आये थे। इन्ही कटु-मधुर अनुभूतियों को उन्होंने यथावसर अपने काव्यों में भावी पीढ़ियों के लिए संजोकर रख दिया है। हम भी जीवन में उनसे अनेक लाभ उठा सकते है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण की अभिव्यञ्जक सूक्तियाँ

---

१. अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः ॥ विक्रम० ३।१८ ।

२. किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न वा तत्राश्यते न वा पीयते ॥ वही, ३।१८ (पू०)

३ स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ रघु० ८।८६ ।

४. हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ शाकु० ६।२८ ।

ठीक है कि माँगने से मनुष्य का मान घटता है। पर जीवन में कभी ऐसे अवसर आ सकते है जब कि मनुष्य को माँगने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है। ऐसी ही स्थिति के लिए कालिदास ने बड़े अनुभव की बात कही है कि जब माँगना ही पड़े तो किसी भले, बड़े आदमी के ही सामने हाथ फैलाना चाहिए, किसी ओछे आदमी के सम्मुख नहीं। सच तो यह है कि भले आदमी से यदि याचना पूरी न हो तब भी अच्छा है और नीच से यदि पूरी भी हो जाय तो भी ठीक नहीं[1]। स्पष्ट है कि नीच व्यक्ति देकर दस जगह कहता फिरेगा, मौके बेमौके बड़ा अहसान जतायेगा और कभी इसी के कारण बेइज्जती भी कर सकता है; जब कि भले आदमी से इनमें से किसी की भी आशका नही हो सकती।

(i) याचना

व्यावहारिक दृष्टिकोण से मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए कभी जल्दबाजी न करे। किसी कला वा ज्ञान में प्रवीणता प्राप्त किये बिना उसे दूसरों के सम्मुख उपस्थित करने की उतावली का उलटा परिणाम हो सकता है। यदि प्रदर्शन अपूर्ण या अपरिपक्व हुआ तो लोग उसके बारे में अपनी सामान्य धारण बना लेंगे। एक बार की बनी धारणा को बदलना फिर बड़ा कठिन होता है। इसलिए कालिदास कहते है कि बुद्धिमत्ता इसी में है कि पूर्णता को प्राप्त किये बिना अपने ज्ञान या कला का प्रदर्शन उचित नही[2]। कारण स्पष्ट है।

(ii) उतावलापन

यों प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को बुद्धिमान समझता है और अपने मन और बुद्धि को पर्याप्त विश्वसनीय। लेकिन फिर भी हम लोकव्यवहार में देखते है मनुष्य जीवन में सैकड़ों गलतियाँ करता है अपने आप किये गये गलत निर्णयों के कारण। इसलिए कालिदास कहते है कि विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति को भी किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर निर्णय देते या करते समय दूसरों से परामर्श अवश्य

(iii) परामर्श

---

१. याञ्चामोघावरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ पूर्व मेघ० ६।

२. अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम् ॥ माल० १।१७ (प०)।

कर लेना चाहिए। क्योंकि अकेले किये गये निर्णय में त्रुटियों का रह जाना सर्वथा सम्भव है[१]।

कालिदास को बहुत समय तक राजकीय सेवा में रहना पड़ा था। उन्हें राजाओं, सामन्तों एव उच्च पदाधिकारियों की मनोवृत्ति का अच्छा ज्ञान था। इसलिए अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर वे कहते है कि जो सेवक अवसर-कुअवसर को पहचानता है अर्थात् यह जानता है कि किस प्रकार के स्वामी से कब, कौन सी कहनी चाहिए उसे अवश्य ही अपने कार्य में सफलता मिलती है[२]। इसके विपरीत स्वामी का कोपभाजन भी बनना पड़ सकता है। सफल जीवन के लिए तथा पद व सम्मान की प्राप्ति के लिए हमें इस व्यवहार-सूत्र की कितनी आवश्यकता होती है इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं।

(iv) अवसरवादिता

हमारे कार्यो की बहुत कुछ सफलता व असफलता इस बात पर निर्भर होती है कि हम कार्य के अवसर को पहचानते हैं या नहीं। यदि मौके पर यत्न किया जाय तो कार्य अवश्य सफल होता है ही अथवा थोड़े से ही यत्न से सम्पन्न हो सकता है; इसके विपरीत कोटि यत्न करने पर भी सफलता सन्दिग्ध ही रहेगी। इसलिए अंग्रजी की कहावत (Strike while the iron is hot) के समान ही कालिदास भी कहते है जब लोहे के दोनों टुकडे खूब तपे हुए हों तभी उन्हे जोड़ डालना चाहिए[३]।

इसी प्रकार समय पर प्रयुक्त की गई नीति भी फलदायक हुआ करती है[४]। नीति स्वयं में कोई शक्ति नहीं रखती। उसकी शक्ति उसके उचित प्रयोग पर निहित होती है। देश, काल, परिस्थिति को देखकर प्रयुक्त की गई वही नीति अप्रत्याशित सफलता भी दिला सकती है और इसके विपरीत असफलता ही नही दिलाती वरन

(v) उचित प्रयोग

---

१. सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ॥ माल० १।१८ (पू०)

२. कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥ कुमार० ७।९३।

३. तप्तेनतप्तमयसाघटनाय योग्यम् ॥ विक्रम० ३।१५।

४. काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ रघु० १२।६९।

विनाश भी कर सकती है। हमें नीति के प्रयोग देश, काल, में परिस्थिति का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए। यह कालिदास का ही नहीं सभी नीतिज्ञों का व्यावहारिक अनुभव है।

(vi) लोकापवाद

कालिदास का कथन है कि हमें अपने कार्य-व्यवहार में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इस विषय में दुनियाँ के लोग क्या कहेंगे। लोक से निरपेक्ष होकर मनमाने ढंग से उचित कार्य करना भी लोक व्यवहार की दृष्टि से ठीक नहीं। अपने मन से तो मनुष्य जो कुछ भी करता है उचित ही समझ कर करता है। या इसलिए करता है कि वह उसे अच्छा या उचित लगता है। पर किसी कार्य की उचितता वा अनुचितता का असली निर्णायक तो लोक ही होता है। संसार में रह कर सम्मानित जीवन बिताने के लिए संसार के लोगों को प्रसन्न वा अनुकूल रखना पड़ता है। अन्यथा वे लोग उसके विषय में तरह-तरह की बातें करने लगते है; और शनैः-शनैः उस लोकापवाद का रूप इतना प्रबल एवं भयंकर हो जाता है कि उसका प्रतीकार करना या उस वातावरण में जीना असम्भव हो जाता है। इसीलिए व्यावहारिक दृष्टि से यही अच्छा है कि हम बदनामी से डरते रहे। इसमे मनुष्य को हानि पहुँचाने की बड़ी भारी शक्ति होती है[1]। कहने वालों को कहने दो, हम सच्चे हैं तो हमारा क्या बिगाड़ लेगे की नीति सिद्धान्ततः ठीक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नही। बदनामी झूठी भी बुरी है और बुराई कर डालती है।

(vii) सम्यक् चिन्तन

संसार में हमारी हँसी न हो तथा व्यर्थ में हमारी शक्ति का अपव्यय न हो इसलिए आवश्यक है कि हम सोच समझ कर ही किसी काम में हाथ डाले[2]। इसी मे हमारी सफलता व सम्मान निहित होता है। इसके विपरीत दुनियाँ की हँसी और अपने पश्चात्ताप के सिवाय कुछ और हाथ नही लगता।

---

१. लोकापवादो बलवान् मतो मे ॥ रघु० १४।४०।

२. (i) प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिववामनः ॥ रघु० १।३,

(ii) के वा नस्युः परिभवपद निष्फलारम्भयत्नाः ॥ पूर्व० मेघ० ५८।

(ii) न पादयोन्मूलनशक्तिरहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ रघु० २।३४।

इसी में हमारा कल्याण है कि हम दुष्ट लोगों का सम्पर्क ही न करें। हमेशा उनसे दूर रहें। दुष्ट व्यक्ति तो यदि अपना सगा भी हो तो भी उसे ऐसे ही त्याग देना चाहिए जैसे कि सर्प के द्वारा डंक मार देने पर हाथ की अंगुली को काट कर फैंक दिया जाता है[1]। उसके प्रति हमारा मोह ही हमारे विनाश का कारण होता है। जीवन में सुख एवं सफलता पाने के लिए कालिदास के ये अनुभव हमारी बड़ी सहायता कर सकते है, मार्ग-प्रदर्शन कर सकते हैं।

(viii) दुर्जन-परिहार

इसके विपरीत व्यवहारनीति यह भी कहती है कि नीतिवान् मनुष्य को चाहिए कि अपना कार्य सिद्ध करने के लिए यदि दुश्मन को भी अपना बनाना पड़े तो उसे अपना बना लेना चाहिए[2]। पर उस पर विश्वास कभी भी नही करना चाहिए।

व्यावहारिकता

कालिदास जानते थे कि जीवन में सुख शान्ति, सफलता, धर्म, कर्म सभी का आधार हमारा यह शरीर ही है। स्वस्थ शरीर के बिना स्वस्थ मन नही हो सकता और स्वस्थ मन के बिना सुख शान्ति वा ऐश्वर्य भोग नहीं हो सकता। यहाँ तक कि इसके बिना त्याग-परोपकार, धर्माचरण आदि कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने कहा कि स्वास्थ्य की रक्षा हमारा सबसे पहला धर्म है और इसी से फिर और कोई धर्म हो सकेगा[3]।

(ix) स्वास्थ्य रक्षा

यों तो कालिदास की सभी सूक्तियाँ ऐसी है कि वे या तो उपनिषद् वाक्य सी प्रतीत होती है या लोकोक्ति सी। पर कुछ तो विलकुल ऐसी है जो कि लोकोक्ति का ही रूप धारण कर चुकी हैं। इनमें अनुभूति की ऐसी तीव्रता तथा अन्तस्तल तक पैठने की ऐसी शक्ति है कि एक बार सुनने के बाद फिर कभी भूलती ही नहीं। ऐसी ही कुछ सूक्तियों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका यह अभिप्राय

(x) लोकोक्त्यात्मक उक्तियाँ

---

१. त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽपि···अङ्गुलीवोरगक्षता ॥ रघु० १।२८।
२. द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टः···आर्तस्य यथौषधम् ॥ वही ।
३. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ कुमार० ५।३३।

नहीं कि पीछे जिन सूक्तियों पर हम विचार कर चुके हैं उनमें यह विशेषता नहीं है उनमें भी अधिकतर इसी कोटि की है पर क्योंकि वे विषय-विशेष में समा सकती थी इसीलिए उन्हें वहाँ तत्-तद् विषयों में अन्तर्निहित कर दिया गया है। इनमें अभिव्यञ्जित भावों के अनुसार इन्हें भी अन्यत्र सन्निहित किया जा सकता था; किन्तु इनके शुद्ध लोकोक्तिपरक रूप को ध्यान मे रख कर ऐसा किया नही गया है।

सम्यक् दर्शन के लिए हमे अवस्था विशेष मे विशेष प्रकार के प्रकाश की आवश्यकता होती है इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि मनुष्य नेत्रों के रहते हुए भी दीपक के बिना अन्धकार में किसी रूप को नही देख सकता[1]। ऐसे ही संसार में यश का उपार्जन साधारण कर्मो के बिना नहीं हो सकता[2] अथवा साँसारिक लोग किसी प्रकार के संकट को टालने के लिए वा सुख-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए ही पूजा-पाठ आदि मगल कार्य करवाया करते हैं[3]। सुख और आराम के जीवन के बीच अचानक कठिनाई में फंस जाने के लिए कहा गया है जैसे नदी के बहाव की ओर तैरने वाले को अचानक नदी की धारा के विरुद्ध तैरना पड़े[4]। अत्यधिक संतप्त होने पर धीर-गम्भीर स्वभाव के मानव के भी भावतरल हो उठने की बात का समर्थन करते हुए कहा गया है कि अत्यधिक तपाने से तो लोहा भी पिघल उठता है मानव के कोमल हृदय का तो कहना ही क्या[5]। ठीक ही है किसी बात को तभी तक टाला जा सकता है जब तक कि उसके विरुद्ध कोई प्रमाण न हो, जब चोर को चोरी के माल के साथ ही पकड़ लिया तो फिर भला वह कह भी क्या सकता है[6] स्पष्ट है कि आग के बिना धुआँ नही हो सकता। अथवा स्वामी का क्रुद्ध होना ही इस बात का साक्ष्य है कि सेवक ने कोई अपराध अवश्य किया है[7]।

---

१. दृश्य तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ माल० १।६।
२. अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेवकर्म ॥ कुमार० ३।१६।
३. विपत्प्रतीकारपरेण मंगल निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ॥ कुमार० ५।७६।
४. स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं हि तत् ॥ विक्रम० २।५।
५. अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥ रघु० ८।४३।
६. लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् ॥ विक्रम० २।१६ (प०)।
७. सेव्यो जनश्च: कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥ विक्रम० २।२०।

किसी नवीन क्षेत्र में प्रथम बार पदार्पण करने वाले व्यक्ति में कुछ सकोच और झिझक की मात्रा होती ही है। इसी को कालिदास कहते हैं सभी नये दूल्हा लज्जालु होते ही हैं[१]। जब दुःख से छुटकारा पाने के लिए कोई यत्न किया जाय पर उसका परिणाम और अधिक दुःखदायी हो जाय तो यही कहना पड़ेगा कि बेहोशी से जागना स्वयं बेहोशी से अधिक दुःखदायी हो गया[२]।

अपने हाथ से किये गये प्रत्येक कार्य के प्रति मानव का स्वाभाविक मोह हो जाता है, इसीलिए कहा जाता है कि अपने हाथों से पोषित विषवृक्ष को भी स्वय काटना दूभर होता है[३]। सूरज को दीपक दिखाने की कहावत तो लोगों में प्रचलित थी ही पर कालिदास ने छिटकी हुई चाँदनी में दीपक जलाने की बात कह कर प्रसंग को बदल कर तेज और प्रताप के स्थान पर आनन्द और सौन्दर्य को लाकर बैठा दिया है[४]। अथवा शरत्कालीन चन्द्रिका को परदे से ओट करके रोकने की चेष्टा करने की बात को अकल्पित कह कर मूर्खता करने वालो का अच्छा रूप प्रस्तुत कर दिया है[५]। व्यावहारिक दृष्टि-कोण से अथवा लोकमर्यादा के दृष्टिकोण से भी यही ठीक है कि समाज में मान्यता प्राप्त बातों में व्यर्थ की मीन-मेष न निकाली जाय[६]। कार्य में सफलता प्राप्त न होने पर चतुर व्यक्ति लोक के उपहास का पात्र वनने से बचने के लिए उसका सम्बन्ध किसी अच्छे कार्य से जोड़ देते है। जाल के बन्धन से बच निकलने वाली मछली को देख कर मछुवा कहता है कि

---

१. सर्वो नववरो लज्जातुरो भवति ॥ माल० ५।१८ (पू०)।

२. मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोध' ॥ रघु० १४।५६।

३. विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ कुमार० २।५५।

४. अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिका-पौनरुक्त्येन ॥ विक्रम० ३।७। (प०)।

५. क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ॥
शाकु० ३।२ (प०)।

६. न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम् ॥ विक्रम० ३।१३ (प०)।

जा मछली जा, मेरा पुण्य होगा[1]। इसी भाव को कुछ बदल कर यों भी कहा जाता है कि अंगूर खट्टे है।

संसार में न केवल कूटनीति से काम चलाना ठीक है और न केवल शक्ति के बल पर ही। क्योंकि केवल कूटनीति कायरता की परिचायक है और केवल शक्ति पशुता की। लोक विजय का कार्य दोनों की सम्मिलित शक्ति से ही सम्भव हो सकता है[2]। रजोगुण की प्रवृत्ति बुराइयों की ओर ले जाने वाली होती ही है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि कभी-कभी आवेशवश समझदार व्यक्ति भी उल्टे काम कर डालते हैं।[3] बड़े लोगों का कोप भी भयंकर होता है और अनुग्रह भी विचित्र। अनुग्रह तो इसी का नाम है न, कि शूली के तख्ते से उतार कर हाथी के हौदे पर बैठा दिया जाय[4]। कहाँ क्षण भर में मृत्यु प्रतीक्षा कर रही थी और कहाँ लक्ष्मी हंसने लगी। सच है गुणों की पहचान हर एक को नही होती। दिलवाला ही उन्हें पहचान पाता है। ठूठ भला क्या गुणों के महत्त्व को समझेगा[5]।

संसार में प्रत्येक वस्तु में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होता है, फूल के बाद ही फल होगा और बादलों के उमड़ने के बाद ही वर्षा[6]। अज्ञान में मनुष्य अपनी ही हानि कर लेता है। अच्छी चीज को भी फैंक देता है। अन्धा गले में पड़ी माला को साँप समझ कर उसे दूर फैंक सकता है[7]। प्रसिद्ध है कि सोने की खरे खोटे की पहचान आग में ही होती है[8]। अर्थात् सकट आने पर ही मनुष्य की वास्तविकता का पता चलता है। जिस पर किस्मत

---

१ छिन्नबन्धे मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणिति धर्मो मे भविष्यतीति ॥
विक्रम० ३।१४ (पू०)।

२ कातर्यं केवला नीति शौर्यं श्वापद चेष्टितम् ॥ रघु० १७।४७।

३. अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिता ॥ रघु० ६।७४।

४. एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः ॥
शाकु० ६।१ (प०)।

५. अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत् ॥ शाकु० ६।१३।

६. उदेतिपूर्वं कुसुम ततः फलम्, घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ॥ शाकु० ७।३०।

७. स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तांधुनोत्यहि शकया ॥ शाकु० ७।२४।

८. हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि. श्यामिकापि वा ॥ रघु० १।१०।

मुस्कराती है उसका कल्याण भला क्यों न हो। लक्ष्मी चाहने वाले को चाहे लक्ष्मी न मिले पर जिसे लक्ष्मी स्वयं चाहे उसे कौन रोक सकता है[1]। जीवन में अनेक अवसर ऐसे आते है अथवा यों कहिए कि जब भाग्य अनुकूल होता है तो बिना सोचे समझे किया हुआ काम भी अपने हित में ही हो जाता है[2]; और कभी ऐसा भी होता है कि हम अज्ञान वा प्रमाद के कारण उपस्थित अवसर को छोड़ देते है और फिर जब वह हाथ से निकल जाता है तो उसके लिए पश्चात्ताप करते है। जैसे कोई मार्ग में जल से भरी हुई नदी को तो लाँघ जाय और फिर मृगतृष्णका से प्यास बुझाने की चेष्टा करे[3]। जीवन में ऐसे अवसर भी कम नही आते जब कि हम भ्रम से किसी व्यक्ति वा क्रिया को अपने लिए हितकारी समझते है, पर होती है वह अहितकारी[4]।

दु:ख के बाद फिर सुख के दिन फिर ही आते है[5]। हर चीज के होने का समय होता है और समय से आगे पीछे कुछ नहीं हो सकता[6], बड़े लोगों की जिस पर कृपा हो जाय वह चमक ही उठता है[7], पारस्परिक आदान-प्रदान से ही दुनियाँ में काम चला करता है[8] कभी-कभी अभिशाप भी वरदान सिद्ध हो जाता है,[9] कभी-कभी स्वभाव की विपरीतता भी हो सकती है[10], प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति

---

१. लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥
शाकु० ३।२।

२. दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति. पतिता॥
शाकु० ४।४ (पू०)।

३. स्त्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य ।
जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम् ॥ शाकु० ६।१६।

४. नाबुद्धकल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ रघु० १४।४८।

५. रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥ कुमार० ४।४४।

६. अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति ॥
माल० ४।१६।

७. अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहानलः ॥ माल० १।१३।

८. सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥ विक्रम० ५।२०।

९. कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धोबीजप्ररोहजननी ज्वलन. करोति ॥
रघु० ९।८०।

१०. अविषोपि कदाचिद् दंशो भवेत् ॥ माल० ४।४ (प०)।

व सामर्थ्य के अनुरूप ही कार्य कर सकता है[१]। विधाता के लिए कुछ भी असम्भव नहीं[२]। बड़े लोगों की बातें कौन जान सकता[३] है। हर व्यक्ति की समृद्धि की एक सीमा होती है और पूर्णता को प्राप्त हो जाने के बाद फिर उतार आता है[४]। त्याग और बलिदान से ऐश्वर्य बढ़ता ही है घटता नहीं[५]। देश-काल वा परिस्थिति के अनुरूप वस्तु वा व्यक्ति विशेष ही महत्त्वाधायक होता है[६]।

ऐसे ही लोकापवाद बड़ा बलवान् होता है[७]। साँप के बिल में कौन हाथ डालेगा[८]। जादू वह जो सिर चढ़कर बोले[९]। क्या मेढकों की डर से बादल गरजना ही छोड़ दें[१०]। 'गोद में बच्चा शहर में ढिढोरा'[११] जैसी अनेकों लोकोक्ति परक उक्तियाँ हैं जो कि कालिदास की रचानाओं में यत्र तत्र बिखरी पड़ी हैं। यही है कालिदास के सूक्ति सागर का मौक्तिक भण्डार।

---

१. पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुन: पतत्रिण: ॥ कुमार० ५।४।
२. नास्ति विधेरलंघनीयं नाम। विक्रम० ४।३ (पू०)।
३. को देवता रहस्यानि तर्कयिष्यति ॥ विक्रम० ''।८ (प०)।
४. प्रवृद्धौ हीयते चन्द्र. समुद्रोऽपि तथा विध: ॥ रघु० १७।७१।
५. पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशो: कलाक्षय. श्लाघ्यतरो हि वृद्धे:। रघु० ५।१६ ॥
६. नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रि: ॥ रघु० ६।२२।
७. लोकापवादो बलवान् मतो मे ।, रघु० १४।४०।
८. क: कर. प्रसारयेत् पन्नगरत्न-सूचये ॥ कुमार० ५।४३।
९. पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि य ॥ रघु० ११।७५।
१०. दर्दुरान्याहन्तीति किं देव: पृथिव्या वर्षितुं विरमति ॥
माल० ४।१५ (प०)।
भ्रमरसम्पातो भविष्यतीति वसन्तावतरसर्वस्वं किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्य:।
माल० ३।१४ (पू०)।
११. पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा ॥ माल १।०१५ (प०)।

कालिदास के मानवेतर पात्र

कालिदास के ग्रन्थों का गहन अनुशीलन करने पर यह भाव हमारे समक्ष उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है कि कालिदास की दृष्टि में न मानव से बढ़कर कोई सृष्टि है और न मानवलोक से बढ़कर कोई स्थान ही। यह पृथिवी-पुत्र एकमात्र मानवता का पुजारी रहा है। यही कारण है कि उसके देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि सभी प्रकार के पात्रों में एक मानवीय हृदय का स्पन्दन होता है, सभी इसी मानव भाव-भूमि पर विचरण करते दिखाई देते हैं। यद्यपि इनमें से अनेक अतिमानवीय शक्तियों से भी सम्पन्न होते है पर उनके सामान्य कार्य-कलापों का निरूपण मानवीय दुर्बलताओं के साथ इतनी उदात्तताओं की पृष्ठभूमि पर ही हुआ है। यह सब कुछ और कौशल के साथ किया गया है कि उन सभी के प्रति हमारे मन से मानवेतर होने का भाव लुप्तप्राय हो जाता है। हमारा उनके साथ तादात्म्य सा स्थापित हो जाता है।

कालिदास की मानवीय आस्था

इस विषय में हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या कालिदास ने अपने मानवेतर पात्रों में मानवीयता का यह आरोपण अपनी किसी विशेष धारणावश किया या किसी विशेष प्रयोजनवश उन्हें ऐसा करना पड़ा। हमें तो ये दोनों ही बातें उनकी इस प्रवृत्ति में कार्यशील दिखाई देती हैं। प्रथम तो यह कि कालिदास के मन पर **'नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'** की भावना बद्धमूल हो चुकी थी। वे मानव की अपरिमित शक्तियों के विश्वासी थे और दूसरे यह भी कि वे जानते थे कि जीवन की सरसता द्वन्द्वात्मकता में ही सम्भव हो सकती है, एकरूपता वा एक रसता में नहीं। मानव जगत् के अतिरिक्त और कहीं द्वन्द्वात्मकता सम्भव नहीं। मानवेतर जगत् में तो एकरसता का ही एकछत्र साम्राज्य देखा जाता है। अतः ऐसा कोई भी रूप कालिदास को ग्राह्य नही हो सकता था जिसमें कि जीवन के विविध रूपों की झाँकियाँ उपलब्ध नहीं हो सकती थीं।

दूसरी ओर प्रयोजन अथवा काव्यगत सफलता के लिए भी उनके लिए ऐसा करना आवश्यक हो गया था। वे यदि शंकर-पार्वती को केवल जगत् के माता-पिता, श्रीराम को भगवान् विष्णु के अनन्य अवतार, देव-गन्धर्व आदि को अतिमानवीय शक्तियों से सम्पन्न तथा पशु-पक्षी वा लता-वृक्षों को मानव से निकृष्ट मानकर चलते तो निश्चय है कि उससे काव्य के सहज रसास्वादन में एक स्वाभाविक कठिनाई उपस्थित हो जाती। कारण कि देव-गन्धर्व आदि दिव्य जातियाँ देशकालातीत अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न होती ही है, अतः उनके लिए भूत और भविष्य को जान लेना किसी भाँति भी कठिन नहीं। ऐसी स्थिति में उनके जीवन में भय, आशंका, संशय, वितर्क, विस्मय, उत्सुकता, दीनता, करुणा आदि के प्रदर्शन के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता और इसके अभाव में काव्य में कोई चमत्कार व सरसता नही आ सकती। किन्तु इसके विपरीत मानव की शक्तियाँ अत्यन्त सीमित होती है; वह नहीं जानता कि अगले ही क्षण उसके जीवन में क्या सम्पत्ति वा विपत्ति आने वाली है। अत उसमें उपर्युक्त विविध भावों का समावेश सर्वथा स्वाभाविक हो सकता है और उसके साथ हमारा साधारणीकरण सहज रूप से सम्भव हो जाता है। यही कारण है कि कालिदास ने सर्वत्र ही मानवेतर पात्रों का बड़े कौशल के साथ मानवीकरण कर डाला है। अर्थात् उनके मूल स्वरूप को रखते हुए भी उनमें मानवीय तत्त्वों का सुन्दरतम समावेश कर डाला है। इसीलिए तो कालिदास के शंकर-पार्वती "जगतः पितरौ" होते हुए भी सामान्य प्रिय और प्रेयसी हैं। पार्वती शंकर के स्नेह को न पा सकने के कारण व्याकुल है तो शंकर उसके प्रेम की परीक्षा के लिए वेश बदल कर वही जा पहुंचते है। उन्हें दिव्यशक्ति-सम्पन्न त्रिकाल-दर्शी ईश मान लेने पर 'उमावर्णि-संबाद' हमें काव्यात्मक आनन्दा-नुभूति नहीं दे सकता। इसी प्रकार राम यद्यपि विष्णु के अवतार हैं (रघु० ११।८५), दुष्टों का दलन करने के लिए अवतरित हुए हैं, पर कालिदास के हाथ से उनका मानवीय रूप ही अधिक निखरता है। वे सीताहरण के बाद उसके वियोग में एक सामान्य मानव की भाँति जंगल में इधर-उधर भटकते फिरते हैं। आँसू बहा-बहाकर लता-वृक्षों से उसके बारे में पूछते फिरते हैं (रघु० १३।२४) अथवा

मानवीकरण का लक्ष्य

परित्याग के बाद लक्ष्मण के मुख से सीता की कारुणिक दशा का वृत्तान्त सुन कर स्वयं भी रोने लगते है। इसी प्रकार हिमवान् स्थावर भी है और जंगम भी। शाकुन्तल में प्रकृति जड़ भी है और चेतन भी, एवं यक्ष का मेघ 'धूमज्योतिः सलिलमरुताम्' का सन्निपात भी है और 'पुष्करावर्तक' मेघों के वश में उत्पन्न इन्द्र का काम रूप पुरुष भी। यही स्थिति अन्य मानवेतर पात्रों की भी समझनी चाहिए।

इन सभी का सम्यक निरूपण करने पर हम देखते हैं कि कालिदास ने इन सब में अति मानवीय अथवा मानवेतर तत्त्वों की न्यूनता तथा मानवीय तत्त्वों की प्रधानता दिखला कर उन्हें काव्योपयोगी बना डाला है। फलतः कालिदास के पाठक वा दर्शक के हृदय में इनके अलौकिक कृत्यों के विषय में कभी-कभी चमत्कार का भाव रहते हुए भी इनके प्रति निरपेक्षता या अविश्वास का भाव उत्पन्न नही हो सकता है। क्योंकि मानवीय भावों वा तत्त्वों से संवलित होने पर पाठक वा दर्शक का सहज ही उनके साथ साधारणीकरण सम्भव हो जाता है।

एक ही पात्र के उभयविध रूप का चित्रण करने में कालिदास ने बड़ी सूझ बूझ एवं मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है। अर्थात् मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के अवसर पर तो उनका मानवीकरण कर डाला है और अतिमानवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें अतिमानव ही रहने दिया गया है। साथ ही इस बात का भी पूरा पूरा ध्यान रखा गया है कि मानवीकरण की स्थिति में उसका स्तर कहीं आदर्श मानवीय स्तर से कम न हो। ऊपर राम के चरित्र में हम इन दोनों रूपों का संकेत कर ही चुके हैं।

विशेषकर देव जाति से सम्बन्धित प्रसंगों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ भक्ति वा अद्भुत जैसे अतिमानवीय भावाभिव्यञ्जक रसों का प्रसंग आया है वहाँ इन पात्रों की अलौकिकता वा अति मानवीयता को बनाये रखा गया है; किन्तु जहाँ पर प्रेम, करुणा, सौहार्द आदि सामान्य मानवीय भावों का प्रसंग आया है वहाँ उनका भी पूर्णतया मानवीकरण कर डाला है ताकि उसका लक्ष्यीभूत पाठक वा दर्शक उनके साथ तादात्म्य स्थापित करके उनका सम्यक् रसास्वादन कर सके। उसके सुख दुःख के साथ अपने सुख-दुःख की एक रूपता स्थापित कर सके।

इनमें प्रथम हम देव गन्धर्व आदि पात्रों पर विचार करेंगे और बाद में अन्य प्रकार के पात्रों पर। देव जाति के पात्रों के दो रूप हमारे सामने आये है। एक उनका पौराणिक रूप है और दूसरा मानवीकृत रूप। हम इन दोनों ही रूपों पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

देव-जाति सम्बन्धी पात्र

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के समय तक भारतीय पुराणों की बहुत कुछ रूप रेखा बन चुकी थी। विभिन्न देवी देवताओं से सम्बन्धित विविध पौराणिक उपाख्यान अस्तित्व में आ चुके थे। उनका संकेत कर देना भर काफी था। कालिदास ने विविध अवसरों पर इन विविध उपाख्यानों या चारित्र्यिक विशेषताओं का उल्लेख मात्र करके इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इनमें से कुछ संकेत ऐसे भी है जो कि या तो पुराणों में पाये ही नही जाते या भिन्न रूप में पाये जाते है। ऐसे संकेत कालिदास के काल निर्धारण की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु हम यहाँ उस विषय पर कोई विचार न करके केवल प्रकृत विषय से सम्बन्धित रूप पर ही विचार करेंगे।

शंकर

सभी जानते है कि कालिदास भगवान् शंकर के परम भक्त थे। उनके प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धा भक्ति का जो परिचय दिया है वही इस बात को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में अनेकत्र भगवान शकर का सकीर्तन किया है। उन सभी रूपों पर विचार करने से हमारे सामने भगवान् शंकर का वह पौराणिक (Mythological) रूप प्रकट हो जाता है जो कि उस समय तक स्थिर हो चुका था। उनकी वेष-भूषा और शरीर-रचना से सम्बन्धित प्रायः सभी पौराणिक विशेषताओं का उल्लेख कालिदास ने किया है।

(i) शकर का पौराणिक रूप

उनका 'नील कण्ठ'[१] वा 'नीललोहित'[२] नाम उस पौराणिक घटना का स्मरण कराने के लिए पर्याप्त है जिसके अनुसार समुद्रमन्थन के समय देव और दानवों को विष की भयकर ज्वाला से बचाने के लिए वे विष का पान कर गये थे और फलस्वरूप अपने कण्ठ को सदा के लिए विषदग्ध-नील बना लिया था। जटाजूट में

१. मेघ० १।३७, कुमार० ३।५१; ५।७२।

२. शाकु० ७।३५ (नीलः कण्ठे लोहितश्च केशेषु इति), कुमार० २।५७।

चन्द्रकला[१] और गंगा को[२], भुजाओं में सर्पों की माला को[३] और कण्ठ में मुण्डमाल को धारण करने की धारणा[४] भी प्रचलित हो चुकी थी। पशुपतित्व[५], भूतनाथत्व[६], श्मशानवास[७] और श्मशान की राख को शरीर पर मलने[८] एव हाथ में मुण्ड खप्पर रखने[९] की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख भी कालिदास ने किया है। त्रिपुरासुर का दाह करने[१०], गजासुर की गीली खाल को ओढ़ने[११], मृगवेशधारी यज्ञ को मारने के लिए धनुष लेकर उसका पीछा करने,[१२], एव काम देव को भस्म करने[१३] आदि की पौराणिक घटनाओं का उल्लेख भी अनेकत्र किया गया है। 'नान्दी' नामक बूढ़े बैल की सवारी करने[१४] तथा 'पिनाक' नामक धनुष को धारण करने[१५] एवं त्रिशूल को धारण करने की बात कही ही गई है (कुमार० १२।४६; ६।६४)। 'त्रिनेत्र' तो उन्हें कहा ही जाता है[१६]। उनकी पूर्व पत्नी सती, द्वितीय पत्नी पार्वती और पुत्र कार्तिकेय का विस्तृत विवरण तो कुमारसम्भव में मिलता ही है, किन्तु इसके

१. विक्रम० ३।७; ४।६७; मेघ० १।७,४८, ५६; कुमार० १।६०; २।३४, ५।८६; रघु० ६।३४।
२. मेघ० १।५४; रघु० ४।३२, १७।१४।
३. मेघ० १।६४; कुमार० ५।६६, ७८।
४. कुमार० ५।७८, ११।४५; १२।१६।
५. मेघ० १।४०, ६०।
६. रघु० २।४६।
७. कुमार० ५।६८, ६९, ७७।
८. कुमार० ५।७९, ३।४४।
९. कुमार० १२।१६।
१०. मेघ० १।६० ; कुमार० ७।४८, ५१ ; १२।२८, अन्धकासुर (१२,१९)।
११. मेघ० १।४०, कुमार० ५।६७, ७८, मालविका० १।१; कुमार० १।५४।
१२. शाकु० १।६ ; रघु ११।४४।
१३. माल० ३।११ ; कुमार० ३।७१, ७२; १६।५१।
१४. कुमार० १।५६, ५।७०; रघु० ६।७२, ११।४४।
१५. शाकु० १।६ ; कुमार० ३।१०, ५।५३, ६।३२।
१६. कुमार० ११।४७ ; रघु० ३।४९ ; कुमार० ५।७२।

अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इनका संकीर्तन मिलता है[1]। पर गणेश जी का शंकर के पुत्र के रूप में संकीर्तन शायद कालिदास ने कहीं नहीं किया है। शंकर परिवार के साथ गणेश जी का सम्बन्ध लगता है कालिदास के बाद हुआ। अन्यथा वे कहीं न कहीं तो इसका उल्लेख करते हो। शंकर जी का ही गणपति विशेषण शायद कालान्तर में उनकी ही पृथक् सत्ता के रूप में कल्पित कर लिया गया। इसके अतिरिक्त कालिदास ने इन्हें 'अर्धनारीश्वर' (माल० १।१ **कान्तासम्मिश्रदेहो**), जगत के पिता (रघु १।१), ईश (शाकु० १।१; माल१।१) आदि नामों से भी पुकारा है। इतना ही नही, अपितु इन्हें समस्त जड़-चेतन ससार को जन्म देने वाला, पोषण करने वाला तथा सहार करने वाला कहा गया है (**सर्गस्थिति-प्रत्यवहारहेतुः**। रघु० २।४४)। ऐसे ही और भी अनेक शब्द हैं जिनसे कि भगवान् शकर का पौराणिक रूप लगभग स्पष्ट हो जाता है (कुमार०२।५८)। वे संसार के पूज्य हैं। इन्द्र भी उनकी चरण-रज मस्तक पर धारण करता है (५।८०)।

इस प्रकार हम देखते है कि भगवान् शंकर के परम भक्त होने के कारण कालिदास ने जहाँ भी हो सका है, उनका सभी सम्भव रूपों में संकीर्तन करके उनके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति का परिचय दिया है। अपने तीनों ही नाटकों में मंगलाचरण में ही उनकी दिव्य अष्टमूर्तियों के द्वारा लोक-कल्याण की मंगल कामना की है। रघुवंश का प्रारम्भ "**जगतः पितरौ वंदे पार्वती-परमेश्वरौ**" से होता है और आगे चल कर दूसरे सर्ग में ही उन्हें "**सर्गस्थिति-प्रत्यवहार हेतुः**" कह कर अपनी भक्ति का परिचय दिया है। इसी प्रकार मेघदूत में भी भगवान् शंकर के चरणों में श्रद्धा रखने वालों के लिए मृत्यु के उपरान्त उनके ही चरणों में शाश्वत पदलाभ की बात कही गई है[2]। शाकुन्तल के भरत-वाक्य में भी उन्हीं से मोक्ष की कामना की गई है[3]।

---

१. मेघ०; १।४७; विक्रम० अक ४; रघु० ३।२३, ३५, १४।२२,१।७६ आदि।

२. तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः,
शश्वत्सिद्धैरुपचितवलि भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः,
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥ पू० मेघ० ५९।

३. ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥
शाकु० ७।३५।

हम देखते हैं कि इन सभी प्रसंगों में भगवान् शंकर का संकीर्तन प्रसंगतः काव्य के कथानक से पृथक् विषय के रूप में हुआ है, काव्य के अंग के रूप में नहीं। इसी लिए जब स्वयं शंकर को काव्य का प्रधान अंग मानकर उनके चित्रण का अवसर आया तो कालिदास काव्य की परिधियों में बध गये। क्योंकि वे कवि पहले थे और भक्त बाद में। भक्ति में श्रद्धा 'भाव' तो हो सकता है पर 'रस' नही। रस ही काव्य की आत्मा है और रस के बिना काव्य का आनन्द नहीं हो सकता। दिव्य और अलौकिक रूपों के विषय में हमारा साधारणीकरण नहीं हो सकता और इसके अभाव में काव्यानन्द ही नही हो सकता। अतः जब शंकर-पार्वती को नायक-नायिका बना कर काव्य रचना का प्रश्न आया तो कालिदास के समक्ष उनके स्वरूप निर्धारण की ही सबसे बड़ी समस्या रही होगी। काव्य के नाते कालिदास को अपने आराध्य को भी लौकिक नायक के रूप में प्रस्तुत करने के सिवा और कोई चारा ही न था। इसलिए काव्य की माँग को उसी रूप में पूरा किया और बीच में जहाँ मौका लगा अपनी श्रद्धा और भक्ति के फूल भी चढ़ा दिये। कालिदास की इस मजबूरी वा काव्य की माँग को न समझ सकने के कारण ही कई आलोचकों ने कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में वर्णित शृङ्गार की आलोचना भी की है। इसके औचित्य और अनौचित्य के विषय में उनके शृङ्गार पर विचार करते हुए हमने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उसे यहाँ पर दुहराने की आवश्यकता नही। यहाँ तो अब हम उनके मानवीय रूप पर ही कुछ विचार करेंगे।

(ii) शंकर का मानवीकरण

'कुमारसम्भव' में शिवजी का जो स्वरूप हमारे सामने आया है वह एक उदात्त मानव के स्वरूप से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं। यत्र-तत्र अनेक रूपों में उनके अलौकिक चरित्र का तथा दिव्य शक्तियों का उल्लेख अवश्य हुआ है (२।५८) पर प्रत्यक्षतः कुमारसम्भव के नायक के रूप में हमें उसके दर्शन कम ही होते हैं। उनका प्रथम परिचय ही हमें एक परम स्नेही पति के रूप में कराया गया है जो कि अपनी 'सती' पत्नी की मृत्यु के उपरान्त साँसारिक सुख भोगों से

प्रणयि-प्रियत्व

इतना विरक्त हो गया है कि वह दूसरे विवाह का विचार छोड़ कर हिमालय की चोटी पर जाकर तपोनिरत हो गया है (१।५३-५४)। अब देखिए कि क्या त्रिकालज्ञ, उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले शिवजी के लिए 'सती' की मृत्यु के उपरान्त इस प्रकार का व्यवहार सम्भव हो सकता था? और क्या ऐसे शंकर के साथ हमारी कोई सहानुभूति हो सकती? इसीलिए हम देखते है कि कुमार सम्भव के शंकर प्रणयि-प्रिय पहले हैं और सब कुछ बाद में। इसीलिए तो जब हिमवान् की नवयौवना कन्या पार्वती अत्यन्त स्नेह और श्रद्धा के साथ उस संसार से विरक्त योगी की पूजा, सेवा-शुश्रूषा में रत हो जाती है तो वे न चाहते हुए भी उसकी इस श्रद्धा का विरोध नही कर सके[१]। एक महामानव के समान उनके चरित्र मे कुसुम सी कोमलता तथा वज्र सी कठोरता विद्यमान थी। चरित्र की इसी दृढ़ता के कारण बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उन्हें विचलित नहीं कर सकता था[२]। सती के दुखद अवसान ने उनके प्रणयि-हृदय को ऐसी ठेस पहुँचाई कि वे पुनः गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की तब तक कामना नही कर सके जब तक कि लोककल्याण की भावना ने और देवताओं की प्रार्थना ने उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर नही कर दिया (६।२७-२८)। पार्वती का अलौकिक एवं दिव्य सौन्दर्य भी उनके प्रणयि-हृदय के गहरे घाव को भरने में समर्थ न हो सका।

नि:सन्देह वे ईश थे[३], योगी थे, महायोगी थे[४], और थे संसार

---

१. प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥
कुमार० १।५९।

२. सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥ वही, १।४९।

३. वही, ५।७६-८०, न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।

४. कुमार० ३।४४—५०, पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्० मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यदक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ ३।४५ इत्यादि।

की दुःखद स्थितियों से ऊबे हुए। तप और साधना से कठोर शारीरिक रूप तथा कामदहन की क्रूर घटना को देखते हुए उनमें किसी प्रकार की कोमलता की शायद कोई आशा भी नहीं की जा सकती थी। पर हमें न भूलना चाहिए कि उनके कठोर वक्ष.स्थल के नीचे हृदय नाम की एक स्पन्दनशील वस्तु भी है जिसमें स्नेह, दया और कोमलता लबालब भरी हुई है। इसका दर्शन एक बार हमें काम-दहन के बाद होता है। आशुतोष जो ठहरे, कामदेव के अपराध को क्षमा कर दिया और दूसरी बार इसके दर्शन हमें होते है कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग मे। तपस्वियों को भी लजा देने वाले अपर्णा के कठोर तप ने (५।८-२९) उनके विरक्त हृदय को भी आन्दोलित कर दिया। वे अब उसके प्रति निरपेक्ष नहीं रह सके। पार्वती की सखी के आक्षेप से पूर्व ही वे अपनी कठोरता तज कर उसकी सुध लेने के लिए ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उसी के आश्रम में जा पहुंचे (५।३०)। वहाँ जाकर जिस स्नेह, सहानुभूति और मानव-सुलभ विनोद-प्रियता का परिचय दिया वह तो दर्शनीय ही है (५।३३-५०, ६५-७३। क्या कालिदास ने रघुवंश में शंकर का जिस रूप में स्मरण किया है अथवा पार्वती ने जिन शब्दों में शंकर की महत्ता का वर्णन किया है (५।७६-८०) उसी शकर से यह सब कुछ आशा की जा सकती है जो कि उन्होंने ब्रह्मचारी के वेष में पार्वती के मनोभावों को जानने के लिए किया? शंकर के विषय में ऊट-पटाँग बातें कह कर पार्वती को चिढ़ाने में तथा उस समय उसकी मुखमुद्रा को देखने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। इस समय तो वे पूरे रसिक ही बन गये हैं। ब्रह्मचारी के व्यवहार से रुष्ट होकर जाती हुई पार्वती का हाथ पकड़ कर परम विनोदी दक्षिण नायक की भाँति उससे कहने लगे—हे कोमलाङ्गी, आज से मैं तुम्हारा तपःक्रीत दास हूँ[3]। शंकर के इस अप्रत्याशित

सहृदयता एव विनोद

१. तस्यानुमेने भगवान् विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।।कुमार० ७।९३।

२. वही, ५।६१ न वेद्मि स प्राथितदुर्लभ. कदा०।

३. अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ। वही, ५।८६।

रूपको देख कर तो स्वयं पार्वती भी हक्की-बक्की सी रह गई थी[1]।

इसके बाद हम देखते है कि घट-घट के वासी (विश्वात्मा) होने पर भी शकर ने पार्वती के उस शिष्टसम्मत अनुरोध को भी शिरोधार्य किया जिसमें कि उन्होंने अपनी सखी से कहलवाया था कि मेरे विवाह की अन्तिम स्वीकृति मेरे पिता हिमालय ही दे सकते हैं, अतः इसके लिए उन्ही से प्रार्थना करनी होगी (६।१)। 'परमेश्वर' होते हुए भी शिवजी को लोक-मर्यादा और लोकव्यवहार का पालन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्होंने हिमालय के पास अपना विवाह-प्रस्ताव प्रस्तुत करवाने के लिए सप्तर्षियों का स्मरण किया (६।३)। घर आने पर उनका बड़े आदर और श्रद्धा के साथ अतिथि सत्कार किया (६।१२)। वहाँ वशिष्ठ-दम्पति को देखकर गृहस्थ के प्रति उनकी आस्था फिर से जम गई। बल्कि उनके मन में यह बात घर कर गई कि पतिव्रता पत्नी धर्माचरण में बाधक नहीं, अपितु साधक ही होती है। सच तो यह है कि उनके बिना तो धार्मिक क्रियाएँ भी पूरी नहीं हो सकती[2]।

लोकमर्यादा पालन

लोकव्यवहार में चतुर व्यक्ति की भाँति शिवजी जानते थे कि सज्जन लोग बीच में पड़कर जो सम्बन्ध करा देते है उसमें फिर किसी प्रकार की झंझट नही होती[3]। उन्होंने ऊंची प्रतिष्ठा वाले हिमालय के सम्मुख अपना प्रस्ताव रखने में अपनी कोई हतक न समझी (६।३०)।

इसके साथ ही हम देखते है सर्वान्तर्यामी होते हुए भी वे एक सामान्य मानव की भाँति हिमालय की स्वीकृति को जानने के लिए उत्सुक हो जाते है और ऋषियों से स्वयं कहते है कि वे महाकोशी नदी के जल-प्रपात के पास हिमालय के घर से लौटने तक

प्रेमाकुलता

---

१. तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥
वही, ५।८५।

२. तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः।
क्रियाणां ख धर्म्याणांलु सत्पत्न्यो मूलकारणम् कुमार० ६।१३।

३. विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः॥ वही, ६।२९।

उनकी प्रतीक्षा करेंगे (६।३३)। यहाँ तक कि विवाह के लिए वे इतने उतावले दिखाई दे रहे थे कि उनका उतावलापन ऋषियों पर भी प्रकट हुए बिना न रह सका[1] और अन्त में जब हिमवान् के घर से लौटे हुए ऋषियों ने उन्हें हिमालय की स्वीकृति का सन्देश दिया तो शिव जी पार्वती से मिलने के लिए इतने उतावले हो गये कि विवाह की अवधि के तीन दिन बिताना भी उनके लिए कठिन हो गया[2]। भला देखिए कहाँ तो हिमालय के समक्ष ऋषियों द्वारा प्रस्तुत शिव जी का वह श्रद्धा-भक्ति और ज्ञान से सराबोर अलौकिक रूप और शक्तियों का वर्णन (६।७५-८१)[3] और कहाँ कवि द्वारा अपने कथा नायक की मानसिक दशा का यह चित्रण !

मनवीय सज्जा

इसके बाद विवाह नेपथ्य और वर यात्रा के प्रसंग में भी हम देखते है कि कालिदास ने शिव जी को मानव और पूर्णरूप से मानव बना डाला है। उनका रूप और वेष तो विश्व विश्रुत है ही। पर जब दूल्हा बन कर हिमवान् की नगरी में जाने का अवसर आया तो उन्होंने अपने उस 'दिगम्बर' वेष में वहाँ जाना उचित न समझा। ऐसा वेष तो किसी भी कन्या के माता-पिता की चिन्ता तथा सखियों के उपहास का कारण हो सकता था। अतः उन्होने अपने उस ऊलजल्लूल वेष को छोड़ कर पूरी तरह अपने को दूल्हा के रूप में सजा लिया। उनकी साज-सज्जा का वर्णन पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कि हम अपने ही समाज के किसी वर की साज-सज्जा का वर्णन पढ़ रहे हों। देखिए न चिता भस्म के स्थान पर शरीर पर अंगराग लगाया, मुण्डमाल के स्थान पर कण्ठहार पहना, हाथी की खाल के बजाय गोरीचन से बने हुए हसों के जोड़े वाला रेशमी दुशाला ओढ़ा, माथे पर तृतीय नेत्र के स्थान पर हरताल का तिलक लगाया, भुजाओं

---

१. तस्मिन् संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे ।
जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः ।। कुमार० ६।३४ ।।

२. पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्‌दपगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।। वही, ६।९५ ।

३. अणिमादिगुणोपेतंमस्पृष्ट पुरुषान्तरम् ।
शब्दमीश्वर इत्युच्चै. साधचन्द्रं विभर्ति यः ।। वही, ६।७५ ।
योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।
अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ।। वही, ६।७७ ।

में मणिजटित भुजबन्ध बाँधे और सिर पर चूड़ामणियुक्त मुकुट पहना (७।३१-३५)। इस प्रकार शिव जी एक मानवीय दूल्हा बन कर चले। विश्वात्मा को भी लोकमर्यादा के लिए इस प्रकार की सजधज की आवश्यकता हुई। यह रूप इतना सुन्दर और मोहक था कि इसे देखकर हिमवान् के नगर की ललनाओं ने एक स्वर से कहा था—ऐसे सुन्दर वर के लिए सुकुमारी पार्वती का तपस्या करना ठीक ही था। ऐसे रूपवान् व्यक्ति की तो दासी बनना भी सौभाग्य की बात है, पत्नी बनने का तो कहना ही क्या। सुन्दरता में एक दूसरे की होड़ करने वाले इस जोड़े का यदि संयोग न होता तो ब्रह्मा जी का इन्हें बनाने का श्रम व्यर्थ ही जाता। इनके अनुराग रञ्जित प्रसन्न मुख-मण्डल को देखने से तो उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इन्होंने ही क्रुद्ध होकर कामदेव को भस्म किया होगा। वरन् उनके विचार में तो इनके इस सुन्दर रूप को देख कर अपमानित कामदेव ने स्वयं आत्महत्या कर ली होगी[1]।

लोकाचार व शिष्टाचार का पालन

हिमवान् के घर पहुंचने पर उन्होने लोकाचार और शिष्टाचार का पालन करने के लिए अपने भावी श्वसुर हिमवान् को आदर के साथ प्रणाम किया था (७।५४) और इसी प्रकार विवाह के अन्त में वहाँ उपस्थित पितामह ब्रह्मा जी के चरणों में झुककर प्रणाम किया (७।८६)। कैसा नम्र व विनीत आदर्श मानव का रूप प्रतिस्फुटित हो उठता है इनके इस आचरण से।

---

१ स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम्।
या दास्यमप्स्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम्। कुमार० ७।६५।

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजाना विफलोऽभविष्यत्॥ वही, ७।६६।

न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्ध कुसुमायुधस्य।
व्रीडाद देवमुदीक्ष्यमुं मन्ये सन्यस्तदेह. स्वयमेव कामः॥ वही, ७।६७।

अनुराग की अभिव्यक्ति

विवाह संस्कार के समय पर जब पिता हिमालय ने पार्वती का हाथ शंकर जी के हाथ में पकड़ाया तो एक दूसरे के चिर अभिलषित स्पर्श को पाकर पार्वती जी तो रोमाँचित हो गई और महादेव जी की अंगुलियाँ पसीने से तर[१]। क्या कालिदास ने यहाँ पर इस दिव्य दम्पति का पूर्ण मानवीकरण नहीं कर डाला ? क्या शंकर और पार्वती के विषय में अभिव्यक्त ऋषियों के कथन कि 'महादेव जी संसार के पिता है इसीलिए पार्वती जी भी ससार के चराचर प्राणियों की माता बन जायेंगी[२] ? इस वर्णन से मेल खा सकता है ? कहना होगा कि दोनों का वर्णन का आधार ही भिन्न है। ऋषियों ने जहाँ श्रद्धाभक्ति के भाव से प्रेरित होकर उनका ऐसा वर्णन किया है वहाँ कालिदास ने उन्हे काव्य के परिवेश मे रख कर ही उनका चित्रण किया है। क्योंकि इस रूप के बिना हम मानवों के लिए उनके काव्य के रसास्वादन का अवकाश ही नहीं हो सकता था। उनके इस भाव को न समझ सकने के कारण ही बहुत से नैतिकतावादी आलोचक उनके आठवें सर्ग की इतनी कटु आलोचना करते हैं। क्योंकि कालिदास के 'कुमारसम्भव' के शंकर-पार्वती मानव नायक और नायिका की प्रति भूमि है। अतः उनके इस चिर अभिलषित नव समागम का चित्रण भी कालिदास ने नव-विवाहित मानव-दम्पति के समागम के ही रूप में किया है। माता-पिता के प्रथम वियोग में पार्वती जी कही उदास न हो जाँय इसके लिए ही उन्होंने उनके प्रति अपने अपरिमित स्नेह की अभिव्यक्ति की है। उसका मनोरंजन करने तथा उसे प्रसन्न रखने का हर सम्भव उपाय किया है। उनके रूठने पर उनके पैरों में झुक कर भी उन्हें मनाने का यत्न करते है। प्रणयी-दम्पति का मधुयामिनी का अलौकिक और अदभुत् चित्रण कालिदास ने अपनी लेखनी से किया है। उस पर अश्लीलता का आक्षेप उचित नहीं। यहाँ कालिदास का दृष्टिकोण ही भिन्न है। उसने पूर्णतया मानवीकरण कर डाला है। कालिदास की यह रचना

---

१. रोमाद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङगुलिः पुगवकेतुरासीत् ॥ कुमार० ७।७७।

२ यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगत. पिता ॥ वही, ६।८०।

प्रौढ व्यक्तियों के लिए है और प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए ऐसा वर्णन अनुचित नही कहा जा सकता।

'कुमारसम्भव' को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक शकर के प्रति आराध्यता का प्रश्न है उन्होंने पार्वती और ऋषियो की स्तुतियों के रूप में उनके प्रति अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाने में कोई कसर नही रखी है। पर काव्य की परिधि में वे शकर का वही रूप चित्रित कर सकते थे जो कि उन्होने किया। यहाँ प्रश्न श्रद्धा, भक्ति का नही रस का था।

मानवीय भावों का आरोपण

जिन्होंने श्रद्धा भक्ति से प्रेरित होकर शिव जी का गुण गान किया है वे उनका मानवीकरण भी नहीं कर पाये है। तुलसीदास के महादेव विवाह के अवसर पर भी अपना वही विचित्र वेष व रूप रखते है। यहाँ तक कि उनके बरातियो की भी यही स्थिति है। क्योंकि तुलसीदास भक्तिभाव से प्रेरित होकर काव्य रचना कर रहे थे अतः वे ऐसा कर सकते थे; पर कालिदास काव्य लिख रहे थे सहृदयो के रसास्वादन के लिए। अतः उन्हे अपने वर्णनों के लिए शिव जी को पहले मानव भूमि पर लाना पड़ा। उनमें मानवीय भावों एवं स्वरूप का विनिवेश किया गया तभी उन्हें महाकाव्य के नायक की भूमिका में लाना सम्भव हो सका। यही कारण है कि कालिदास ने अपने अन्य काव्यों व नाटकों की भाँन्ति कुमारसम्भव' के प्रारम्भ मे महादेव जी को लक्ष्य करके किसी मगलाचरण की योजना नहीं की। काव्य में भी जहाँ तक वर्तमान कथानक के साथ उनके चरित्र व व्यवहार का प्रश्न था वहाँ सर्वत्र उन्हे मानवीय रूप में ही रखा है। उसी। भाव-भूमि पर उनके भावों को अभिव्यक्ति दी है। पार्वती और ऋषियों के द्वारा जिन महादेव जी का गुणगान हुआ है वे इस कथानायक महादेव जी से भिन्न है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह बात चाहे विचित्र सी लगे पर उन प्रकरणो पर सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कालिदास दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से शंकर को उपस्थित कर रहे है। उनके इसी दृष्टिकोण को ठीक न समझ सकने के कारण ही उनके बारे में आलोचकों को इतनी गलतफहमी हुई है। हम भी कहते

है कि यदि जगत के माता-पिता की दृष्टि से कालिदास ने उनके शृङ्गार का चित्रण किया होता तो वह अवश्य ही आलोच्य होता। हमें उनकी आलोचना करने से पूर्व उनके दृष्टिकोण को ठीक ढंग से समझना होगा। कालिदास एक कलाकार थे। कला की परिधि में सब कुछ समा सकता है, सब कुछ दिखाया जा सकता है। हम स्वयं अपनी बहिन या पुत्री के साथ किसी के प्रेम प्रसंग को चाहे देख भी न सकते हो पर किसी नाटक या चलचित्र में उसी को देख कर आनन्दित होते है, रस लेते है अथवा किसो नाटक वा उपन्यास में इस प्रकार प्रेम-चित्रण करके कलाकार होने की कामना करते है। पर यह निश्चय है कि यदि कोई सामान्य कलाकार होता तो वह शंकर और पार्वती के दोनों रूप को इस खूबी से प्रस्तुत न कर पाता जिस खूबी से कालिदास कर सके हैं। वह इन दोनों में अभेद (Confusion) कर डालता इसलिए इस अंश में आलोचना ठीक है कि ऐसे कोमल विषय (delicate subjects) पर सर्व सामान्य कलाकार को लेखनी नही उठानी चाहिए वह विषय का संतुलन न रख सकेगा।

२. पार्वती

शिवजी के समान ही पार्वती का चिरित्र चित्रण भी कालिदास ने मानवीय भावभूमि पर ही किया है। केवल एक स्थान को छोड़ कर महाकवि ने कहीं भी उनका उल्लेख जगन्माता के रूप में नही किया है। और यह उल्लेख भी स्वयं न करके सप्तर्षियों के द्वारा कराया गया है (६।८०)। हमें कवि की मनोभावना का इसी से पता चल जाता है।

(i) मानवीय रूप

वह एक कुलीन एवं सम्पन्न मानव परिवार की कन्या है। उसे जीवन की समस्त सुख सुविधाएँ सहज ही उपलब्ध हैं। (५।४१)[१]। उसका पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार के साथ हुआ था। पिता हिमवान् का उसके प्रति अपूर्व स्नेह था। वे उसे अपने पुत्रों से भी अधिक प्यार करते थे (**महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्**' १।२७) कालिदास ने

कुलीन मानव कन्या

१. कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नव वयस्तपःफल स्यात्किमतः पर वद ॥ ५।४१।

हिमालय को पर्वतराज तथा पार्वती को पर्वतराज पुत्री के ही रूप में देखा है। एक राजकन्या के रूप में ही हम उन्हें शैशव और बचपन की गोदी में खेलते हुए पाते है। सखियों के साथ गंगा जी को निर्मल बालुका की वेदियाँ बनाना, गेंद से खेलना तथा गुड़िया बना-बना कर सजाना, यही सब कुछ था उनके बचपन के जीवन का रूप[1]। उनके इन वर्णनों को पढते हुए बिल्कुल आभास भी नहीं होता कि हम जगन्माता पार्वती के विषय में पढ़ रहे है। वे एक सम्पन्न मानव परिवार की कन्या के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होती है।

पार्वती के शरीर में प्रस्फुटित होने वाले नवयौवन के वर्णन के साथ-साथ कालिदास ने उनका जो नख-शिख वर्णन किया है (१ ३१-४९) वह भी कवि परम्परानुमोदित मानवीय नारी सौन्दर्य के आदर्शतम रूप के अतिरिक्त और कुछ नही। न कहीं किसी अंश में दिव्यता की कोई झलक है और न जगन्मातृत्व के रूप की कोई रेखा। वह है तो केवल एक अद्वितीय मानवीय सौन्दर्य की अद्भुत प्रतिमा, विधाता का अभूतपूर्व रचना कौशल। यहाँ हमें उसका यही रूप चमत्कृत करता है तथा आकृष्ट भी। हम अवाक होकर उस दिव्य सौन्दर्य की चकाचौध मे खो से जाते हैं। जिस प्रकार सम्भोग शृङ्गार का साङ्गोपाङ्ग चित्रण कवि ने केवल 'कुमारसम्भव' में ही किया है उसी प्रकार नारी सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन भी केवल कुमारसम्भव' में ही किया गया है अन्यत्र तो केवल कुछ तूलिका-बिन्दुओं तथा अपूर्ण रेखाओं के द्वारा ही सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की गई है।

मानवीय नारी-सौन्दर्य की प्रतिमान

इसी से स्पष्ट है कि कालिदास का पार्वती के प्रति यदि जगन्मातृत्व का भाव होता तो वे उसके शरारिक सौन्दर्य का ऐसा खुला वर्णन न करते। नैतिक दृष्टि से तो उनका यह नख-शिख वर्णन भी उचित तथा मर्यादा सम्मत नही कहा जा सकता है। जहाँ मर्यादा और मातृत्व का प्रश्न होता है वहाँ ऐसा

कालिदास और तुलसीदास के दृष्टिकोण का भेद

---

१. मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभि. सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीड़ारसं निर्विशतीव बाल्ये॥ १।२६।

वर्णन सम्भव नहीं हो सकता। कहना न होगा कि जगज्जनन' सीता जी भी सौन्दर्य की अद्वितीय प्रतिमा थीं, पर तुलसीदास का भक्तहृदय राम के द्वारा भी उनके सौन्दर्य का वर्णन न करा सका। बालकाण्ड में सीता का सौन्दर्य वर्णन करने के दो अवसर आये, एक पुष्पवाटिका में जब राम ने उन्हें प्रथम बार देखा और दूसरी बार जब वे स्वयंवर मण्डप में पधारी थीं। पर दोनों ही बार तुलसीदास जी बड़ी कवि-चातुरी के साथ रूप वर्णन की बात को टाल गये है। प्रथम बार तो उन्होंने राम से कहला डाला—

देखि सीय शोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा॥
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रकटि दिखाई॥
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छविगृह दीप शिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं विदेह कुमारी॥

और दूसरे अवसर पर स्वयं ही कह गये—

सिय शोभा नहि जाय बखानी। जगदम्बिका रूपगुणखानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥

भक्त तुलसीदास के शब्दों में कालिदास ने पार्वती का इस प्रकार वर्णन करके उसे प्राकृत नारि' ही बना डाला है। यही तो हम भी कहते है। अन्यथा जब तुलसीदास जी—**जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रकटि दिखाई,** । जैसे आधार पर सीता के अद्वितीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति दे सकते थे तो क्या कालिदास—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयैव॥

के द्वारा उसकी अभिव्यञ्जना नहीं कर सकते थे? पर नहीं इतना कहने के साथ साथ कवि ने व्यक्त रूप से कुछ और कहने की आवश्यकता समझी। इसी से कवि का दृष्टिकोण पूरी तरह

स्पष्ट हो जाता है कि कवि 'रघुवंश' के मंगलाचरण की पार्वती मे तथा 'कुमारसम्भव' की नायिका पार्वती में भेद करता है। रघुवंश' में वह जगन्माता है, उसके सामने कवि सिर नवा कर वन्दना करता है (**जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ**) और यह अलौकिक रूप और यौवन का सभार लिए हुए अपरिमित ऐश्वर्य के धनी पर्वतराज की पुत्री। शंकर की भावी पत्नी। श्रद्धा तो स्वतः नेत्रों को झुका देती हैं, वहाँ तो रूप आँख भर कर देखा भी नहीं जा सकत। पार्वती को यदि हम जगन्नमाता मान लें तो उसके बाद उस का शंकर की सेवा करना (१।६०) उन्हें प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के यत्न करना, काम दहन के बाद निराश हो जाना, ब्रह्मचारी की बातो पर क्रुद्ध हो जाना, पिता की स्वीकृति की अपेक्षा रखना, सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। सर्व शक्तिमती होने के कारण उन्हें सभी का पूर्व ज्ञान होना अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में उन सभी मनोभावो एवं सवेगों का कोई महत्त्व ही नहीं रह जायेगा। हम उसके साथ तादात्म्य भी नहीं स्थापित कर पायेंगे।

सर्वथा लौकिक रूप

किन्तु हम देखते है कि कालिदास ने काव्य जगत् के लिए उस रूप को उपयुक्त न समझ कर पार्वती जी को लौकिक और मानवीय रूप में ही प्रस्तुत करना आवश्यक समझा। यह तो नारद जी की भविष्यवाणी थी कि उनके पिता हिमवान् उन्हें भगवान् शंकर की पूजा सुश्रूपा करने के लिए ले गये और उन्हें भी शंकर जी बहुत अच्छे लगे और वे उन्हे पाने की लालसा से ही उनकी सेवा मे निरत हो गई। इसमें उनकी दिव्यता का कोई अंश भी नही। कालिदास प्रेम का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का मानते हैं और यह भी मानते ही है कि हमारा अवचेतन मन जन्मान्तर के सम्बन्धों को भी याद रखता है (**मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्**)। इस प्रकार भी पार्वती का उनके प्रति आकृष्ट हो जाना या उन्हे पाने की आकांक्षा करना मानवीय मनोभावों की ही परिधि में आ जाता है।

---

१. भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शाकु० ५।२।

प्रारम्भ में पिता की आज्ञा और उनकी व्यक्तिगत रुचि ही थी कि वे नियम से उनके लिए पूजा के फूल चुनकर लातीं, वेदी को धो पोंछ कर स्वच्छ करती, नित्य कर्म के लिए जल लाती और कुशा लाती, क्योंकि पार्वती जी को इन सब कार्यों में एक प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती थी (१।६०)।

सेवा परायणता

हम देख ही चुके हैं कि इस सेवा काल में ही पार्वती जी के शरीर में नवयौवन का पूर्ण विकास हो चुका है और उसका दर्शन कालिदास ने हमें करा ही दिया है (१।३१।४९)। अब तो कालिदास ने उनके उस अलंकृत सौन्दर्य की छटा दिखलाई है जिसे लक्ष्य करके काम ने शंकर के हृदय पर अपना मोहक बाण चलाने का दुःसाहस किया था। इस दिन जब पार्वती जी शंकर जी की सुश्रूषा में उपस्थित हुई थी तो उनका रूप-संभार ही अद्भुत रूप से मोहक था। उनके शरीर पर लाल मणियों को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की चमक को भी फीकी करने वाले कर्णिकार के फूलों के, तथा मोतियों से भी सुन्दर श्वेत सिन्धुवार के फूलों के आभूषण अलौकिक शोभा पा रहे थे। स्तनों के भार से किंचित् झुके अंगों पर प्राप्तःकालीन सूर्य की लालिमा के समान रंग वाले लाल वस्त्र धारण किये हुए वे ऐसी लग रही थी जैसे कि फूलों के गुच्छों के भार से झुकी हुई कोई लाल-लाल कोंपलों वाली चलती फिरती लता हो। कमर में पहनी हुई केसर के फूलों की करधनी बार-बार नीचे को खिसक जाती थी और वे बार-बार ही उसे ऊपर को सरकाती जा रही थीं। उनकी सुगन्धित साँस तथा लाल-लाल होठों को लाल कमल समझ कर भौंरे बार-बार उनके मुँह की ओर आ रहे थे। रति को भी लजा देने वाले अंगप्रत्यङ्ग से टपकने वाले इस लावण्य को देखकर तो एक बार शंकर के समाधिस्थ रूप को देख कर हिम्मत हारने वाले काम देव में भी शंकर को जीतने की आशा जाग उठी थी

मानवीय साज-श्रृंगार तथा मनोभाव

(३।५३-५७)[1]। उसका यह रूप अनवद्य मानवी नायिका से किसी रूप में भिन्न नहीं।

इस समस्त रूपवर्णन में भी न कहीं कोई दिव्यता है और न कोई मानवेतरांश। तुलसीदास जी ने तो सीता के सौन्दर्य की उपमा के अवसर पर 'रति अति दुखित अतनु पति जानी' कह कर रति को सीता जी का उपमान बनाने की बात को टाल ही दिया है पर कालिदास **'रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्'** के द्वारा रति को उसके सौन्दर्य की प्रतिद्वन्द्विता में लाकर खड़ा कर ही देते हैं। खैर यहाँ हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि पार्वती जी में स्वतः वह आलौकिक रूप सम्भार था जो कि किसी भी समाधिस्थ शंकर के धैर्य को विचलित कर सकता था। अपने गले में मन्दाकिनी के कमलो की माला पहनाते समय जब शकर जी की दृष्टि इस तूफानी सौन्दर्य पर पड़ी तो उनके समुद्र जैसे गम्भीर हृदय में भी ज्वार आ गया और वे ललचाई हुई दृष्टि से पार्वती जी के होठों को देखने लगे और पार्वती जी भी इस प्रेम भाव को देख कर पुलकित हो गई और तिरछी दृष्टि से सलज्ज उन्हें निहारने लगी[2]। यह भी हम देखते है कि शंकर-पार्वती की यह शृङ्गार भावना लौकिक है, केवल लौकिक। कुछ भी दिव्य वा अलौकिक नही। यहाँ पर इस लौकिकता वा मानवीयता को एक छोटा सा धक्का काम दहन की क्रूर घटना से अवश्य लगता है, पर वह भी केवल शंकर के विषय मे। इससे पार्वती के चरित्र मे कोई विशेष अन्तर नही आता। वरन् तथ्य तो

---

१. [illegible] श्रुतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवार वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती ॥ कुमार० ३।५३।
आवर्जिता किंचिदिवस्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ वही, ३।५४।
तां विक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि [illegible]नाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यं सिद्धिपुनराशशंस ।। वही, ३।५७।

२ हरस्तु किंचित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि.।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।। वही, ३ ६७।
विवृण्वतीशैलसुतापि भावमङ्गै. स्फुरद्बालकदम्बकल्पे.।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ।। वही, ३।६८।

यह है कि इस घटना से उनका मानवीय रूप और भी अधिक निखर आता है। शिव जी के इस रूप को देख कर वे डर गई। उनके अन्तर्धान हो जाने से एक कुलीन कुमारी के समान उन्हें इस बात की चिन्ता ने आ घेरा कि आज मेरे पिता का मनोरथ और मेरी साधना दोनों व्यर्थ हो गये। अब घर लौटने को उनके पैर नहीं उठ रहे थे[1]। यह तो सौभाग्य ही समझिए कि इसी समय उनके वत्सल पिता स्वय ही आकर उन्हे गोदी में उठा कर ले गये। अन्यथा इस ग्लानि और निराशा में पार्वती जी न जाने क्या कर डालती।

अतीत और भावी से अनभिज्ञ

अब सोचिए कि क्या जगज्जननी पार्वती जी से इस रूप और इस भाव की सम्भावना की जा सकती है? क्या उस सर्वज्ञा और सर्वशक्तिमती आदिशक्ति के लिए यह भय, लज्जा, आशंका और निराशा का भाव संगत होता? क्या यह मानना संगत होता कि उन्हें भूत और भविष्य का पता नहीं? और जब यह पता ही है कि वे दक्षपुत्री सती की अवतार है (१।२१) और काम का दहन होना ही है और आगे चल कर उनका शंकर जी से संगम होना ही है तो फिर इस भय, आशंका और निराशा का क्या अर्थ और क्या महत्त्व होता? पर नहीं, हमारे कवि की 'कुमारसम्भव' को पार्वती तो मानवी है, भूत-भविष्य से अनभिज्ञ। अतः उनके चरित्र के लिए तथा काव्य के रसास्वादन के लिए इन सब की आवश्यकता है और कालिदास ने उसे पूरा किया है अपनी अगाध श्रद्धा और भक्ति का बलिदान देकर।

आदर्श प्रेमिका

प्रेम के क्षेत्र में पार्वती और शकुन्तला की स्थिति लगभग एक सी है। ऐसा लगता है कि एक आदर्श मानवी प्रेमिका के रूप में पार्वती के चरित्र में जो न्यूनताएँ रह गई थीं उनका परिष्कार कालिदास ने शकुन्तला में कर दिया है।

---

१. शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित्॥
कुमार० ३।७५।

प्यार का सम्बन्ध जन्मान्तर का तो था ही। अनुकूल परिस्थितियों को पाकर वह जाग उठा। पल्लवित और पुष्पित हुआ किन्तु फलित होने से पूर्व ही उसमें क्रूर नियति का व्याघात हो गया। सती का मनोरथ भग्न हो गया'। जिस अलौकिक रूप के बल बूते पर प्रिय को पाने की साध थी वह भी समाप्त हो गई। यदि कोई सामान्य नारी होती तो उसके चरित्र का यहीं अन्त हो जाता और यदि कोई सामान्य कवि होता तो कथानक का भी यहीं अन्त हो जाता। यही बात शकुन्तला तथा उसके प्रत्याख्यान के विषय में भी कही जा सकती है। इस बात को स्वर्गीय महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगौर ने भी इसी रूप में व्यक्त किया है। वे कहते हैं 'मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई यूरोप का कवि शकुन्तला बनाता तो वह शकुन्तला नाटक का पर्दा वही गिरा देता जहाँ पर मल्लाह के हाथ से अगूठी पाकर दुष्यन्त को अपनो भूल मालूम पड़ी थी और उन्होने व्यर्थ परिताप किया था।"

इसी प्रकार आधुनिक कवि मनोरथ विफल होने के समय पार्वती के दुःख और लज्जा के बोच हो (कुमार सम्भव) काव्य को समाप्त कर देते। अकाल वसन्त में रक्त वर्ण अशोक कुञ्ज में शिव की प्रदीप्त कोधाग्नि के प्रकाश में अधोमुखी और लज्जा से लाल हो रही पार्वती अपने निष्फल फूलों के गहने पहने पाठकों के व्यथित हृदय के करुणापूर्ण रक्त-पदम पर आकर खड़ी होती। अकृतार्थ प्रेम की वेदना सदा उन्हें घेरे रहती। आजकल के आलोचकों की राय मे यही पर काव्य का उज्ज्वल सूर्य अस्त होना चाहिए। इसके बाद विवाह की रात बिल्कुल ही बदरंग है।" (प्रा० सा० पृ० १५)

पर पार्वती सामान्य कुमारी नही थी। वह बचपन से ही बड़े दृढ संकल्प वाली थो। मन और चरित्र दोनों ही बलवान् थे। शरीर में भी पर्याप्त सहिष्णुता भरी थी। अतः उसने प्रिय को पाने का दूसरा रास्ता अपनाने का निश्चय कर लिया। तपस्वी प्रियतम को रूप की माधुरी से मुग्ध न कर सकी तो क्या हुआ सच्ची

चारित्र्यिक दृढ़ता

तपस्या के आगे तो झुकेगा ही[१]। हम देखते हैं कि सम्राट् दुष्यन्त को (अहेरी दुष्यन्त को नही) भी झुकाने वाला यदि कोई रूप था तो वह शकुन्तला का "नियमक्षाममुखी' रूप ही था न कि उसका अद्भुत शरीर लावण्य'।

'कुमारसम्भव' में तो मानवीयता पग पग पर प्रतिपात्र के चरित्र एव व्यवहार से टपकती है। लगता है अभी तक पार्वती की माँ मैना को ठीक-ठीक पता न था कि उसकी पुत्री का शिव के प्रति जो अनुराग है वह क्या रूप धारण कर चुका है और किस कोटि तक पहुंच चुका है। इसीलिए तो जब उन्हें पता चला कि पार्वती जी शिव जी पर इतनी अनुरक्त हो गई है कि वे कठोर साधना के द्वारा उन्हें प्राप्त करना चाहती हैं तो उनका वत्सल मातृहृदय हिल गया पुत्री की सुकुमारता और तपस्या की कठोरता की कल्पना करके। उन्होंने उन्हें तपस्या से विरत करने का बहुत यत्न किया, पर हठी व लाड़ली पार्वती अपने निश्चय पर दृढ़ रही और एक दिन बातों ही बातों मे पिता हिमवान् से भी इसके लिए स्वीकृति ले ली (५।६-७)। और लगी जाकर गौरी शिखर पर कठोर तप करने।

शालीनता

यहाँ पर भी हम देखते हैं कि एक सुशील एवं कुलीन कन्या की भाँति पार्वती जी ने अपने मन में सकल्पित पति के लिए माता-पिता की आज्ञा को पा लेना अत्यन्त आवश्यक समझा। उनकी शालीनता का उदात्त रूप तो तब और भी अधिक निखर उठता है जब हम सुनते है कि उन्होंने अपनी इस तपस्या के प्रस्ताव को अपने पिता हिमवान् से स्वयं न कह कर सखी के द्वारा कहलवाया[२]। कुमारीगत लज्जा और माता पिता के प्रति आदर व श्रद्धा का बड़ा हो सुन्दर रूप यहाँ उनके चरित्र से अभिव्यक्त हो उठता है। इसे देख कर हमारे मन में कल्पना तक नहीं होती कि हम किसी मानवेतर पात्र के विषय में पढ़ रहे हैं। इस ग्रन्थ में सर्वत्र ही पार्वती हमारे ही समाज की एक जीवित कुलीन कन्या के रूप मे हमारे सामने आती है और मानवीय रूप में ही वह हमें प्रभावित करती है,

---

१. इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ॥ कुमार ५।२।

२. कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपः समाधये ॥ वही, ५।६ ॥

तथा मानव पर अपने मधुर चरित्रों की एक अमिट आप छोड़ जाती है ।

निःसन्देह तपस्वियों को भी लजा देने वाली पार्वती की कठोर साधना (५।१९-२८) सामान्य नारी-सुलभ नहीं, पर फिर भी इसे मानवीय परिवेश से बाहर नहीं कहा जा सकता। ठीक है कि उनकी शारीरिक सुकुमारता (**पदं सहत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः** ५।४) तथा इस कठोर साधना का ध्यान करके मन में एक सिहरन सी उत्पन्न हो जाती है[1]। पर कवि के ही शब्दों में हम पाते है कि उनका शरीर कमलों से निर्मित तो था पर वे कमल भी तो सुवर्ण के बने थे (५।१९) ।

साधिका

देवलोक तथा देवजाति मे शायद ऐसी कठोर साधना का अवसर ही नहीं आता जैसा कि हम शंकर-पार्वती के विषय है पाते है। '**सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतु**' शंकर की आदिशक्ति को क्या आवश्यकता है इस प्रकार शीत, वर्षा, धूप और आँधी में ऐसी कठोर साधना करने की, स्वयं गिरे हुए पत्तों का भोजन भी छोड कर 'अपर्णा' बनने की। 'अर्धनारीश्वर' के शरीर का आधा भाग बन जाने पर भी फिर किसके लिए यह कठोर साधना ? यह तो मानवलोक तथा मानववर्ग का ही अभिशाप है कि यहाँ किसी को पाने की अभिलाषा से जप, तप, यज्ञ, दान आदि करना होता है, अपने भविष्य के सुख-दुखों के बारे में अनजान दुर्बल तथा अभावग्रस्त मानव ही इस मार्ग का अनुसरण करता है। सर्वशक्तिसम्पन्न तथा सर्वसाधनसम्पन्न देवों को इसकी आवश्यकता ही कब हुई ?

उनका तपोवन का जीवन का भी उन्हे एक तपस्विकन्या से अधिक कुछ और सिद्ध नहीं करता। वल्कल वस्त्र, जटाजूट, मूज की तगड़ी रुद्राक्ष माला को धारण करना, यद्यपि बड़े लाड़प्यार व नाज से पाली गई पार्वती के लिए कठिन कार्य था पर अपनी लगन के पक्के लोगों के लिए कोई असम्भव नहीं। इतिहास ऐसे लोगो की जीवन गाथाओं से भरा पड़ा है जिन्होंने कि अपने प्रिय

१. महार्हशय्यापरिवर्तनोच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ।। कुमार० ५।१२ ।

या प्रेमिका को पाने के लिए दुष्कर से दुष्कर कार्य कर दिखाये, चकित कर देने वाला त्याग, तपस्या और साधनाएँ कर दिखाई। इसीलिए पाँचवे सर्ग की पार्वती इस प्रकार के प्रेमियों और साधको की अग्रपक्ति में तो आ जाती है पर उससे आगे नही। उनका आश्रम के लता वृक्षों और पशु-पक्षिओं के प्रति स्नेह और वात्सल्य का व्यवहार भी शकुन्तला के स्नेहसम्बन्ध से आगे नहीं बढ़ सका है (५।१४-१५)। इस विषय में कवि की शकुन्तला उसकी पार्वती से एक कदम आगे ही बढ़ गई है। गुण कर्म, स्वभाव सभी दृष्टियों से पार्वती मानवी है। उसमें स्नेह है, दया है, सौजन्य है करुणा है (५.२६) शालीनता है, दृढता है पर सब मिलकर भी तो उसे एक आदर्श और उदात्त मानव कुमारी से अधिक और कुछ नही बना सकते। उसके चरित्र में कही, किसी रूप मे भी तो अतिमानवीयता या दिव्यता नही दिखाई गई है।

लज्जालुता

उमा-वर्णि सवाद के प्रसंग में तो उसका नारी रूप और भी अधिक निखर आया है। अपने मनोनीत प्रिय के प्रति उसका सहज स्नेह, उसकी अभिव्यक्ति में सहज कुमारीगत लज्जा, सखी के द्वारा उनकी मनोकामना की अभिव्यक्ति, और उसके बाद अतिथि के द्वारा प्रियजन के बारे में ऊलजलूल बाते सुनकर उसके प्रति स्वाभाविक खीझ और झुझलाहट (५।७५-८६)[1] सभी कुछ तो उसे इसी लोक की एक मानवकुमारी सिद्ध करता है। शंकर का वेष बदल कर उसकी परीक्षा लेने को जाना और उसका उन्हें न पहचानना तो उन पर मानवीय परिसीमिता की एक और मुहर लगा देता है। अचानक प्रिय को पास पाकर तो बेचारी लाज से गड़ गई, ठगी सी रह गई[2]।

---

१. (i) अल विवादेन यथाश्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु स:।
ममात्र भावैकरसं मन स्थित न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥

कुमार० ५।८२।

(ii) निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ॥

वही ५।८३।

२. तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धु. शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

वही, ५।८५।

काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह सारा प्रसंग ही बड़ा रस पूर्ण है। तपस्साधना की दृष्टि से जहाँ इस सर्ग में हमें उसके अद्वितीय साहस, धैर्य, सकल्प और कष्ट सहिष्णुता के दर्शन होते है, वहीं दूसरी ओर उसका एक आदर्श प्रेमिका का रूप भी निखर उठता है।

विरह व्याकुलता

भगवान् शंकर की समाधि को भग करते समय काम ने उसके हृदय पर जो वाण मारा था उसने उसके हृदय में गहरा घाव कर दिया था और उसके बाद तो उस प्रेम की पीड़ ने उसे ऐसा व्याकुल किया कि वह चन्दन का लेप तो क्या, जमे हुए हिम की पटियों पर भी उस तपन को शान्त करने वाली शीतलता न पा सकी। महादेव जी के प्यार में वह इतनी पागल हो गई कि उसका हृदय पिघल-पिघल कर उसके विरह गीतों मे वह चला। उन गीतों में वह इस प्रकार अपने हृदय की व्यथा को उड़ेल कर रख देती थी कि उसे सुनकर उनकी सगीत सखियाँ किन्नर-कुमारियाँ भी चार आँसू बहाए बिना न रह सकती थी। शकर विषयक उनका यह उन्माद इस क़दर बढ़ गया था कि वे रात भर सो नही पाती थी। जरा सी आँख लगी कि शंकर को पुकारती हुई उन्हे अपनी भुजाओं में बाँधने का व्यर्थ प्रयास करती हुई सी बड़बड़ा कर जाग उठती थी। अपने हाथ से चित्रित शंकर के चित्र को ही सच्चा शकर समझ कर उसे ही तरह-तरह से अपने प्यार का उलाहना देने लगती थी (५।५४–५८)। ऐसी हो गई थी मीरा की तरह उस प्रेम दिवानी की दशा। पर निर्दय शकर को उस पर अभी तक दया नहीं आई।

कैसा रमणीय प्रसंग है। ब्रह्मचारी के वेष में आये हुए अतिथि शकर के सामने उन्ही के प्रेम का प्यारा प्रसग चल रहा है। उन्हें ही उलाहना दिया जा रहा है और उन्हीं कि बात का विरोध करते हुए अपने प्रिय की भूरि-भूरि प्रशंसा की जा रही है। प्रेमी स्वय अपनी आँखों से अपने ही प्रेम से सन्तप्त प्रेमिका को देखे और स्वयं अपने ही कानों से परोक्ष रूप में अपनी और अपने प्रेम की प्रशंसा सुने इससे अधिक रमणीय और नाटकीय प्रसंग काव्य के लिए और क्या हो सकता है?

अनन्य अनुराग

प्रेमिका को पता ही नहीं कि जिसके सामने वह अपने हृदय के गुप्त रहस्यों को उद्घाटन करवा रही है, जिस पर निर्दयता और हृदय की कठोरता का लाँछन लगा रही है तथा जिसे प्रिय के विरुद्ध बोलने पर फटकार रही है वह और कोई नही उसका चिरअभिलषित प्रियतम ही है। क्या पार्वती को ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न मानने पर इस अद्वितीय प्रसग की योजना तथा इसका रसास्वादन सम्भव हो सकता था? पार्वती के अपने भविष्य विषयक तथा शंकर-विषयक अज्ञान ने ही तो इस प्रकरण को जन्म दिया न! और इस प्रकार का यह अज्ञान ही तो मानव की परसीमा है न! तो फिर क्यों नहीं कहते कि कालिदास की 'कुमारसम्भव' की नायिका पार्वती मानवी है, दिव्य नहीं।

मानवीय व्यवस्था का पालन

अप्रत्याशित रूप से प्रिय मिल गया, प्रेमिका की कठोर साधना ने उसे खरीद लिया। वह उसका 'क्रीतदास' हो गया, पर फिर भी उनका मिलन नहीं हो सकता। मनु के समाज की व्यवस्था ही ऐसी है। मानव को मानव समाज की मर्यादाओं का पालन भी करना ही होगा। स्वयं अर्जित स्नेह सम्बन्ध पर भी पिता की आज्ञा की मुहर लगना जरूरी है। कालिदास की पार्वती यदि देवलोक निवासिनी होती तो यहीं प्रिय मिलन की बात पूरी हो जाती, पर वह तो मर्त्यलोक निवासिनी है। अतः प्रेम में पगी होने पर भी उसने इस दिव्य मिलन के अवसर पर अपनी सखी के द्वारा अपने प्रिय से यह कहलवा देना आवश्यक समझा कि यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते है तो पहले इसके लिए मेरे पिता जी की स्वीकृति प्राप्त कीजिए क्योंकि मेरा विवाह करना और न करना उनके ही अधीन हैं (३।१)।[1] तो क्या अब भी उनकी मानवीयता में कोई सन्देह बाकी रह गया?

मानवीय लोकाचरण का पालन

इसके बाद सातवें सर्ग में विवाह की तैयारियों का सारा वातावरण ही ऐसा है जैसा कि आज भी किसी सम्पन्न मानव गृहस्थ में देखा जा सकता है। हल्द चढ़ाना, तेल चढ़ाना, मंगल स्नान कराना व मंगल नेपथ्य सभी कुछ हमारे समाज के रीति-रिवाजों के अनुरूप है। अन्यथा उस त्रिलोकीनाथ की अर्धाङ्गिनी को क्या आवश्यकता थी इन

---

१. अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्।
दाता मे भूभृतांनाथः प्रमाणीक्रियतामिति॥ कुमार० ६।१।

टोकरों से भरे हुए लोक-विश्वासों के पालन की (७।३–१३)। उसके विवाह के लिए कौन सा मूहर्त शुभ न होता ? देव जाति में तो वैधव्य होता ही नहीं अतः उसके मंगल स्नान और मंगल शृङ्गार के लिए सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियों के विधान की क्या आवश्यकता पड़ी (७।६८,१२) ? अनिष्ट परिहार के लिए दूब और सरसों से उनका शृङ्गार आवश्यक समझा गया। समस्त जगत् के अशुभ और अनिष्ट का परिहार करने वाले के लिए भी अमंगल और अनिष्ट के परिहार की आवश्यकता ?

मानव वधूत्व

एक भारतीय दुल्हन की तरह उनका शृङ्गार हुआ। अगर-चन्दन से सुखाए गये बालों में फूल गुथे गये, दूब में पिरोई हुई महुवे के फूलों की माला जूड़े मे लपेटी गई, सफेद अगरु का अंगराग शरीर पर मला गया, लाल गोरोचन से उस पर चित्रकारी की गई, गालों पर लोध्ररज तथा गोरोचन लगा, कानों में जौ के अंकुर लटकने लगे। विवाह के अवसर पर इस प्रकार के मंगल शृङ्गार की प्रथा थी। इसीलिए सखियों ने पैरों में महावर लगाया और आँखों में काजल आँचा, मणियों, मोतियों और सोने के आभूषणों से अलंकृत उमा का वह सहज सुन्दर रूप इतना मोहक लग रहा था कि उसने स्वयं इसे जब दर्पण में देखा तो वह भी इसे देख कर चकित सी रह गई और इसी मादक वेष में ही महादेव जी से मिलने को मचल उठी[1]। माता मैनका ने भी विवाह की रस्म को पूरा करने के लिए वहाँ उपस्थित होकर अपनी दो अंगुलियों से गीली हरताल और मंगल सूचक मैनसिल लेकर अपनी पुत्री के माथे पर तिलक करके और उसके हाथ मे विवाह का प्रतीक मंगल कंगन बाँध करके उसके विवाह नेपथ्य को पूरा कर दिया (७।१४–२६)। इस प्रकार नई दुल्हन का शृङ्गार पूरा हुआ। पूरा प्रकरण ही काव्य सौन्दर्य तथा भारतीय विवाह परम्परा के रीति-रिवाजों की दृष्टि से पठनीय है।

---

१. आत्मनमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेश: ॥ कुमार० ७।२२।

मानवीय धार्मिक सस्कारों का परिपालन

विवाह मंडप में भी लोगों से आखे बचा बचा कर जिस चाहभरी चितवन से पार्वती जी बार-बार महादेव जी को देखने का उपक्रम करती रही, पाणि ग्रहण की रस्म के के समय उनके हाथ का मधुर स्पर्श पाकर उनके शरीर में जो रोमाँच हो गया था तथा भॉवरों के समय शंकर जी के स्पर्श को पाकर वे आखे मूद कर भाव-विभोर हो कर जिस प्रकार अग्नि के फेरे देती रही थी (७।७५, ७७,८०) वह भी हमें मानव भाव-भूमि मे ही लाकर खडा कर देता है। कालिदास शकर-पार्वती के इस लौकिक रूप चित्रण के प्रति स्वयं भी सतर्क थे। वे समझ रहे थे कि 'जगत के माता-पिता' पार्वती-शकर का विवाह इन लौकिक सीमाओ मे बंधा हुआ नहीं हो सकता, पर फिर भी काव्य की मॉग को पूरा करने के लिए उन्हे ऐसा करना पड़ा। इसीलिए उन्होने यही पर इस बात को सकेत से स्पष्ट कर देना चाहा है। वे कहते है—जिन शंकर और पार्वती को ससार के वर-वधू की शोभा बढ़ाने के लिए विवाह के समय स्मरण किया जाता है आज उन्ही का विवाह हो रहा है। इसकी शोभा का अनिर्वचनीय होना तो स्वाभाविक ही है[1]।

मानवीय दाम्पत्य का रूप

अब तो शायद हमें मान ही लेना चाहिए कि कालिदास जिन शंकर-पार्वती के विवाह का वर्णन कर रहे है वे उन शंकर पार्वती से भिन्न है जो कि जगत् के नव वर-वधू को मंगल आशीर्वाद देने तथा उनकी शोभा को वढ़ाने के लिए आमन्त्रित किये जाते हैं। किन्तु काव्य के परिवेश में कालिदास ने इस भेद को इतने भीने आवरण से तथा इस कला कौशल से ढका है कि सामान्य पाठक इन दो रूपों में भेद नहीं कर सकता। वह दोनों को मिला कर एक कर डालता है और फलतः आठवें सर्ग के दम्पति मिलन पर नाक-भौह सिकोड़ कर बौखला उठता है। उसकी बौखलाहट भी एक तरह से ठीक ही है। कारण कि उसमें उस भेद-दृष्टि का अभाव है जिससे प्रेरित होकर कालिदास ने

१. प्रयुक्तपाणिग्रहण यदन्यद्वधूवर पुष्यति कान्तिमग्र्याम्।
सान्निध्ययोगादनयोस्तदानी किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥ ७।७८।

शंकर पार्वती का यह समस्त चित्रण किया है। हम पूछते है कि आठवें सर्ग का चित्रण अश्लील ही सही, जगत के माता-पिता के शृङ्गार चित्रण के विरुद्ध ही सही, पर क्या शंकर-पार्वती का जो रूप हम अभी देख आये है वह क्या उनके अनुकूल है? पार्वती का यौवन और सौन्दर्य वर्णन, नव वर-वधू की शृङ्गार चेष्टाएं क्या उस दिव्य रूप के अनुरूप है? जिसके बारे मे हम कालिदास पर आठवें सर्ग के शृङ्गार वर्णन का आक्षेप करने है। क्यों नही उन नैतिकतावादी आलोचकों की दृष्टि इन पूर्ववर्ती वर्णनों पर गई। वहाँ उनकी नैतिकता कहाँ चली गई जो कि वे रस-मग्न होकर उनका रसास्वादन करते रहे। अपनी दुर्बलता का दोप दूसरे के मत्थे क्यों मढ़ना चाहते है? ऐसी अनासक्त दृष्टि क्यों नही बना सकते कि शकर-पार्वती के पौराणिक रूप से पृथक् उनके काव्यात्मक रूप का भी आनन्द ले सके।

पार्वती जी के विवाह का रूप तथा चेष्टाएँ तो है ही इतनी मानवीय कि उसके लिए कालिदास को भी कटुतम आचोचना का विपय बनना पड़ा है। नवयौवना, लजीली, नववधू का सुहाग रात के प्रथम मिलन में जो शृङ्गारिक रूप हो सकता है तथा शनैः शनैः प्रौढ़ हो जाने पर उसका जो रूप हो सकता है उसका जीवन्त शब्द-चित्र कालिदास ने कुमारसम्भव के आठवे सर्ग में खीचा है। किसी भी नव-विवाहित प्रणयी मानव-दम्पति का जीवन इससे श्रेष्ठ और भिन्न नहीं हो सकता। यहाँ पर यदि हम नैतिकता के प्रश्न को छोड़ दे तो कहना होगा कि इस सम्पूर्ण सर्ग में शकर-पार्वती का चित्रण मानव-दम्पति के प्रथम मिलन के साङ्गोपाङ्ग चित्रण से किसी अंश में भी भिन्न नही, दोनो पूर्णतः मानवीय रूप में हमारे सामने आते है। मानवलोक की ही मर्यादाओं और सीमाओं में बधे हुए।

किन्तु इस विपय में इतना हम भी यहाँ अवश्य ही कहेंगे कि कालिदास का यह प्रयास सामान्य कवियों के द्वारा अनुकरणीय नही। ठीक है कि कालिदास जैसा प्रतिभावान् कवि अपने काव्य-कौशल से इसे खूबी के साथ निभा गया; किन्तु सामान्य प्रतिभा का कवि ऐसा नहीं कर सकता। पूज्य जनों को पूज्य रूप में रखते

हुए उनका ऐसा वर्णन अवश्य ही अमर्यादित होगा और लोक की आलोचना का विषय भी। हमें अन्धानुसरण में न जाकर इस सारे प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना होगा, तभी हम कालिदास और उनकी काव्य-कला के साथ न्याय कर सकेंगे।

(ii) पार्वती का दिव्यांशीय रूप

पार्वती के पौराणिक रूप के संकेत भी हमें कालिदास की रचनाओं मे यत्र तत्र देखने को मिलते ही हैं। रघुवंश (१।१) में उन्हें जगन्माता कहा गया है विक्रमोर्वशीय में संगमनीय मणि की उत्पत्ति उनके पैर के तलवे से कही गई है। मेघदूत में गंगा के प्रति उनके भ्रूविक्षेप की बात कही गई है। पुत्र कार्तिकेय के प्रति उनका स्नेह तो मेघ० और रघु० मे कई स्थानों पर व्यक्त हुआ है। कुमारसम्भव मे भी अनेकत्र, जगन्माता, अर्धनारीश्वर की पत्नी की बात कही गई हों। कार्तिकेय का जन्म तो इसकी मुख्य कथा है ही।

३. कामदेव

'कुमारसम्भव' के अन्य प्रमुख मानवेतर पात्र जिनका कालिदास ने मानवीकरण कर डाला है वे है, काम और रति।

पौराणिक रूप

कालिदास की अन्य रचनाओं में कामदेव की जीवन घटनाओं तथा कार्यकलापों से सम्बन्धित जो संकेत पाये जाते है उनसे तथा कुमार सम्भव के कुछ संकेतों से जहाँ एक ओर कामदेव का पौराणिक रूप स्पष्ट होता है वही दूसरी ओर कुमारसम्भव' में वह एक प्रमुख पात्र के रूप में हमारे सामने आता है तो हम देखते हैं कि उसके वर्णन में कालिदास ने उसे मानवीय आवरण में लपेट लिया है। उसमे मानव सुलभ भावों का समावेश कर डाला है।

कामदेव के पौराणिक रूप को अभिव्यक्त करने वाले जिन शब्दों का कालिदास के ग्रन्थो मे यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है उनमें से कुछ का विश्लेषण करके हम उसका स्वरूप कुछ इस प्रकार निर्धारित कर सकते है। कामदेव शारीरिक सौन्दर्य का प्रतिमान है। शायद सौन्दर्य में उससे बढ़ कर और कोई रूप नहीं। इस लिए जहाँ पुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा दिखलाना अभिप्रेत हुआ

है वहाँ कामदेव से ही उसकी तुलना की गई है। अग्निमित्र (माल०), अज (रघु० ७।१५), दशरथ (रघु० ९।४८) आदि सभी को कामदेव के समान सुन्दर कहा है। लगता है कालिदास विशेष रूप से यह व्यञ्जित करना चाहते है कि कामदेव का सौन्दर्य इतना आह्लादक नहीं जितना कि मादक है। इसीलिए इन उपमानों में उसके लिए मन्मथ, मदन, स्मर आदि शब्दों का ही विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

इसकी पत्नी का नाम है 'रति'। इसी कारण इसे 'रति-पति' के रूप में सम्बोधित किया गया है और इसका एक अभिन्न मित्र है वसन्त, जोकि इसके कार्यों में अनेक प्रकार से सहायक होता है (ऋतु०६।२६,३८)। कुमारसम्भव मे तो वे दोनों ही पात्र अपने-अपने रूप में हमारे सामने आते है।

इसके अस्त्र-शस्त्र आदि का भी विविध रूपों में पर्याप्त संकेत मिलता है। कालिदास ने इसे पुष्पधन्वा, कुसुमायुध, कुसुमवाण, पुष्पपतत्रि, पुष्पचाप आदि शब्दों से सम्बोधित किया है[1]। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इसका धनुष भी फूलों का बना हुआ है और बाण भी फूलों के ही हैं। जहाँ तक उसकी डोरी का प्रश्न है उसके लिए भिन्न-भिन्न शब्द मिलते हैं। एक स्थान पर (मेघ० उ० ३४) उसे 'षट्पदज्यम्' कह कर कालिदास उसका भौरों से निर्मित होने का संकेत करते हैं तो दूसरे स्थान पर (कुमार० ४।२९) उसे 'विपतन्तुगुण:' कह कर उसका कमल नाल के तन्तुओं से निर्मित होना बतलाते है। संगत यही लगता है। फूलों से बने हुए धनुष और बाण की डोरी कमल नाल के तन्तुओं से ही निर्मित होनी चाहिए। जहाँ तक भौरों की डोरी का प्रश्न है वह तो इस रूप में भी सम्भव हो सकता है कि फूलों की सुगन्ध के कारण भौरो की ऐसी पंक्ति उस पर आ चिपकती थी कि वह डोरी ही भौरों से बनी सी दिखाई देने लगती थी। इसके बाणों की संख्या पाँच मानी जाती है। कालिदास ने इसे एक स्थान पर 'पञ्चबाण' के रूप मे अभिहित किया है (विक्रम० ६, ११)। कालिदास ने यद्यपि प्रमुख रूप से इसके बाणों के

1. शाकु० ३।३ ; कुमार० २।६४, ३।१०, ३५ आदि।

लिए 'आम्रमञ्जरी' का ही उल्लेख किया है (शाकु० ६।८) कुमार० २।६४ आदि) पर कवि परम्परा में अरविन्द, अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल को इसके पाँच बाणों के रूप में गिनाया गया है। इसके अतिरिक्त नवयुवतियों के हाव-विलास और चञ्चल चितवन का भी काम के बाणों में उपयोग किया गया है (मेघ०, कुमार०)। मालविकाग्निमित्र (२।१३) में इसके बाणों को 'त्रिषदग्ध' भी कहा गया है। शाकुन्तला में (६।३ और इससे पूर्व) वर्ष की सर्व प्रथम निकलने वाली आम की बौर से इसका पूजन किया गया है।

इसे 'मकरध्वज' (कुमार० १।४१) तथा 'मकरकेतु' (शाकु० ३।४) भी कहा गया है, जोकि इसकी ध्वजा में मकर के होने का संकेत करता है। इसका अर्थ कई लोग 'मकर' की सवारी भी करते हैं। पर कालिदास ने ध्वज शब्द का अर्थ शायद झंडे के ही अर्थ में ही किया है क्योंकि 'रघुवंश' में एक स्थान पर (९।४५) उन्होंने हवा में उड़ते हुए पुष्पपराग की उत्प्रेक्षा कामदेव के हवा में लहराते हुए झंडे से दी है (**ध्वजपटं मदनस्य**)। अतः 'मकरकेतु' का अभिप्राय मकरचिन्हाँकित ध्वज से ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त इसे 'अनंग', 'वितनु' आदि शब्दों से भी अभिहित किया गया है। कामदेव कब, क्यों, कैसे अनंग हुआ था इस समस्त पौराणिक कथानक का साँगोपांग वर्णन तो 'कुमार सम्भव' का विषय ही है। इसे हम अभी आगे चलकर देखेंगे।

'ऋतु संहार' में एक पद्य में काम के सम्पूर्ण रूप को यों व्यक्त किया गया है—'आम की प्यारी-प्यारी बौर ही जिसका श्रेष्ठ बाण है, टेसू के फूलों का जिसका धनुष है, भौरों की पाँत जिसके धनुष की डोरी है, कलंक रहित निर्मल चन्द्रमा जिसका छत्र है, मलयाचल का पवन ही जिसका मदमत्त हाथी (वाहन) है, कोयल जिसकी गायिका है, प्यारा वसन्त जिसका सखा है, शरीर के न रहते हुए भी जो संसार को जीते हुए हैं वह काम वसन्त के साथ आपका कल्याण करे।' (६।३८) यह हैं कामदेव का पौराणिकरूप जिसका संकेत हमें कालिदास की रचनाओं में मिलता है।

हम जानते है कि काम एक अमूर्त मनोवेग है : इसे मूर्त रूप देने का जो प्रयास अथर्व वेद में प्रारम्भ हुआ था (अथर्व, काण्ड ३ सूक्त २५) उसका विस्तार किया पुराणों ने। उसका रूप निखरा, उसका बाना बना और वह गृहस्थ बना। मित्र, कलत्र की योजना हुई, बाणों की संख्या निर्धारित हुई। उनके नाम, रूप का विधान हुआ, क्रिया कलापों में अभिवृद्धि हुई और अन्त में शंकर की समाधि भंग करने के अपराध में अनंग भी बनना पड़ा। पौराणिक कामदेव का पूर्ण विकसित रूप कालिदास के सामने था यह हम ऊपर के संदर्भो से ही देख चुके है।

मानवीय रूप

पौराणिक कामदेव देव हैं तथा अति मानवीय शक्तियों से युक्त भी। किन्तु कालिदास इसे भी निरा देव न रख सके, उसे भी मानव की भाव भूमि पर उतार लाये। केवल एक स्थान को छोड कर, जब उसने अपनी अतिमानवीय शक्ति से शंकर की तपोभूमि में अकाल में ही उन्मादक वसन्त का अवतार करा दिया था, और कही भी हमें उसके चरित्र में अतिमानवीयता का अंश दिखाई नही देता है।

कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में कामदेव का प्रथम परिचय इसके तृतीय सर्ग के प्रारम्भ मे किया हैं। वह इन्द्र का मुँह लगा सेवक प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि यहाँ पर इसका चरित्र-चित्रण करते समय कालिदास के समक्ष ऐसे दरबारी कृपापात्र सेवक वा सामन्त का चित्र रहा जो कि थोड़ी सी प्रशंसा पाकर फूल उठता है और शेखी में आकर बडे से बड़े काम का बीडा भी ऊपर उठा लेता है। इन्द्र उसकी दुर्बलता को समझता है। इसीलिए जब वह उसकी राजसभा मे प्रवेश करता है तो इन्द्र ने बड़ी सम्मान भरी दृष्टि से उसे देखा और अपने पास ही अपने आसन के समकक्ष आसन पर उसे बिठाया।

कृपापात्र सेवक

कामदेव जैसे उथल स्वभाव के व्यक्ति के लिए सब देवताओं वा सामन्तो के समक्ष इतना सम्मान सम्राट् की ओर से मिलना बहुत बड़ी बात थी। स्वामी पर अहसान करने तथा अपना बड़प्पन दिखाने का मौका था। वह इसे हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। शेखी में आकर कहने लगा—यह तो स्पष्ट ही

आत्मश्लाघी

है कि आप सबके गुणों को जानते हैं। आपने जब मुझे बुलाया है तो निश्चय ही आप मुझ में उस कार्य को कर सकने का सामर्थ्य देखते होंगे जिसे कि आप मुझसे करवाना चाहते है। पर कृपा करके यह तो बतलाई कि तीनों लोकों में ऐसा कौन सा काम है जो कि आप मुझसे करवाना चाहते है। आपने मुझे याद करके मेरे ऊपर जो अहसान किया है, मैं आपकी आज्ञा का पालन करके उसे और भी बढाना चाहता हूं (३।३)। इसके बाद तो तपस्वियों के तप, सतियों के सतीत्व, ज्ञानियों के ज्ञान, धर्मात्माओं के धर्म, नीतिज्ञों की नीति, वीरों के शौर्य को अपने इशारे मात्र से चकनाचूर कर देने की जो शेखी उसने बघारी है (३।५-९) उससे उसके चरित्र की यह दुर्बलता और भी उभरने लगती है। और तो और अपनी शेखी में आकर वह तो यहाँ तक कह जाता है—आप की कृपा हो तो मै अकेले वसन्त की सहायता से अपने फूलों के बाण से पिनाकपाणि शंकर जी के भी छक्के छुडा सकता हूँ और 'धनुर्धारियों की तो गिनती ही क्या'[1]। भाग्य की विडम्बना तो देखिए कि अनजाने ही मुँह से क्या कुछ निकल गया। भावी से अनभिज्ञ मानव ही ऐसी बात कह सकता है, सर्वज्ञ देव नही। इन्द्र की युक्ति काम कर गई। वह जो कुछ स्वयं कहने में झिझक रहा था उसे अपनी शेखी में आकर कामदेव स्वयं कह गया।

मानवीय दौर्बल्य

इन्द्र ऐसे लोगों के स्वभाव को खूब अच्छी तरह से जानता था, वह जानता था कि ऐसे लोग कहने को तो बहुत कुछ कह जाते है पर जब करने का समय आता है तो बात को टालने में भी देर नही करते। कहना आसान है पर करना इतना आसान नहीं। हम प्रतिदिन के व्यवहार में देखते है कि लोग बड़ी-बड़ी बातें कह जाते है और जब उन्ही से उन्हें करके दिखाने को कहा जाता है तो वे सटपटा जाते हैं। वस्तुत: किसी कार्य की गुरुता का पता तब चलता है जब स्वयं अपने ही सामने उसे करने का प्रश्न उपस्थित होता है। इन्द्र मानव चरित्र की इस दुर्बलता से परिचित था ही। उसका जोश कही उतर न जाय या वह अपने कहे हुए शब्दों

---

१. तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेक मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युति के मम धन्विनोऽन्ये ॥कुमार० ३।१० ॥

से मुड़ न जाय इस भय से उसे और दृढ़ करने के लिए कहने लगा—'तुम्हारी शक्ति को मै भलीभाँति जानता हूं 'वह तो वज्र से भी अधिक शक्तिशाली तथा अचूक है, इसीलिए मैं तुम्हें अपने ही जैसा समझ कर एक बडे उत्तरदायित्व पूर्ण काम में लगाना चाहता हूँ[1]। हम समझ सकते है कि कामदेव जैसा सेवक अपने स्वामी की इस प्रशसा को सुनकर किस प्रकार फूल गया होगा। इसी समय उचित अवसर जान कर इन्द्र ने उसकी बात को दुहराते हुए तथा अपनी योजना को बताते हुए कह दिया कि उसे जाकर शंकर की समाधि भंग करके उनके मन में पार्वती के लिए आकर्षण उत्पन्न करना है। यहाँ पर इन्द्र ने कामदेव को उत्साहित करने के लिये उसकी जो प्रशंसा की है वह सुनने योग्य है। वह कहता है—बस समझ लो कि देवताओं की विजय तुम्हारे ही बाणों के अधीन है! सचमुच तुम वड़े भाग्यशाली हो जो इतने वडे यश के भागी बन रहे हो, यश भी तो संसार में उसे ही प्राप्त होता है जो कि किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा न हो सकने वाले असाधारण काम करने का बीड़ा उठाता है। फिर तुम्हारे तो दोनों हाथों में लड्डू है। एक तो सब देवता लोग इस कार्य के लिए तुमसे प्रार्थना कर रहे है और दूसरे इससे तीनों लोकों का कल्याण भी होगा। इस पर भी विशेषता यह कि तुम्हारे वाण से किसी की हिंसा न होगी और आज तुम्हें देख कर सभी के मन में तुम्हारा जैसा बल पाने की इच्छा जाग उठी है[2]।

हम देखते है कि कामदेव स्वयं अपनी शेखी और इन्द्र की प्रशंसा के जाल में फंस गया है। कही हुई बात से पीछे मुडने का कोई अवकाश भी नही। साथ ही यह भी देखा जाता है कि कई बार ऐसे फूंकी चरित्र के लोग परिस्थिति की गम्भीरता को जानते हुए भी अपनी हतक के भय से अपनी शक्ति से भी बाहर का काम करने को तैयार हो जाते है। अतः और कोई

---

१. अवैमि ते सारमत खलु त्वा कार्ये गुरुण्यात्मसम नियोक्ष्ये ॥ कुमार० ३।१३ ॥

२. अस्मिन् सुराणा विजयभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृतीत्वम् ।
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥ वही, ३।१९ ॥
सुरा समभ्यर्थयितार एते कार्यत्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
चापेन ते कर्म न चातिहिस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥ वही, ३।२० ।

चारा न देख कर बेचारा कामदेव अपनी जान को हथेली पर रख कर, चल दिया शंकर की समाधि को भंग करने। उसे तथा उसकी पत्नी को भी साफ-साफ दीख रहा था कि आज खैर नहीं। पर और कोई चारा भी तो नही, इधर कुआ उधर खाई वाली बात थी। कार्य न करने पर स्वामी का कोप और करने पर शकर का कोप। इन दोनों में से समझदार व्यक्ति के समान उसने महादेव जी का कोप भाजन बनना ही अधिक उपयुक्त समझा। इधर तो कोप के साथ मानहानि का भी भय था किन्तु उधर कोप के साथ सम्मान रक्षा निश्चित थी।

खैर, महादेव जी के तपोवन में जाकर कामदेव ने वसन्त के साथ मिल कर अपनी शक्तियों का खूब प्रदर्शन किया। अपनी शक्तियों के मद में अन्धा बना हुआ वह अपने निकट भविष्य को भी नही देख सकता था। फिर भी इतना हम अवश्य कहेगे कि उसने जिस दुष्कर कार्य का साधने को बीड़ा उठाया था उसमें अपनी ओर से कोई कोर कसर नही छोड़ी। अपनी ओर से शकर की समाधि भंग करने के लिए पूरे आत्मविश्वास के साथ अपना जाल फैला रहा था; पर जब उसने देवदार वृक्ष के नीचे, पत्थर की पटिया पर, बाघाम्बरधारी, समाधिस्थ शंकर को देखा तो उसके होश गायब हो गये। धनुष पर हाथ ढीले पड़ गये और अनजाने ही हाथ से धनुषबाण छूट कर गिर गये (३।५१)।

उसी समय रति को भी लजा देने वाली, सर्वाङ्गसुन्दरी पार्वती यदि वहाँ शंकर की पूजा के लिए न आती तो सन्देह था कि काम शिव जी पर अपना बाण चलाने का साहस भी करता। पार्वती की उपस्थिति ने ही उसके मन में जितेन्द्रिय शिव को जीतने की आशा को जगा दिया[१]।

कामदेव ने शेखी में आकर बिना सोचे समझे अपनी शक्ति से भी बड़े काम को करने का बोड़ा उठाया था, अतः उसकी

अदूरदर्शिता

विफलता तो निश्चित ही थी; पर फिर भी हम देखते है कि एक बार तो उसने महादेव जी को भी हिला दिया (३।६७-६८)। शंकर की समाधि

१. तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥ ३।५७।

टूटी, मन चंचल हो गया। कामदेव देवताओं के कार्य की भेंट चढ़ गया, अमर हो गया। कामदेव के जीवन के इस अश को देखकर हमें अनायास ही अपने उन असंख्यों वीर हुतात्माओं को याद ताजा हो जाती है जिन्होंने कि अपने देश, जाति वा धर्म की रक्षा के लिए इसी प्रकार दुष्कर कार्यो में हाथ डाल कर अपने आप को अपने शत्रुओं की क्रोधाग्नि का शिकार बना दिया था। ऐसे वीरों का बलिदान व्यर्थ नही जाता, एक न एक दिन अपना रग लाता जरूर है। कामदेव का बलिदान भी रंग लाया जरूर। शंकर और पार्वती का मिलन हुआ। देवों को त्राण मिला असुरों के अत्याचार से। कामदेव को मर कर भी अमर रहने का अक्षय वरदान मिला। इस दृष्टि से देखने पर कामदेव का चरित्र बहुत ऊँचा उठ जाता है।

मरण-धर्मिता

पर हमें भूलना नही चाहिए कि कामदेव के चरित्र के इस अंश के चित्रण में भी कालिदास के सामने मानव चरित्र ही रहा होगा। क्योंकि देव जाति में प्रायः इस प्रकार के बलिदान का अभाव पाया जाता है। फिर जो देव है, अमर है, वह मर कैसे सकता है। किसी भी पुराण वा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में देवताओं को मरते हुए दिखाया गया हो ऐसा स्मरण नही आता। मरणधर्मा तो केवल मानव है, मर्त्यलोक का प्राणी। अतः काम भी देव नहीं मानव ही है। उसकी दुर्बलता तथा महानता दोनों ही मानवीय है। चारित्रिक विशेषताओं का ऐसा मिश्रण मानवों में ही अधिक पाया जाता है। कालिदास ने तो देवों को अधिकतर स्वार्थी और विलासी रूप में ही चित्रित किया है। देवकार्य के लिए इतना बड़ा संकट तो मानव ही मोल ले सकता है देव नहीं; क्योकि मानव को तो मरणधर्मा होने के कारण यह शरीर छोड़ना ही पडेगा। यदि देवकार्य या महान् कार्य के लिए यह काम आ जाय तो और भी अच्छा; किन्तु देवता लोग पहले तो अमर होने के कारण शरीर छोड़ ही नही सकते और फिर छोड़े भी तो भला किसके लिए? भला उन देवताओं से किसी के लिए आत्मबलिदान की क्या आशा की जा सकती है जो कि उस बेचारे कामदेव के लिए भी दो आँसू न बहा सके, उसकी विधवा पत्नी के प्रति सहानुभूति के दो शब्द भी नही

कह सके जिसने कि उनके ही लिए अपने को जलती आग में झोंक दिया था। वे स्वार्थी नही तो और क्या है? अतः हम फिर कहते है कि कुमार सम्भव का कामदेव स्वभाव और चरित्र दोनों से ही मानव है देव नही। धन्य है पृथिवीपुत्र कालिदास को जिसने की देव को भी मानव बना कर छोड़ा।

सद्गृहस्थ

इसके अतिरिक्त एक गृहस्थ के रूप में भी हम उसे मानव के ही रूप मे पाते है। वह अपनी पत्नी से अपार स्नेह करता था और उसे हर प्रकार से सुखी तथा प्रसन्न रखने की चेष्टा भी करता था। रति विलाप में उसका यह रूप बहुत स्पष्ट हो उठता है (कुमार० ४।१७-१९)।

४. रति

सौन्दर्यमूर्ति

रति, कामदेव की प्रियपत्नी रति तो भारतीय नारी का जीवन्त रूप है। उसके चरित्र में कही किसी रूप मे भी देवत्व का आभास नही मिलता। जैसा आदर्श उसका सौन्दर्य है, वैसा ही आदर्श है उसका नारी चरित्र भी। उसका चित्रण भी कालिदास ने किसी आदर्श पतिव्रता नारी को सम्मुख रख कर ही किया है इसमें कोई सन्देह नही। वह अत्यन्त सुन्दरी थी, नारी सौन्दर्य का प्रतिमान थी इसका परिचय कालिदास ने हमें पार्वती और इन्दुमती के सौन्दर्य वर्णन में दिया है। 'कुमारसम्भव' में पार्वती उसकी नायिका होने के कारण वह अवश्य ही पार्वती को रति से कुछ आगे बढ़ा गया है (रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्) परन्तु रघुवश मे उसे इन्दुमती के सौन्दर्य की उपमान भूमि पर रख कर उसके सौन्दर्य की उत्कृष्टता को व्यक्त किया ही गया है[1]। वस्तुतः 'कुमारसम्भव' में कालिदास को रति के शारीरिक सौन्दर्य का प्रदर्शन अभिप्रेत ही नही था। इसीलिए इसमें उसका शारीरिक सौन्दर्य उभरने ही नही पाया है और प्रसंगवश यदि वह आया भी है तो गौण रूप से। कालिदास उसके चारित्रिक सौन्दर्य पर मुग्ध था अतः शारीरिक

---

१. रघु० ७।१५ मे विदर्भ की नगर नारियों ने अज और इन्दुमती को जन्मान्तर को प्राप्त काम और रति कहा है।

सौन्दर्य के चित्रण का अवसर ही नही आया। रति के विषय में ही क्यों, हम तो देखते हैं कि समस्त कुमार सम्भव ही उसकी इस भावना से अनुप्राणित है। उसने तो उस शारीरिक सौन्दर्य की भी निन्दा कर दी है (**निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती**) जिस सौन्दर्य के सम्मुख रति के अलौकिक सौन्दर्य को भी फीका बना दिया था। यह तो एक चरित्र काव्य है जिसमें कि प्रत्येक पात्र मानव चरित्र की किसी न किसी विशेषता को लेकर अपनी भूमिका में अवतरित होता है और उसका आदर्शतम रूप प्रस्तुत कर दर्शकों को चमत्कृत कर देता है।

आदर्श पतिव्रता

रति एक आदर्श पतिव्रता नारी है जिसके जीवन का उद्देश्य है अपने सुख दुख के प्रति निर्लेप हो कर सभी अवस्थाओं मे अपने प्रिय पति का अनुगमन करना है। इसलिए कालिदास ने उसके सौन्दर्य, वय आदि का कोई परिचय न देकर सर्वप्रथम हमारा उमसे परिचय ही कराया है पति की अनुगामिनी पतिपरायणा नारी के रूप में। इन्द्र की सभा में जाते समय वह कामदेव के साथ थी, उसने वहाँ का सारा नाटक देखा, पर बोली कुछ नही। कर्तव्य पालन में बाधक बनना उचित न समझा। कामदेव चाहे भावी अनिष्ट की कल्पना न कर सका हो पर सच्ची पतिव्रता होने के कारण उसका हृदय अनिष्ट की आशका से काँप उठा था। पर न वह उसे रोकती है और न कुछ कहती ही है। केवल मात्र अनिष्ट की आशंका से काँपते हुए हृदय के साथ स्वयं भी उसके पीछे-पीछे चल देती है (रत्या च साशङ्कमनुप्रयातः ३।२३)। यहाँ पर कालिदास को शायद नारी हृदय की भीरुता का सकेत भी अभिप्रेत हो।

भाग्य की विडम्बना की शिकार

वह प्रत्यक्षतः महादेव जी की समाधि भंग के कार्य में 'काम' का कोई हाथ नही बटाती, पर रहती है बराबर उसके ही साथ। कामदेव के शर संधान को साँस रोक कर देख ही रही थी कि अचानक शकर के तृतीय नेत्र से अग्नि-ज्वालाए धधक पड़ी और बेचारी रति तो भावी विपत्ति की आशका से ही मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी। इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गई (३।७३) उसे पता ही नही कि कब कामदेव जलकर

राख हो गया। जब बहुत देर के बाद होश आया तो जो कुछ उसने देखा उससे उसकी जो दशा हुई वह वर्णनातीत है। कालिदास कहते हैं—उस राख के ढेर को देखते ही रति बेहाल हो उठी, जमीन पर लोट-पोट हो गई और अपने बालों को बिखेर कर ऐसे विलख कर रोने लगी मानों की समस्त वनराजि ही उसके साथ रो पड़ी हो[1]। उसका रुदन वस्तुतः हृदय द्रावक था। भाग्य ने उसके साथ कैसी बिडम्बना की थी। अभी थोड़ी देर पहले इसी कामकला चतुर प्रिय ने उसका वासन्ती शृङ्गार किया था, उसके दाहिने पैर में महावर लगाया था बायें में लगा ही रहा था कि बीच में ही देवताओं ने बुला लिया था। अभी रति का वह शृङ्गार ताजा ही था, महावर गीलाही था वह सूखने भी न पाया था कि काम जलकर राख का ढेर हो गया (४।१८-१९)। नारी के लिए इससे बड़ा वज्र पात और क्या हो सकता है[2]।

प्रेयसी

रति के इस विलाप में हमें उसके मधुर प्रणयिजीवन की भी झाँकी देखने को मिलती है। उसका पारिवारिक जीवन बड़ा सुखी था। 'कामदेव कभी उसकी अनचाही बात नहीं करता था और वह भी कभी उसकी बात नहीं टालतीं थीं (**कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्** ४।७)। जब वह रूठ जाती तो कामदेव अपराधी भाव से उसके पैरो में पड़ कर उसे मनाया करता था। उसे मना कर गले लगाया करता था और फिर उसके साथ अनेक प्रकार की केलिए किया करता था। अवसर आने पर स्वयं अपने हाथ से उसका शृङ्गार करता था, उसके पैरों में अपने हाथों से महावर रचाता था (४।१७-१९)। वस्तुतः जीवन के इन मधुर क्षणों की याद करके किसका हृदय न फटने लगेगा। कामदेव सदा उसे यह कह कर प्रसन्न रखता था कि तुम तो सदा मेरे दिल में रहती हो (४।९)। पर विधि की विडम्बना कि हृदय जल कर राख हो गया और उस हृदय में रहने वाली को आँच भी नहीं आई[2]।

---

१. अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम्॥ कुमार० ४।४।

२. हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचार पदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः॥ वही, ४।९।

रति के चरित्र में हमें नारी चरित्र की उस दुर्बलता के भी दर्शन होते है जो कि पुरुष के प्रेम की शिथिलता के सम्बन्ध में स्त्रियों में पाई जाती है। वह कहती है—हे मेरे स्वर्गगत प्रिय में भी अभी अपने आपको अग्नि की भेट करकेतुम्हारे पास आ रही हूँ, कही ऐसा न हो कि देरी होने पर स्वर्ग की अपसराएँ तुम्हे अपनी ओर लुभा ही ले (४।२० । उसे इस बात का भी दु.ख है कि वह पति की मृत्यु के बाद भी जीवित रही, वरन् वह इसे अपने जीवन का कभी न मिटने वाला कलंक समझती है (४२१)। उसके इन उद्गारों में जहाँ एक ओर सुन्दर पतियों के स्नेह की शिथिलता के बारे मे नारियो की स्वाभाविक सन्देह शीलता, वा शकालुप्रकृति के दर्शन होते है वही दूसरी ओर पति के प्रति उसके एकनिष्ठ प्रेम के भी दर्शन होते है।

नारी हृदय की दुर्बलता

कालिदास देब जाति को अत्यन्त स्वार्थी समझने है। इसका इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि एक ओर तो बेचारी विधवा रति के करुण क्रन्दन पर समस्त वनराजि ही क्रन्दन कर उठती है और दूसरी ओर उन देवताओं में से एक भी उसके आँसू पोंछने या सहानुभूति के दो शब्द कहने के लिए भी नही आता जिनके लिए कि कामदेव ने शंकर की कोपाग्नि मे अपने जीवन की आहूति दे डाली थी।

साध्वी रति ने इसके लिए किसी को कोसा नहीं, उलाहना नही दिया, इसे दैवगति समझ कर अपने को तथा अपने भाग्य को ही कोसती रही। ऐसे समय में उस बिलखती हुई वियोगिनी को ढाढस बंधाने के लिए यदि कोई वहाँ आया तो वह था कामदेव का सहचर वसन्त। उसे देखकर तो बेचारी रति का दुख और भी सहस्रधार होकर फूट पड़ा। उस पतिव्रता के लिए पति के बिना इस जीवन का एक-एक क्षण दूभर हो रहा था। वह जल्दी से जल्दी उसके पास जाने को आकुल हो उठती है। इसके लिए वह तैयार भी हो जाती है। वसन्त से अनुरोध करती है कि वह उसके लिए चिता तैयार करदे ताकि वह अपने प्रिय की राख को अपने अगों से मलकर लाल-लाल कोंपलो की सेज के

भाग्यवादिता

समान अग्नि की लाल-लाल लपटों वाली चिता पर लेट कर अपने प्रिया के पास पहूँच जाय क्योंकि कामदेव उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता (४।३२–३६)।

कितना ध्यान है उसे अपने परलोकगत पति का। उसकी मानवीयता तो देखिए। वसन्त से कहती है कि मेरे जल जाने के बाद तुम हम दोनों का एक साथ जल से तर्पण करना ताकि तुम्हारा स्वर्गवासी मित्र मेरे साथ ही जल पी सके। तुम आम की कोमल पत्तियों वाली मञ्जरी से उनका श्राद्ध भी अवश्य करना। भला देवों को भी श्राद्ध और तर्पण की कब आवश्यकता हुई? कब-कब देव पत्नियाँ देवों की चिता पर सती हुई? कालिदास का यह समस्त विधान क्या मानवीय नहीं? इस में यदि कुछ अतिमानवीय है तो यही कि ब्रह्मा को आकाश-वाणी ने पुनर्मिलन का आश्वासन दिला कर रति को सती होने से बचा लिया। पर हम देखते है कि बिना शरीर को जलाए ही रति सती हो गई। पतिव्रता नारियों में सदा के लिए अमर हो गई। 'कुमारसम्भव' की रति विलासिनी नही अपितु एक पतिपरायणा भारतीय सद्गृहिणी है।

मानवीय विश्वास

५. हिमवान्

'कुमारसम्भव' का एक और मानवेतर पात्र है जिसके मानवीकरण में कालिदास ने अदभुत कौशल का परिचय दिया है। वह है पर्वतराज हिमालय। कालिदास का हिमालय चेतन जंगम भी है, जड़ हिमालय भी। पौराणिक जगत् के स्थावर हिमवान् के झीने आवरण के बीच कालिदास ने जंगम हिमवान् की महामहिम मूर्ति को उभारा है। यह सब कुछ इतने कलात्मक ढ़ंग से किया गया है कि पता ही नही चलता कि एक का प्रभाव कब खत्म हुआ और दूसरे का कब प्रारम्भ। कई बार तो इन दोनों रूपों के बीच कोई विभाजक रेखा खींचना ही कठिन हो जाता है।

स्थावर और जगम का आवरण

'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में बीच-बीच में ऐसा अनुभव होने लगता है कि हम स्थावर हिमवान् का परिचय प्राप्त कर रहे हैं, पर कालिदास के शब्दों पर थोड़ा सा ध्यान देने से ही यह हमारा भ्रम दूर हो जाता है। कालिदास ने तो काव्य के प्रारम्भ में ही उसका मुख्य परिचय 'देवतात्मा' कह कर दिया है[1]। ऐसा लगता है कि कालिदास हमारे सामने दो हिमालयों का तुल्य (parallel) चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं। एक हिमालय मिट्टी पत्थर का ढ़ेर है और दूसरा है उन समस्त पर्वतीय प्रदेशों का सम्राट् जिन्हें कि 'देवभूमि' के नाम से अभिहित किया जाता है[2]। कालिदास का हिमवान् और भौगोलिक वा पौराणिक हिमवान् एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है इस बात को कवि ने बड़ी खूबी के साथ व्यक्त कर दिया है[3]।

मानव सम्राट्

कवि का मानवीकृत हिमवान् यज्ञों का सहायक तथा पृथ्वी का पालक है इसीलिए स्वयं ब्रह्मा जी ने उसका पर्वतों के सम्राट् के पद पर अभिषेक किया है। उसकी राजधानी का नाम औषधिप्रस्थ है। इसके वन प्रदेश बड़े समृद्ध हैं, वह दुर्लभ औषधियों, वनस्पतियों, बहुमूल्य रत्नराशियों तथा विभिन्न प्रकार की धातुओं से परिपूर्ण हैं, जिनसे उसे इतनो आय होती है कि उसका कोष धन से भरपूर ही रहता है। उसकी समृद्धि के सामने अलका और स्वर्ग की भी समृद्धि फीकी लगती थी[4]। उसका विवाह उसके कुल के समान उच्च कुलवाली तथा शीलवाली 'मैना' नामक राजकन्या से हुआ है। वह उसके साथ अपने गृहस्थ धर्म का पालन करता है तथा उसके गर्भ से उसकी प्रथम सन्तान पुत्र 'मैनाक' का जन्म हुआ जिसका विवाह उसने नाग कन्या के साथ किया। इसके बाद उसकी दूसरी सन्तान 'पार्वती' का जन्म हुआ जो कि पूर्व जन्म में दक्ष की पुत्री, सती थी (१।१७–२२)।

---

१. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।। कुमार० १।१।

२. दिवं यदि प्रार्थयसे वृथाश्रमः पितुःप्रदेशास्तव देवभूमयः ।। कुमार० ५।४५।

३. कुमार० ६।५१; ५८।

४. अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसंपदाम्।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम ।। वही ६।३७।

इस प्रकार वह हमारे सम्मुख एक समृद्ध पर्वतीय राज्य के शासक तथा एक सम्पन्न परिवार के स्वामी के रूप में आता है।

सद्गृहस्थ

वह एक सद्गृहस्थ है और उसका घर ऋषियों और मुनियों की चरण रज से पवित्र होता है। वह बड़े आदर के साथ अतिथियों का स्वागत सत्कार करता है तथा उनकी सेवा से अपने को कृतार्थ समझता है[1]।

वत्सलपिता

वह एक वत्सल पिता है। बड़े लाड़ प्यार से अपनी सन्तान का लालन-पालन करता है। समय-समय पर उनकी अवस्था के अनुरूप उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। उनके मनोरंजन, शिक्षा-दीक्षा आदि का समुचित प्रबन्ध करता है। अपनी शिक्षिता और युवती कन्या के लिए उसे वर की भी चिन्ता है। पर पति के चुनाव में वह उसे स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है। नारद के द्वारा वर का प्रस्ताव करने पर जब उसे पता चलता है कि शंकर के साथ विवाह करने की पार्वती की भी इच्छा है तो वह इस बात का बिल्कुल भी विरोध नहीं करता। वरन् समय आने पर स्वयं ही अपनी पुत्री को लेकर शिव जी की सेवा में उपस्थित होता है (१।५८)।

ऐश्वर्य सम्पन्न कुलीन मानव

हिमालय के चित्रण के समय भी लगता है कालिदास का आदर्श कोई समृद्ध तथा कुलीन भारतीय शासक ही रहा। पार्वती के प्रति अगाध स्नेह होने पर भी वह इस बात में अपनी हेठी समझता है कि वह स्वयं जाकर शंकर से अपनी कन्या को ग्रहण करने के लिए कहे। एक स्वाभिमानी पिता की भाँति वह यही सोचकर बैठ जाता है कि जब तक महादेव जी स्वयं आकर कन्या की याचना नहीं करते तब तक अपने आप वहाँ जाकर उनसे कन्या के लिए प्रार्थना करना ठीक नहीं[2]। लगता है शंकर जी भी उसके इस स्वाभिमानी स्वभाव से अपरिचित नहीं। इसीलिए तो वे सप्तऋषियों से कहते हैं कि—ऐसी ऊँची प्रतिष्ठा

१. अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः।
मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः॥ कुमार० ६।५७।

२. अयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे॥ वही, १।५२।

वाले तथा पृथ्वी को धारण करने वाले हिमवान् के साथ सम्बन्ध करके मैं भी अपने आप को धन्य समझूंगा[1]। हम देखते हैं कि कालिदास ने उसके इस स्वाभिमान को बराबर कायम रखा है। पार्वती की प्रारम्भिक सेवा-सुश्रूषा सब व्यर्थ हो गई। शंकर जी कामदेव को भस्म करके उस तपोवन को छोड़ कर दूर चले गये और पार्वती निराश होकर रह गई। इसे देख कर हिमवान् वत्सल हृदय को चोट अवश्य लगी, पार्वती और अधिक दुःखी न हो जाय इसीलिए उसे गोदी में उठाकर घर तो ले आया पर उसके स्वाभिमान ने उसे शंकर के सामने जाकर पुत्री के लिए स्नेह की भीख माँगने की आज्ञा नहीं दी। इतना ही नहीं इस दुर्घटना के बाद भी उसने पार्वती जैसी लाड़-प्यार से पली बेटी को शिव को पाने के लिए कठोर तपस्या करने की आज्ञा तो दे दी (४।१) पर स्वयं इसके लिए शिव जी के पास जाने का विचार तक मन में नहीं आने दिया। इसके चरित्र के इस गुण को देख कर तो राजपूत कालीन भारत की एक झाँकी सी आँखों के सामने आ जाती है।

कवि के हिमवान् का असली मानवीय रूप हमारे सामने छठे सर्ग में उभरता है। एक अत्यन्त ऐश्वर्यशाली साम्राज्य (६।३६–४७) का अधिपति होने पर भी उसमें घमंड का नाम भी नहीं। 'अभ्यर्थना भंग' होने के भय से चाहे उसे शंकर के पास जाने में अपमान प्रतीत हुआ हो, किन्तु घर आये अतिथियों के प्रति उसने जिस सभ्यता, शिष्टता और नम्रता का परिचय दिया है वह दर्शनीय है (६।५४-६३)।

हिमालय जैसा ही उन्नत, लम्बा-चौड़ा और बलिष्ठ उसका शरीर है, उसके गेरुए जैसे लाल लाल होंठ, देवदारु सी लम्बी भुजाएँ, चट्टान सी चौड़ी और मजबूत छाती को देखकर कवि ने उसे ही चलता फिरता हिमवान् कह दिया हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या है[2]। अपने पाठकों के मन से उनके एकत्व के भ्रम का निवारण करने के लिए कालिदास ने एक बार

अतिथि-सत्कार एवं विनय-शीलता

---

१. उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः।
तेन योजितसम्बन्धं वित्त मामप्यवञ्चितम् ॥ कुमार० ६।३०।

२. धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ वही, ६।५१।

स्वयं हिमालय के मुख से तथा दूसरी बार ऋषियों के मुख से उसके द्विधा व्यक्तित्व को स्पष्ट किया है। प्रथम बार तो अपने घर आये अतिथियों के प्रति सम्मान-भाव व्यक्त करते हुए वह कहता है कि 'आप लोगों ने मेरे चल और अचल दोनों शरीरों पर अलग-अलग कृपा की है। क्योंकि मेरे जङ्गम शरीर को आपने सेवा का अवसर प्रदान किया और स्थावर शरीर को अपने चरण स्पर्श से पवित्र किया'[1]। हिमालय द्वारा प्रदर्शित आदर, सत्कार और विनम्रता के उत्तर में अंगिरा ऋषि कहते हैं—हे हिमवान् आपने हमारे प्रति जो भाव व्यक्त किये हैं वे आपकी महत्ता के अनुकूल ही है। क्योंकि आपका मन ऐसा ही ऊँचा है जैसे कि आप के शिखर (६।६६), जिस प्रकार निरन्तर बहने वाली आपकी पवित्र नदियाँ समुद्रों तक निर्मल जल का प्रसार करती हैं वैसे ही संसार में आपका पवित्र यश फैला हुआ है (६।६९) आपने अपनी समस्त कठोरता को इस स्थावर शरीर में भर डाला है और आपका यह जंगम देह सत्पुरुषों की सेवा के लिए भक्तिभाव से सदा झुका ही रहता है[2]। स्पष्ट है कि कवि हिमवान् प्रदेश तथा सम्राट् हिमवान् को पृथक्-पृथक् देख रहा है। स्वस्वामिभाव सम्बन्ध के अतिरिक्त दोनों के नाम, स्वभाव तथा चरित्र में इतनी समानता है कि दोनों भिन्न होते हुए भी एक से लगने लगते हैं। अनन्वय के रूप में यदि कहा जाय कि 'हिमवान् हिमवान् सा है' तो बात स्पष्ट हो जाती है। कवि का हिमवान् अपने में तथा अपने शासित प्रदेश में कोई अन्तर नहीं समझता। एक को वह अपना स्थावर शरीर समझता है तथा दूसर को अपना जंगम शरीर। प्रदेश से शासक का तथा शासक से प्रदेश का संकेतबोध भी होता ही है। अतः हिमवान् का शासक होने के नाते उसका संकेतबोध भी हिममवान् के ही नाम से हुआ और हर विशेषता की तुलना हिमवान् से की गई। इस प्रकार दोनों में अभेद सा हो गया।

---

१. जङ्गमं प्रैष्य भावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम्।
विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः॥ कुमार० ६।५८।

पार्वती का विवाह शिव जी के साथ करने के ऋषियों के प्रस्ताव पर यद्यपि वे स्वयं सहमत थे किन्तु फिर भी एक सद्गृहस्थ की भाँति उन्होंने इस विषय में अपनी पत्नी की सम्मति को जानना आवश्यक समझा (६।८५)। उन्होंने कन्या के विवाह के लिए शुभ लग्न निकलवाया और एक सम्पन्न पिता की सामर्थ्य के अनुसार पार्वती के विवाह की योजना करवाई। उनके घर और नगर की समस्त साज-सज्जा को देखकर किसी भी भारतीय परिवार की कन्या के विवाह का दृश्य उपस्थित हो जाता है। बारात आने पर महाराज हिमालय स्वयं दूर तक अगवानी के लिए गये और बड़े आदर के साथ उनका स्वागत किया, वर का पूजन किया (६।७२)। स्वयं शास्त्रीय विधि-विधान पूर्वक कन्यादान किया। विवाह के बाद पुत्री की विदाई पर उनका वत्सल हृदय पिघल पड़ा था जिसकी शीतल धारायें आज भी भारत भूमि के हृदय देश का सिंचन कर रही हैं।

मानवीय व्यवहार एवं लोकाचारों का पालन

कालिदास ने हिमालय के रूप में हमारे सामने एक ऐसे चरित्र का उभार किया है जिसका उदात्त व्यक्तित्व हमारे हृदय पर अपनी महत्ता एवं विशालता की अमिट छाप डाल जाता है। हम भी कहते हैं कि हिमालय का व्यक्तित्व हिमालय जैसा ही महान् है। स्थावर हिमालय यदि इस धरा का मानदण्ड है तो कालिदास का जंगम हिमालय भी मानवता का उच्चतम मानदण्ड है। उस जैसे उदात्त, शक्तिशाली, धीर, वीर, गम्भीर तथा स्नेह व शालीनता के प्रतीक मानव को पाकर किसी भी देश, जाति वा वर्ग के लोगों का सिर गौरव से ही ऊंचा हो जायेगा।

महामानवता

६. कुमारकार्तिकेय

'कुमारसम्भव' के मानवेतर पात्रों में एक अन्य नाम जो विशेष रूप से हमारे सामने आ सकता है वह है कुमार कार्तिकेय। किन्तु मेरा अपना ऐसा विश्वास है कि कुमार सम्भव का वह अंश कालिदास की लेखनी से प्रसूत नहीं जिसमें कि कार्तिकेय का चरित्र-चित्रण हुआ है। भाषा, भाव और अभिव्यक्ति के अतिरिक्त मुझे यह भी संगत नहीं लगता कि शंकर

मानवीय चित्रण का अभाव व उसका कारण

और पार्वती का इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से मानवीकरण कर देने वाला 'कुमारसम्भव' का कवि कार्तिकेय के जीवन में कहीं भी मानवीय चरित्रों की छाया भी न डाले। यहाँ उसके गर्भाधान से लेकर तारकबध की समस्त कथा उस पौराणिक वातावरण में चलती है जिसमें कि सर्वत्र अतिमानवीयता की भरमार है। यहाँ तक कि ४ ५ पद्यों में उनकी बाल लीलाओं का जो वर्णन हुआ है (११।४२–४७) उसमें भी कोई बात ऐसी नहीं जो कि हृदय को छू लेती हो। वात्सल्य भाव के नाम पर उमड़ पड़ने वाले कालिदास के हृदय के दर्शन ही यहाँ नही होते। कुमार भरत, आयुष, रघु आदि के चित्रण में जो सरसता तथा स्वाभाविकता है उसकी यहाँ छाया भी नही पाई जाती है। केवल ६ दिन का कार्तिकेय तारकासुर से युद्ध करता है तथा उसका वध कर डालता है। कार्तिकेय को अमित तेजस्वी मानते हुए भी कालिदास ऐसी बात शायद नहीं करा सकते थे। भरत और आयुष ने जो कुछ किया वह उनकी आयु के अनुकूल ही था।

कालिदास भी कार्तिकेय के पौराणिक रूप से भली भाँति परिचित थे। इसका प्रमाण हमें उनकी अन्य रचनाओ से मिलता है। विक्रमोर्वशीय में कहा गया है कि वे आजन्म ब्रह्मचारी है और गन्धमादन पर्वत में उनका आश्रम है, जिसके विषय में उनका नियम है कि यदि कोई स्त्री उस उद्यान में प्रवेश करेगी तो वह लता रूप में परिणित हो जायेगो और तब तक लता ही बनी रहेगी जब तक कि उसे पार्वती जी के चरणों से निस्तृत 'संगमनीय' मणि का स्पर्श प्राप्त न हो जाय (विक्रम० ४।७३ से पूर्व)।

'मेघदूत' में इनका निवासस्थान देवगिरि को कहा गया है और इनके जन्म के विषय में कहा गया है कि इन्द्र की सेनाओं की रक्षा के लिए भगवान् शंकर ने जिस सूर्य से भी बढ़ कर तेज को अग्नि में रखा था उसी से स्कन्द का जन्म हुआ है (१।४७) और मयूर को इनका वाहन भो बताया है (१।४८)। रघुवश में इन्हे षण्मुख तथा छहों मुखों से छह कृत्तिकाओं का स्तन्यपान करने वाला (१४।२२), तेजस्वी तथा पराक्रमी (४।८३) कहा है। इन्हें शरकण्डों के बन से प्राप्त शंकर पार्वती का पुत्र,

(३।२३), देवसेना का पति (७।१) तथा क्रौञ्च पर्वत का भेदक भी कहा गया है। यही है कालिदास की रचनाओं के कार्तिकेय का रूप।

७. मैना

'कुमारसम्भव' का एक और भी मानवेतर पात्र है जो कि हमारे मन पर अपने मानवीय व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाता है, वह है पर्वतराज हिमवान् की राजमहिषी मैना।

प्रेयसी व गृहिणी

जन्म से ही मैना अमानवी है, क्योंकि वह रज-वीर्य से उत्पन्न योनिजा सन्तति न होकर अयोनिजा, पितरों की मानस-पुत्री है (१।१८)। किन्तु हिमालय के घर में उसका समस्त व्यवहार मानवीय ही है। विवाह के उपरान्त वह पति के साथ यथेच्छ विहार-विलास का आनन्द लेती है और स्वय अयोनिजा होकर भी अपनी कोख से पुत्र मैनाक और पुत्री पार्वती को जन्म देती है (१।१९-२२)।

एक मानवी के समान उसे बडा कोमल तथा वत्सल हृदय मिला। वह अपनी पुत्री के भविष्य के लिए चिन्तित रहती है।

वत्सल-माता

जब उसे पता लगता है कि उसकी पुत्री पार्वती शंकर को प्रसन्न करने के अपने प्रथम प्रयास में विफल होकर अब कठोर तपस्या के लिए तैयारियाँ कर रही है, तो उसका हृदय उस कठोर साधना की कल्पना करके दहल उठता है और वह कई प्रकार से समझा बुझा कर उसे इस कठोर निश्चय से विरत करने का भरसक प्रत्यन करती है (५।३-५)। उन्हीं का यह 'वर्जन' था कि हिमवान् की पुत्री गौरी, पार्वती के अतिरिक्त 'उमा' भी कहलाने लगी।

पार्वती की साधना सफल हुई। मैना की भी चिन्ता मिटी। ऋषियों के द्वारा हिमवान् से कन्यादान की याचना करने पर जब वे सहमत हो गये तो उन्होंने अन्तिम स्वीकृति के लिए अपनी पत्नी की ओर देखा। क्योंकि हिमवान् समझते थे कि मैना लोक-व्यवहार में, विशेष कर कन्यादान के विषय में उनसे अधिक समझ रखती है और उसने भी एक पतिव्रता भारतीय नारी की भाँति बिना कुछ अधिक कहे ही पति का समर्थन कर दिया (६।८५-८६)।

पतिव्रता पत्नी

पार्वती के विवाह के अवसर पर तो वह स्नेह से गद्गद् दिखाई देती है। उसमें किसी भी उस माता का रूप स्पष्ट देखा जा सकता है जिसकी कि पुत्री का विवाह हो रहा हो। पार्वती का मंगल स्नान तथा मगल प्रसाधन हो चुकने पर वह भी अपनी ओर से लोकाचार की प्रथा को पूरा करने के लिए अपनी दो अंगुलियों में गीली हरताल और मैनसिल लेकर पार्वती के माथे पर मंगल तिलक करती है (७।२३)। उस समय वह इतनी भावविभोर हो जाती है कि उसकी आखों में स्नेह के आँसू उमड़ आते है और वह पार्वती के हाथ में ठीक तरह से कंकण भी नहीं बाँध पाती है[1]। वह आनन्द और वियोग में डूब जाती है। मैना हमारे सामने भारतीय समाज की एक जीवन्त मातृ-मूर्ति के रूप में आती है। ऐसी ही माताओं से मानवता गौरवान्वित होती है।

मानव-समाज की अनन्य सदस्या

८. देवराज इन्द्र

पौराणिक देव पात्रों मे एक प्रमुख और है जिसका कि कालिदास ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थों में उल्लेख किया है, वह है देवराज इन्द्र। कुल मिला कर इन की सब रचनाओं से इन्द्र का पौराणिक रूप प्रायः स्पष्ट हो जाता है पर लगता है कि कालिदास को न उसका देव रूप ही भाया और न मानुष रूप ही। वैदिक काल में इन्द्र का जो स्थान रहा हो और उसकी स्तुति में चाहे जितने मन्त्र कहे गये हों किन्तु उसके बाद इन्द्र के चरित्र का जो विकास हुआ वह न देव जाति के लिए गौरव की बात हो सकती थी और न मानव जाति के लिए ही। कालिदास ने देव जाति का गुणगान तो कभी किया ही नहीं उनकी दृष्टि में मानव से बढ कर कोई सृष्टि ही नहीं थी[2]। अतः जहाँ वर्णन की आवश्यकता भी हुई है उनका मानवीकरण कर डाला है। पर इन्द्र के चरित्र में कालिदास को इतने दोष तथा

इन्द्र के प्रति कालिदास का दृष्टिकोण

---

१. बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्या. स्थानान्तरे कल्पित-सन्निवेशम्।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणनूर्णामय कौतुकहस्तसूत्रम्॥ ७।२५।

२. देखिए—मानवता का महागायक कालिदास।

दुर्बलताएँ दिखाई दीं कि उन सब के साथ उसका मानवीकरण मानव जाति के लिए कोई गौरव की बात न होती। ऐसा मानव मानव जाति के लिए गौरव नही कलंक का रूप होता। कालिदास से पूर्व ही इन्द्र के व्यक्तित्व के साथ इतनी घटनाओं का संयोजन हो चुका था कि कालिदास उन सब की उपेक्षा करके उसका मानवीकरण नही कर सकते थे। ऐसा करने पर वह चरित्र इन्द्र का न हो कर किसी और का होता। अतः कालिदास ने उसकी समस्त त्रुटियों एव दुर्बलताओं का उल्लेख करके उसे मानव के समकक्ष भी नहीं रखा। यहाँ तक की उसे मानवों से पराजित होते तथा सहायता के लिए याचना करते हुए दिखा कर उसे मानव से भी निम्नस्तर पर ला छोड़ा है।

इन्द्र का पौराणिक रूप

वह अदिति और कश्यप का पुत्र है (शाकु० ७।२७)। इसकी पत्नी का नाम शची (इन्द्राणी) है और पुत्र का नाम जयन्त (वही ७।२८; रघु० ३।२३)। शारीरिक विशेषता की दृष्टि से इसकी निर्निमेष हजार आँखों का उल्लेख कई बार हुआ है[1]। वह स्वर्ग का शासक है (रघु०३।४) और देवेन्द्र कहलाता है। उसे तेजस्वी भी कहा गया है (वही १६।५) उसकी शक्ति को तीनों लोकों की रक्षा करने वाली कहा गया है (विक्रम० त्रिलोक **रक्षी महिमा हि वज्रिणः** (१।६)। वह नन्दन वन में विहार करता है। वह या तो १००० घोड़ों से खीचे जाने वाले रथ में चलता है (रघु० १२।१०३) या ऐरावत हाथी पर (वही १०।८६)। रथ के घोड़ों का रंग एक स्थान पर पीला कहा गया है (रघु० १२।८४) तथा दूसरे स्थान पर हरा (वही३।४३) और उसके सारथी का नाम है मातलि (रघु० १२।८४।१०३ आदि) उसके पास १०० तीखी धारों वाला वज्र है जिसे कि वह अपने हाथ में धारण करता है (रघु० ९।१२, १८, २१ शाकु० ७।२६ आदि) इसकी दमक इन्द्र धनुष की सी बतलाई गई है (कुमार० २।२०) इसी से यह अपने शत्रुओं का नाश किया करता है। इसने १०० अश्वमेध यज्ञ किये थे अतः इसे अनेक स्थानों पर 'शतक्रतु' कहा गया है (रघु० ३।४९)। इसीलिए किसी दूसरे को १०० यज्ञ पूरे करते

१. कुमार० २।२९-३०; रघु० ३।४३; विक्रम० २।१६।

देख कर यह अपने इन्द्र पद के विषय में शंकालु हो उठता है। मखांश को प्राप्त करने वालों में इसका स्थान प्रथम है (३।४४)।

इसके अतिरिक्त इन्द्र सम्बन्धी जिन पौराणिक गाथाओं का उल्लेख कालिदास ने किया है वे हैं—वृत्रासुर का वध (रघु० २।२०), नमुचि नामक राक्षस के साथ उसकी शत्रुता (रघु० ९।२२), रावण के द्वारा पराजित होना (रघु० ६।४०), वज्र से पर्वतों के पंख काटना (रघु० ३।७, ४१; ९।२), सर्व प्रथम समुद्र से निकलने पर अमृत घट को थामना (वही १०।५२) और काकुत्स्थ के लिए वृषभ बनना। कुमारसम्भव में पतिव्रताओं के पातिव्रत्य को भंग करने का अप्रत्यक्ष उल्लेख तो आता है किन्तु प्रत्यक्षतः अहिल्या की कथा का कहीं कोई उल्लेख कालिदास ने नही किया है।

चारित्रिक दृष्टि से कालिदास ने इन्द्र के चरित्र की किसी विशेषता का उल्लेख नहीं किया है, हाँ उसकी अनेक दुर्बलताओं का,

चारित्रिक दुर्बलताएँ

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उल्लेख अवश्य किया है। वह बड़ा ईर्ष्यालु तथा शंकालु प्रकृति का व्यक्ति है। उसकी पदलोलुपता ने ही उसे ऐसा बना दिया है। किसी को कठोर तपस्या करते या १०० वाँ यज्ञ करते देखकर वह अपने इन्द्र पद के लिए भयभीत हो उठता है (कुमार० ३।४, रघु० ३।४९) और उचित-अनुचित किसी भी तरीके से उसकी पूर्णता में बाधा डालकर ही रहता है (रघु० सर्ग ३ अश्वहरण, १३।३९-४२ तथा शाकु० शकुन्तला जन्म प्रसंग)। उसके इस चरित्र को देख कर उसे तेजस्वी और 'त्रिलोकनाथ' कहते हुए हिचकिचाहट सी होती है। रघु के अश्वमेध के घोड़े को वह चोरों की तरह चुरा कर ले जाता है और फिर अपनी मानसिक दुर्बलता उसके आगे रख कर इसी बहाने घोड़े को ले जाता है। कुमारसम्भव' में तो उसका और भी नैतिक पतन दिखाई देता है। कामदेव कहता है कि मै किसी भी हठी पतिव्रता का मन चंचल करके आपके पास ला सकता हूँ जिसे पाने के लिए आपका जी कर रहा है (३।७-८)। उसका यह कहना इन्द्र के स्वभाव और चरित्र को ही प्रतिफलित करता है। स्वार्थी इतना कि कामदेव के भस्म हो जाने के बाद उसकी

पत्नी के प्रति शाब्दिक सहानुभूति तक प्रकट नहीं करता। ऐसा है कालिदास का इन्द्र।

ब्रह्मा

देव जातीय पात्रों में एक और पात्र जिनकी ओर हमारा ध्यान जा सकता है वे है ब्रह्मा। कालिदास ने इनका विधि, विधाता, विश्वसृक्, ब्रह्मा आदि अनेक नामों से अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया है। 'कुमारसम्भव' में तो इनका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इसके अनुसार तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही शक्ति के तीन नाम है, चर और अचर समस्त संसार की सृष्टि करने वाले यही हैं, यही संसार की 'प्रलय-स्थिति-सर्ग' के हेतु है, मानव सृष्टि के लिए यही अपने आपको स्त्री और पुरुष के रूप में विभक्त कर लेते हैं, इनका शयन ही संसार का महाप्रलय तथा जागृति ही सृष्टि है। यह स्वयं 'अयोनि' होकर भी 'जगद्योनि' है, 'निरन्तक' होने पर भी 'जगदन्तक' है और स्वयं 'अनादि' होते हुए भी 'जगदादि' हैं तथा स्वयं 'निरीश्वर' होकर भी 'जगदीश्वर' है। विश्व का कोई रूप ऐसा नही जो इनमें सम्भव न हो सकता हो। ये ही चारों वेदों के वक्ता हैं। प्रकृति भी हैं और पुरुष भी हैं, पितरों के भी पिता, देवताओं के भी देवता तथा सृष्टि करने वाले प्रजा-पतियों के भी उत्पन्न करने वाले हैं। ये ही हव्य-होता, भोज्य-भोक्ता वेद्य-वेदिता, ध्येय-ध्याता आदि सभी कुछ हैं[1]।

मानव-कलाकार का आरोप

कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास की दृष्टि में ब्रह्मा जी विश्व की परम शक्ति के प्रतिनिधि है। उनसे बढकर किसी शक्ति की कल्पना नही की जा सकती है। पर फिर भी उनकी रचनाओं में ऐसी उक्तियों एव प्रसगों की कमी नही है जिनमें कि उन्होंने विधाता को मानवीय भावों के परिवेश में न देखा हो। विशेष कर जब संसार के सृष्टा के रूप में उनका प्रसंग आता है तो कालिदास सहज ही उनमें मानव कलाकार का आरोप कर डालते है। उस समय वे ब्रह्मा जी के उपर्युक्त सभी रूपों को तथा शक्तियों को भुला बैठते है।

---

१. कुमार० २।४-१५।

उनके विचार में मानवकलाकार के समान ही विधाता को भी अपनी श्रेष्ठ कृतियों के लिए समाधिस्थ होने की आवश्यकता होती है। दिलीप जैसी दिव्याकृतियों के निर्माण के लिए तो शायद उसने 'महाभूतसमाधि' धारण की होगी[1]। इतना ही नहीं वे तो कहते है कि मानव कलाकार के समान ही विश्व सृष्टा को सुन्दरतम कलाकृति के निर्माण के लिए विशेष 'प्रयत्न' करना पडता है। सामग्री को एकत्र करना, उसका ठीक-ठीक स्थान पर 'विनिवेश' करना आदि सभी कुछ बड़ी निपुणता के साथ करना पड़ता है तब कही वह किसी सौन्दर्य मूर्ति की रचना कर पाता है[2]। शकुन्तला की रचना के प्रसग में तो कालिदास ने उनकी मानवीयता को और भी अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। उनका विचार है कि शकुन्तला के वास्तविक रूप के निर्माण से पूर्व विधाता ने उसके रूप की पहले तो मन में कल्पना की होगी और फिर मन को पूर्ण रूप से सतोभाव में स्थित किया होगा, तभी इस अनोखे स्त्री रत्न की सृष्टि सम्भव हो सकी होगी[3]। उर्वशी के प्रसग में तो हम देखते है कि कालिदास ने विधाता की रचना शक्ति पर ही आशका व्यक्त कर डाली है[4]। कलाकार के रूप में तो उन्होंने विधाता का ऐसा मानवीकरण कर डाला है कि वे दोनों मे किसी प्रकार का भेद ही नही करते। यहाँ तक कि दोनों का एकत्र वर्णन करते हुए वह यह भी आवश्यक नही समझते कि देवी होने से ब्रह्मा की कृति का उल्लेख पहले तथा मानवीय कृति का उल्लेख बाद में करना चाहिए। बल्कि वे इसके

---

१ त वेधा विदधे नून महाभूतसमाधिना। रघु० १।२९।

२. सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेश विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयैव। कुमार० १।४९।

३. चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे।
धातुर्विभु-त्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या.॥ शाकु० २।९।

४. अस्या: सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरस: स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर।
वेदाभ्यासजड़: कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहल:
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ विक्रम० १।१०।

विपरीत ही कर डालते हैं[1]। इस प्रकार हम देखते है कि कलाकार के रूप में उन्होंने ब्रह्मा जी में मानवत्व का पूरी तरह आरोप कर डाला है।

९. यक्ष-अप्सरस् जातीयपात्र

कालिदास की रचनाओ मे यक्षों का स्थान

मानवेतर जातियों में देव जाति के पात्रों के अतिरिक्त जिन अन्य जाति के पात्रों का वर्णन कालिदास की रचनाओं में पाया जाता है वह है यक्ष और अप्सरस्। यों तो सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, किरात, विद्याधर आदि जातियों का भी उल्लेख यत्र-तत्र हुआ ही है पर वे कहीं भी काव्य या नाटक के प्रमुख पात्र के रूप में हमारे सामने नही आये है। केवल मात्र उनकी जातीय विशेषताओं का उल्लेख भर हुआ है। (कुमार० १।५-८, १४-१५, ५४ आदि)। उनकी गणना कालिदास के पात्रों मे नही हो सकती। कवि ने उनका अस्तित्व तो स्वीकार किया है पर उनमे उसे कोई पात्र ऐसा नहीं मिला जिसे कि वह अपनी रचनाओं मे स्थान दे सके। यक्ष और अप्सरस् केवल दो ही ऐसी जातियाँ है जिनके पात्रों को कालिदास ने अपनी रचनाओं के लिए चुना है। पर उन्हे अपनी रचनाओं मे स्थान देने से पहले ही उनका मानवीकरण कर डाला है।

यक्ष का मानवीकरण

निःसन्देह 'मेघदूत' का नायक 'यक्ष' अलका का निवासी है। उस अलका का निवासी है जहाँ पर जीवन में अभाव नाम की किसी चीज की सत्ता ही नहीं। जहाँ के निवासियों के बारे में कहा जाता है कि उनके आँसू आते है तो केवल आनन्द में; प्रिय का इच्छित सयोग न हो पाने के कारण कामजन्य सन्ताप के अतिरिक्त और कोई ताप नहीं, प्रणय-कलह के क्षणों के अतिरिक्त और कभी किसी का किसी से विछोह नही और नई जवानी को छोड़ कर और कोई अवस्था नही[2]। वह भोग और विलास की नगरी है। वहाँ

१. कुमार० १।३२।

२. आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै
नान्यैस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ २.४।

वैभव का नग्न नृत्य होता है। प्रेम, क्रीड़ा, नृत्य, संगीत, साज, शृङ्गार सभी कुछ तो प्राप्त है इस सदा सुहागिन कुबेर पुरी को[१]। धन है, वैभव है, कला है और विलास है[२]। रही सही कमी को पूरी कर देता है मनचाही साध को पूरा करने वाला कल्पवृक्ष[३]। ऐसे सुख, वैभव और विलास के बीच रहने वाला यक्ष भला कालिदास के उस काव्य जगत का प्रमुख पात्र कैसे हो सकता था, जहाँ कि सुख और दुख के सम्मिलित रूप का ही नाम जीवन है (**कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा**)। इसलिए हम देखते है कि कालिदास ने अपने काव्य का पात्र बनाने के लिए उसे वित्तेशों की उस पुरी से निकलवा दिया। भारत भूमि के पवित्र तीर्थ रामगिरि आश्रम में उसको शरण दिलवाई। इतने से भी कवि को सन्तोष नही हुआ तो उसे उसकी समस्त अतिमानवीय शक्तियों से वंचित कराया (**अस्तं गमितमहिमा**), उसे मानव, निरा मानव बनाया तब कही कवि को शान्ति हुई। हमारे सामने कवि ने यक्ष की प्रथम झलक ही इस मानव लोक के सीमित शक्ति सम्पन्न, भाग्य के आगे घुटने टेकने वाले, दुःखों के बोझ से दबे जाते हुए आशावादी मानव के रूप में प्रस्तुत की है। इसी रूप में होता है हमारा राजराजानुचर से परिचय।

कालिदास की दृष्टि में सच्चे स्नेह और विभिन्न मनोदशाओं की व्यापार भूमि केवल मानव मन ही हो सकता है। सृष्टि के अन्य किसी प्राणिवर्ग में इसके रूपों का इतना अच्छा निखार नहीं देखा जा सकता। अतः कालिदास ने शंकर और पार्वती के समान ही यक्ष का मानवीकरण किया। दुर्भाग्य का मारा, तन क्षीण, मन मलीन हो कर वह काव्य की भूमिका में उतरा। उसे तथा उसकी मजबूरियों को

पराधीनता एवं विवशताओं का दास

---

१. उत्तर मेघ, १, २, ५, ७।

२. उ० मे०, १, ५, ७, १०, ११, १४-१६।

३. वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्ष
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणाना विकल्पान्।
लाक्षाराग चरणकमलन्यासयोग्य च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डन कल्पवृक्षः॥ उ० मे० १२।

देख कर उन सैकड़ों सैनिको, राजकर्मचारियों तथा आजीविका की तलाश में विदेशों में भटकने वाले युवकों की स्मृति तरोताजा हो जाती है, जो कि हृदय से अपनी प्रेयसियो के पास जाने के लिए ललकते रहने पर भी स्थान, काल और परिस्थितियों की परिधि में घिरे होने के कारण निर्धारित अवधि और आज्ञा से पूर्व जा नही सकते। किसी न किसी रूप में अपना हृदय संदेश भेजने को आकुल बैठे रहते है। यह दूसरी बात है कि आज के युग मे सचार साधनों के सुलभ होने के कारण उन्हें सन्देश वाहक की इतनी कठिनाई नहीं होती, पर इससे उनके हृदय की आकुलता तथा व्यथा की स्थिति में कोई अन्तर नही पड़ता। लोग तो यहाँ तक कहते है कि मेघदूत का यक्ष और कोई नही स्वयं कालिदास है। तब तो उसके मानव होने तथा उसकी भावनाओं के मानवीय रंग से रंगे होने में कोई सन्देह ही नही हो सकता।

मानव जीवन का प्रतिबिम्बन

हम देखते है कि यक्ष का जीवन मानव जीवन से बिल्कुल भी भिन्न नही है। उसके शाप से पूर्व के जीवन पर भी झाँकने पर हम देखते है कि उसका जीवन तथा चेष्टाएँ मानवीय तत्वों से ही ओत-प्रोत है। सौन्दर्य की प्रतिमान (**सृष्टिराद्येव धातुः**) नई नवेली वधू को पाकर यक्ष ने भी वही किया जो कि कोई भी युवक मानव प्रणयि-युगल करता। 'मधुपान' 'संगीत-गोष्ठियाँ' 'नीवीबन्ध की शिथिलता' प्रणयकोप' 'मानभङ्ग' 'इच्छानुकूलरति' 'हस्तसवाहन' 'मुखस्पर्श लोभ से कर्ण कथन' 'भुजलता शयन' सभी कुछ तो उस छैल छबीले प्रणयि-युगल में पाया जाता है[1]।

मर्त्यलोक-वास

यक्ष का जन्म भले ही यक्ष कुल में हुआ था, पर उसका हृदय था मानव का ही। नई-नवेली सुन्दरी पत्नी को पाकर प्रेम-पाश में कुछ ज्यादा ही उलझ गया था। बेचारा उपेक्षा कर बैठा नियत कर्म की। निर्दयी मालिक से न देखा गया यह, और अपने वित्त के मद में

---

१ (i) आसेवन्ते मधुरतिफल [illegible] (ii) बद्धालापाः बहिरुपवन कामिनो निर्विशन्ति; (iii) नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम्०; (iv) त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्०; (v) नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या, (vi) संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम्; (vii) कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननः स्पर्शलोभात्। उ० मे०।

दण्ड दे डाला उसे, वित्तेश जो था। दूसरे की नौकरी करने वाला इन्सान भला उसे स्वीकार करने के सिवा और कर भी क्या सकता था? यक्षों को भला ऐसी मजबूरी कहाँ? आखिर वह भी तो वित्तेशों' के वंश मे उत्पन्न हुआ था और था उस 'धनदपुरी' का ही निवासी उसके घर का वैभव विलास भी उसकी आर्थिक विवशता का परिचायक नहीं लगता[1]। फिर भी उसे विवशताओं का शिकार होना पड़ा। कवि की कला का चमत्कार तो देखिए कि मानवी शकुन्तला को तो अपने कर्तव्य से विमुख होने पर जो शाप मिला था उसे भोगने के लिए महर्षि मरीचि के दिव्य तपोवन हेमकूट, जो कि कैलास का निकट वर्ती है, पर जाना पड़ा और उस अलकावासी यक्ष को इसी प्रकार के शाप को भोगने के लिए इस मानवलोक के आश्रम रामगिरि पर। शकुन्तला की भाँति यक्ष ने भी केवल प्रेम किया था और इसी प्रेम मे कर्तव्य की थोड़ी सी उपेक्षा हो गई थी। अतः वह प्यार ही उनके लिए अपराध हो गया और कवि को अपने अभिलषित रूप में उन्हे प्रस्तुत करने का अवसर मिल गया।

देवों की भाँति ही कालिदास से पूर्व कभी किसी यक्ष वा यक्षिणी की मृत्यु का वृत्तान्त तो पढ़ा नही था पर उसका यक्ष 'जीवितालम्बनार्थी' अवश्य हो उठा। पत्नी की मृत्यु की कल्पना करके वह काँप उठा। किसी तरह चार महीने तक और प्राण धारण का अनुरोध हुआ। उसे 'अविधवा' का सम्बोधन मिला। अलका में भी मृत्यु! फिर तो वह इसी मानव लोक का एक भाग होना चाहिए। क्योंकि जहाँ तक भी मृत्यु का प्रसार सम्भव हो सकता है वह सब मृत्युलोक की सीमा है और वहाँ का निवासी मर्त्य, मानव। अब भी क्या आप कालिदास के यक्ष को अमरलोक का निवासी मानेगे?

मरण-भय

अतः कालिदास का यक्ष जब मानव लोक और मानव जाति की सीमा में बध गया तो वह उन सभी भावों और स्थितियों का दास हो गया जिनका कि कोई मानव होता है। उसका चिन्तन उसका व्यवहार और उसका रूप सभी कुछ मानवीय हो गया। इसीलिए लगता है कि कालिदास ने उसका

मानवीय सीमाओ का बन्धन

1. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा, इत्यदि ॥ उ० मेघ० १६-१६।

'राजराजानुचर' से अधिक कोई परिचय नहीं दिया। कुबेर का परिचय भी 'राजराज', 'धनपति' आदि विशेषणों से ही दिया है[1]। तो क्या कालिदास का यक्ष प्रच्छन्न रूप से इसी पृथ्वीलोक के किसी 'राजराज' और 'धनपति' का अनुचर तो नहीं। लगता तो कुछ ऐसा ही है। इन शब्दों के प्रति कालिदास का तीखा व्यङ्ग्य तथा 'अनुचरत्व' एवं पराधीनवृत्तित्व' के प्रति जो हार्दिक घृणा व वेदना की अभिव्यक्ति हुई है उनसे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास का इस विषय के साथ कुछ व्यक्तिगत लगाव भी है।

भाग्यहीन मानव का प्रतिनिधि

हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कालिदास का यक्ष केवलमात्र नाम से यक्ष और स्वभाव व कार्य-व्यवहार से मानव है। उसके प्रेमकातर हृदय के चित्रण में कालिदास ने उस मानव-हृदय का जीवन्त रूप प्रस्तुत किया है जो कि विधाता के कठोर विधान को मूक वेदना के साथ सिर झुका कर स्वीकार तो करता है पर उज्ज्वल भावी के प्रति सर्वथा निराश होकर घुटने नहीं टेक देता। इस आठ महीने के संताप ने उसके हृदय को इतना उदार तथा व्यापक बना दिया है कि उसमें समस्त विश्व का दुःख ही प्रतिफलित सा होता दिखाई देता है। हृदय की यह विशालता संतप्त मानव-हृदय में ही सम्भव हो सकती है। अपने जीवन में कभी दुःख का नाम न जानने वाला प्राणी समस्त चराचर जगत् के दुःख-सतप्त प्राणियों के प्रति इतना सवेदनशील नही हो सकता। हम देखते हैं कि सारे ससार का दुःख उसका अपना दुःख हो गया है। वह इस सृष्टि-जगत् में पशु-पक्षी, वन, लता, वृक्ष, नदी, पर्वत, नर, नारी किसी के भी दुःख को नहीं देख सकता। इसीलिए तो वह अपने दुःख के निवारण से पूर्व मेघ से उसके मार्ग में आने वाले उन सभी प्राणियों के दुःखों को दूर करने का अनुरोध करता है

१. (i) अन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ॥ पूर्वमेघ० ३।
(ii) मत्वा देवं धनपतिसखम्०; (iii) तत्रागारं धनपतिगृहात्०
उत्तर मेघ० १४, १५।

जो कि किसी कारणवश दुःखी है[1]। स्वयं तो बेचारा देश, काल और परिस्थितियों का दास बना बैठा है।

भारतभूमि का अनन्य भक्त

कालिदास ने उसके व्यक्तित्व को मानव-व्यक्तित्व के इतने निकट लाकर बैठा दिया है कि दोनों के बीच कोई विभाजक रेखा खींच सकना असम्भव हो गया है। उसका समस्त कार्यकलाप और अभिव्यक्ति पूर्णरूप से भावों मानवीय से अनुप्राणित है। इसीलिए तो यक्ष की विरह-वेदना में मानव-मन की विरह-वेदना इस प्रकार एकाकार हुई है कि वह आज प्रत्येक वियोगी मानव-हृदय की वेदना की प्रतिध्वनि हो उठी है। यक्ष की वाणी में मानव ही बोलता सुनाई देता है।

भारतीयता के अनन्य पुजारी देशभक्त राष्ट्रकवि को शायद उसका मानवीकरण कर देने से ही सन्तोष नहीं हुआ, अतः हम देखते हैं कि उसने यक्ष को इसी भारत भूमि का सपूत बना छोड़ा है। एक सच्चे देशभक्त की भाँति उससे इस धरती के कण-कण के प्रति श्रद्धा और भक्ति अर्पित कराई है। हम उसमें इस विशाल भूखण्ड के सभी नदी, नाले, पर्वत एवं इस देश की धर्म-प्राण जनता के द्वारा मान्यताप्राप्त सभी देवी-देवताओं, तीर्थों और पुण्यस्थलों के प्रति अगाध श्रद्धा का परिचय पाते है। कालिदास ने अपने काव्य का नायक बनाने के लिए उसे यक्ष-पुरी अलका से प्रवासित तो कराया था केवल एक वर्ष के लिए किन्तु लगता है कि उसकी मानवीय सवेदनाओं एवं इस देश के प्रति उसकी श्रद्धाभक्ति से रीझ कर उसे सदा के लिए इसी धरती का प्राणी बना कर रख छोड़ा है। हम सदा उसे अपने बीच पाते हैं। जब तक कालिदास का मेघदूत संसार में पढ़ा जाता रहेगा तब तक यक्ष भी इसी धरती पर प्रत्येक वियोगी मानव के हृदय में वास करता रहेगा। उसके प्रवास का अन्त तो शायद तभी होगा जब कि इस ससार से प्रेम और संवेदनशील हृदय नाम की वस्तुओं का अस्तित्व मिट जायेगा।

---

१. पूर्वमेघ० १७, १९, २८, ३१, ४१, ४३, ४४, ५७ आदि।

१०. यक्षपत्नी

कालिदास द्वारा मानवेतर पात्रों का मानवीकरण करने की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है हमें यक्ष-पत्नी के चित्रण में भी।

आदर्श मानवी

वह भी शरीर और नाम से तो अलकावासिनी है पर उसके जीवन को श्वास प्रश्वास मिलता है इस मानवलोक से ही। उसके जीवन की प्रत्येक चेष्टा व अभिव्यक्ति मानव जीवन तथा मानवोय भावों से अनुप्राणित है। उस जैसी पतिव्रता अलौकिक सुन्दरी को पाकर कोई भी पति अपने को सौभाग्यशाली समझ सकता है। उसका रूप एक भारतीय आदर्श पतिव्रता के रूप से किसी भाँति भी भिन्न नहीं। पति के प्रवासकाल में पतिव्रता नारी के लिए भारतीय समाज के संचालक स्मृतिग्रन्थों तथा साहित्य-परम्पराओं ने जो आदर्श स्थिर किये थे यक्षपत्नी उनका आदर्शतम रूप प्रस्तुत करती है। प्रवासी पति की मंगल कामना तथा उसकी सकुशल वापसी के लिए वह प्रतिदिन अपने कुल-देवताओं का पूजन करतो है (आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा। उ० मे० २५)। उसके 'मलिन वसन' 'एकवेणी' रूखे बाल, (शुद्धस्नानात्परुपमलकम्'), उलझी लटें (कठिन विषमामेकवेणीम्) अलंकरणों का त्याग (सा सन्यस्ताभरणमबला), अञ्जनशून्य नेत्र (रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जन-स्नेह-शून्यम्) फीके होठ सभी कुछ तो इस देश की पतिव्रता नारी के आदर्श रूप की परम्परा का द्योतक है। उसके इस रूप को देख कर सप्तम अंक की वियोगिनी शकुन्तला का स्मरण हो आता है। दोनों एक ही चित्र की दो प्रतिकृतियाँ सी दिखाई देने लगती हैं।[1]

वह एक रूपसी पत्नी ही नहीं, विविध कलाप्रवीण सहृदया गृहिणी भी है। प्रतिदिन गृहद्वार को लीपना, उस पर फूल

सद्-गृहिणी

चढाना, शङ्ख-चक्र-पुष्प आदि की शुभ एवं मंगल सूचक आकृतियों का अंकन करना, घर के पालित पशु-पक्षियों की देख भाल रखना घर की समुचित

---

१. वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥
शाकु० ७।२१।

व्यवस्था रखना आदि सभी गृहकार्य वह अपने हाथ से करती है। अपने अलौकिक सौन्दर्य तथा कठिन तपस्या दोनों में ही वह शकुन्तला और पार्वती से किसी भाँति भी कम नहीं। कालिदास की इन तीन नायिकाओं की त्रिवेणी विश्व में अनुपमेय है। तीनों ही भारतीय नारी-सौन्दर्य—शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक—के स्वीकृत मानदण्ड है। ऐसी नारियों पर ही भारतीय साहित्य और समाज को अभिमान है, नाज़ है।

कालिदास द्वारा उर्वशी का कायाकल्प

उर्वशी भी कालिदास की एक ऐसी ही पात्र है जिसे कि उसने उसके पौराणिक रूप की चहार दीवारी से निकाल कर मानव लोक में उसका प्रवेश कराया है। सच्चे प्रेम और नारीत्व के गौरव से वचित नर्तकी का उद्धार करके उसे गृहिणी, पत्नी, प्रेयसी और मातृत्व का गौरव प्रदान यिया है। उसने वैदिक काल की उर्वशी का उद्धार ही नहीं अपितु कायाकल्प भी कर डाला है। वैदिक काल की उर्वशी जन्म-जात अप्सरा है, इन्द्र के दरबार की रूपाजीवा नर्तकी है और उसके इशारे पर चलने वाली, ऋषि-मुनियों का तप भङ्ग करने वाली अमोघ अस्त्र है[1] और अन्त तक उसका यही रूप बना रहता है। किन्तु कालिदास की उर्वशी का जीवन और चरित्र पहले चाहे जो भी रहा हो पर हमारे नाटक की भूमिका में आते ही हमें उसमें परिवर्तन की रेखा दिखाई देने लगती है। उसमें नारी-जीवन की दुर्बलताएं उभरने लगती है।

मानव का मान

प्रथम दृष्टि में ही मानव-जाति के गौरव पुरूरवा की शक्ति और सौन्दर्य के प्रति उसका आकर्षण झलकने लगता है। देवों के स्वार्थी प्रेम से ऊबी हुई उसकी अतृप्त आत्मा सच्चे मानवीय प्यार के लिए ललक उठती है। वह स्वर्ग के अपने नारीत्व के व्यवसाय से तंग आ चुकी है। अब उसका आदर्श देवेन्द्र नहीं मानवेन्द्र है। वह उसे अपना हृदय दे चुकी होती है। अभी उसके शरीर पर देवराज इन्द्र का अधिकार अवश्य है पर उसके हृदय पर पुरूरवा

१. रम्भा—या तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य ॥

विक्रम० १.४ के पश्चात्।

का अधिकार हो जाता है। इसीलिए इन्द्र की आज्ञा पर जब उसे स्वर्गलोक को जाना पड़ता है तो वह अपना हृदय पुरूरवा के ही पास छोड़ जाती है। वहाँ से जाते समय माला के उलझ जाने का बहाना उसे प्रेमक्षेत्र में प्रथम बार प्रवेश करने वाली कुमारी शकुन्तला की कोटि में ला छोड़ता है[1]। जाने की विवशता है अतः जाती तो है पर पुरूरवा के प्रेम में उसका हृदय इस वियोग से व्याकुल हो उठता है। कालिदास से पूर्व किसी अप्सरा को किसी मानव के लिए इस प्रकार विरह-व्याकुल होते हुए दिखाया गया हो ऐसा स्मरण नहीं आता। इससे पूर्व के सहित्यकारों ने तो मानव के तप, तेज और शक्ति पर अप्सराओं के सौन्दर्य की ही विजय दिखाई है। अमरों की राजसभा की अलौकिक रूप-सम्पन्ना राजनर्तकी किसी मर्त्य पर मुग्ध हो जाय यह तो कोई मानववादी कलाकार ही दिखा सकता है। प्रथम अंक में पाई जाने वाली उसकी शालीनता एवं लज्जालुता को देखकर तो उसे अप्सरा (वेश्या) कहने को भी जी नहीं करता।

अप्सरा से मानवी

विक्रमोर्वशी के दूसरे अंक के बाद तो उर्वशी अतिमानवीय तत्त्वों के रहते हुए भी सम्पूर्णतः मानवीय रूपों एवं तत्त्वों की परिधि में आ जाती है। पुरूरवा की प्रेयसी के रूप में उसे मानव लोक में अवतरित कराने से पूर्व कालिदास ने उसे महर्षि के शाप से शापित करा कर उसका देवलोक निवास का अधिकार छिनवा लिया है और उसे मानवी बना डाला है। शकुन्तला की भाँति ही उसे भी प्रिय के स्नेह में अन्यमनस्क दिखा कर उससे कर्तव्य की उपेक्षा करवा डाली है। दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होने पर भी वह एक मानवी प्रेमिका की भाँति अपने प्रति पुरूरवा के प्रेम को जानने के लिए उत्सुक हो उठती है, उसके मुख से उसकी प्रेयसी के रूप में अपना नाम सुनने के लिए उसका हृदय बेचैन हो उठता है। उसके द्वारा

---

१. उर्वशी—अहो लताविटप एषैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना। सखि चित्रलेखे मोचय तावदेनाम्। तुलनीय—दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे, तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा॥ आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती, शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥ शाकु० २।१२।

व्यक्त प्रेम की आकुलता में अन्य नारीगत प्रेम की आशंका उसको अधीर कर डालती है[१]। अप्सरा का अस्थायी और चल प्रेम स्थायित्व और स्थिरता की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देने लगता है। पुरूरवा की प्रेयसी बनने में वह गौरव का अनुभव करती है, इसी लिये ऋषि के शाप को वह अपने लिए वरदान समझ कर स्वीकार कर लेती है।

प्रेयसी और पत्नी

उसकी प्रेयसी बन जाने के बाद तो वह एक पत्नी की भाँति स्वयं उसकी बन कर उसे सर्वात्मना अपना बना लेना चाहती है। विवशता तो चाहे जो कुछ भी करा ले पर सामान्यतया नारी जाति में यह प्रवृत्ति जन्मजात है, यह एक स्वीकृत मनोवैज्ञानिक तथ्य है। लौकिक प्रेम-व्यवहारों से अनभिज्ञ शकुन्तला भी जब एक बार यह देख लेती है कि दुष्यन्त उस पर आकृष्ट हो चुका है तो वह भी अपनी सौतों के बारे में उसे उलाहना देने से बाज नहीं आती[२]। उर्वशी में भी हमें नारी-हृदय की सहज प्रवृति के दर्शन होते है। अमरों की सभा में देवराज को अपने रूप, सौन्दर्य और विलास से आकृष्ट करती हुई उर्वशी को देख कर इन्द्राणी को चाहे कभी ईर्ष्या हुई हो या न हुई हो किन्तु गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा को एक गन्धर्वकन्या की ओर आकृष्ट होते देख कर उर्वशी का नारीसुलभ हृदय ईर्ष्या से जल ही उठता है। वह पुरूरवा पर अपना एकाधिकार चाहने लगी है और अब उसमें किसी अन्य नारी के प्रवेश को सहन नही कर सकती। हम कह सकते हैं कि यह कालिदास द्वारा उर्वशी में निहित मानवी भाव है। अन्यथा अप्सराओं के लोक में तो एकाधिकार जैसी कोई स्थिति ही नहीं हो सकती। वहाँ तो इस प्रकार के प्रतिबन्ध का कोई अवकाश नहीं। नारी और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों की सीमाएँ तो केवल मनु के समाज में चलती हैं। उर्वशी में इस विजातीय भाव का उदय उसके मानवीत्व का प्रतीक है।

---

१. विक्रम० द्वितीय अङ्क।

२. हला ! किमन्त:पुरविरह-पर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ॥

शाकु० ३।१७, पू०।

कालिदास के मनवीय विधान में नारी का आदर्शतम रूप निखरता है उसके मातृत्व में। इसलिए उनकी प्रथम कृति मालविका तथा मेघदूत को छोड़ कर अन्य सभी कृतियों में उन्होंने नारी को मातृत्व के गौरव से गौरवान्वित किया है। उनकी सभी नायिकाएं प्रिय प्रेयसियाँ भी है और गौरवमयी माताएं भी। यही कारण है कि कालिदास ने स्वच्छन्दविहारिणी, वारविलासिनी अप्सरा, उर्वशी को भी मानवी प्रेयसी बनाने के साथ ही उसे मातृत्व के उत्तरदायित्व से संयुक्त कर डाला है। अप्सरा उर्वशी के लिए चाहे यह विधान विचित्र लगे पर मानवेन्द्र पुरूरवा की प्रेयसी के लिए इसके विना सम्मानित पद प्राप्त करने का और कोई चारा ही नहीं था। रूप और सौन्दर्य का मूल्य इन्द्र के दरबार में हो सकता है पर इस भूलोक में तो मूल्याँकन का मानदण्ड ही कुछ और हो जाता है। यहाँ पर तो नारी का गौरव है उसका स्नेह, समर्पण की भावना और मातृत्व का पद। इनके बिना अपरिमित रूप-संभार भी व्यर्थ है, उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं। इसी लिए तो कालिदास ने वैदिककालीन शाप की सारी प्रक्रिया तथा शर्तो को बदल कर नई शर्तो का विधान करवाया।

मातृत्व

उर्वशी के बारे मे कहा जाता है कि उसने वात्सल्य के स्थान पर पतिप्रेम को अधिक महत्त्व देकर तथा उसे अपनी अतिमानवीय शक्तियो से पति से तिरोहित रख कर मातृत्व को कलंकित किया है। पर बात ऐसी नहीं है। उसमें मातृत्व का भाव पूर्ण रूप से जागृत है, यह तो शाप का विधान था कि उसे गुप्त रूप से अपनी सखी के द्वारा अपने पुत्र आयुप का लालन-पालन एक आश्रम में कराना पड़ा, पर इसका यह भाव कदापि नही कि वह उसके प्रति विल्कुल ही निरपेक्ष रही। सच तो यह है कि बड़ी चतुरता के साथ एक साथ ही पति के प्रति प्यार तो पुत्र के प्रति वात्सल्य को निभाती रही। पुत्र के लालन-पालन का भार सखी को सौप कर वह स्वयं भी गुप्त रूप से वहाँ जाकर उसको देखती रही। उसके मातृत्व का उदात्त परिचय तो हमें उस समय मिलता है जब कि आयुप को पुरूरवा की राजसभा में प्रस्तुत किया जाता है। उसे देखते ही उर्वशी का मातृत्व उमड़ पड़ता है। वह

भाव-विभोर हो उठती है और उसका स्तनाँशुक स्नेह-निस्पन्द से गीला हो जाता है (५।१२)। पुत्र-दर्शन की भाव विह्वलता में वह शाप की बात को भी बिलकुल भूल जाती है और बाद में इन्द्रका नाम सकीर्तन ही उसे इसकी याद दिला सकता है[1] और फिर अन्त में यक्ष की भाँति ही कालिदास ने उसे भी यावदायु इस भूलोक में ही रोक लिया है[2]। कह नहीं सकते कि वह फिर कभी इस लोक से गई भी कि नहीं। लगता तो नही कि वह गई हो।

---

१. उर्वशी—शृणोतु महाराजः। प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमुत्थेनानन्देन विस्मृतास्मि। इदानी महेन्द्र-संकीर्ततेन स्मृतः समयो मम हृदयमायासयति॥ विक्रम० ५।१५।१-२।

२. नारदः—इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति॥ वही।

प्रकृति-सम्बन्धी पात्र

कालिदास द्वारा प्रकृति का मानवीकरण

कालिदास के मानवेतर पात्रों की एक तीसरी श्रेणी भी है और वह है स्वयं दृश्यमान प्रकृति तथा उसके स्थावर-जंगम रूप। इसके एक रूप को हिमवान् के वर्णन में भी देख चुके है। हिमवान् का वर्णन पुराणों में भी आता ही है इसलिए हमने पौराणिक पात्रों के प्रसंग में ही उस पर विचार कर दिया था। अब यहाँ पर हम प्रकृति के कुछ उन रूपों के देखेंगे जो कि पौराणिक कल्पना की देन नहीं अपितु कालिदास की अपनी ही नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भूत हुए है। प्रकृति को मानव वेष में उपस्थित करके उसके द्वारा नाटच-रूपकों की सृष्टि तो सम्भव हो सकती है और हुई भी है किन्तु उसे उसके अपने असली रूप में ही उपस्थित करके उसके द्वारा मानवीय व्यापारों की कल्पना शायद सबसे पहले कालिदास की ही बुद्धि में समाई थी। हम देखते है कि कालिदास के अन्य पात्रों के समान ही प्रकृति भी उसका एक पात्र है। वह विविध रूपों में हमारे सामने आई है पर सभी रूपों में हम उसे अपने भावों एवं चेष्टाओं के अतिनिकट पाते है। उनका सारा कार्य-व्यापार मानव-लोक के कार्य व्यापार से संचालित होता दिखाई देता है। हमारे ही समान उनमें भी कालिदास ने सुख-दु:ख, स्नेह-सहानुभूति जैसे कोमल भावों की अभिव्यक्ति दिखलाई है। वरन् कई अंशों में तो उनका स्वरूप मानव से बढ कर है। उनमें कहीं भी क्रोध ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिक्रिया आदि का भाव नही दिखाया गया है। स्नेह, दया और परोपकार की भावना ही उनमे प्रमुख रूप से पाई जाती है, कालिदास ने प्रकृति को इसी रूप में देखा व प्रस्तुत किया है।

मेघ का मानवीकरग

प्रकृतिगत पात्रों में सर्वप्रथम हमारे सामने 'मेघदूत' काव्य का मेघ ही आता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि कालिदास का यह मेघ केवल, **'धूमज्योतिः सलिलमरुतां'** का **'सन्निपात'** के रूप में ही नही अपितु एक सचेतन प्राणी के रूप में हमारे सम्मुख आता है। वह बड़ा कुलीन है। 'पुष्कर' और 'आवर्तक' मेघों के वंश में उसका जन्म हुआ है और वह इन्द्र का विश्वसनीय 'कामरूप'

पुरुष है[1]। दीनों का दुःख हरने वाला 'संतप्तानां त्वमसि शरणम्' (१।७) परम उपकारी है इसलिए सभी संतप्त जन उसकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखते है (१।१६)। उसकी सहृदयता का तो कहना ही क्या ! जब कभी अपने बिछुड़े हुए मित्रों से मिलने का अवसर आता है तो प्रेम से गद्गद् होकर आँसू बहाने लगता है[2]। दिल इसका बड़ा ही कोमल है। मित्र ही क्यों, किसी भी दुःखी व्यक्ति को देख कर इसका हृदय करुणा से पिघल उठता है और इसकी आँखों में आँसू उमड़ आते हैं[3]। यक्ष उसे बराबर सखे सौम्य, सुभग, साधो, आयुष्मन् आदि शब्दों से सम्बोधित करता है। गृहस्थ है, 'विद्युत् कलत्र' है (१।४२; २।१)।

देश-काल का दास

मानव की ही भाँति वह भी देश-काल का दास है। यक्ष अपनी प्रेयसी के पास शीघ्र से शीघ्र अपना कुशल-सन्देश पहूँचाने को आकुल है। वह शायद मन ही मन चाहता है कि मेघ काल की परिधि को लाँघ कर क्षण भर में ही अलका पहुँच जाय किन्तु वह नहीं जानता कि यह मेघ अब केवल 'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपात' नहीं रहा। ऐसा होता तो शायद वह देशकाल के बन्धन को तोड़ कर यक्ष का सन्देश तुरन्त पहुँचा भी देता। परन्तु कालिदास ने तो उससे यक्ष का दौत्य स्वीकार करवाते ही उसे भी 'अस्तंगमितमहिमा' करवा कर एक मर्त्य की ही भाँति देशकाल का दास बनवा डाला है। इसीलिए तो आकाश-पथ से जाते हुए भी उसे मार्ग में न जाने कितने पर्वतों का व्यवधान पार करना पड़ेगा[4]। आकाशचारी को पर्वतों का व्यवधान ! देखिए महाकवि के विधान को ! समय का व्यवधान तो है ही।

---

१. जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्,
जानामि त्वां प्रकृति-पुरुषं कामरूपं मघोनः ॥ १।६।

२. काले काले भवति भवता यस्य संयोगमेत्य, स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम् ॥ १।१२।

३. त्वामप्यस्त्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ उ० मे०।

४. उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः कालक्षेपं ककुभ-सुरभौ पर्वते पर्वते ते ॥ पू० मे० २४।

मानव के ही समान वह भी काम-संवेगों की भूमि है। उसका प्रथम परिचय ही हमें 'इन्द्र के कामरूप प्रकृतिपुरुष' के रूप में दिया गया है। हमारे कृष्ण कन्हैया की भाँति रूप वाला[१]

कामुकत्व

वह स्वभाव से भी बड़ा सरस और छैल-छबीला है[२]। वह कभी चञ्चल लहरों वाली वेत्रवती के सभ्रूभङ्ग मुख का पान' करता है[३], कभी उज्जयिनी की कामिनियों की चंचल चितवन का आनन्द लेता है[४], कभी कामयमाना निर्विन्ध्या का रसपान करता है[५], कभी तन क्षीण मन मलीन विरहविधुरा सरिताओं को मेहन द्वारा तृप्ति प्रदान करता है[६], कभी मोरों के नृत्य से मनोरंजन करता है[७] तो कभी विलासभरी कामिनियों के लाक्षारञ्जित चरण चिन्हों से[८], कभी उज्जयिनी की वार वनिताओं के कटाक्षों का आतिथ्य ग्रहण करता है[९] तो कभी गम्भीरा के मन में जा बसता है[१०] और उसके हाव-भाव और उसकी चञ्चल चितवनों के प्रतिदान में उसे अपना प्रेम अर्पित करता है। तो कभी अपने आप को दशपुर की नगर-वधुओं के नेत्र-कौतूहलों का पात्र बनाता है[११]।

---

१. येन श्याम वपुरतितरा कान्तिमापत्स्यते ते, बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः । पू० मे० १५ ।

२. तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।। पू० मे० २६ ।

३. तीरोपान्तस्तनितसुभगंपास्यसि स्वादु यस्मात् स भ्रूभङ्गं मुखमिवपयो वेत्रवत्याश्चलोर्मिः ।। वही ।

४. विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।। वही ३० ।

५. निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तर सन्निपत्य ।। पू० मे० २९ ।

६. वेणीभूतप्रतनुसलिला······कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ।। वही ३१ ।

७. बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहार ।। वही ३६ ।

८ लक्ष्मी पश्यल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ।। वही ।

९. वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दूनामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ।। वही ३९ ।

१०. गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।। वही ४४ ।

११. तस्याः किंचित् करधृतमिव······को विहातुं समर्थः ।। वही ४५ ।

भक्ति-भाव

जिस प्रकार मानव-जीवन में काम-संवेगों का प्रमुख स्थान होते हुए भी वह केवल उसी तक सीमित नहीं, उसी प्रकार कालिदास का मेघ भी केवल कामुकत्व के परिवेश में ही घिरा हुआ नहीं है। उसमें एक भक्त और श्रद्धालु के रूप का भी सुन्दर निखार हुआ है। वह देवगिरि पर कुमार कार्तिकेय पर अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाता है[१] और महाकाल के मन्दिर में भी उनकी सन्ध्याकालीन आरती में सम्मिलित होकर शंकर भगवान् के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का परिचय देता है[२]। कुरुक्षेत्र में जाकर सरस्वती का पवित्र जल पीकर अपनी आत्मा को पवित्र करता है[३] और हिमालय में पहुँच कर वहाँ पर सिद्धी के द्वारा अर्चित भगवान् शंकर के चरण चिन्हों की श्रद्धा भक्ति के साथ परिक्रमा करता है[४]। इतना ही नही, कैलास में पहुँच कर तो वह भगवान् शंकर और पार्वती के मणितट पर आरोहण के लिए उनके चरणों के नीचे अपने आपको 'सोपान-भङ्गिमा' के रूप में बिछा डालता है[५]। वह परम शैव प्रतीत होता है। इसीलिए तो यक्ष प्रारम्भ में ही उसके सम्मुख अलका जाने का प्रस्ताव रखते ही प्रलोभन के रूप में भगवान् शंकर के वहीं रहने का भी उल्लेख कर डालता है[६]। एक शैव के लिये इतने दीर्घ और कठिन मार्ग को तय करने के लिए यही एक प्रलोभन पर्याप्त था[७]।

---

१. पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ वही ५१।

२. तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ॥ वही, ४७।

३. कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयामामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ वही, ३८।

४. कृत्वा तासामभिगमपां सौम्य सारस्वतीनामन्त.शुद्धस्त्वमसि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥ वही, ५३।

५. तत्राव्यक्त दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः। वही, ५९।

६. भङ्गीभक्त्या विरचितवपु. स्तम्भितान्तर्जलौघः सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी।

७. गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या ॥ पूर्वमेघ० ७।

अन्त में हम भी यही कहते हैं कि कवि का मेघ चैतन्य-युक्त है। उसमें मन और बुद्धि की कल्पनाएँ हैं, जिनके द्वारा वह अमरकण्टक और कैलास के भेद को जानकर अपने अध्यात्म की सिद्धि भी करता है और ससार का ऐश्वर्य-भोग भी। इसीलिए हम देखते हैं कि निर्विन्ध्या के साथ तो वह विलास करता है किन्तु सरस्वती के सम्मुख आते हो श्रद्धा-भक्ति से भर कर उसके जलपान से अपनी अन्तरात्मा को निर्मल करता है। इस प्रकार का विवेक केवल चेतन प्राणियों में ही सम्भव होता है। विशेषकर मेघ ने भारत के पावन स्थलों, नदियों तथा भगवान् शंकर के प्रति जिस श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है वह तो उसे भारत भूमि का पुत्र-मानव ही बना डाला है।

मानव-लोक से अनुराग

१३. वृक्ष

अचेतन में चेतनधर्म के आरोप की प्रवृत्ति कालिदास की रचनाओं में बराबर पाई जाती है। नन्दिनी के पीछे-पीछे जंगल को जाते हुए राजा दिलीप के लिए वृक्ष पक्षियों की चह-चहाहट के बहाने जयजयकार करते है। हिमालय का सिंह-रक्षित वह देवदारु वृक्ष भगवान् शंकर को पुत्र के समान प्यारा है, पार्वती ने उसे अपने स्तन्य का पान कराकर पाला-पोसा है। वन्य गज के द्वारा उसकी छाल के छिल जाने पर माता पार्वती को उतना ही दु:ख हुआ था, जितना कि कुमार कार्तिकेय के घायल हो जाने पर।[२]

चेतन धर्म का आरोप

१. विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमा: पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावै:॥ रघु० २।९।

२. अमुं पुर: पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननि:सृतानां स्कन्दस्य मातु: पयसां रसज्ञ:॥
रघु० २।३६; ३७-३८।

मानवीय संवेगों की अभिव्यक्ति

जब राम ने विश्वामित्र के साथ तपोवन में प्रवेश किया तो वृक्ष पत्तों की अञ्जलि बाँध कर उनका स्वागत करते है और मृग भी उत्सुकता भरी स्वागत पूर्ण दृष्टि से उन्हें देखते है।[1] शरभङ्ग ऋषि के आश्रम के वृक्ष उनके धर्मपुत्रों के समान उनकी अनुपस्थिति में अतिथि सत्कार का कार्य करते है[2]। शाकुन्तल में केसर का वृक्ष अपनी पत्ररूपी अंगुलियों से शकुन्तला को अपनी ओर आने का सकेत करता है[3]। उसकी विदाई के अवसर पर वृक्ष उसे वस्त्राभूषण प्रदान करते है तथा उसे पतिगृह जाने की अनुमति प्रदान करते है[4]। ऐसे ही इन्दुमती के निधन पर अशोक अपने लाल लाल फूलों के मिष खून के आँसू बहाता है[5] तो अज को फूट-फूट कर रोते देख कर वृक्ष भी अपनी शाखाओं से रस निस्यन्द करके अश्रुपात करने लगते है[6]। दुःखो मानव के प्रति वृक्षों की यह सहानुभूति अभूतपूर्व है। इससे एक ओर जहाँ शोक सन्तप्त व्यक्ति के अतिशय संताप की व्यञ्जना होती है वहाँ मानव के प्रति प्रकृति के अनिर्वचनीय सौहार्द का भी परिचय मिलता है।

---

१. आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृग तपोवनम् ॥ रघु० ११।२३ ।

२. छाया-विनीताध्व-परिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ १३।४६ ।

३. एष वातेरितपल्लवाङ्गुलिभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः ॥
शाकु० १।१९।१ ।

४. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा०······शाकु० ४।५ ।
अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरिय वनवासबन्धुभिः० ॥ शाकु० ४।१० ।

५. स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥ रघु० ८।६३ ॥

६. विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थं ग्रथित प्रियां प्रति ।
अकरोत्पृथवीरुहानपि स्रुतशरवारसबाष्पदूषितान् ॥ वही८।१० ॥

१४. लताएँ

वृक्षों की तरह लताओं को भी हम इनकी रचनाओं में मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत पाते हैं। नन्दिनी के अनुगामी राजा दिलीप पर उस वन की लताएँ ऐसे ही अपने फूल बरसा कर उसका स्वागत करती है जैसे कि पौर कन्यायें उसके ऊपर धान की खील बरसा कर उसका स्वागत करती थीं[1]। जनस्थान की मार्गस्थ लताएं अपनी पत्तों वाली डालियों को रावण द्वारा अपहृत सीता के मार्ग की ओर झुका कर राम को सीता का पता बताती जाती है[2]। वनज्योत्स्ना उचित अवसर देख कर अपने थाँवले से भौरे को उकसा कर शकुन्तला के पीछे लगा देती है। वह आम की स्वयवर-वधू है[3]। शकुन्तला की विदाई पर तो सारी प्रकृति ही द्रवित हो पड़ी है—हरिणियो ने मुख में लिए हुए कुशा के कौर उगल दिये, मोरों ने नाचना छोड़ दिया, और लताओं ने पीले-पीले पत्तों के रूप में अपने आँसू बहाने शुरू कर दिये[4]। एक बार ऐसे ही सारा वन रो पड़ा था परित्यक्ता पतिव्रता सीता के करुण क्रन्दन को सुनकर[5]।

मानवीय सवेगों की अभिव्यक्ति

कालिदास द्वारा लता-वृक्षों के बीच प्रिय-प्रेयसी के मधुर भाव की व्यञ्जना भी कई स्थानों पर हुई है। शाकुन्तल का सहकार और वनज्योत्स्ना के मधुर मिलन का सन्दर्भ प्रसिद्ध ही है। कुमारसम्भव में भी इस भाव को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। काम और वसन्त के प्रभाव से समस्त प्रकृति ही कामायमान हो उठी है। पीनस्तनी लताएँ सजधज कर वृक्षों के निकट आ

दाम्पत्य का रूप

१. अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः। वही० २।१०।

२. त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः॥ वही० १३।२४।

३. शाकु० अंक १, ४।

४. उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥ शाकु० ४।१२॥

५. नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥ रघु० १४।६९।

लगती है और वृक्ष भी अपनी भुजाओं को फैला-फैला कर उनका आलिंगन करने को उत्सुक हो उठते हैं[१]।

पशु-पक्षी

पशु-पक्षियों का वर्णन तो प्रायः सभी देशों और सभी कालों के काव्य मे पाया जाता है किन्तु उन्हे कथानक के पात्रों के रूप में कालिदास ने ही प्रस्तुत किया है। पौराणिक साहित्य में भी पशु-पक्षियों को पात्रों के रूप में उपस्थित किया गया है पर वहाँ वे अपने असली रूप में नही प्रतीकात्मक रूप में ही सामने आते हैं। वे किसी उपदेशात्मक कथा का अंग बनकर किसी न किसी मानवीय भाव का प्रतिनिधित्व करते है। पर कालिदास के काव्य में वे अपने असली रूप में मानव के सुख-दुःख के सहयोगी बन कर सामने आते है। उनका स्वरूप अपना होता है और भाव मानवीय। एक प्रकार से कालिदास ने उनका मानवीकरण कर डाला है।

१५. नन्दिनी

'रघुवश' में नन्दिनी और सिह ऐसे ही पात्र हैं जिनका कि कवि ने मानवीकरण कर डाला है। नन्दिनी का अपना गोरूप भी है। गोरूप में भी कवि ने उसका जीवन्त चित्रण किया है। वह कामधेनु की पुत्री ऋषि वशिष्ठ की होमधेनु है। उसका रग नूतन पल्लव के समान आरक्त है और माथे पर सफेद बालों की टेढ़ी रेखा है उससे वह ऐसी लगती है जैसे कि सन्ध्या के माथे पर दूज का चाँद निकल आया हो[२]। उसका ऐन कुण्ड के समान भारी है (कुण्डोघ्नी) और बछड़े को

पशु-मानव और अति-मानव का सम्मिश्रण

१. पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्य स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लताबधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ।। कुमार० ३।३९।

२. ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संध्येव शशिनं नवम् ।। १।८४। अपि च २।१५, २०।

देखते ही उनमें से गरम-गरम दूध अपने आप टपकने लगता है (१ ८४)। रानी सुदक्षिणा तथा राजा दिलीप की सेवा तथा भक्तिभाव से वह बहुत प्रभावित हो जाती है। इसीलिए वन से सायंकाल को घर आने पर वह यद्यपि अपने बछड़े को देखने के लिए बड़ी उत्सुक होती है किन्तु फिर भी रानी सुदक्षिणा के भक्तिभाव से प्रभावित होकर उसके द्वारा की जाने वाली पूजा के लिए उसके पास खड़ी रहती है (२।१८)। फिर हम देखते हैं कि वह एक दिन राजा दिलीप के भक्ति-भाव की परीक्षा के लिए हिमालय की एक गुफा की ओर चली जाती है (२।२६) और अन्त में राजा दिलीप की सेवा तथा दयाभाव से प्रसन्न होकर स्वयं मानव की वाणी में उससे मनचाहा वरदान माँगने के लिए कहती है। क्योंकि उसमें किसी भी मनचाही साध को पूरा करने की पूर्ण सामर्थ्य है। 'रघुवंश' के तृतीय सर्ग में ही हमें फिर एक बार नन्दिनी के दर्शन होते हैं। तब वह उस समय रघु के पास पहुचती है जब कि रघु अश्व के अचानक खो जाने से किंकर्तव्यविमूढ से उसे खोजने का व्यर्थ प्रयास कर रहा होता है उस समय नन्दिनी को सम्मुख पाकर उसने उसके मूत्र से अपनी आँखों को धोया तो उसे वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई जिसके प्रकाश में कि वह सब कुछ देख सकता था। इस प्रकार कालिदास ने नन्दिनी के स्वरूप में पशु, मानव और अतिमानव के तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण दिखलाया है। इसकी माता कामधेनु के सम्बन्ध में भी कालिदास ने ऐसा ही संकेत किया है। यह उसी के शाप का परिणाम था कि राजा दिलीप इतनी अवस्था तक निःसन्तान रहे और अन्त में शाप की शर्तों के अनुसार उसकी पुत्री नन्दिनी की सेवा से प्रसन्न करके सन्तान लाभ कर सके। 'रघुवंश' की नन्दिनी स्नेह और वात्सल्य की जीवन्त मूर्ति है।

---

१. भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मा कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ रघु० २।६३॥

२ तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीप-नन्दनः॥ ३।४१।

३. अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा॥ १।७७।

४. कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्॥ २।३५।

१६. सिंह

'रघुवंश' का दूसरा मानवेतर पात्र है सिंह । इसके चरित्र में भी कालिदास ने पाशविक, मानवीय तथा अतिमानवीय तत्त्वों का अद्‌भुत सम्मिश्रण दिखाया है । वह पशु की आकृति में ही मानव की वाणी में दिलीप को अपना परिचय देता है (२।३३) । वह भगवान् शंकर का कृपापात्र है, उनके चरणों से उसकी पीठ पवित्र हो चुकी है और वह उनके प्रसिद्ध गण निकुम्भ का मित्र है तथा उसका नाम कुम्भोदर है। जँगली हाथियों से पार्वती के पुत्र के समान प्रिय पुरस्थ देवदारु की रक्षा के लिए स्वयं भगवान् शंकर ने उसकी वहाँ नियुक्ति की है और उसे उन्होंने पूरा अधिकार दे रखा है कि वह अपने उदर की पूति के लिए उन सभी जीवों को मार सकता है, जो कि स्वयं ही वहाँ पहुंच जायें (२।३६-३८) ।

पशु-मानव और अति मानव का सम्मिश्रण

इसके बाद मुनि की होमधेनु की रक्षा के लिए अपना जीवन बलिदान करने के हेतु तत्पर राजा दिलीप से जो कुछ सिंह ने कहा वह लोक के व्यावहारिक ज्ञान तथा तर्क-शक्ति का अद्‌भुत नमूना है। (२।४७-५०) कालिदास ने बड़ी खूबी के साथ उसके मानवेतर रूपों को मानवीय भाव-भूमि पर लाकर एक ओर तो उसमें अचल स्वामिभक्ति तथा कठोर कर्तव्य-पालन की भावना का प्रबल रूप जगाया है तथा दूसरी ओर राजा की उदात्त भावनाओं के प्रशंसक तथा उसके हितचिन्तक के रूप में उसे उपस्थित किया है । सिह का व्यक्तित्व तथा उसकी वाणी इतनी तर्कपूर्ण तथा प्रभावशाली है कि वह हमारे हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। यद्यपि वह कुछ ही क्षणों के लिए हमारे सम्मुख आता है किन्तु फिर भी कालिदास ने उसका चित्रण कुछ ऐसे सबल शब्दों में किया है कि समस्त रघुवंश में उसके व्यक्तित्व की अदृश्य छाया घूमती फिरती सी दिखाई देती है ।

१७. मृग

प्रकृति के अनन्य पुजारी कालिदास ने मृगों मे भी मधुर मानवीय भावों का उद्रेक देखा है। ऋषियों के आश्रमों के मृग तिन्नी के दाने खाने के लिए शिशुओं के समान पर्णकुटियों के द्वार पर खड़े रहते है। और पक्षी भी विश्वस्त होकर आलवालों में पानी पीते रहते है। शकुन्तला का पालित हरिण शावक दीर्घापाङ्ग तो उसे अपनी धाय माँ की तरह-ही समझता है। अवसर-कुअवसर पर अपनी बुद्धि के अनुसार उसे सचेत करता है और शकुन्तला को पति के घर जाते देखकर आँखो में आँसू भरकर उसका पल्ला ही पकड़ कर बैठ जाता है। मृगी द्वारा प्रदर्शित दाम्पत्य प्रेम का एक अभूतपूर्वरूप प्रस्तुत किया गया है रघुवंश के नवें सर्ग में। मृगयाविहारी राजा दशरथ मृग पर शर संधान करते हैं पर अगले ही क्षण क्या देखते हैं कि उसकी मृगी उनके बाण तथा मृग के बीच आकर खड़ी हो गई है। उसके इस बलिदानी प्रेम को देखकर वे द्रवित हो जाते है और बाण का संहार कर लेते है। ऐसे ही जनस्थान की हरिणियां दक्षिण दिशा की ओर अपनी आखें उठा उठाकर राम को सीता के हरण-मार्ग का सकेत करती हैं। शकुन्तला की विदाई तथा सीता के विलाप पर अभिव्यक्त पशुपक्षियों के दुःख का तो उल्लेख कर ही चुके है

स्नेह और सहानुभूति की जीवन्त मूर्ति

---

१ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः। अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः॥
रघु० १।५०।

२. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैल न्यसिच्यत मुखे कुशसूचि विद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽय न पुत्रकृतक पदवी मृगस्ते॥
शा० ४।१४।

३. लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधायदेहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाण कृपामृदुमना. प्रतिसंजहार॥
रघु० ९ ५७।

४. मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञ समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥
रघु० १३।२५।

५. नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः॥
रघु० १४।६९। शाकु० ४।१२।

१८. पक्षी

पशुओं और मृगों के समान ही पक्षी भी कालिदास की रचनाओं में पाये जाने वाले ऐसे रूप हैं जोकि उसके पात्रों की कोटि में आते है, न केवल उनमें मानवीय भावनाओं का आरोपण किया है अपितु उन्हें मानव के सहयोगी के रूप में सामने लाया गया है।

मानवीय सवेदनाओं की जीवन्त मूर्ति

'रघुवंश' में पक्षी अपने मधुर कूजन से वन-विहारी राजा दिलीप का जयजयकार करते हैं[1], रानी इन्दुमती के साथ ही महाराज अज को भी मूर्च्छित होकर गिरते देखकर निकटस्थ तालाब के पक्षी भी ऐसे ही चिल्ला उठे जैसे कि वे भी उनके सेवक-वर्ग के समान ही दु:खी हो गए हों[2]। सीताजी के परित्याग-जन्य विलाप को सुनकर तो सारी प्रकृति के साथ पक्षी भी आकुल हो उठे थे, मोरों को तो नृत्य से ही विराग हो गया था[3]।

'मेघदूत' में तो मैना यक्ष और यक्षपत्नी के जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग देती है। वह यक्ष को बहुत प्यारी थी, वह शायद उसके साथ अनेक प्रकार के विनोद भी करता होगा। वही स्नेह और विनोद विरहिणी यक्षपत्नी के लिए संबल बन जाता है। उससे प्रिय की बातें पूछ-पूछ कर वियोग के क्षणों को काटा करती है। चातक मीठी-मीठी वाणी से मेघ को जाने के लिए प्रेरित करता है[4] बगुलों के जोडे गर्भाधान के लिए बादलों पर जाकर विहार करते हैं[5]। मोर आँखों में प्रेम के आँसू भर कर अपनी मधुर केका से मेघ का स्वागत करते हैं[6]।

---

१. उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः।। रघु० २।९।

२. विहगाः कमलाकरालयाः समदु:खा इव तत्र चक्रुशुः ।। रघु० ८।३९।

३. नृत्यं मयूराः० ।। रघु० १४।६९।

४. पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिका पञ्जरस्थाम्।
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ।। उ० मेघ० २२।

५ वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः। गर्भाधानक्षण० ··· बलाकाः।
उ० मे० ९

६. शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्यकेकाः पू० मेघ० २२।

'शाकुन्तल' में तो इनका योग और भी सक्रिय हो उठा है। शकुन्तला को विदाई पर मानव तथा पशुओं के समान ही पक्षी भी उसके भावी वियोग से व्यथित हो उठते है। कण्व की पुकार पर कोयल अपनी कूक से उसे पतिगृह जाने की अनुज्ञा देती है[१]। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है चक्रवाक् मिथुन का वह व्यवहार जिससे कि वे शकुन्तला को भावी विपत्ति तथा उसके निवारण का संकेत देते है[३]। ऋतुसहार में तो विभिन्न ऋतुओं के प्रसंग में पक्षी विविधरूपों में काव्य के पात्र बनकर हमारे सामने आते है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के काव्य की परिधि में देवताओं से लेकर पशु-पक्षियों तक सभी कुछ समाया हुआ है पर उस समस्त चित्रण के पीछे एक स्थिर आस्था है और निर्धारित योजना है जिस के वशीभूत होकर समस्त काव्य-जगत् गतिमान् हो रहा है। मानव इस सम्पूर्ण चक्र की धुरी है। उसी को केन्द्र मान कर समस्त विश्व का कार्य-कलाप चल रहा है। कालिदास के लिए भाव-जगत् मानव तक ही सीमित नही, वह मानवेतर पात्रों में भी उसी प्रकार क्रियाशील है जैसे कि स्वयं मानव में।

---

१. परित्यक्त-नर्तना मयूराः ।। शाकु० ४।१२।

२. शाकु० ४।१०।

३. शकु० हला पश्य ! नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि।

अनसूया—सखि मैवं मंत्रयस्व —

एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतरम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ।। शाकु० ४।१६।

साथ ही मानव मन भाव-जगत की पर सीमा है। इससे उच्च एवं विविध भावों की स्थिति और किसी जाति में नही पाई जा सकती। स्नेह, सहानुभूति, त्याग, तपस्या, हार्दिक कोमलता एवं चारित्रिक दृढ़ता शायद और कही सम्भव नहीं, इसीलिए जहां कही भी इस प्रकार के भावों एवं संवेगों के चित्रण का अवसर आया है वहाँ सर्वत्र ही कालिदास ने उनका एक प्रकार से मानवीकरण कर डाला है। पर विशेष बात यह है कि इसके साथ ही उनके मूल रूप को भी बनाये रखा है। इसलिए वे मानव भी नहीं। तत् तद् रूपों में उनकी मानवेतर पात्रता भी बनी रही है। इस प्रकार उन्हें मानवेतर रखते हुए भी उनमे मानवीय भावों का चित्रण कर कालिदास ने जो कौशल दिखाया है वह उसके सिवा और कोई नहीं दिखा सक: है। यही है कालिदास का वैशिष्टय भी।

कालिदास की रचनाओं में अतिमानवीय तत्त्व

अतिमानवीय तत्त्वो के रूप

भारतीय साहित्य में अतिमानवीय तत्त्वों की सत्ता वैदिक साहित्य की प्रत्यक्ष देन कही जा सकती है। कालिदास से पूर्व ही महाकाव्यों तथा पुराणों में वैदिक साहित्य की इस दाय का पूर्णतः उपयोग हो चुका था। महाभारत के अनेकों ही उपाख्यान इन अतिमानवीय तत्त्वों से भरपूर हैं। इनमें से बहुत सी बातें ऐसी हैं जो कि हमारे विश्वास की अङ्ग बन चुकी है और परम्परा से हमारे साहित्य में स्थान पाती आ रही हैं। उनके प्रति हमारी आशंकात्मक भावना ही समाप्त हो चुकी है।

कालिदास ने भी ऐसे अनेकों अतिमानवीय तत्त्वों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है जो कि या तो उनसे पूर्व ही साहित्य में प्रचलित हो चुके थे या लोक-मानस में स्थान पा चुके थे। योग या तपस्या से प्राप्त होने वाली चमत्कारात्मक शक्तियों, देव, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरस् आदि मानवेतर जातियों में पाई जाने वाली दिव्य शक्तियों, लता-वृक्ष आदि में पाये जाने वाले सचेतन व्यवहारों तथा शुभाशुभादि के ससूचक विश्वासों के प्रति जनता में आस्था बन चुकी थी, महाकवि कालिदास भी इस प्रबल प्रभाव से अछूते न रह सके। कहीं तो उन्होंने पूर्व स्वीकृत कथानकों के अभिन्न अङ्ग के रूप में उसे मान्यता दी है तथा कही जन-विश्वासों के रूप में उसे अभिव्यक्त किया है। किन्तु प्रकृति से सम्बन्धित अतिमानवीय तत्त्वों के चित्रण मे तो स्वयं कालिदास ने इस में एक नये अध्याय की योजना की है ऐसा प्रतीतहोता है।

शाप

अतिमानवीय विषयों को सूची में शाप का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऋषि-मुनि वा दिव्य जाति के व्यक्ति को इस अमोघ शक्ति से सम्पन्न माना गया है। कालिदास ने अनेक स्थानों पर पुरातन कथानकों के अंश के रूप में इसका उल्लेख किया है तथा स्वयं भी इसका अनेकत्र लक्ष्यसिद्धि के लिए उपयोग किया है। यह कामधेनु का

शाप ही था कि जिसके कारण राजा दिलीप इतनी आयु तक निःसन्तान रहे और अन्त में इससे मुक्त होने के लिए उन्हें ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में जाकर सपत्नीक नन्दिनी की सेवा करनी पड़ी और अन्त में उसकी प्रसन्नता से शाप का अन्त हुआ[1]।

ऐसा ही एक प्रसंग 'रघुवंश' के पाँचवें सर्ग में देखने को मिलता है। इन्दुमती के स्वयंवर में भाग लेने के लिए जाते हुए कुमार अज ने जब नर्मदा नदी में स्नान करते हुए वन्यगज पर अपना बाण चलाया तो वह बाण का स्पर्श पाते ही अपना हाथी का शरीर छोड़ कर दिव्य गन्धर्व हो गया (५१)। उसने उसी समय अपने दिव्य प्रभाव से कल्पवृक्ष के फूल मंगा कर अज पर बरसाये (५२) और अपना परिचय देते हुए बतलाया कि वह गन्धर्वों के राजा प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद है और मतंग ऋषि के शाप से उसे गजयोनि मे आना पडा और शाप की शर्त के अनुसार अज के बाण-स्पर्श से उसका मोक्ष हुआ (५३-५६)। उसने अज को प्रत्युपकार के रूप में सम्मोहनास्त्र नामक एक गन्धर्वास्त्र दिया और उसके प्रक्षेपण तथा संमोहन की प्रक्रिया भी बतलाई। इस दिव्य अस्त्र का प्रयोग अज ने इन्दुमती के स्वयंवर के बाद क्रुद्ध राजाओं की युद्धोन्मुख सेना पर किया था तथा उन्हें इसके प्रभाव से जड़ित सा कर दिया था (६।६२)। ऐसे अद्भुत अतिमानवीय तत्वों से संबलित है यह प्रसंग।

रघुवंश के आठवें सर्ग में इन्दुमती के प्रसंग में भी अतिमानवीय तत्वों की योजना की गई है। नारद जी अपनी वीणा लिये भगवान् शंकर के दर्शनों के लिए आकाश-मार्ग से गोकर्णधाम को जा रहे हैं। वीणा पर लटकती हुई फूलों की माला खिसक पड़ती है और नीचे अज के साथ उद्यान में विहार करती हुई महारानी इन्दुमती के वक्षस्थल पर जा लगती और वह उसको छूते ही भूमि पर गिर पड़ती है और अज के देखते ही देखते उसका शरीर निर्जीव हो जाता है। इस अप्रत्याशित तथा अकल्पित घटना से बेचारा अज तो हक्का-बक्का रह जाता है। रोता है, विलाप करता है, माला को अपनी छाती से लगाता है पर मृत्यु के इस

१. रघु० १।७७, ७९, ८१ तथा सर्ग २।

रहस्य को नहीं समझ पाता। अन्त में उसे मरने के लिए उद्यत देख कर परम ज्ञानी वशिष्ठ जी अपने शिष्य द्वारा उसे समझाते हुए बतलाते है कि यह इन्दुमती पूर्व जन्म में हरिणी नाम की अप्सरा थी। इसने इन्द्र के कथन पर तृणबिन्दु ऋषि की तपस्या को भंग करने का यत्न किया था और ऋषि ने क्रुद्ध होकर इसे मानव योनि में जाने का शाप दिया था और फिर उसके द्वारा प्रार्थना करने पर स्वर्गीय फूलों के दर्शन तक उस शाप की अवधि को सीमित कर दिया था, इसीलिए नारद जी की वीणा से गिरी हुई माला में गुम्फित स्वर्गीय फूलों के दर्शन मात्र से उसकी मृत्यु हो गई (८।७९–८१)। इसके बाद ही कालिदास बतलाते हैं कि महाराज अज ने जब यह पार्थिव शरीर त्यागा तो उन्हें तत्काल ही दिव्य शरीर प्राप्त हो गया और वे पहले से भी अधिक सुन्दर शरीर धारण करने वाली अपनी पत्नी के साथ नन्दनवन में विहार करने लगे (८।९५)।

'शाकुन्तल' में भी तपस्वियों में विद्यमान इस अमोघ शक्ति का उपयोग कुछ इसी रूप मे किया गया है। शाप की यह घटना कालिदास की सर्वथा अपनी उद्भावना है और इसके द्वारा बहुत बड़े नाटकीय लक्ष्य की पूर्ति की गई है। बेचारी शकुन्तला पति के ध्यान में खोई हुई बैठी है और घर आये अतिथि दुर्वासा ऋषि का आतिथ्य सत्कार नही कर पाती। क्रोधी ऋषि उसके इस व्यवहार से अपने को अपमानित समझ कर उसे शाप दे डालते हैं कि जिसके ध्यान में मग्न होने के कारण उसने घर आये हुए अतिथि के सत्कार की उपेक्षा की है वह उसे ऐसे ही भूल जायेगा जैसे कि कोई पागल व्यक्ति स्वय अपने किये हुए कार्य को भूल जाता है और फिर प्रियंवदा के अनुनय-विनय पर उसे सीमित करते हुए कह देते है कि शाप का यह प्रभाव तभी तक रहेगा जब तक कि वह उस व्यक्ति को उसकी कोई निशानी न दिखा दे (अक ४)। और हम देखते है कि पाँचवे अंक में शाप अपना प्रभाव दिखलाता है, दुष्यन्त शकुन्तला को याद दिलाने पर भी नही पहचान पाता और अन्ततोगत्वा उसका प्रत्याख्यान हो जाता है। फिर छठे अंक में धीवर से प्राप्त अंगूठी के दर्शन से ही शाप का अन्त हो पाता है।

शाप के कारण 'मेघदूत' के यक्ष तथा 'विक्रमोर्वशीय' की अप्सरा उर्वशी को अपनी दिव्य शक्तियों से वंचित होकर नियत अवधि तक मानव रूप में मानव लोक में वास करना पड़ता है। कहा गया है कि श्रवणकुमार के माता-पिता के शाप के ही कारण राजा दशरथ को पुत्र वियोग में प्राण देने पड़े थे (रघु० ८।७९)।

ऋषि मुनियों की अतिमानवीय शक्तियों का वर्णन कालिदास ने और भी अनेक रूपों में किया है। वशिष्ठ दिलीप की निःसन्तानता, वाल्मीकि सीता के परित्याग, कण्व शकुन्तला के गर्भिणीत्व का अथवा उसका दुष्यन्त से मिलन-वृत्तान्त अपने योगबल से ही जान लेते है। वशिष्ठ जी के मंत्रों के प्रभाव से रघु का रथ अबाध गति से जल-थल और नभ सर्वत्र जा सकता है (रघु० ५। २७)। अत्रि ऋषि के तपोवन में शाश्वतिक वैर वाले जीव-जन्तु अपना क्रूर स्वभाव त्याग कर साथ-साथ रहते हैं; वृक्ष बिना फूलों के ही फल देते है (रघु० ८।५०)। योग बल से व्यक्ति चारों ओर से बन्द स्थान में भी प्रवेश पा सकता है (रघु० १६।७)। पञ्चाप्सर में जल के भीतर शातकर्णि मुनि का भवन है और उसमें रात-दिन अप्सराओं का नृत्य-संगीत चलता रहता है। पार्वती के तपोवन में भी उसकी तपस्या के प्रभाव से जीवों ने अपना पारस्परिक नैसर्गिक वैर भाव त्याग दिया था और लता-वृक्ष यथेच्छ फल-फूल प्रदान करते थे (कुमार० ५।१७)।

योग का प्रभाव

मानवेतर जातियों में अतिमानवीय शक्तियों का निवास भी कालिदास पूर्वकाल से ही प्रचलित जन विश्वास का स्थान ले चुका था। प्रियवदक गंधर्व द्वारा अज को दिव्यास्त्र देने का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त 'शाकुन्तल' मे सानुमती का तिरस्-करिणी के बल से अदृश्य होकर उद्यानपालिकाओं, राजा तथा विदूषक की बातों को सुनना, मेनका का ज्योति रूप में आकर रोती हुई शकुन्तला को उठा कर ले जाना, 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी और उसकी सखी चित्रलेखा का तिरस्करिणी से प्रतिच्छन्न होकर

तिरस्करिणी

राजा और विदूषक की बातें सुनना, अपनी दिव्य शक्ति से भूर्ज-पत्र उत्पन्न करके उसमें पत्र लिखना, अपने गर्भ को राजा से छिपा कर रखना आदि ऐसी ही बातें हैं।

कुमार सम्भव अतिमानवीय कृत्य

'कुमारसम्भव' में भी काम द्वारा अकाल वसन्त का प्रसार (३।३५-३९), भगवान् शंकर द्वारा मदन-दाह, शिव जी के द्वारा सप्तर्षियों का स्मरण करने पर उनका आकाश-मार्ग से अवतरण (६।४) तथा आकाश-मार्ग से ही हिमवान् के पास गमन (६।४९), शिवजी के जाज्ज्वल्यमान वीर्य का कपोत रूपी अग्नि के शरीर में प्रवेश (१०।१४), अग्नि का उसे गंगा को अर्पित करना (१०।२७), गंगा का उसे कृतिकाओं को देना (१०।५४), उनका उसे शरवन में छोड़ना (१०।५९), और उसमें तेजस्वी कुमार का जन्म होना (१०।६०)। गगा द्वारा फिर उस कुमार को स्तन्य-पान कराना (११।१), छह दिन के कार्तिकेय का तारक के साथ युद्ध करना और उसे मारना, तारक के द्वारा छोड़े गये बाणों का साँप बन कर देवताओं के गलों में लिपट जाना, कार्तिकेय के दृष्टि-विक्षेप मात्र से उनका हट जाना (१७।५७), तारक और कार्तिकेय के बीच वायव्यादि दिव्यास्त्रों का प्रयोग एवं प्रतिरोध (१७।२५--४०) आदि सभी कुछ तो अतिमानवीय हैं[1]।

अतिमानवीय शक्तियों से सम्पन्न मानवपात्र

देवताओं के अतिरिक्त रघु, दुष्यन्त, पुरूरवा, राम, कुश आदि अपने मानवीय नायकों में भी कालिदास ने अतिमानवीयता के अशों को प्रदर्शित करने का यत्न किया है। रघु के जल-थल-नभगामी रथ की बात हम अभी कह चके है। वरतन्तु के शिष्य कौत्स की गुरु दक्षिणा पूरी करने के लिए जब वह कुबेर पर चढाई करने की सोचता है तो उसका कोष रात्रि में ही सुवर्ण मुद्राओं की वर्षा से भर जाता है (रघु० ५।२९)। उसके जन्म पर देवलोक में खुशियाँ मनाई जाती हैं (रघु० ३।१९)। (पार्वती के जन्म पर भी ऐसा ही होता है) राम के

१ यद्यपि भारतीय साहित्य में प्रचलित अतिमानवीय तत्त्वों के आधार पर समस्त कुमारसम्भव के तत्त्वों का यहां उल्लेख कर दिया गया है। पर लेखक का विश्वास है कि ८ सर्ग से आगे कुमारसम्भव कालिदास की रचना नहीं। लेखक।

जन्म पर भी स्वर्ग में देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाई और फूल वर्षाये (१०।७६-७७)। राम के जन्मते ही रावण के मुकुट से कुछ मणि पृथ्वी पर गिर पड़े (१०।७५)। उनके चरणरज से अहिल्या का उद्धार हो गया (११।३४), उनकी एक बाण सदा के लिए परशु-राम जी का स्वर्ग-मार्ग रोक कर खड़ा हो गया (११।८८), उन्होंने वन में सीता जी के साथ विश्राम करते हुए अपनी शक्ति से वृक्ष की छाया बाँध दी थी (१२।२१), मुनिवेष में महाकाल का राम से वार्तालाप (१५।९२-९३) और राम का सरयू तट पर जाकर योग-मार्ग से शरीर त्याग (१५।९५), विमान में बैठकर स्वर्गारोहण आदि सभी कुछ तो अतिमानवीय है।

उनके पुत्र कुश के चरित्र में भी अतिमानवीयता का पर्याप्त अश पाया जाता है। कुशावती में रात्रि के समय अयोध्या की राज्यलक्ष्मी का दर्शन (१६।४-२५), राम द्वारा प्रदत्त अगस्त्य मुनि से प्राप्त जैत्र नामक भुजबन्ध का जल-विहार के समय सरयू में गिर पड़ना, बहुत खोज करने पर भी न मिलने पर तथा उसके कुमुद नामक नाग द्वारा हरण की आशंका प्रकट किये जाने पर कुश द्वारा सरयू तट पर जाकर अपने धनुष पर गारुडास्त्र का सधान करना तथा उसके शरसधान के साथ ही भयभीत कुमुद का वहाँ प्रकट हो कर भुजबन्ध तथा विवाह के लिए अपनी बहिन कुमुद्वती को प्रस्तुत करना और कुश द्वारा उन दोनों को स्वीकार करना (१६।७२-८८) आदि वर्णन इसी भाव की पुष्टि करते है।

पतिव्रत की शक्ति

पतिव्रता नारी में भी भारतीय परम्परा के अनुसार जिस दिव्य, अतिमानवीय तेज और शक्ति की विद्यमानता में विश्वास किय ाजाता है कालिदास ने भी उसका उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। वाल्मीकि के आश्रम में सीता के सतीत्व का प्रश्न उपस्थित होने पर सीता अपनी पवित्रता का साक्ष्य देने के लिए पृथ्वी को पुकारती है। उसकी पुकार पर पृथ्वी फटती है और उसमें से एक तेजःपुंज का प्रादुर्भाव होता है और सभी देखते है कि नाग फण पर समुद्रमेखला पृथ्वी प्रकट होती है और उन सबके देखते ही देखते सीता को अपनी गोद में लेकर वही लुप्त हो जाती है (१५।८२-

८४)। पतिव्रता शकुन्तला भी ऐसे ही एक तेजस्-पुञ्ज के साथ विलुप्त हो गई थी (शाकु० ५,३०)। पार्वती के चरणों से निष्ठ्यूत 'सगमनीय मणि' का प्रभाव भी दर्शनीय है (विक्रम० अक ५)।

ऐसे ही और भी अनेक अंश जिनमें कि अति मानीवय अंश विशेष रूप से मुखरित हो उठता है। राजा दिलीप जब सिह पर प्रहार करने के लिए अपना दाहिना हाथ तूणीर पर ले जाते है तो वह वही पर बाणों से चिपक जाता है (रघु० २।३१)। सिह और नन्दिनी दोनों ही मनुष्य की वाणी में बोलते हैं और सिह वही अन्तर्धान हो जाता है। सिह के समुख आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत दिलीप पर विद्याधर लोग पुष्प वृष्टि करते हैं (२।६०)।

मानवेतरों द्वारा मानवी वाणी का प्रयोग

अज-राजन्य युद्ध में एक वीर का शिर शत्रु की तलवार से कट गया। वह तुरन्त देवता बन गया और अपने वामाङ्ग में एक अप्सरा को लेकर विमान से अपने धड़ को युद्ध करते देख रहा है (रघु० ७।५१)। दो वीर एक साथ ही मारे गये हैं और दोनों ही स्वर्ग में भी जाकर एक अप्सरा के लिए परस्पर झगड़ रहे हैं (७।५३)।

मरणोत्तर जीवन

राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ की समाप्ति पर यज्ञाग्नि में से एक पुरुप प्रकट होता है। उसके हाथ में एक सोने का कटोरा है, उसमें खीर है और उस खीर में त्रिलोकीनाथ विष्णु स्थित है (रघु० १०।५०-५१) मार्ग में जाते हुए विश्वामित्र जी राम और लक्ष्मण को बला और अतिबला नाम की विद्या सिखाते है जिसके प्रभाव से वन का ऊबड़ खाबड़ मार्ग भी उनके लिए मणि-खचित प्राङ्गण सा हो जाता है और उन्हे थकावट प्रतीत नही होती (रघु० ११,९)।

दिव्यावतरण

'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक मे भी अतिमानवीयता की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा को एक गन्धर्व-कन्या की ओर आकृष्ट होता देखकर उर्वशी ईर्ष्यावश रूठ कर कुमार-वन में चली जाती है और वहाँ कार्तिकेय के नियम के अनुसार लता-रूप में

रूपान्तरण

परिणत हो जाती है। फिर अन्त में पार्वती के चरण-राग से निस्सृत संगमनीय मणि के स्पर्श से पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाती है (विक्रम० ४।६३, ६६, ७०)।

प्रकृतिगत दिव्यात्मकता

प्राकृतिक रूपों के द्वारा व्यक्त होने वाले अतिमानवीय तत्त्वों का संकेत भी कालिदास की रचनाओं में पर्याप्त मिलता है। 'रघुवंश' में वन-देवता वनकुञ्जों में दिलीप का यशोगान करते है, पवन निर्झर-सीकरों व पुष्पगन्ध से उसका आतप निवारण करती है (२।१२–१३) तो राजा दशरथ को देखने के लिए वनदेवता लताओ के शरीर और भौरो की आखें धारण कर लेते है (८।५२)। ऐसे ही 'शाकुन्तल' में केसर वृक्ष उसे इशारे से बुलाता है, वन ज्योत्स्ना उसके लिए भौरे को उकसाती है तो वनदेवता वृक्षों के द्वारा उसे वस्त्राभूषण प्रदान करते है (४.५) उसके वियोग में व्यथित होते है और उसे भावी का संकेत करते है।

भावी के ससूचक शुभाशुभ तत्त्व

भावी के सूचक शुभ और अशुभ शगुनों का भी उल्लेख मिलता है। दोनों ही बार आश्रमों में प्रवेश करते ही दुष्यन्त की दक्षिण भुजा फड़कने लगती है। राजदरबार में जाने से पूर्व शकुन्तला की दाहिनी आँख फड़के लगती है। मेघ के पहुँचने पर यक्षपत्नी की बाईं आँख और बाईं जंघा का स्फुरण होता है, 'विक्रमोर्वशी' में भी पुरुष की दक्षिण भुजा के स्फुरण को शुभ शगुन कहा गया है, (३।९) मालविकाग्निमित्र में भी स्त्री के अक्षिस्पन्दनात्मक शकुन की सूचना है। 'रघुवंश' तथा 'मेघदूत' में भावी कार्य-सिद्धि की संसूचक अनकूल मन्द पवन का उल्लेख किया गया है[1]। नाम लेते ही उसी वस्तु का उपस्थित हो जाना भी कार्य सिद्धि का सूचक माना गया है[2]। पूज्य जनों की पूजा का व्यक्तिक्रम कार्य-सिद्धि का बाधक दर्शाया गया है[3]। कामधेनु की पूजा न करने के कारण ही दिलीप का सन्तति-निरोध होता है।

---

१. रघु० १।४२; मन्द मन्दं नुदति पवनः० पू० मेघ० १०।
२. रघु० १।८७।
३. प्रनुबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा-व्यतिक्रमः ॥ रघु० १।७९।

दैवज्ञों, ज्यौतिष के फलादेश अथवा हस्तरेखा-विज्ञान के प्रति अभिव्यक्त आस्था भी अतिमानवीयता की स्थिति व विश्वास की परिचायक है[१]।

कालिदास ने ऐसे आभरणों का भी उल्लेख किया है जिनमें कि विशेष प्रकार की शक्ति होती थी तथा उनको धारण करने

दिव्य शक्ति-सम्पन्नआभरण

धारण करने वाले को वह प्राप्त हो जाती थी। अगस्त्य से प्राप्त राम का जैत्राभरण वलय ऐसा ही था जिसको उन्होंने अपने पुत्र कुश को दिया था। इसे ही 'जयश्रीवलय' के नाम से भी उल्लिखिता किय गया है (रघु १६।७४)। शाकुन्तल का 'रक्षा-करण्डक' भी ऐसी ही अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न है। इस रक्षा-कवच में निहित 'अपराजिता' नाम की औषधि को अद्भुत-शक्ति-सम्पन्न कहा गया है। यह कवच को धारण करने वाले की रक्षा तो करती ही है, पर उस व्यक्ति से पृथक् हो जाने की स्थिति मे माता-पिता को छोड़ कर और किसी के द्वारा स्पर्श किये जाने पर सर्प बन कर उसे डस लेती है (शाकु० अंक ७ मरीचि आश्रम दृश्य)। 'सगमनीय मणि' के स्पर्श से लता रूप उर्वशी पुनः पुरूरवा को प्राप्त हो जाती है।[२]

भूत-प्रेत जैसी अदृश्य, पर हानिकारक शक्तियों की सत्ता को भी कालिदास की रचनाओं में स्थान मिला है। शाकुन्तल में

भूत-प्रेतों की सत्ता

उनकी छायाओं के घूमने (३।२४) तथा उनके द्वारा मानवों पर क्रूर आक्रमण किये जाने का उल्लेख पाया जाता है। मातलि द्वारा अदृश्य रूप से विदूषक के उत्पीडन की घटना में इसका रूप स्पष्ट हो जाता है[३]।

---

१. कुमार० ५।५८; मालविका०।

२. दुष्यन्तः—ममापि सत्वैरभिभूयन्ते गृहाः; तिष्ठ कुणपासन भो तिरस्करिणी-गर्वित०, आदि अंक ६।२६-२८ (मध्य)।

३. विक्रम० ४।७४ (पू०)।

देव-गन्धर्व-अप्सरस् आदि जातियों के अतिरिक्त मानवीय चरित्रों में भी आकाश मार्ग से गमन की शक्तियों का उल्लेख कालिदास में मिलता है। महर्षि कण्व के पास दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन का शुभ सन्देश देने के लिए महर्षि मारीच अपने शिष्य गालव को विहायस गति से वहाँ जाने को कहते हैं[1]। रघु का रथ जल-थल और नभ सर्वत्र समान गति से चलता है (रघु० ५।२७)। कुश, दुष्यन्त, पुरूरवा आदि प्रवीर गगनचारी रथो में बैठकर स्वर्गादि लोकों की यात्रा करते है। देवताओं की ओर से दानवों से युद्ध करते हैं। 'कुमारसम्भव' मे सप्तर्षियों का अवतरण तथा कन्या की याचना के लिए औषधिप्रस्थ गमन आकाश मार्ग से ही होता है[2]।

विहायस-गत्ति

इसके अतिरिक्त आकाशवाणी के रूप में भी कालिदास ने अतिमानवीय शक्तियो की स्थिति को स्वीकार किया है। कुमार-सम्भव में जब रति पति के साथ सती हो जाने को उद्यत होती है तो उस समय पुनर्मिलन का आश्वासन देकर आकाशवाणी ही उसे ऐसा करने से रोकती है (कुमार० ४।३९) शाकुन्तल में कण्व को शकुन्तला के गर्भिणीत्व का वृत्तान्त 'अशरीरिणी वाक्' से ही लगता है[3]।

आकाशवाणी

कपिल की कोपाग्नि से सगर के पुत्रों का विनाश (रघु० ३।५०), अगस्त्य का घट से जन्म (वही० ४।५१), विष्णु के चरण से गंगा की उत्पत्ति (कुमार० ६।७०), शिलावर्षी पर्वत (रघु० ४।४०), महावराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार (रघु० ७।५६) अत्रि के नेत्र से चन्द्र का जन्म (२।७५) आदि और भी अनेकों ऐसे पौराणिक संकेत पाये जाते है जो कि अतिमानवीय तत्त्वों के संकेत है।

अतिमानवीय तत्त्वो के सूचक पौराणिक सकेत

कालिदास के ग्रन्थों में प्राप्त अतिमानवीय तत्त्वों पर विचार करने से हमारे सम्मुख तत्कालीन जन-विश्वासों एवं आस्थाओं का रूप स्पष्ट हो जाता है। युग-भावनाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है।

---

१. मारीचः—गालव इदानीमेव विहायसा गत्वा०···अंक ७।३५ (पू०)।
२. कुमार० ६।४, ३६, ४९।
३. प्रियवदा-अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या (अंक ४।४पू०)।

प्रकृतिपुत्र कालिदास

प्रकृति और काव्य

मानव और प्रकृति के साहचर्य की कहानी बहुत पुरानी है, उतनी ही पुरानी जितनी पुरानी कि मानव की सत्ता।

मानव और प्रकृति

विश्व-सृष्टि का इतिहास हमें यही बतलाता है कि मानव-सृष्टि से पूर्व ही यहां विविधरूपा प्रकृति की सृष्टि हो चुकी थी। जब मानव ने आंख खोली तो उसने अपने आप को चारों ओर से प्रकृति से घिरा पाया। उसके सभी रूपों को उसने आश्चर्य से विस्फारित नेत्रों से देखा। उसके कुछ रूपों ने उसे अपनी ओर आकर्षित किया और कुछ ने उसके मन में भय की भावना जागृत की। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वह प्रकृति के और भी निकट आता गया। उसने उसे निकट से देखने, परखने तथा उसके साथ नाता जोड़ने का यत्न किया।

विश्व-साहित्य के आदिग्रन्थ वेद में ही हमें प्रकृति और मानव के सम्बन्धों एवं परिकल्पनाओं का लेखा-जोखा प्राप्त होने लगता है। इसमें जहां एक ओर प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, मेघ, पवन, सर, सरिता, लता-वृक्ष, पशु, पक्षी आदि का भावमय चित्रण मिलता है वहीं दूसरी ओर इनमें व्याप्त सत्ता के रूप में अग्नि, वरुण, इन्द्र, उषा आदि दैवी शक्तियों का भी निरूपण पाया जाता है[१]। यहीं से हमें प्रकृति के दैवीकरण तथा उसमें निहित

---

१. वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः।
तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर॥
ऋ० १,५८,४।

कन्येव तन्वाँ३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥
वही० १,१२३,१०।

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्यां३ अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः॥
वही० ५,८३,३।

मानवीय सम्बन्धों का रूप प्राप्त होने लगता है जो कि उत्तरवर्ती साहित्य तथा दर्शन में निरन्तर पुष्ट होता चला गया है। भारतीय आस्तिक दर्शनों के पुनर्जन्म के सिद्धान्त से तथा सांख्य दर्शन की पुरुष और प्रकृति के सिद्धान्त से मानव और प्रकृति के बीच पाई जाने वाली एकसूत्रता की भावना को विशेष बल तथा आधार प्राप्त हुआ। बौद्ध दर्शन ने भी बहुश· प्रकृति और मानव के जीवन को समानान्तर रख कर ही अपने सिद्धान्तों तथा तथ्यों का निरूपण किया है। भारतीय साहित्य पर इन सब का बड़ा अमिट प्रभाव पड़ता रहा है।

प्रकृति और सौन्दर्य भावना

वैदिक साहित्य को देखने से पता चलता है कि उस काल के मानव पर प्रकृति के मधुर-मनोहर तथा विकट-विकराल दोनो ही रूपों का गहरा प्रभाव था। उसके मनोहर रूपो के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर जहाँ उसने उनका भावात्मक वर्णन किया वहाँ उसके भयकर रूपों से डर कर उनमें विविध दैवी शक्तियों की प्रतिष्ठा की। पर सौन्दर्य प्रिय-मानव शनैः-शनैः उसके भयावह रूपों से अपनी दृष्टि को हटा कर उसके मधुर रूपों मे ही अधिक रुचि लेने लगा। वह ज्यो-ज्यो प्रकृति के रूपों मे रुचि लेता गया त्यों-त्यों उसके प्रति उसका अनुराग तथा सौन्दर्य-भावना अधिकाधिक बढती गई। उसे, विशेषकर सवेदनशील मानव अर्थात् कवि को उसका बाह्य सौन्दर्य ही नही अपितु आन्तरिक सौन्दर्य भी मुग्ध करने लगा और अन्त मे स्थिति यहाँ तक पहुंच गई कि उसे इन दोनों के बीच एक घनिष्ठ आत्मतत्त्व की स्थिति प्रतीत होने लगी। प्रकृति और मानव के बीच साहचर्य्य-भावना का चरम विकास हुआ। प्रकृति के रूप ही मानव के लिए आदर्श बन गये। उसने मानवीय सौन्दर्य के सभी रूपो तथा आदर्शो का प्रतिबिम्ब प्रकृति में देखा। प्रकृति भी उसके लिए अब केवल बिम्ब-योजना का आधार मात्र नही रह गई थी। इस दीर्घकाल के साहचर्य से उन दोनों में साहचर्य की भावना का इतना विकास हो चुका था कि वह अब प्रकृति में जीवन-तत्त्वों की अभिव्यक्ति के लिए मानवीय प्रतीकों तथा उपमानों की योजना करने लगा। प्रकृति और मानव परस्पर एक दूसरे के अति निकट आ गये। भेद मिटता गया और तादात्म्य की स्थिति

आ गई। अश्वघोष, कालिदास, भवभूति आदि की रचनाओं में इसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से आकृष्ट मानव उसके आन्तरिक सौन्दर्य में खो गया।

यद्यपि प्रकृति का वस्तुपरक सौन्दर्य भी इतना स्पष्ट तथा मोहक होता है कि प्राकृत मानव भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता, पर उसके अन्तर्निहित सौन्दर्य को आँकने के लिए कलाकार की दृष्टि का तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए संवेदन-शील कवि-हृदय का होना भी आवश्यक है। कलात्मक मानसिक स्तर के बिना प्रकृति के सौन्दर्य का बोध समष्टि रूप से नहीं हो सकता। संवेदनशील व्यक्ति ही प्रकृतिके साथ साहचर्य स्थापित करने तथा उसके सौन्दर्य में मानवीय सौन्दर्य के रूपों अथवा अभिव्यक्तियों को प्रतिविम्बित कर सकने में समर्थ होता है। जब प्रकृति अपने जड़ रूप को छोड़ कर कवि की व्यंजना के सहारे सचेतन रूप में हमारे मानस-प्रत्यक्ष में आती है तो हमारी सौन्दर्यानुभूति अधिक उदात्त तथा आकर्षक हो उठती है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि हमें प्रकृति का भावात्मक रूप ही सुन्दर लगता है अतः प्रकृति का वही रूप सुन्दर है तथा प्रमुख है। भाव पक्ष अधिक सौन्दर्याधिक होने पर भी उसका रूप-पक्ष भी उपेक्षणीय कदापि नहीं। प्रथम तो रूप के आधार के बिना भाव टिक ही नहीं सकता। दूसरे प्रकृति स्वयं इतने विविध रूप-रंगों तथा आकारों-प्रकारों में हमारे सम्मुख आती है कि हम उसके रूपात्मक सौन्दर्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। इसकी अलौकिक आभायुक्त उषा सन्ध्या, विविध रूप-रंगी लता-वृक्ष, कल-क्रीड़ा-रत पशु-पक्षी, कलनिनादिनी सरिता आदि का ही सौन्दर्य था जिसने कि मानव को प्रकृति की ओर खींचा, उसे निकट से देखने तथा उसके साथ नैकट्य स्थापित करके उसके आन्तरिक सौन्दर्य को देखने तथा अभिव्यक्ति देने के लिए प्रेरित किया। अतः इस रूपात्मक सौन्दर्य का भी अपना सौन्दर्य है, अपना महत्त्व है।

यह तो स्पष्ट ही है कि जब प्रकृति विविधरूपा है, मानव के साथ उसका सम्पर्क भी विविधरूप है तो उसकी सौन्दर्यानुभूति मे भी विविधता होगी ही। किन्तु उन सभी रूपों का निदर्शन सम्भव नहीं। क्योंकि एक तो जिस मानसिक भावस्थिति में सौन्दर्य की अनुभूति होती है उसे पृथक्-पृथक् रूपो में देख सकना सम्भव नहीं तथा दूसरे भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के बीच विभाजक रेखा खीचना सम्भव नही; क्योंकि एक भाव दूसरे भाव के साथ संश्लिष्ट सा रहता है। हमें सम्मिलित रूप से ही सौन्दर्यानुभूति होती है। जिस प्रकार रस की अनुभूति में हमें उसके पृथक्-पृथक् तत्त्वों या उसके न्यूनाधिक स्तरों का आभास नहीं हो पाता अथवा किसी चित्रगत सौन्दर्य की अनुभूति हमें उसके रंग-रेखा आदि में पृथक्-पृथक् न हो कर समवेत रूप में ही होती है वैसे ही प्रकृति-सौन्दर्य की अनुभूति भी समवेत रूप में ही होती है।

प्रकृति-सौन्दर्य के रूप

फिर भी जिस प्रकार स्थायी भावों के आधार पर हम शृङ्गार करुण, वीर आदि रूप में रसानुभूति का परिगणन करते हैं वैसे ही प्रकृति-सौन्दर्य के विषय में भी एक स्थूल, व्यावहारिक विभाजन सम्भव हो सकता है। भारतीय कवियों ने मोटे तौर पर तीन रूपों में प्रकृति-सौन्दर्य का निदर्शन किया है। उसे महत्, संवेदक और सचेतन सज्ञा दी जा सकती है[1]।

प्रकृति के 'महत्' सौन्दर्य के दर्शन हमें उसके उन रूपो में होते है जो कि उसकी अपार शक्ति, विशाल आकार तथा विपुल विस्तार की सौन्दर्यमयी भावना से हमारे मन को प्रभावित करते है। यद्यपि इन रूपों के मूल में भय, विस्मय आदि का भाव रहता है, पर सौन्दर्यानुभूति के स्तर पर जाकर हमें उसी प्रकार आनन्दानुभूति होती है जिस प्रकार कि रौद्र, भयानक' अद्भुत आदि रसों की स्थिति में हुआ करती है। इस विशालता के परिप्रेक्ष में हो प्रकृति की महानता की भावना साकार हो उठती है।

---

१. प्रकृति और काव्य (संस्कृत-साहित्य) पृ० २१।

'संवेदक' सौन्दर्य की अनुभूति का आधार है प्रकृति का रमणीय दृश्यात्मक रूप। इसे ही हम प्रकृति का वस्तु-परक सौन्दर्य भी कह सकते हैं। काव्य-जगत् में इस रूप की बहुलता पाई जाती है। प्रकृति का प्रिय-मधुर-मादक सौन्दर्य जब अपने दृश्यमान रूप में सौन्दर्यानुरागी व्यक्ति के हृदय में उसकी बाह्येन्द्रियों के माध्यम से अनुराग का संवेदन करता है तो इसे प्रकृति-सौन्दर्य का संवेदक रूप गिना जाता है।

प्रकृति-सौन्दर्य का सचेतन रूप वह है जब कि कवि या कलाकार प्रकृति को सचेतन रूप में देखता है। उसमें अपने सामाजिक रूपों का प्रतिबिम्बन पाता है। अपने मानस के अनुरूप ही उसमें मानवीय भावों की अनुभूति पाता है। इस स्तर पर आकर प्रकृति के साथ उसका साहचर्य अथवा तादात्म्य स्थापित हो जाता है। संस्कृत-साहित्य में उच्च कोटि के कलाकारों में, विशेषकर कालिदास में प्रकृति के सौन्दर्य का दर्शन इसी रूप में अधिक पाया जाता है। यद्यपि इस रूप में भी 'महत्' तथा 'संवेदक' सौन्दर्य आधारभूत रूप में पाया जा सकता है किन्तु उसके सचेतन रूप की भावना के प्राधान्य के कारण इसे उपर्युक्त नाम से अभिहित किया जाता है। अन्यथा स्वरूप-विभाजन का कोई कठोर आधार नहीं। एक रूप में दूसरे रूप की सत्ता पाई ही जाती है।

काव्य में प्रकृति का स्थान

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहिये या 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' किन्तु काव्य के आनन्दरूप वा सौन्दर्य रूप होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस प्रकार सौन्दर्य के स्तर पर जा कर शब्दार्थ 'रमणीयार्थत्व' वा 'रसत्व' को प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही सौन्दर्य के धरातल पर पहुँच कर प्रकृति-सौन्दर्य भी रसानुभूति का विषय बन जाती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रकृति-सौन्दर्य ही कवि की कल्पना के माध्यम से रसता को प्राप्त हो जाता है।

काव्य में प्रकृति को मुख्यतया तीन रूपों में स्थान दिया जाता है:—१. आलम्बन २. उद्दीपन ३. अलंकार-योजना।

भारतीय काव्य-शास्त्र में 'काव्यस्यात्मा रसः' का सिद्धान्त सर्वमान्य है ही। रस के स्वरूप अथवा निष्पत्ति पर विचार करते हुए आचार्य भरत ने कहा है—'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' और यह आधार सभी कवियों एवं आचार्यों को मान्य रहा है। भरत के इस सूत्र से स्पष्ट है कि रसनिष्पत्ति में विभावादि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभाव के दो रूप माने गये है :—१. आलम्बन विभाव २. उद्दीपन विभाव। काव्य में प्रकृति विभाव के रूप में दोनो ही रूपों में स्थान पा सकती है।

आलम्बनात्मक रूप

हम देखते है कि सामान्यतया प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति प्रकृति के रूप-रंग, आकार प्रकार को देख कर एक प्रकार के आनन्द की अनुभूति करता है। किन्तु उसकी वह अनुभूति इन्द्रियवेदनजन्य सुख की अनुभूति होती है। कवि और कलाकार की दृष्टि प्रकृति के उस वस्तुपरक रूप में एक अलौकिक सौन्दर्य के भी दर्शन करती है। उस समय वह उसके रूपात्मक आधार को त्याग कर इन्द्रियजन्यसुख-सवेदन से भिन्न आनन्दानुभूति में डूब जाता है। अर्थात् उसका आलम्बनात्मक रूप ओझल हो जाता है और अनुभूति प्रत्यक्ष हो उठती है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का आलम्बन रूप ही विभावादिक्रम से रस रूप में परिणत हो कर रसास्वादन अथवा आनन्दानुभूति का रूप धारण कर लेता है।

इसके अतिरिक्त कवि वा कलाकार जब प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में मानवीय भावनाओं का आरोप कर उसके साथ साहचर्य्य स्थापित कर लेता है और उसमें सौन्दर्यानुभूति करने लगता है तब भी प्रकृति उसके मानसिक भावों का आलम्बन बन कर काव्य में आलम्बनात्मक रूप ही ग्रहण करती है।

यद्यपि रससिद्धांत की प्रमुखता के कारण संस्कृत-साहित्य में प्रकृति को आलम्बन रूप में समुचित स्थान नहीं मिल पाया है किन्तु फिर भी इसका एकान्त अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कालिदास आदि प्रारम्भिक युग के कवियों में प्रकृति

की स्थिति उभयविध विभावो के रूप मे पाई जाती है किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप को ही प्रमुख रूप से स्थान दिया जाता रहा है और आलम्बनात्मक रूप को रस-कोटिक न मानने के कारण विशेप स्थान नही मिल सका है। भारतीय आचार्यो ने प्रकृति के आलम्बनात्म रूप की रसानुभूति को रसाभास के अन्तर्गत माना है जो कि किसी सीमा तक उचित भी है। क्योंकि कालिदासादि दो एक कवियों को छोड कर कोई अन्य कवि आलम्बन रूप में प्रकृति के साथ उस प्रकार का तादात्म्य स्थापित ही नही कर सका है जिसमें कि कवि काव्यानन्द के धरातल पर उठकर प्रकृति के साथ अपने हृदयस्थ भाव-सयोगों का साधारणीकरण कर सके तथा इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दे सके। फिर भी सस्कृत-साहित्य मे उभय रूपो की सत्ता पाई जाती ही है।

उद्दीपनात्मक रूप

हम देख चुके है कि काव्य मे प्रकृति को आलम्बन रूप में प्रस्तुत करने मे कवि का व्यक्तित्व प्रमुख होता है। क्योंकि वह प्रकृति को आधार बना कर उसमें सौन्दर्य की काव्यात्मक अनुभूति करता है या उसमें अपने भावों का आरोप कर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। किन्तु जब कवि प्रत्यक्षतः स्वयं काव्य का विपय न बनकर किसी अन्य को उसका विपय बनाता है तो उस स्थिति मे वह आलम्बनगत भावों के उद्दीपन के लिए ही प्रकृति को काव्य में स्थान देता है; इस रूप में प्रस्तुत प्रकृति आलम्बनगत अव्यक्त भावो को उभारने की प्रेरणा देती है या व्यक्त भावों में तीव्रता लाने मे योगदान करती है।

प्रबन्ध-काव्यों में कथानक की परिस्थितियों और घटना-स्थितियो को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए भी प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप का आश्रय लिया जाता है। कभी-कभी प्रकृति के परिवेश में भावी घटनाओं एवं गूढ़ भावों को भी अभिव्यक्ति दी जाती है। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति को उद्दीपनात्मक रूप में ही काव्य में प्रमुख स्थान मिला है।

प्रकृति का रूप हमारे सामने अधिक अनावृत एवं स्पष्ट होने के कारण सहज बोधगम्य होता है इसलिए प्रकृति के परिवेश में पोषित कवि भी कभी-कभी भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता एवं सजीवता लाने के लिए आलम्बन के समानान्तर प्रकृति के रूपों की योजना कर डालता है। इसे ही उपमान-योजना भी कहा जाता है। संस्कृत-साहित्य मे उपमान-योजना के रूप में भी प्रकृति को पर्याप्त स्थान मिला है।

उपमानात्मक रूप

जैसा कि हमने कहा कि मानव का प्रकृति के साथ जन्मजात सम्बंध है। साहित्य-सृष्टि के आदि काल में भी हम मानव अथवा कवि को प्रकृति के संसर्ग में पाते है। समय के साथ उसकी प्रकृति-सम्बंधी भावनाओं का स्वरूप भी बदलता रहा। उसने अपने प्रकृतिसम्बंधी भाव-संयोगों को जिन रूपों में अभिव्यक्ति दी है उसे ही हम प्रकृति-चित्रण की शैलियों के नाम से पुकार सकते हैं।

प्रकृति चित्रण की शैलियाँ

मानव और प्रकृति के भाव-संयोगों का विश्लेषण करने पर हम देखते है कि मानव ने प्रकृति को दो प्रमुख रूपों में देखा है। इनमें से एक को रूपात्मक कह सकते हैं तथा दूसरे को भावात्मक। इन्हीं की कलात्मक वा काव्यात्मक अभिव्यक्ति का प्रकार शैली का मुख्य विषय कहा जा सकता है।

आदियुगीन संस्कृत-साहित्य का प्रकृति के साथ अति-घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यह कहना भी शायद अनुचित न होगा कि इसका पोषण ही प्रकृति की गोद में हुआ। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि इसके प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। इन्होंने प्रकृति को निकट से देखा है, समझा है तथा उसके स्वरूप को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है, पर संस्कृत का कवि ज्यों-ज्यों राजदरबारों के कृत्रिम वातावरण में सिमटता गया त्यों-त्यों प्रकृति के साथ उसका साक्षात् सम्पर्क टूटता गया। वह अपनी कृत्रिम कल्पनाओं के आधार पर प्रकृति का चित्रण करने लगा जो कि स्वाभाविकता या भावुकता से कोसों दूर जाकर उक्ति-वैचित्र्यमात्र रह गया।

संक्षेप में प्रकृति-चित्रण की शैली को तीन प्रमुख रूपों अथवा प्रकृति-चित्रण के तीन प्रमुख स्तरो में विभक्त किया जा सकता है :—

१. **वर्णनात्मक शैली**—अर्थात् जब कवि या कलाकार शब्द-शक्ति के द्वारा प्रकृति के किसी विशिष्ट रूप वा क्रिया-व्यापार को हमारे लिए मानस-प्रत्यक्ष करता है। इसे दो रूपों मे किया जा सकता है एक तो देश-काल निर्विशिष्ट शाब्दिक रेखाचित्रो द्वारा तथा दूसरा वर्णनीय विषय की स्थिति एवं वातावरण की संश्लिष्ट योजना के द्वारा' सामान्यतया इन दो रूपो को प्रकृति-चित्रांकन का मूलाधार माना जा सकता है। प्रकृति-चित्रण का शैलियों के विकासक्रम मे भी हमें सर्वप्रथम इन्ही रूपों के दर्शन होते हैं। रामायण और महाभारत के कथा-विस्तार के प्रसंगो मे प्रथम रूप के दर्शन विशेष रूप से होते हैं। इसमे कवि रेखा-चित्रों द्वारा प्रकृति के विविध रूपों को उभारता अवश्य है पर वहाँ वह प्रसंग निरपेक्ष सा होकर उस रूप की व्यापक विशेषताओं का निरूपण भर कर देता है।

सश्लिष्ट चित्रण-शैली

किन्तु जब कवि एक विशिष्ट वातावरण के साथ किस स्थिति वा क्रिया का शाब्दिक चित्रण करना चाहता है तो वह रेखांकनमात्र न रह कर सश्लिष्ट चित्रण का रूप धारण कर लेता है। वह और भी अधिक पूर्ण एव प्रत्यक्ष हो उठता है। इसे ही वर्णनात्मक शैली का सश्लिष्ट योजनात्मक रूप कहा जाता है। इसका विकास हमें कालिदास में विशेष रूप से देखने को मिलता है।

संश्लिष्ट योजना भी हमारे सामने दो रूपों में आती है। **१. सहज संश्लिष्ट योजना तथा २ कलात्मक संश्लिष्ट योजना।** प्रथम का निरूपण विशेष रूप से प्रबन्ध महाकाव्यों में तथा द्वितीय का उत्तरवर्ती महाकाव्यों में देखने को मिलता है। किन्तु दृश्यकाव्यों (नाटकों) में स्थिति की स्पष्टता, देश-काल-गत संकेत एव वातावरण की सृष्टि के अधिक अनुकूल होने के कारण सहज संश्लिष्ट योजना को ही अधिक स्थान मिला है।

किन्तु, सस्कृत गद्यकारो तथा मध्ययुगीन महाकाव्यकारों ने कलात्मक सश्लिष्ट योजना से भी आगे बढ कर अलकृत एवं वैचित्र्यप्रधान, ऊहात्मक सश्लिष्ट शैली को अपना आदर्श बनाया है। बाण, सुबन्धु श्रीहर्ष आदि इसके प्रतिनिधि कवि हैं।

२. **चित्रात्मक शैली**:—जब कवि प्रस्तुत वर्ण्य विषय को अधिक बोधगम्य एव प्रत्यक्ष करने के लिए प्रस्तुत के समानान्तर अप्रस्तुत उपमानों की योजना करता है तो वह स्वाभाविकता से हटकर चित्रात्मक की ओर अग्रसर हो जाता है। इससे प्रस्तुत संश्लिष्ट प्रकृति-चित्र और अधिक रगीन एव अभिव्यञ्जक हो उठता है। सस्कृतसाहित्य में यह योजना तीन परम्परागत रूपों में की जाती है:—१. **स्वतः संभवी**—जब कवि प्रकृति के एक सश्लिष्ट रूप को अधिक सघनता प्रदान करने के लिए प्रकृति से ही किसी अन्य संभाव्य समानान्तर रूप की योजना कर डालता हैं। २. **कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्धः** जब वह ऐसे संश्लिष्ट रूप की समानान्तर योजना करता है जोकि सहज सम्भाव्य तो नही पर कवि परम्परानुमोदित अवश्य होता है। ३. **भावात्मक व्यञ्जना**—जब कवि प्रकृति के रूपों में मानवीय भावों का आरोप करके उन चित्रों को सहज बोधगम्य बनाने की योजना करता है। इस चित्रण मे कलाकार प्रत्यक्ष आरोपों के द्वारा भावात्मक सौन्दर्य प्रस्तुत करता है।

वैचित्र्यात्मक शैली:—संस्कृत के कवि प्रारम्भ से ही आदर्श-वादी रहे है। यथातथ्य चित्रण के स्थान पर आदर्श चित्रण को ही उन्होंने सौन्दर्य बोध का आधार माना है। प्रकृतिचित्रण के क्षेत्र में भी उनकी यही प्रवृत्ति पाई जायी है। प्रकृति के लिए भी उन्होंने आदर्श रूपों की कल्पना की है, पर वे आदर्श सादृश्य के अनरूप ही होते थे। इसका निरूपण हमें दो रूपों में मिलता **है :—१. सहज वैचित्र्य २, ऊहात्मक वैचित्र्य।**

सहज वैचित्र्य में कवि प्रकृति के किसी रूप को बोधगम्य कराने के लिए किसी आदर्श रूप की विचित्र कल्पना तो करता है पर उसमे सादृश्य का सौन्दर्य बराबर विद्यमान रहता है। अश्वघोष कालिदास और बुद्धघोष की वैचित्र्य कल्पनाएँ इसी कोटि की हैं।

किन्तु काल-क्रम से यही सहज वैचित्र्य की शैली चमत्कार-वादियों के चक्कर में पड़ कर ऊहात्मकता को प्राप्त हो गई। कवि काव्य-सौन्दर्य को छोड़ कर चमत्कारात्मक ढंग से विषय को प्रस्तुत करने में लग गये। प्रकृतिचित्रण अपने सहज संश्लिष्ट रूप से हीन होकर कला विलास और उक्ति वैचित्र्य का ही रूप रह गया। माघ और श्रीहर्ष इस शैली के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते है।

इस प्रकार हम देख सकते है कि संस्कृत-साहित्य मे प्रकृति-चित्रण का रूप स्वाभाविकता से आदर्श की ओर और फिर आदर्श से रूढ़िवादिता की ओर अग्रसर हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पिछले प्रकरणों में हम दिखला चुके है कि कालिदास का प्रकृति के साथ अटूट एव सहजात सम्बन्ध है। प्रकृति का प्रसंग आते ही उसकी कला और कल्पना तरंगित हो उठती है और उसका हृदय उल्लासित होकर नाचने लगता है। वह उसका वर्णन करते हुए अघाता नहीं। नगरों के कृत्रिम वातावरण में उसका दम सा घुटने लगता है और वह प्रकृति के बीच जाने के लिए छटपटा उठता है। इसीलिए हम देखते है कि वह अपनी सभी रचनाओं में किसी न किसी बहाने कथानक को वनों, उपवनों, ग्रामों, सरिताओं और पर्वतों की ओर मोड़ ले चलता है। 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव' और 'शाकुन्तल' के समस्त महत्त्वपूर्ण अशों का उभार वनों और उपवनों में ही होता है। 'रघुवश और विक्रमोर्वशी' में भी कवि अपने नायक-नायिकाओं को अधिकतम समय के लिए वनो की ओर ले चलता है। 'विक्रमो-र्वशी' में तो समस्त चतुर्थ अंक की योजना जानबूझ कर इसी उद्देश्य से की गई लगती है। 'रघुवश' में भी १६वें सर्ग तक प्रकृति के साथ बराबर किसी न किसी रूप में न्यूनाधिक संसर्ग बनाये रखा गया है। 'ऋतुसंहार' तो है ही निरा प्रकृति गान। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकृति-पुत्र की सभी रचनाओं में प्रकृति की सत्ता बराबर बनी हुई है। उसे प्रकृति की गोद में ऐसी ही शान्ति का अनुभव होता है जैसे कि बालक को अपनी माता की स्नेहमयी गोद में। क्योकि प्रकृति उसके लिए सचेतन जीवनदायिनी शक्ति है। इसीलिए तो सभी आलोचकों तथा

काव्य रसिकों ने कालिदास की प्रकृति के इस रूप का भौतिक रूप की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। आंग्ल आलोचक लेखक स्पष्ट रूप से लिखते है :—"यह कहना कि कालिदास नदियों, वृक्षों तथा पर्वतों का मानवीकरण करते हैं, सत्य नहीं है, उनके निकट ये एक सचेतन व्यक्तित्व रखते हैं जो उतना ही सच्चा एवं उतना ही निश्चित जितना पशुओं, मनुष्यों अथवा देवताओं का[1]।" कालिदास के इस दृष्टिकोण पर अब हम आगामी अनुच्छेदों में जरा विस्तार के साथ विचार करेंगे।

कालिदास और प्रकृति

कालिदास का प्रकृति-प्रेम

इसमें सन्देह नही कि कालिदास का जन्म प्रकृति की मधुमयी गोद में हुआ था और उसका शैशव भी इसी में बीता था। आश्रम-वर्णन के प्रति कालिदास के अनुराग एव आत्मीयता को देखकर यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि उसकी कौमारावस्था भी प्रकृति की कोमल छाया में ही बीती। इन्हीं आश्रमों में उसकी शिक्षा-दीक्षा हुई और इन्ही के अनावृत प्राकृतिक सौन्दर्य ने उसकी काव्य-प्रतिभा को उकसाया और उसे अभिव्यक्ति प्रदान की।

कालिदास के काव्यों के रचना-क्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-रचना की प्रथम प्रेरणा उसे प्रकृति से ही प्राप्त हुई थी। 'ऋतु-सहार' की विविधरूपा प्रकृति ने उसके भावुक हृदय को ऐसा मुग्ध किया कि उसका प्रकृतिप्रेम काव्यमयी भाषा में प्रस्फुटित हो उठा और विश्व ने प्रथम बार सम्पूर्ण भारतीय प्रकृति के आमूलचूल दर्शन किये। यह ठीक है युवा कवि को उसके मधुर मादक रूप ने ही अधिक आकर्षित किया, उसके मादक, रमणीय सौन्दर्य की उसके हृदय पर ऐसी अमिट छाप पड़ी कि वह फिर कभी धुँधली या फीकी न हो सकी। प्रकृति प्रेम का जो कोमल अंकुर ऋतुसंहार के रूप में उसके हृदय में फूटा था वही मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश में पल्लवित एवं पुष्पित होकर शाकुन्तल में चरम परिणति को प्राप्त हो गया। उनकी रचनाओं में उनके प्रकृति-प्रेम का विकासक्रम स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

---

१. उद्धृत—कालिदास—रमाशकर तिवारी, वाराणसी १९६१ पृ० ४२८।

'ऋतुसंहार' में कवि ने शृङ्गार और विलास के परिप्रेक्ष में ही प्रकृति के विभिन्न रूपों का निरूपण किया है। किन्तु 'कुमार सम्भव' में कवि प्रकृति और काम-प्रसंगों से उठकर प्राकृतिक और दैवी विभूतियों के सामञ्जस्य की ओर अग्रसर हो जाता है। प्रकृति की सौन्दर्यमयी क्रीडास्थली हिमवान् की गोद में पार्वती-परमेश्वर का पावन तप भी साथ-साथ चलता रहता है। मेघदूत में आकर कवि प्रकृति के और अधिक निकट आ गया है। इसमें मानव और प्रकृति के साहचर्य का अद्भुत रूप उभारा गया है। रघुवंश में तो कवि ने मानव-जीवन की पूर्णता व विकास के लिए प्रकृति को एक अपरिहार्य रूप में उपस्थित किया है। प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही मानव का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। शाकुन्तल मे मानव और प्रकृति का जो उदात्त तादात्म्य सामने आता है, वह विश्व-साहित्य में अभूतपूर्व एवं अपरिचित है।

कालिदास का प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण

हम पिछले अनुच्छेदों में कह आये है कि भारतीय कवि का प्रकृति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। वह अपने जीवन को प्रकृति-जीवन का ही अंग समझता है। उसकी सौन्दर्य परिकल्पना का आधार भी प्रकृति ही है। अत वह प्रकृति से निरपेक्ष मानव की कल्पना ही नही कर सकता। एक दूसरे को बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव में देखता है।

क्योकि भारतीय चिन्तनधारा के अन्तर्गत दोनों का संचालन एक ही प्रकार से होता है अतः दोनों के बीच आन्तरिक सम्बन्धों की परिकल्पना भी होती रही है। मानव और प्रकृति के बीच पाये जाने वाले साहचर्य की अभिव्यक्ति भारतीय कवियों का प्रिय विषय रहा है। कालिदास ने भी प्रकृति को इसी रूप में देखा है। उनकी रचनाओं मे प्रकृति और मानव के बीच अद्भुत सामञ्जस्य का भाव बडे ही स्पष्ट रूप से उभरा है। प्रकृति के प्रति कालिदास की साहचर्य-भावना का जीवन्त प्रतीक है 'मेघदूत'। यक्ष का मेघ केवल-मात्र आरोपित कल्पना न होकर मानव के ही समान जीवन की विविध स्थितियो के प्रति सवेदनशील व्यक्ति है। जिस प्रकार कालिदास ने उसके व्यक्तित्व को मानव व्यक्तित्व के समानान्तर प्रस्तुत किया है इस पर हम पीछे कालिदास के मानवेतर पात्रों पर विचार करते हुए विस्तार के साथ प्रकाश डाल चुके है। मेघ ही क्यों, प्रकृति के और भी अनेक रूपों का कालिदास ने किस प्रकार मानवीकरण किया है, इस पर भी वहाँ पर्याप्त विचार किया गया है।

मेघदूत का यक्ष जिस आत्मीय सहानुभूति के साथ मेघ का अभिनन्दन करता है तथा उसके समक्ष आत्मनिवेदन करता है उसी से उसका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है[१]।

आत्मीय सहानुभूति उसकी सहानुभूति की यह भावना फिर मेघ सन्देश के अन्त तक बराबर बनी रहती है।

---

१. जातं वशे भुवन विदिते० तथा सतप्तानां त्वमसि शरणम्० इत्यादि।

मेघ और मानव के बीच आत्मीय सहानुभूति का जो सम्बन्ध है वह तो पुष्पलावियों तथा कृषक ललनाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाता है पर कालिदास ने प्रकृति में भी मेघ के लिए आत्मीय सम्बन्धों एवं व्यापक सहानुभूति की योजना की है। 'रामगिरि का स्नेहालिंगन' 'आम्रकूट की प्रत्युपकार भावना, 'मयूरों का सजल नेत्रों से स्वागत', 'वन-सरिताओं द्वारा स्नेह दान' आदि ऐसे रूप हैं जिन्होंने कि मेघ के जीवन में प्राण-संचार करके उसे मानवीय भावों से अनुप्राणित कर डाला है।

'रघुवंश' महाकाव्यों में भी कालिदास ने आत्मीय साहचर्य्य एवं सहानुभूति के भाव को अनेकत्र अभिव्यक्ति दी हैं। प्रकृति और मानव की इस प्रकार की आत्मीयता एवं सहानुभूति का रूप अन्यत्र देखने को बहुत कम मिल सकता है। वशिष्ठाश्रम के प्रसंग में कवि कहता है। 'ऋषि पत्नियों के पास पर्ण-कुटियों के द्वार पर मृग तिन्नी के दाने खाने के लिये ऐसे ही उनका मार्ग रोक कर खड़े हो जाते हैं जैसे कि बच्चे माँ के सामने किसी वस्तु को पाने के लिए हठ करने लगते हैं[१]।' कितनी आत्मीयता है इस चित्रण में। इससे भी अधिक आत्मीय विश्वास की पराकाष्ठा तो तब व्यक्त होती है जब कि कवि 'ऋषि की गोदी में ही मृगों के नवजात शिशुओं के नाभि-नाल गिरने' की बात कहता है[२]।

राजा दिलीप के प्रसंग में मानव के प्रति प्रकृति के जिस आत्मीय सहानुभूति-पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति हुई है वह भी दर्शनीय है। राजा दिलीप गोसेवा का व्रत लेकर छत्र और चँवर के बिना ही नन्दिनी के पीछे-पीछे भटकते फिर रहे हैं। धूप में इस प्रकार छत्रहीन घूमते हुए देखकर उनके प्रति प्रकृति की सहानुभूति जागृत हो उठती है और वह 'पवन के रूप में पर्वतीय झरनों की फुहारों तथा फूलों से लदे हुए मन्द-मन्द कम्पित वृक्षों की सुगन्धि को लेकर उनके श्रम तथा आतप का निवारण करने के लिए आ पहुँचती है' (२।१३)।

आत्मीय सहानुभूति की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कालिदास

---

१. आकीर्णं ऋषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैः मृगैः॥ रघु० १।५०।

२. क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगाणामनघा प्रसूतिः॥ रघु० ५।७।

ने मानव और प्रकृति के बीच कोई अन्तर नहीं किया है। दोनों मे जीवन और भाव-सवेगो की एक रूपता का निरूपण किया है। मृगया-विनोदी राजा दशरथ जब बाण तथा उसके लक्ष्य हरिण के बीच में प्रेम-विवशा हरिणी को स्थित देखते हैं तो उसके स्नेह और आत्मबलिदान को देख कर उनका कोमल एवं प्रेमी हृदय पिघल उठता है और वे धनुष पर से बाण को उतार लेते हैं[1]।

प्रकृति के साथ साहचर्य एव आत्मीय सहानुभूति की भावना का निरूपण उनके दृश्य काव्यों मे भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यद्यपि रगमच पर मानव और प्रकृति के साहचर्य को प्रस्तुत करना एक क्रियात्मक कठिनाई है किन्तु फिर भी इस प्रकृति-पुत्र ने अपने नाटकों में मानव और प्रकृति के जिन पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति से पगे हुए चित्रों की मधुर योजना की है वह अद्वितीय है, अपूर्व है।

कालिदास की इस अद्भुत योजना को देख कर स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्र लिखते है "शाकुन्तल नाटक में अनसूया, प्रियवदा, कण्व और दुष्यन्त आदि जैसे एक-एक पात्र है वैसे ही तपोवन भी एक विशेष पात्र है। इस गूगी प्रकृति को किसी नाटक के भीतर ऐसा प्रधान, ऐसा अत्यन्त आवश्यक स्थान दिया जा सकता है, यह बात शायद संस्कृत साहित्य के सिवा अन्यत्र देखने को नही मिल सकती। प्रकृति को मनुष्य बनाकर, उसके मुख से बातचीत कराकर 'रूपक' नाट्य की रचना की जा सकती है, किन्तु प्रकृति को असली रूप मे रखकर उसे ऐसा सजीव, प्रत्यक्ष, व्यापक और अन्तरङ्ग बना लेना तथा उसके द्वारा नाटक का इतना काम करा लेना शाकुन्तल के सिवा और कही नही देखा जाता[2]।"

सम्पूर्ण शाकुन्तल में मानव और प्रकृति के स्नेह-सम्बन्धों की एक अपूर्व व्यञ्जना है। शकुन्तला स्वयं प्रकृति की पुत्री है। प्रकृति के अन्य रूपों—लता-वृक्षों तथा मृग-पक्षियों के साथ उसका

---

१. लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
　　प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
　　बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार॥ रघु० ९।५७।

२. प्राचीन साहित्य पृ० ३९।

जीवन एकरूप है। एक दूसरे के स्नेह से सिंचित होते हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही हम उसे यह कहते हुए सुनते है कि, 'केवल पिता जी की आज्ञा से ही मै इनका सिचन नही करती अपितु इनके प्रति मेरे हृदय में सगे भाई-बहिनों का सा प्यार है।,'[1] इसी आत्मीय सहानुभूति के कारण ही 'केसर वृक्ष अपनी पत्ति रूपी अगुलियों को हिलाकर उसे अपने पास बुलाता है' तथा 'वनज्योत्स्ना अनुरूप वर को देखकर उसके साथ शकुन्तला का संयोग कराने के लिए अपने थावलें से एक भ्रमर को उकसा कर उसके पीछे लगा देती है '[2]

'शाकुन्तल' के चौथे अंक में तो प्रकृति और मानव के जिन आन्तरिक सम्बन्ध सूत्रो को अभिव्यक्ति मिली है, वह वस्तुत: विश्व साहित्य में अपूर्व है। शकुन्तला की विदाई पर लता-वृक्षों का उसे आभूषण प्रदान करना तथा वृक्षों को सम्बोधित करके महर्षि कण्व का यह कहना कि—हे समीपवर्ती तपोवन के वृक्षो ! तुम लोगों को जल दिये बिना जो स्वयं कभी जल पीने की इच्छा भी नही करती थी, पुष्पाभरणों से विशेष लगाव होने पर भी जो स्नेह के कारण तुम्हारे पत्ते नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे प्रथम पुष्प-प्रसव के समय जो खूब उत्सव मनाया करती थी, वही शकुन्तला आज पति के घर को जा रही है। तुम सब इसे जाने की आज्ञा दो'[3] एक अन्तरङ्ग आत्मीयता को, आन्तरिक स्नेह-सम्बधों को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त है।

आश्रम को छोड़ कर जाते हुए न केवल शकुन्तला के ही कदम आगे को नही बढ पा रहे है अपितु उसके होने वाले वियोग की आशंका से तपोवन की समस्त चराचर प्रकृति ही विरहाकुल हो उठी है[4]। किस प्रकार वह वनज्योत्स्ना से गले मिलकर उससे विदाई लेती

---

१. ण केअल तादनिओओ एव्व; अत्थि मे [illegible] एदेसु।

२. शाकु० प्रथम अंक।

३. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये व: कुसुमप्रसूतिसमये यस्याभवत्युत्सव:
सेय याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम्॥ शाकु० ४।६।

४. उद्गलितदर्भकवला मृग्य. परित्यक्तनर्तना मयूरा:।
अपसृत-पाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता: (संस्कृतछाया)
शाकु० ४।१२।

है तथा किन स्नेह-संसिक्त शब्दों में वह स्वयं पालित मृगछोने से विदा लेती है। वह सब कालिदास की लेखनी से ही सम्भव हो सकता था[१]। शकुन्तला और तपोवन का सम्बन्ध ऐसा ही स्वाभाविक है जैसा कि लता और पुष्प का होता है।

यही स्थिति 'विक्रमोर्वशीय' की भी है। विशेषकर इसके चतुर्थ अक में तो ऐसा लगता है—'जैसे उर्वशी प्रकृति के साथ व्याप्त हो गई हो, पुरूरवा का सारा भाव-जगत् प्रकृति में बिखर गया हो।' हम देखते हैं कि नायक पुरूरवा प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपनी ही प्रियतमा को देखता है। परम आत्मीय भाव से प्रकृति के विभिन्न रूपों के समक्ष आत्म-दुःख का निवेदन करता है तथा उनसे कोई उत्तर न पाकर उन्हें उलाहना भी देता है[२]। समस्त वातावरण मानव और प्रकृति के सहानुभूतिपूर्ण आत्मीय भावना से परिपूर्ण है।

कालिदास ने प्रकृति को मानव जीवन के समानान्तर देखा है प्रकृति के प्रति उसकी आत्मीय सहानुभूति का ही परिणाम है कि

मानवीय भावो का आरोप

उसने प्रकृति में अनेक मानवीय क्रिया-कलापों का आरोप किया है। लता-वृक्षो व पशु-पक्षियों में यह आरोप कितने सजीव रूप में किया गया है, इसका विवरण उनके मानवेतर पात्रों के विश्लेषण के प्रसंग में दिया जा चुका है। उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही, यहा पर केवल एक दो नवीन उदाहरणों द्वारा उसे स्पष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा।

विश्वामित्र जी राम लक्ष्मण को लेकर जब अपने आश्रम में पहुँचे तो वहाँ पर उनके शिष्य उनके स्वागत के लिए पूजा की सब सामग्री लिए तत्पर थे। वहाँ वृक्ष भी अपने पत्तों की अंजलियाँ बाँधे खड़े थे, मृग और भी बड़ी उत्सुकता से इन लोगों की बाट जोह रहे थे।'

---

१. वत्स······निवर्तस्व तावत् (संस्कृत छाया) शाकु० ४।१४ प०।

२. महदपि परदु.ख शीतलं सम्यगाहु.।

प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य।

अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता।

फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य।। विक्रम० ४।२७।

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥
रघु० ११।२३ ।

प्रकृति में मानवीय व्यवहारों का आरोप प्राय: कालिदास की सभी रचनाओ में हुआ है। 'रघुवंश' के अज-विलाप[1] तथा 'कुमार-सम्भव' के रति-विलाप के प्रसंग में हम प्रकृति को भी उनके साथ दु:खाभिव्यक्ति करते हुए पाते है। रति विलाप के प्रसंग में रति प्रकृति के साथ अपने प्रिय कामदेव के अनेक आत्मीय सम्बन्धों का उल्लेख करती है।[2] और अन्त में कहती है—जिन भ्रमर-पंक्तियों को तुम अनेक बार अपने धनुष की डोरी बनाया करते थे, उनकी दु:ख भरी गुंजार ऐसी लग रही है जैसे कि मानो मेरे दु.ख से दु खी होकर वे भी मेरे साथ बिलख कर रो रही हों।'

अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥
कुमार० ४।१५ ।

'कुमारसम्भव' के आठवें सर्ग में तो स्वयं गन्धमादन की अधिष्ठात्री वनदेवी ही पार्वती जी का स्वागत करने के लिये वहां आ उपस्थित होती है। भगवान शंकर पार्वती जी से कह रहे हैं—हे सुन्दरी ! देखो ! तुम्हें यहाँ बैठी हुई देखकर गन्धमादन की वनदेवी लाल-लाल सूर्यकान्त मणि के प्याले में कल्पवृक्ष की मदिरा लिये हुए स्वयं ही तुम्हारा स्वागत करने के लिये आ पहुची हैं।'

लोहिताकर्मणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रती स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादन-वनाधिदेवता ॥
८।७५ ।

यही स्थिति मेघदूत की भी है। यक्ष को स्वप्न में अपनी प्रिया का गाढ़ालिङ्गन करने के लिए शून्य आकाश की ओर भुजाएँ फैलाता हुआ देखकर वनदेवियाँ उसकी दयनीय दशा पर तरस खाकर वृक्षों के

१. रघु०८।३९-विहगा. कमलाकरालया: समदु:खा इव तत्र चुक्रुशु: ।
२. कुमार० ४।१३-१४ ।

पत्तों पर मोती जैसे बड़े-बड़े आँसू गिराया करती हैं[1]।

उपर्युक्त उदाहरणों में कालिदास ने प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप करके उनके द्वारा मानव के प्रति प्रकृति की आत्मीयता वा सौहार्द की अभिव्यक्ति कराई है। मानव और प्रकृति में पारस्परिक भावों का आरोप करके इस प्रकार की आत्मीय सहानुभूति की अभिव्यक्ति कराने में समस्त संस्कृतसाहित्य में कालिदास के सिवा और कोई व्यक्ति सफल नहीं हो सका है। भवभूति को 'उत्तर रामचरित' में अवश्य कुछ सफलता मिल सकी है।

कभी-कभी कवि अपने भावों का ही प्रकृति में आरोपण करके तदनुरूप ही उसका चित्रण करता है। यह भाव कवि का भी हो सकता है तथा कवि निबद्ध-पात्र का भी। कालिदास के प्रिया-विरही यक्ष को प्रकृति में प्रिय और प्रिया का संयोग-वियोग दिखाई देता है। प्रिय से वियुक्त अपनी विरहिणी प्रिया के समान उसे मेघ से वियुक्त निर्विन्ध्या का रूप दिखाई देता है।[2] इतना ही नहीं यहाँ विरही होने के कारण प्रकृति के इस विरह-विधुर रूप के साथ उसकी आत्मीय सहानुभूति भी हो जाती है। इसीलिए तो वह मेघ से अनुरोध करता है कि 'जैसे भी उसके दुःख का निवारण हो वह वही उपाय करे।' इसी में कामिनीत्व का आरोप भी दर्शनीय है[3]।

ऐसे ही गभीरा में भी कामिनी के भावों का आरोप करके वह मेघ के प्रति उसके प्रणयाभिव्यञ्जक हाव-भावों की योजना करता है तथा मेघ से उसकी कामना पूरी करने का अनुरोध भी करता है[4]।

प्रकृति में मानवीय भावों के आरोप के समान ही कालिदास ने उसमें मानवीय रूपों का भी सुन्दर आरोप किया है। इस रूपात्मक आरोप के रूप हमें 'ऋतु-संहार' तथा 'रघुवंश' में अधिक देखने को

---

१. मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां,
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ उ० मेघ०।

२. वेणीभूतप्रतनु सलिला० इत्यादि, उद्धृत—मेघदूतः एकमनोविश्लेषण।

३. वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः, वहीं।

४. गम्भीरायाः पयसि सरितः० इत्यादि, उद्धृत, वहीं।

मिलते है, । 'ऋतुसंहार' में कवि को 'बिखरी हुई वैदूर्य मणियों के समान दिखाई देने वाली घास के कोमल अँकुओं से भरी हुई, कन्दली के ऊपर निकले हुये पत्तों से आच्छादित, तथा वीरबहूटियों से छाई हुई, धरती उस नायिका के समान दिखाई देती है जो कि श्वेत रंग के रत्नों को छोड़कर अन्य सभी रंगो के आभूषणों से सजीहुई हो[1] ।'

प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥
२।५ ।

इसी प्रकार लाल-लाल पलास के फूलों से ढकी हुई वासन्ती धरणी मे कवि को 'रक्तांशुका नववधू' का रूप दिखाई देता है[2] । और शरत् तो स्वयं ही 'फूले हुए बाँस के वस्त्र धारण किए हुए कलहंसो के बिछुवे छनकाते हुए कनकिया धानों का नत-मनोरम गात्र लिए हुए और विकसित कमल का मुख लिये हुए रूपसी नई-नवेली दुलहन का ही रूप धारण कर लेती है' ।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥
३।१ ।

'रघुवंश' में भी कवि ने विशेषकर नवम सर्ग में ऐसे रूपात्मक आरोपों की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है । 'पलास के 'मुकुल जाल में नायक के शरीर मे कृत नायिका के नखक्षतों का 'मलयवात से हिलती हुई डालियों में नर्तकी का, 'वन को लताओं पर कूकती हुई कोकिला मे नायिका की कूक का' तथा अन्त में 'खिले हुए कोमल पुष्पों के रूप मे अपने दाँतो की मुस्कान को बिखेरती हुई, भ्रमरों की मधुर गुंजार क रूप मे अपना गीत गुनगुनाती हुई, पवन से हिलते हुए नव-किसलयरूपी हाथों से अभिनय करती हुई लताओं में नायिका का आरोप भी दर्शनीय है:—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥[2]

---

१. ऋतु० ६।२१ ।
२ रघु० ९।३१, ३३, ३४, ३५ ।

कालिदास ने इन आरोपों के द्वारा मानव और प्रकृति की आत्मीयता का मनोहारी रूप प्रस्तुत किया है। 'ऋतु-संहार में ही पारस्परिक आत्मीय व्यवहार का निरूपण कराने के लिए वह कहता है :—'जब हम पानी के भार से लदे हुए आते हैं तो यही (विन्ध्य) हमें सहारा देता है, यह समझ कर जल से भरे हुए झूमते हुए बादल अपने शीतल जल की फुहारों से ग्रीष्म की अग्नि की लपटों से झुलसते हुए विन्ध्याचल की तपन को बुझा रहे हैं।'

जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चै-
रयमितिजलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः,
समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्॥ १।२८।

सौन्दर्य और शृंगार के प्रेमी कवि ने किस प्रकार चन्द्र और रजनी के सम्बन्ध को प्रिय-प्रिया के रूप में देखा है इसकी अनोखी छटा देखिये—

अंगुलीभिरिव केश संचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः॥
कुड्मलीकृतसरोजलोचन चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥ कु० ८।३३।

'चन्द्रमा अपनी किरणरूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के अंधकार रूपी बिखरे केशपाश को धीरे से समेट कर उसके अर्ध-मुद्रित कमल रूपी नेत्रों वाले मुख-मंडल का चुम्बन कर रहा है।'

पद्य में प्रकृतिगत नायक-नायिका का रसमय रूप चित्रण तो है ही पर साथ ही पार्वती के साथ शृंगारक्रीड़ा में आसक्त शंकर की उल्लसित भावस्थिति का रूप भी दर्शनीय है। अपनी भावोल्लास की मनस्थिति में शंकर प्रकृति में भी अपने उल्लसित भाव का आरोप कर डालते हैं।

ऐसे ही निम्नलिखित पद्य में भी शंकर-पार्वती के मानसिक उल्लास का रूप स्पष्ट तथा अभिव्यक्त हो रहा है :—

बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम्।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम्॥
कुमार० ८।३९।

'(हे प्रिये !) देखो ! कमल बन्द होने लगे। पर बन्द होने से पूर्व पलभर के लिए अपना थोड़ा सा मुँह इसलिए खुला रख दिया है कि ये उन भ्रमरों को भी अपने अन्तस् में स्थान दे सकें जो कि अभी बाहर गये हुए हैं।'[1]

कभी-कभी सहज भावात्मक आरोपण के अतिरिक्त अलंकृत रूप में भी प्रकृति में कवि अथवा तन्निबद्ध पात्र की मानसिक भाव-स्थिति का भी निबन्धन पाया जाता है। उपर्युक्त प्रसंग में ही भगवान् शंकर की आत्मभावनिष्ठ एक अलंकृत योजना देखिये—

मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका।
त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्टतः॥
कुमार ८।५९।

'इस तारों भरी रात में मन्दराचल के पीछे छिपा हुआ चन्द्रमा ठीक ऐसे लग रहा है कि सखियों के बीच बैठो हुई तुम्हारो बातो को मै पीछे से चुपके से आकर सुना करता हूं।'

इस प्रकार कालिदास ने प्रकृति में मानव के समान हो भावोल्लास के दर्शन किये है। अथवा प्रकरणसापेक्ष होकर यों भी कह सकते हैं कि अपने मानसिक उल्लास की स्थिति मे कवि अथवा कविनिबद्ध पात्र को प्रकृति में भी भावोल्लास के दर्शन होते हैं अथवा उस समय वह उसमें अपने ही भावों का आरोप कर लेता है।

पर कालिदास ने प्रकृति को न केवल उपर्युक्त भावात्मक रूप में देखा है अपितु उसे सहज सुन्दर रूप में भी देखा है और उसके उस सहज सौन्दर्य का सरस चित्रण भी किया है। **'ऋतुसंहार'** तथा 'मेघदूत' में इस प्रकार की स्वाभाविक संश्लिष्टता एवं चित्रमयता के रूपों को अधिक अवकाश मिला है। शरत् का निरूपण करते हुए कवि कहता है—

सहज-सौन्दर्य

शरदि कुमुदसंगाद्वायवो वान्ति शीता
विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः।

---

१. कुमार० ८।४४-४५।

विगतकलुषमम्भः श्यानपङ्का धरित्री
विमलकिरणचन्द्रं व्योम ताराविचित्रम् ॥ ३,२२ ।

'इस ऋतु में कमलगन्ध से संसिक्त शीतल वायु बहता है; बादलो के न रहने से सब ओर सुहावना लग रहा है, पानी का गॅदलापन दूर हो गया है धरती पर से सब कीचड़ सूख गया है और आकाश निर्मल किरणों वाले चन्द्रमा एव तारों से सुशोभित हो रहा है।'

ऐसे ही ग्रीष्म के संताप से संतप्त प्रकृति का जो रूप 'ऋतुसंहार' मे निखरा है वह आदर्श योजना से प्रभावित होने पर भो सहज स्वाभाविक है[1] ।

'मेघदूत' में भी कालिदास ने स्वतन्त्र रूप से प्रकृति के सहज सौन्दर्यात्मक रूप के दर्शन किए हैं। कनखल में गंगा जी को पार करते समय उसके स्फटिक निर्मल जल में कृष्ण मेघ की छाया में उन्होंने गंगा-यमुना के मनोरम संगम के सौन्दर्य के दर्शन किये हैं[2] ।

देवगिरि के वन-प्रदेश में कालिदास ने प्रकृति के जिस वर्षाकालीन रूप के दर्शन किये हैं उसका एक रूप प्रस्तुत है :—

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्य.
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥

'(हे मेघ !) जब तुम देवगिरि की ओर जाओगे तो वहाँ पर तुम्हारे वर्षण से आनन्दित पृथ्वी की सौंधी गन्ध से युक्त पवन तुम्हारी सेवा करेगा. जंगली हाथी अपनी सूडों से इसे पीने का उपक्रम करेंगे तो उन से एक प्रकार का शब्द होगा, और इस वायु से ही जगली गूलर भी गदरा उठेंगे '

इस रूप का विशद वर्णन हम आगे चलकर 'कालिदास के प्रकृतियोजना के रूपों' पर विचार करते हुए करेंगे। अतः यहाँ केवल

---

१. ऋतु० १।१३-२१ ।
२. पूर्व मेघ ५५ ।

इतना संकेत ही इस बात के लिए पर्याप्त होगा कि कालिदास की दृष्टि मे प्रकृति केवल मानवीय जीवन का प्रतिबिम्बन ही नही, उससे भिन्न भी है। उसका एक स्वतत्र रूप भी है जो कि सहृदय के लिये उतना ही मोहक एवं उद्दीपक भी है जितना कि उसका भावात्मक रूप। एक रूप देखिये ?

सम्पन्नशालिनिचयावृतभूतलानि
स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि
सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम्॥ ऋतु० ३.१६।

'गावों के वे सीमान्त लोगों के मनों को उल्लसित करते हैं जिनमें कि पके हुए धानों के पौधे लहलहा रहे है, चारागाहों में गायों के झुण्ड के झुण्ड चर रहे है और स्थान-स्थान पर हंसो और सारसों के जोड़े अपना कल निनाद कर रहे है।'

ऐसी ही एक और उक्ति प्रस्तुत है—

सोन्मादहंसमिथुनैरूपशोभितानि
स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि।
मन्दप्रभातपवनोद्‌गतवीचिमाला-
न्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि॥ ऋतु० ३.११।

'(शरद् में) वे सरोवर बरबस ही हृदय को आनन्दित कर डालते है जिनके तटों पर मस्त हंसों के जोड़े घूम रहे है, निर्मल जल में प्रफुल्ल कमल और नील कमल शोभा दे रहे है, और जिनके जल में प्रात कालीन मन्द पवन से हिलोरें उठ रही हैं।'

कालिदास की प्रकृति-चित्रण की शैली

पीछे हम भारतीय साहित्य में प्रचलित प्रकृति-चित्रण की प्रमुख शैलियों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाल ही चुके हैं। साथ ही कालिदास का प्रकृतिसम्बन्धी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया जा चुका है। अतः अब इस पृष्ठभूमि पर विशेष रूप से कालिदास की प्रकृति-चित्रण की शैलियों का निरूपण अनुचित न होगा। क्योंकि काव्य-जगत् मे कालिदास ने ही सर्वप्रथम प्रकृति-चित्रण के विविध रूपो एवं पक्षों को प्रस्तुत कर के आगे आने वाले कवियों के लिये प्रकृति-चित्रण का आदर्श प्रस्तु तकिया। इस क्षेत्र में कालिदास का स्थान सर्वोपरि है। कालिदास के प्रकृति-चित्रण के परिवेश में ही हम समस्त उत्तरवर्ती साहित्य में उपलब्ध प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन कर सकते हैं। अतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी शैलियों को समझने के लिए हमें पहले कालिदास की शैली को समझना होगा।

कालिदास से पूर्व हमे महाप्रबन्धकाव्यों में प्रकृति तथा प्रकृति-चित्रण के जिन रूपों एव विधाओ के दर्शन होते है वे कालिदास तथा उसके उत्तरवर्ती कवियों के रूप एव शैली से भिन्न हैं। उनमें प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का ही अन्तर नही अपितु शैली का भी महान् अन्तर है। उनमें प्रकृति का रूपात्मक चित्रण तो है पर भावात्मक चित्रण नही। इसीलिए उसमें उस संश्लिष्ट सवेदनात्मक शैली का उद्गम नहीं हो सका जिसे पाकर प्रकृति प्राणवान हो उठती है। यह कार्य सर्वप्रथम प्रकृति-पुत्र कालिदास की लेखनी से ही सम्भव हुआ है तथा च उसके बाद भी उस जैसी आस्था और प्रतिभा के अभाव में अधिक जीवन्त रूप में आगे नहीं बढ़ पाया है, अनुकरण-मात्र रह गया है।

कालिदास ने भी व्यास और वाल्मीकि के समान कहीं-कहीं केवल मात्र रेखा-चित्रों के आधार पर प्रकृति को उपस्थित किया है।

वर्णनात्मक शैली

पर वह न तो केवल सरल रेखा चित्र रह पाता है और न प्रसंग-निरपेक्ष प्रकृति-चित्रण मात्र ही। उसकी सौन्दर्यवादी दृष्टि इन सरल चित्रों में भी कलात्मकता की व्यंजना किये बिना नही रह सकती। कोरा रेखा-

चित्रण तो मानो उसके लिए सम्भव ही नही। 'रघुवश, में दिलीप और नन्दिनी के वन से लौटते समय सध्या का एक सक्षिप्त रेखा-चित्र देना था, कवि ने कहा :- –

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबार्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥
२,१७ ।

'राजा दिलीप जब नन्दिनी को लेकर घर को लौट रहे थे तो उन्होंने देखा कि पोखरों में से जंगली सूअरों के झुण्ड बाहर को निकल रहे थे, मोर अपने आवास-वृक्षों की ओर उड़ रहे थे, मृग हरे-हरे घास के मैदानों में खड़े थे और संध्या का अन्धकार धीरे-धीरे समस्त वन पर छाता जा रहा था'। यहाँ पर इन संक्षिप्त रेखाओं में सन्ध्याकालीन प्रकृति का मनोरम चित्र तथा उसकी पृष्ठभूमि में दिलीप और नन्दिनी का रूप पूरे प्रकरण तथा वातावरण के साथ झलक उठता है।

वर्णनात्मक शैली का दूसरा रूप जिसे 'संश्लिष्ट योजना' कहा जाता है वह कालिदास को अधिक रुचता है। क्योंकि इसमें चित्र का केवल आभासमात्र कराने की अपेक्षा उसे सम्बन्धित प्रकृति की स्थिति एवं व्यापारचित्रण के साथ पूर्ण एवं प्रत्यक्ष करने का आग्रह रहता है। पर जैसा कि हम अभी कह आये हैं कि सौन्दर्यवादी कवि होने के कारण उनके काव्यों में यह रूप भी आलकारिक सौन्दर्य से समवेत हो गया है तथा कालिदास के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण के भेद के कारण इसमें एक अदृश्य चेतना का आरोप भी हो जाता है। 'रघुवश' में वशिष्ठाश्रम की ओर जाते हुए राजदम्पति के सदर्भ में मार्गस्थ प्रकृति का निरूपण करते हुए कहते है :—

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः, शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ रघु० १,३८ ।

'सुखद स्पर्शवाली, सालवृक्षों की सुगन्धि से समवेत, पुष्पों के पराग से भरी हुई मन्द मन्द बहने वाली वायु उनकी सेवा करती रही अर्थात् उन्हे मार्ग का कोई कष्ट नही होने दिया।'

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥ १,४ ।

'उन्होंने देखा कि हरिणों के जोड़े मार्ग से कुछ हट कर टकटकी बांधे रथ की ओर देख रहे है। उनकी बड़ी आँखों में उन्होंने परस्पर एक दूसरे की आँखों की समानता देखी।'

किन्तु नाटयरचना में पाठक वा दर्शक के समक्ष देश-काल एवं सम्बन्धित वातावरण का साक्षात-चित्र प्रस्तुत करने के लिए नाटककार को सहज संश्लिष्ट योजना को प्रयुक्त करना पड़ता है। इस लिए कालिदास के नाटकों में भी इसका स्वतन्त्र रूप देखने को मिल जाता है। 'शाकुन्तल' में तपोवनवर्णन इसी शैली में प्रस्तुत किया गया है :—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिताः ॥
१,१३।

'वृक्षों के नीचे उनके कोटरों में रहने वाले तोतों के मुख से नीवार नामक मुनिधान्य के दाने गिरे पड़े हैं, हिंगोट के फलों को तोड़ने से चिकने पत्थर इधर उधर पड़े हैं, तपोवन के विश्वास से विश्वस्त मृग किसी प्रकार के भय के बिना रथ के शब्द को सुनकर चौकते नहीं और स्नान से लौटने वाले मुनियों के वल्कल वस्त्रों के अग्रभाग से चूने वाले जल के कारण जलाशयों का मार्ग चिह्नित हो गया है।'

ऐसा ही एक जीवन्त एवं संश्लिष्ट मध्याह्न का चित्र मालविकाग्निमित्र' में भी पाया जाता है।

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥ १,।१२

'दोपहर हो गई, हंस बावड़ियों में कमल की पंखुड़ियों की छाया में आँख मुद कर विश्राम कर रहे है। धूप से भवन इस प्रकार तप गये हैं कि उनके छज्जों पर कबूतर भी नहीं बैठ पा रहे है, चलते हुए रहट से उछलते हुए पानी की बूदों को पीने के लिये मोर उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी समस्त किरणों के साथ ऐसे ही दमक रहा है जैसे कि आप अपने राजसी गुणों से दीप्त हो रहे है।'

चित्रात्मक शैली

पीछे चित्रात्मक शैली के परिचय में हम दिखा चुके है कि कवि वर्ण्य विषय को सहज बोधगम्य बनाने के लिए उसके समानान्तर अप्रस्तुत रूपों की योजना करता है। प्रकृति का यह अप्रस्तुत रूप सहज सम्भव भी हो सकता है और कवि-कल्पना-प्रसूत भी। प्रकृति के एक चित्र को दूसरे समानान्तर—सम्भव वा कल्पित—चित्र से प्रत्यक्ष करने मे न केवल चित्र की बिम्बात्मकता का विकास होता है अपितु इससे काव्य-सौन्दर्य में भी वृद्धि हो जाती है।

कालिदास की शैली में इस प्रकार की योजना सभी संगत रूपो में पाई जाती है। रघुवंश की एक योजना देखिये—

एतन्मुनेर्मानिनि ! शातकर्णे पञ्चाप्सरोनाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ १३,३८

'हे मानिनि (सीते!) यह शातकर्णि मुनि का पचाप्सर नामक जल-विहार करने का सरोवर है जो कि चारो ओर से वनों से घिरा हुआ ऐसा ही लग रहा है जैसे कि चारों ओर से बादलों से घिरा हुआ चन्द्रमा शोभित हो रहा हो।' बादल और चन्द्रमा के अप्रस्तुत विधान से घने जगलो के बीच मे स्थित निर्मल जल वाले सरोवर का रूप किस प्रकार प्रत्यक्ष हो उठता है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं।

कभी-कभी कालिदास एक ही विषय को इस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में उपस्थित करते है कि उनके सौन्दर्य-विधान की दाद देनी पड़ती है। नर्मदा के जल से वन्य गज के बाहर निकलने का वर्णन है:—

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः स शब्दम् ।
बभौ सभिन्दन् बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभंग इव प्रवृत्तः॥ रघु० ५,४५।

'संकोचन और प्रसारण की क्षिप्रक्रिया में व्यस्त अपनी सूँड से शब्द सहित तरंगों को चीरता हुआ ऐसे ही तट की ओर आ रहा था जैसे कि वह अपनी बन्धन-अर्गला को तोड़ने की कोशिश कर रहा हो।' यहाँ पर प्रस्तुत हाथी की चेष्टा को अप्रस्तुत हाथी की चेष्टा द्वारा प्रत्यक्ष करने की जो योजना कालिदास ने की है वह सहज बोधगम्य ही नही, कलापूर्ण भी है।

इसके अतिरिक्त कभी प्रकृति के प्रस्तुत रूप को अधिक बिम्बग्राही बनाने के लिए वह अप्रस्तुत रूप में उनमें मानवीय भावों की योजना भी कर डालता है। प्रकृति के वासन्ती उन्माद का उल्लेख करते हुए कवि कहता है :—

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥
कुमार० ३।३९ ।

'वृक्षों ने अपनी झुकी हुई शाखारूपी भुजबन्धनों से बड़े-बड़े गुच्छों के स्तनवाली तथा हिलते हुए पल्लवों के कोमल होंठो वाली लताओ का निर्भर आलिंगन किया।'

यहाँ पर कवि ने बड़ी खूबी के साथ अप्रस्तुत मानवीय भावों की झलक देकर प्रस्तुत को एक दम जीवन्त रूप दे डाला है। अप्रस्तुत का विधान इतना झीना है कि उसमें प्रस्तुत का रूप ही सर्वतोभावेन उभर आता है।

उपर्युक्त प्रसंगों में प्रस्तुत को प्रत्यक्ष करने के लिए जिन अप्रस्तुत रूपों की योजना की गई है वे रूप स्वय भी प्रकृति मे सम्भव होते है। अतः उन्हें काव्यशास्त्र की भाषा में 'स्वतःसम्भवी' रूप कहा जाता है। पर कभी-कभी कवि अप्रस्तुत के रूप ऐसे रूपों की योजना कर डालता है जो प्रकृति में उसी रूप मे तो सम्भव नहीं हो सकते पर कवि-परम्परा में उनका उस रूप में विधान सर्वथा संगत माना जाता है। ऐसे विधानों से कल्पना का सौन्दर्य तो प्रकट होता ही है पर साथ ही काव्य में भी सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है।

किन्तु यह कार्य इतना कठिन है कि सामान्य प्रतिभा के कवि इसे निभा ही नहीं सके है। उनकी कल्पना स्वाभाविकता से इतनी दूर जा पड़ती है कि कभी तो हास्यात्मक कल्पना की कोटि तक पहुँच जाती है। बाद के कवियों में तो यह प्रवृत्ति हद तक पहुँच गई है। पर कालिदास इस दोष से सर्वथा मुक्त है। कवि कुमारदास को छोड़ कर और कोई भी उनके आदर्श का अनुकरण नही कर सका है। प्रस्तुत प्रकरण प्रकृति-चित्रण तक ही परिमित होने के कारण हम यहाँ 'कवि-प्रौढोक्ति-कल्पना' के प्रकृति सम्बन्धी उदाहरण ही प्रस्तुत कर सकेंगे। कुमार सम्भव से एक सन्ध्या-चित्र है—

तामितां तिमिरवृत्तिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम्।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ॥८,५३।

यहाँ पर बढ़ते हुए अन्धकार से घिरी हुई प्रस्तुत रक्तवर्णा सन्ध्या की अप्रस्तुत गैरिक सरिता के तट पर छाये हुए तमालपुञ्ज से उपमा देने में कवि ने यद्यपि कल्पित चित्र की योजना की है पर वह सर्वथा ऊहात्मक नहीं। इससे सन्ध्या का सौन्दर्य और भी अधिक निखर उठता है।

ऐसे ही अस्त होते हुए सूर्य की सरोवर के जल में पड़ने वाली आभा की सुनहरे सेतु के रूप मे की गई कल्पना मे न केवल अप्रस्तुत उत्प्रेक्षा का चमत्कार दर्शनीय है अपितु इससे प्रस्तुत के सौन्दर्य में भी असाधारण वृद्धि हो गई है :—

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥
कुमार० ८,३४।

यद्यपि इस प्रकार के कल्पना-प्रसंगों में कभी-कभी कालिदास अप्रस्तुत विधान के लिए अमूर्त उपमानो तक की योजना कर डालते है पर उसमें भी वर्णना के सौन्दर्य का बराबर ध्यान रखा गया है। रघु के प्रसृत यश की बात कहनी थी, कवि ने कहा :—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ रघु० ४,१९।

'हंसों की पंक्तियों में, तारिकाओं में कुमुदयुक्त सरोवरों में उसके यश के समान ऐश्वर्य बिखर गया।'

प्रकृति-चित्रण से बाहर भी कालिदास की प्रौढोक्ति कल्पना में कितना सहज सौन्दर्य रहता है यह तो उनकी रचनाओं में पदे-पदे प्रकत होता है। शैलजा की मुस्कान की कल्पना कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध होते हुये भी कितनी सुन्दर है, इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं।[1]

पिछले अनुच्छेदों में हमने कालिलास के प्रकृतिसम्बन्धी सचेतनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट कर ही दिया है। उनके इस दृष्टिकोण का रूप उनकी प्रकृति-चित्रण की शैली में भी अभिव्यक्त हुआ है। उनकी प्रकृतिसम्बन्धी भावव्यञ्जना का शैलीगत रूप रचनाओं मे पूरी तरह स्पष्ट हुआ है। एक दो उदाहरण प्रस्तुत है —

एष चारुमुखि योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कम्पयेव नवदीक्षया वरः॥ कुमार० ८,७

'हे सुन्दरी ! जिस प्रकार नई नवेली वधू प्रथम बार भय से काँपती हुई पति के पास जाती है वैसे ही ये गगन की तारिकाएँ भी डरी हुई सी अपने पति के चन्द्र के पास जा रही है।,' इस चित्रण में कवि ने प्रकृति में किस प्रकार भावों का आरोप किया है यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार के भावारोप और भावशीलता के चित्र कालिदास के प्रकृति-चित्रण में भरे पड़े हैं।[2]

सस्कृत के कवि अपनी अद्भुत कल्पनाओं के लिए प्रसिद्ध है, कल्पना-वैचित्र्य के द्वारा काव्य में सौन्दर्य उत्पन करने की शैली का प्रारम्भ तो संस्कृत साहित्य के प्रारम्भ से हो चला था, पर उसे ऊहात्मकता का रूप देने का कार्य उत्तरवर्ती कवियों ने किया। भारवि, माघ और श्रीहर्ष ने तो इसे इति तक पहुँचा दिया। किन्तु कालिदास में इस शैली का जो रूप मिलता है, उसे सर्वथा सहज एवं

वैचित्र्य शैली

---

१. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य पर्यस्त पर्याप्तरुचस्मितस्य॥ कुमार०।

२. कुमार० ८।६०; ३।३६, रघु० ५।६६; ६।४२ आदि।

आदर्श कहा जा सकता है। उसमें कल्पना का चमत्कार भी है पर सहज सौन्दर्य का रूप भी। 'रघुवंश' में चित्रकूट के शिखर का रूप प्रस्तुत किया गया है —

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृंगाग्रलग्नाम्बुजवप्रपंकः।
वध्नाति मे बन्धुरगात्रि! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥
रघु० १३, ४७।

हे सुन्दरी (सीते) निर्झरों की ध्वनि से ध्वनित गुफा रूपी मुख वाला, चोटी के अग्रभाग पर सलग्न मेघ रूपी कीचड़ वाला यह चित्रकूट मदमस्त साँड की तरह मुझे अच्छा लग रहा है।' यहाँ पर पर्वत की साँड के रूप में कल्पना करने में कल्पना का वैचित्र्य अवश्य है पर इसके द्वारा प्रकृति के जिस उद्दृप्त सादृश्य को प्रस्तुत किया गया है उसका सौन्दर्य भी कम दर्शनीय नही।

कालिदास ने तो अमूर्त में भी मूर्त की कल्पना करके उसे सौन्दर्य प्रदान करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। कुमारसम्भव में शकर जी पार्वती जी से कहते है—(हे पार्वती) चन्द्रमा की निखरती हुई नई किरणें जौ के नये और कोमल अंकुरों के समान है, तुम चाहो तो अपने कनफूल बनाने के लिए अपने नखों की नोक से उन्हे तोड़ लो :—

शक्यमोषधिपतेर्नवोदया: कर्णपूरचवयनाकृते तव।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः॥ ८, ६२।[1]

उक्ति वैचित्र्य के चमत्कृत करने वाले प्रयोग यद्यपि कालिदास में बहुत कम है पर उनका सर्वथा अभाव भी नही। भौरौ से गुंजरित प्रफुल्ल कुमुदों के प्रति यह कहना कि 'अत्यधिक चन्द्रिका का पान करने से इनका पेट फट गया है और अब वे कराह रहे है'[2] एक ऐसी ही चमत्कारक विचित्र उक्ति है यद्यपि सर्वथा सौन्दर्य रहित नही।

---

१. अन्य द्रष्टव्य कुमार० १।८; ३।२७; ८।४६ आदि ८।७०
२. अन्य दष्टव्य रघु० ९।३४ कुमार० ८।६९।

कालिदास के काव्यों में प्रकृति-योजना के रूप

भारतीय कवियों द्वारा प्रकृति की योजना किन-किन रूपों में की जाती रही है इसका कुछ निर्देश हम प्रस्तुत प्रकरण के प्रारम्भ में ही कर चुके है। कालिदास ने किन विशेष रूपों में प्रकृति को देखा है तथा चित्रित किया है इस पर भी पिछले पृष्ठों मे प्रकाश डाला ही जा चुका है। अब हम आने वाली पंक्तियों में विशेष रूप से इस पक्ष पर विचार करेंगे कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रकृति की योजना किन-किन रूपों में की है तथा उसके द्वारा काव्य वा नाटक की कथावस्तु तथा भाव-सौन्दर्य की भी वृद्धि किस प्रकार की है।

प्रकृति के दोनों ही—उद्दीपनात्मक तथा आलम्बनात्मक—रूपो को कालिदास की रचनाओं में उन्मुक्त तथा पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर मिला है। कालिदास से पूर्व इतने विविध रूपात्मक तथा भावात्मक रूपो में प्रकृति की योजना संभव ही नही हो सकी थी। इसका मुख्य कारण था प्रकृति के प्रति उनके दृष्टि-कोण का अन्तर। हम कालिदास के प्रकृतिसम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन करते हुये देख ही चुके है कि काव्य-जगत में प्रथम बार कालिदास ने प्रकतिसम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया था। आत्मीय सहानुभूति, भावतादात्म्य एव भावारोपण के रूप में कालिदास ने किस प्रकार प्रकृति को योजना की है इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं, किन्तु उसके अतिरिक्त भी अनेक रूप ऐसे है जो कि कालिदास द्वारा प्रकृति-योजना के रूपों पर नवीन प्रकाश डालते है।

कालिदास ने मानवीय जीवन तथा प्राकृतिक जीवन के बीच घनिष्ठ साम्य देखा है। अतः जीवन की सम और विषम दोनों ही स्थितियों पर प्रकति का अपरिहार्य प्रभाव भी माना है। उल्लास के क्षणो में प्रकृति का उल्लास आनन्दित करता है तो वेदना के क्षणों में वही वेदना को और भी तीव्र कर डालता है। 'मेघ' का 'कौतू-काधानहेतु, रूप जहाँ सयोगियों के हृदयों को उन्मादित कर डालता

उद्दीपनात्मक रूप मे

है वही वियोगियों के हृदयों में विरह-वेदना की असह्य कसक पैदा कर डालता है। वर्षाकाल के इस उमड़ते हुए मेघ ने किस प्रकार यक्ष की विरह व्यथा को उद्दीप्त कर डाला इसे कालिदास के शब्दों मे ही सुनिये :—

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ पूर्व मेघ० ३ ।

'मेघ के इस कौतूहल उत्पन्न करने वाले रूप को देखकर यक्ष तिलमिला उठा, आँखो मे आँसू उमड़ आये और वह अपने विचारों मे खो गया। कारण ? कि मेघ के इस उमड़ते घुमड़ते हुए उद्दीपक रूप को देख कर तो उनका मन भी उन्मादित हो उठता है जो कि अपने प्रियजनों के पास ही होते है। और जिसका चहेता प्रियजन दूर परदेश में पड़ा हो उस वियोगी के मन की व्यथा का तो क्या कहना।

'मेघ' के इसो उद्दीपक रूप को अभिव्यक्ति दी गई है उत्तर मेघ में भी।[१] और 'ऋतुसंहार' में भी इसका यह रूप देखने को मिलता है।[२]

जिस प्रकार वर्षाकालीन मेघ को देखकर वियोगी यक्ष की व्यथा के उमड़ पडने का उल्लेख 'मेघदूत' के उपर्युक्त पद्य में किया गया है वैसे ही वर्षाकालीन पवन के द्वारा वियोगियों के मानसिक उद्दीपन का भाव 'ऋतु सहार के निम्नलिखित पद्य में पाया जाता है—

नवजलकणसंगाच्छीततामादधान-
कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।

---

१. यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषिताना
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ उत्तर मेघ० ३६ ।

२. बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दला: सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम्।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेत: प्रसभ प्रवासिनाम् ॥
ऋतु० २।४ ।

जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः
परिहरति नभस्वान् प्रोषितानां मनांसि ॥ ऋतु० २।२६ ।

'वर्षा के नये जलकणों से शीतल, फूलों के बोझ से झुके हुए वृक्षो को नचाने वाला केतकी की पराग मिश्रित सुगन्ध को चारों ओर फैलाने वाला यह पवन प्रियजन से वियुक्त परदेशी प्रियजनो के मन को चुरा लेता है[1]।

जिस प्रकार वियोगावस्था मे प्रकृति वियोगियों के मनों को और भी अधिक उन्मन करने तथा वेदना की तीव्रता को बढ़ाने में उद्दीपन का कार्य करती है वैसी ही संयोगावस्था में भी भावुक जनों के मनोभावों को उल्लसित करने तथा उद्दीप्त करने में सहायक मानी गई है। हेमन्त के सरोवरों का सौन्दर्य किस प्रकार रसिक जनों के मानस को उल्लसित कर डालता है इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए कालिदास कहते हैं—

प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि
सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि
सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥ ऋतु० ४।९ '

'(इस ऋतु मे) खिले हुए नील कमलों से मदमस्त कलरव करते हुए हंसों से तथा निर्मल जल से लहराते हुए सरोवर बरवश ही देखने वाले लोगों के मन को चुरा लेते है।'

ऐसे ही वसन्त के उद्दीपक रूप का निरूपण करता हुआ कवि कहता है :—

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा
मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवाला ।
कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं
बालातिमुक्तलतिकाः समवेक्षमाणाः ॥ ऋतु० ६।१७ ।

---

१. ऋतु० २।१७; ३।१४, २।२२; ३।१९ आदि। विक्रम० ४।२५।३० ।

'(इस ऋतु में) उन अतिमुक्त लताओं को देखकर कामियों के मन सहसा उत्सुक हो उठते है जिनके सुन्दर फूलों का मस्त भौरे चुम्बन कर रहे होते है तथा मन्द पवन में जिनकी कोमल कोपले हिलोरे ले रही होती है।'[१]

प्रकृति को उददीपक रूप में प्रस्तुत करने की जो अनुकूल परिस्थितियाँ कालिदास को 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसहार' में प्राप्त थी वे महाकाव्यों एवं नाटकों के रचना-विधान में उपलब्ध नही हो सकती थीं। फिर भी उनमें प्रकृति के इस रूप का सर्वथा अभाव नही। 'रघुवश' के नवम सर्ग में वसन्तावतार का चित्रण करते हुए वह कहता है :—

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलय-प्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः॥
९।२८।

'वसन्त में फूले हुये अशोक के फूलों को देखकर ही कामोद्-दीपन नहीं होता था वरन् कामिनियों ने कोमल किसलियों के जो गुच्छे कानों मे सजा लिये थे उन्हें देखकर भी ये उन्मादित हो उठते थे। 'कुमारसम्भव' में कवि ने कोकिल के स्वर को इसी उददीपक रूप में प्रस्तुत किया है— आम की मञ्जरियों के खाने से मधुरतर कण्ठयुक्त कोकिल जब कूक उठता था तो उसे सुनकर मानिनियाँ अपना मान खो बैठती थीं।'[२]

'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में भी कालिदास ने प्रकृति को उन्मादित पुरूरवा की वियोग पीडा को तीव्र करने के लिये उद्दीपक रूप में प्रस्तुत किया है[३]।' उनकी प्रथम नाट्य रचना 'मालविकाग्निमित्र' मे भी हम देखते है कि उन्होंने प्रकृति के उद्दीपक रूप को अभिव्यक्ति देने के लिये अवसर निकाल ही लिया है। वसन्त के आगमन की अनुभूति को व्यक्त करता हुआ नायक कह रहा है :—

---

१ ऋतु० ३।५; ६।१५; २।२२; ३।६; ६।१८; रघु० ६।४५, कुमार० ३।२६, ३६ आदि।

२. कुमार० ३।३२।

३. विक्रम० ४।२५, ३० आदि।

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव ।
अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ।। माल० ३।४ ।

"मतवाले कोकिलों की कर्णसुखद कूकों के द्वारा मानों वसन्त मुझ पर अनुकम्पा करते हुए पूछ रहा है—प्रेम की पीड़ा सही तो जा रही है? साथ ही आम की मञ्जरियों की सुगन्धि से युक्त दक्षिण पवन का स्पर्श मुझे ऐसा ही सुखद लग रहा है जैसे कि वसन्त ने स्वयं अपना सुखद हाथ ही मेरे ऊपर रख दिया हो।" ऐसे ही अगले पद्य में प्रकृति की नायिका के रूप में जो कल्पना की गई है वह भी नायक में कामोद्दीपन करने वाली ही है।[1]

इस प्रकार कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को उद्दीपनात्मक रूप में प्रस्तुत करके एक ओर तो काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि की है, भावसंचार में योगदान किया है तथा दूसरी ओर प्रकृति को सहज रूपों मे प्रस्तुत करके उसके सहज प्राकृतिक सौन्दर्य की भी रक्षा की है जोकि कालिदास के अतिरिक्त बहुत थोडे कवि ही कर पाये है। उत्तरवर्ती कवियों मे तो प्रकृति का यह उद्दीपनात्मक रूप केवल रूढियों की शृंखला में बंध कर रह गया है और प्रकृति का सहज सौन्दर्य तो सर्वथा लुप्त ही हो गया है।

वातावरण की सृष्टि के रूप में

उद्दीपन के अतिरिक्त किसी घटना या पात्र के अनुरूप वातावरण की सृष्टि करने के लिए भी कालिदास ने प्रकृति का नियोजन किया है। इससे घटना का रूप जीवन्त रूप में उभर आता है तथा तदनुरूप वातावरण से प्रभाव में गहनता उत्पन्न हो जाती है। 'रघुवंश' में वशिष्ठाश्रम की ओर प्रस्थान करते हुए राज-दम्पति के अनुरूप ही प्रकृति का चित्रण किया गया है, कवि ने प्रकृति-चित्रण के द्वारा ही उनके महनीय गौरव तथा

१. रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः ।
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः ।
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ।। माल० ३।५।

कार्यसिद्धि का रूप हमारे समक्ष व्यञ्जित कर डाला है। प्रथम तो वे कहते हैं :—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ रघु० १।४२।

'उनकी यात्रा मे पवन अनुकुल दिशा मे वह कर उनके कार्य की सिद्धि का संकेत दे रहा था तथा इसी कारण घोडों के खुरों से उठने वाली धूल भी न तो सुदक्षिणा के बालों का स्पर्श करती थी और न दिलीप की पगड़ी का।' और फिर :—

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिः श्वासानुकारिणम् ॥ रघु० १।४३।

'मार्गस्थ सरोवरों के चंचल लहरों से शीतल उस कमल-गन्ध को लेते हुए वे चले जा रहे थे जो कि उनकी ही साँस के समान सुगन्धित था।' यहाँ पर प्रकृति-वर्णन की पार्श्वभूमि में राजा और रानी का गौरवान्वित रूप स्पष्ट हो उठता है।

ऐसे ही राजा दिलीप के ऐश्वर्य के अनुरूप वातावरण की सृष्टि की गई है प्रकृति-चित्रण के द्वारा 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में। 'नन्दिनी के पीछे जाते हुए राजा दिलीप का मार्गस्थ वृक्षों पर स्थित मतवाले पक्षियों ने अपने कलरव के द्वारा सेवकों की भाँति जय जयकार किया।' 'लताओं ने पौर कन्याओं की भांति पुष्पवर्षा करके खील वर्षाने का काम किया, और वनदेवताओ के स्वर में स्वर मिला कर हवा से पूरित बाँसों ने भाटों की भाँति उनका यशोगान किया[1]।' यहाँ प्रकृतिवर्णन के द्वारा कितनी खूबी के साथ राजकीय वातावरण की सृष्टि करके कालिदास ने महामहिम राजा दिलीप के राजकीय गौरव को उभार दिया है इसे बतलाने की आवश्यकता नही। और यही बात दिखाई देतो है रघु के दिग्विजय-प्रसंग में भी[2]।

---

१. रघु० २।९, १०, १२।

२. भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः।
गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ रघु० ४।७३।
अन्य द्रष्टव्य रघु० १३।३३, कुमार० ८।२५ आदि।

कालिदास ने किस प्रकार प्रकृति वर्णन के द्वारा पात्रगत चारित्रिक विशेषताओं को उभारा है इसके अनेक उदाहरण 'रघुवंश' में प्राप्त होते है। 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में रधु के अतिशायी प्रताप एवं पचम सर्ग मे अज के अलौकिक सौन्दर्य का जो संकेत कवि ने प्रकृतिनिरूपण के सहारे प्रस्तुत किया है वह दर्शनीय है[1]।

भावी का सकेतक रूप मे

प्रकृतिचित्रण के द्वारा कालिदास ने अनेकत्र भावी घटनाओं की ओर भी संकेत किया है। 'रघुवंश' के प्रथम तथा द्वितीय सर्ग के प्रकृति चित्रण से हमे दिलीप की कार्यसिद्धि का पहले ही आभास हो जाता है। ऐसे ही 'रघुवंश' के आठवे सर्ग में पवन द्वारा नारद की वीणा से पुष्पमाला के हरण तथा उसकी गन्ध का अणुसरण करने वाले भ्रमरों के चित्रण द्वारा कवि ने आने वाले वियोग तथा शोक की व्यञ्जना पहले ही कर डाली है[2]। 'शाकुन्तल' का प्रकृतिचित्रण तो इस प्रकार के सकेतों से भरपूर है। प्रारम्भ में ही नटी का ग्रीष्म सम्बन्धी गीत सकेत रूप से शाकुन्तल के सम्पूर्ण रूप को हमारे समक्ष व्यञ्जित कर डालता है[3]। इसी अंक के अन्त में विघ्न रूप हाथी का चित्रण भी तपोवन में प्रविष्ट होने वाले किसी महान् विघ्न का संसूचक है[4]। चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में मुनिशिष्य के द्वारा प्रभात-वर्णन शकुन्तला की भावी दशा का स्पष्ट निर्देश करता है[5]। तथा इसी अक मे चक्रवाक-मिथुन की चेष्टाओ का चित्रण तो शकुन्तला के भावी विछोह का सुस्पष्ट निर्देश करता ही है[6]। पचम सर्ग के प्रारम्भ में हंसपदिका का गीत[7] तथा छठे अंक में कुंचकी कृत वसन्त वर्णन[8] भी भावी के सुन्दर संसूचक कहे जा सकते हैं।

---

१. (i) निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्मा सुदु सहः
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥ रघु० ४।१५।

(ii) पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः
ऋतुर्विडम्बयामात न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ रघु० ४ १७।

(iii) ताम्रोदरेषु पतित तरुपल्लवेषु।
निर्धौतहारगुलिकाविशदहिमाम्भ.।
आभातिलब्ध परभागतयाधरोष्ठे,
लीलास्मित सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ रघु० ५।७०।

२. रघु० ८।३४-३५।

३. (सस्कृत छाया) ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदा. शिरीषकुसुमानि ॥ शाकु० १।४।

४-८ क्रमशः शाकु० १।३१; ४।२; ४।१६; ५।१; ६।४।

स्वयं कथानक की घटना के रूप में भी कालिदास ने प्रकृति की सुन्दर योजना की है। इस प्रकार प्रकृति जब इतिवृत्त की घटना बन कर काव्यजगत् में अवतरित होती है तो वह कभी तो स्वयं उसकी पात्र बन जाता है और कभी घटना-स्थिति का रूप धारण करके कथा-वस्तु के पात्रों के कार्य मे योगदान करती है। कालिदास ने कई रूपों में यह योजना की है।

कथानक की घटना के रूप मे

इसका स्वाभाविक रूप देखा जा सकता है 'रघुवश' के पाचवें तथा सोलहवें सर्ग में तथा 'शाकुन्तल' में। नर्मदा के जल से हाथी के निकलने का वर्णन कथावस्तु की ही घटनास्थिति का परिचायक है[1]। इसी प्रकार अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी के द्वारा कुश के समक्ष प्रस्तुत अयोध्या के विध्वंस का निरूपण घटना-स्थिति का ही निरूपण करता है। एक चित्र देखिए :—

वृक्षाशया यष्टिनिवासभंगान्मृदंगशब्दापगमादलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हा· क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥
रघु० १६। १४।

'घरों में मोरों के अड्डो के टूट जाने से वे वृक्षों में जाकर रहने लगे है, मृदंगौ की ध्वनि के अभाव मे वे नाचना भी भूल गए है, जंगल की आग से उनके पंख भी झुलस गए है इस प्रकार वे पालतू मोर जंगली मोरों के समान हो गए है।'

'शाकुन्तल' में तो प्रकृति स्वय एक पात्र बन कर कथानक का अभिन्न अग बन गई है। प्रथम चतुर्थ एवं सप्तम अकों मे वह स्वयं भी घटना-स्थिति का निर्माण करती है। सप्तम अंक मे दुष्यन्त द्वारा मातलि के प्रति रथ की गति का निरूपण स्वयं कथानक की घटना का अंग बन गया है।[2] ऐसे ही

१, निःशेष[illegible] वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ रघु० ५।४४।

२ अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्—
हरिभिरचिरभासा तेजसा चानुलिप्तै।
गतमुपरिघनानां वारिगर्भोदराणा
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ॥ शाकु० ७।७।

'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में भी समस्त प्रकृति निरूपण स्वय कथानक का अग बन गया है। हस. हरिण, हाथी आदि का चित्रण इस अक की नाटकीय घटनाओं का प्रतीक बन गया है। प्रकृति के चित्रों द्वारा ही कवि ने नाटक की समस्त घटनास्थिति को दर्शकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है।

'प्रकृति के आदर्श रूप में भी घटना-स्थितियों का निरूपण कालिदास ने किया है। 'कुमारसम्भव' मे तो सारी घटना को ही प्रकृति से एक रूप कर दिया है। हिमवान् कथावस्तु की घटना-स्थली के रूप में ही नही है, वरन स्वयं एक पात्र है। साथ हीव सन्त, कामदेव आदि की भूमिका में प्रकृति घटना के रूप में अवतरित हुई है। इस महाकाव्य के प्रमुख पात्र शंकर-पार्वती की कल्पना प्रकृति के व्यापक सौन्दर्य से ग्रहण की गई है। फल-स्वरूप इसकी प्रत्येक घटना मे प्रकृति का योग स्वाभाविक हो गया है, और पौराणिक कल्पना के आधार के कारण प्रकृति का यह रूप कही आदर्श और कहीं अलौकिक है। प्रारम्भ में हिमालय का वर्णन कथानक की भूमिका जान पडता है, परन्तु सौन्दर्य का यह चित्रण कथावस्तु से इतना अभिन्न है कि उसकी घटना का अंग बन गया है[1]।

प्रथम सर्ग के हिमालय वर्णन में प्रकृति का जो आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया है वह स्वयं भी 'कुमारसम्भव' की कथा का अग बन जाता है। साथ ही 'कुमारसम्भव' की कथा की अलौकिक घटनाओं के परिवेश में प्रकृति भी अलौकिक रूप में उपस्थिति हो कर घटना-स्थिति का सम्यक निरूपण करने लगती है। इधर वसन्त भगवान शंकर के मन को विचलित करने के लिए असमय मे ही प्रकृति मे एक हलचल पैदा कर देता है, जो कि स्वयं मे एक अलौकिक घटना है और उधर शंकर का सेवक नन्दी एक सकेत मात्र से उस समस्त चाञ्चल्य में स्तब्धता ला देता है —

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥

कुमार० ३।४२।

---

१. प्र० और का० पृ० १४७।

'उसका संकेत पाकर वृक्षों ने हिलना बन्द कर दिया, भौंरे चुप हो गये, पक्षियों ने मौन धारण कर लिया और मृग जहाँ के तहाँ खड़े रह गये। इस प्रकार सारा का सारा वन चित्रलिखित सा हो गया।' अलौकिक घटना की पार्श्वभूमि मे कैसा अलौकिक निरूपण है। ऐसे ही सप्तर्षियों द्वारा दिये गये हिमालय के परिचय में भी उस की अलौकिकता का रूप उभर आता है जो कि घटना-स्थिति का ही निरूपक है[1]। इस प्रकार हम देखते है कि कालिदास ने कई रूपों में घटना की स्थिति का निरूपण करने के लिए भी प्रकृति की योजना की है।

देश-काल और स्थिति के निरूपण के रूप मे

प्रकृति-चित्रण के द्वारा कालिदास ने अपने कथानकों में देश काल तथा स्थिति का निरूपण करने में बड़ी सहायता ली है। अन्य कवियों में भी प्रकृति का इस रूप में उपयोग पाया जाता है पर कालिदास की विशेषता इस बात मे है कि उन के प्रकृति-चित्रण से कथा के सौन्दर्य में विशेष चमत्कार पैदा हो जाता है। 'रघुवश' के चतुर्थ सर्ग में रघु की विजयवाहिनी जिस जिस प्रदेश मे पहुँचती है उसका रूप वहाँ की प्राकृतिक विशेषताओं के चित्रण मे ही उभरता है। प्रकृति-चित्रण के द्वारा देशगत विशेषताओं को पूरी तरह उभारने का जो कौशल कालिदास को प्राप्त है वह और किसी को नही। अंग, वंग, कलिग, सह्य, महेन्द्र कामरूप, काश्मीर, हिमवत्प्रदेश के जिन रूपों की झाँकी कवि ने प्रकृति-चित्रण के सहारे हमारे समक्ष उपस्थित की है वह दर्शनीय है। महेन्द्र-विजय के प्रसग में लिखता है—

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥ रघु० ४।४२।

महेन्द्र-विजय के उपरान्त रघु के सैनिकों ने वहाँ पर पान के पत्तों को बिछाकर मदिरालय बनाया और उन्हीं के पत्र चषकों में नारियल के रस का आसव शत्रुओं के यश के साथ पी गये। ऐसे ही हिमवत्प्रदेश की बात कहनी थी तो कह दिया—

---

१. कुमार० ६।५१।

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ रघु० ४।७४।

हिमालय मे पहुँच कर रघु के सैनिक वहाँ नमेरु वृक्षों की छाया मे उन पथरीली पाटियो पर बैठ कर विश्राम करने लगे जिन में से कि कस्तूरी मृगो के बैठने से सुगन्ध आ रहा थी।

इसी प्रकार इन्दुमती के स्वयवर में भी सुनन्दा विभिन्न प्रदेशों के शासकों का जो परिचय देती है वह उन प्रदेशों की प्राकृतिक विशेषताओं के निरूपण मे ही उभरता है । पाण्ड्यप्रदेश का रूप कितना स्पष्ट हो उठा है, निम्नलिखित प्रकृति चित्रण की पार्श्वभूमि मे :—

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥
रघु० ६।६४।

यदि तुम्हारा मन सदा ही मलय पर्वत की उन रम्य स्थलियों मे विहार करने का हो जिन में कि पान की बेलों से लिपटे हुये सुपारी के वृक्ष तथा इलायची की बेलों से घिरे हुये चन्दन के वृक्ष खडे रहते है।, तो तुम अवश्य ह इन (पाड्य नरेश) का पति रूप में वरण करो।

ऐसे ही कलिङ्गनरेश के वर्णन में उनके राज प्रासाद के निकटस्थ समुद्र के निरूपण के बाद सुनन्दा कहती है :—

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ।
रघु० ६।५७।

इनके साथ विवाह करने पर तुम्हें समुद्र के उन तट प्रदेशों मे विहार करने का सौभाग्य प्राप्त होगा जहाँ हर समय ताड़ों के वनों की मर्मर ध्वनि सुनाई देती रहती है; जहाँ पर दूसरे द्वीपों से आने वाला शीतल एवं लवंग के फूलों की सुगन्धि से सुवासित पवन तुम्हारी थकान वा पसीने की बूदों को सुखा दिया करेगा।

'शाकुन्तल' में तो प्रकृति-चित्रण के द्वारा ही प्रायः देश-काल व स्थिति की सूचना दी गई है। प्रथम अंक मे मृगजव-वर्णन, तपोवन वर्णन, समस्त चतुर्थ अंक, तथा सप्तमांक में रथगति-वर्णन के द्वारा देश की स्थिति का संकेत दिया गया है।

प्रकृति-चित्रण के द्वारा देशगत संकेतो के समान कालगत संकेतो की योजना भी कालिदास ने उसी कौशल के साथ की है।

'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग मे (१५-२४) प्रकृति-चित्रण के परिवेश मे शरत् काल का रूप प्रस्तुत किया गया है। पर प्रकृति-निरूपण के द्वारा काल व्यञ्जना का सुन्दर उदाहरण देखा जा सकता है 'रघुवंश के सोलहवें सर्ग मे। कवि ग्रीष्म के आगमन का संकेत करने के लिये कहता है—

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसबभूव॥
रघु० १६।४६।

धीरे-धीरे घर की बावलियों का पानी सेवार जमी हुई सीढियों को छोड़कर पीछे हटने लगा, कमल की डंडिया दिखाई देने लगीं और पानी घट कर स्त्रियों की कमर तक ही रह गया।)[1]

'शाकुन्तल' में भी प्रकृति-निरूपण के द्वारा ही ग्रीष्म, सायं, प्रातः, मध्याह्न एवं वसन्त की व्यञ्जना की गई है[2]। 'मालविकाग्नि-मित्र मे भी मध्याह्न का संकेत प्रकृति-निरूपण की पार्श्वभूमि मे ही उभरता है[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने प्रकृति के सौन्दर्य की रक्षा करते हुए उसके द्वारा कथानक के विभिन्न अंगों की पुष्टि की है।

यद्यपि प्रकृति-चित्रण में स्थिति-निरूपण, को देश-काल के निरूपण से पृथक् नहीं किया जा सकता फिर भी साहित्य में

---

१. अन्य रघु० ६।२४; कुमार० ८।२८।

२. क्रमशः १।४, १।३०, ४।२-३, ३।२०, ६।४।

३. माल० १ १२ शैली के अन्तर्गत उद्धृत।

प्रकृति-चित्रण के ऐसे रूपों का सर्वथा अभाव नहीं जो कि विशेष रूप से स्थिति-विशेष का ही निर्देश करते हों। सामान्यतया कालिदास के स्थिति-निर्देशक प्रकृति चित्र भी वातावरण तथा भावात्मकता के संकेतों से निरपेक्ष नही फिर भी यत्र-तत्र ऐसे चित्र उपलब्ध हो ही जाते है जो कि प्रमुख रूप से किसी घटना की विशेष स्थिति को उपस्थित कर डालते है। रघुवश' के द्वितीय सर्ग में ऐसा ही सुन्दर रूप उपस्थित किया गया। सिह-दिलीप-सवाद को आधारभूत भूमि हिमवत् प्रदेश की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कवि कहता है—'अगले दिन नन्दिनी राजा के भाव की परीक्षा लेने के लिए झट से हिमवान् की एक ऐसी गुफा में प्रविष्ट हो गई जिसके आस पास गंगा के जल-प्रपात के सी करों से सिंचित होने के कारण खूब हरी-हरी घास उगी हुई थी।,

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनु ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोगह्वरमाविवेश ॥

रघु० २।२६।

स्थिति का निर्देशक ऐसा ही एक अन्य चित्र, 'रघुवश' के नवें सर्ग मे दशरथ के मृगया-प्रसंग में भी दर्शनीय है[1]।

'शाकुन्तल'मे हमें अनेकत्र ऐसे सुन्दर प्रकृति चित्र मिलते है जो कि सहज रूप मे स्थिति-विशेष को मूर्तिमान् कर डालते है। दुष्यन्त द्वारा कण्वाश्रम के चित्राकन मे प्रकृति के जिन रूपों का अकन करने की कामना की गई है उनसे तत्रस्थ स्थिति का सौन्दर्य सहज ही मूर्तिमान हो उठता है। वह कहता है—'अभी मैने इस चित्र में वह मालिनी नदी बनानी है जिस के रेतीले तटों पर हसो के जोड़े बैठे हो और उसके दोनो ओर हिमवान् की वे उपत्यकाएँ दिखानी हैं जिन पर कि हिरनों के जोड़े विश्रब्ध होकर बैठे हों, साथ ही एक ऐसा वृक्ष भी अकित करना है जिसकी शाखाओं पर वल्कलवस्त्र लटक रहे हों तथा जिसके नीचे एक हरिणी अपनी बांई आँख को हिरण के सीग से रगड़ रही हो।'

---

१ रघु० ६।५६।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी ।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥
शाकु० ६।१७ ।

ऐसे ही सप्तम अंक में स्वर्ग से उतरते हुए राजा दुष्यन्त के द्वारा किया गया पृथ्वी का निरूपण भी स्थिति विशेष के रूप को उभारने की कालिदासीय कौशल का एक दूसरा रूप है—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः ।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥
शाकु० ७।८ ।

'ऊपर से उतरते हुए विमान से यह धरती ऐसी लग रही है जैसे कि यह पहाड़ की चोटियों से नीचे उतर रही हो, पत्तों से ढके हुए से दिखाई देने वाले वृक्ष शाखाओं सहित उभरते आ रहे है, जलहीन सी दिखाई देने वाली नदियों की जलधारा निरन्तर स्पष्ट होती जा रही है, इस सब से ऐसा लग रहा है जैसे कि कोई इस पृथ्वी को उछाल कर मेरे पास डाल रहा हो।' क्या ही अद्भुत एवं सूक्ष्म रूप से मूर्तिमान् कर डाला है कवि ने एक वास्तविक स्थिति को प्रकृति की पार्श्वभूमि का सहारा लेकर ! वस्तुतः कालिदास में इस प्रकार के चित्रों को हूबहू उतार देने की अद्भुत क्षमता थी। उसकी इस अनुपम विरासत को भी कम ही कलाकार आत्मसात् कर पाये है।

इसके अतिरिक्त कालिदास ने उपमान योजना तथा सौन्दर्य का मानदण्ड निर्धारण करने के लिए भी प्रकृति का खुल कर प्रयोग किया है। हम तत्तत् प्रकरणो में इसे दिखा चुके हैं, अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित न होगी।

यद्यपि कालिदास के प्रकृति-चित्रण में सौन्दर्य-विधान की अधिकता के कारण इसमें प्रकृति के आदर्श रूपों को विशेष स्थान प्राप्त है किन्तु साथ ही उसका सहज रूप भी उनकी रचनाओं में पूर्णतया सुरक्षित रह गया है जो कि कालिदास की अपनी विशेषता कही जा सकती है। उनकी सभी रचनाओ मे प्रकृति के स्वाभाविक चित्र भी बहुत बडी मात्रा में विद्यमान है। रघुदिग्विजय तथा इन्दुमती-स्वयंवर मे विभिन्न प्रदेशों का प्राकृतिक निरूपण किस कौशल व सौन्दर्य के साथ हुआ है, इसका सकेत हम ऊपर कर ही चुके है। इसके अतिरिक्त रघुवंश के तेहरवे सर्ग में पूर्वी समुद्र से लेकर गंगा-यमुना के संगम तक प्रकृति के जिन विविध रूपों का निरूपण हुआ है, वह भी दर्शनीय है। ऐसे ही 'मेघदूत' में मेघ के मार्ग में पड़ने वाले जिन वन-उपवन, नदी, पर्वत आदि का वर्णन किया गया है वह तो सर्वविदित है ही। हिमवत्-प्रदेश का प्राकृतिक निरूपण तो 'मेघदूत तथा 'कुमारसम्भव' का मुख्य विषय है ही। 'शाकुन्तल' और 'रघुवंश' मे आश्रम-जीवन तथा वहाँ की प्रकृति का चित्रण भी आलम्बन के रूप में कालिदास की रचनाओं में स्थान पा गया है। वनश्री का निरूपण भी दशरथ के आखेट-प्रसंग मे खूब भली भाँति हो गया है। इसी प्रकार अज के प्रसग में प्रातःकाल का वर्णन तथा 'कुमारसम्भव' के आठवें सर्ग में सन्ध्या का वर्णन भी आलम्बन के अन्तर्गत ही समा जाता है। चन्द्रोदय-वर्णन भी इसी सन्ध्या वर्णन का एक अग कहा जा सकता है। ऋतु-संहार' का तो विषय ही षड्ऋतु वर्णन है पर इसके अतिरिक्त 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में शरत् का, नवे सर्ग में वसन्त का तथा सोलहवे सर्ग में ग्रीष्म का निरूपण भी कवि के प्रकृति-वर्णन का आधार बन गया है। वसन्त का रूप तो 'कुमार सम्भव' के तीसरे सर्ग मे भी अच्छा उभारा गया है ऐसे ही 'मालविकाग्निमित्र' में मदनोत्सव के वर्णन में तथा 'विक्रमोर्वशीय' में 'गन्धमादन' पर्वत के प्रसंग में प्रकृति चित्रण स्वयं कवि का वर्णनीय विषय बन गया है। इसके अतिरिक्त और भी अनेकों प्रकृति के ऐसे रूप यत्र-तत्र कालिदास की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं जोकि इस महाकवि की लेखनी का स्पर्श पाकर जीवन्त हो उठे हैं। वस्तुतः प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में कालिदास अपूर्व है

आलम्बन के रूप में

और अद्वितीय भी। चाहे जिस कोण से परखिए उनके प्रकृति-चित्रण मे एक अनोखी नूतनता तथा एक अनोखा निखार दृष्टि-गोचर होता है जो कि न उनके पूर्व ही पाया जाता है और न उनके बाद ही। उनके पूर्व की रचनाओं मे यदि प्रकृति का यथार्थ रूप मुख्य है तो उनके उत्तरवर्ती कलाकारों में उसका आदर्श रूप जो कि कभी-कभी कृत्रिमता तथा ऊहात्मकता की कोटि तक जा पहुँचता है। कालिदास के समान न कोई यथार्थ और आदर्श का सामञ्जस्य रख पाया है और न वैसी सौन्दर्य-व्यञ्जना ही कर पाया है। इस क्षेत्र में भी कालिदास ने 'अनामिका' को ही सार्थक किया है। समस्त संस्कृत-सहित्य में कालिदास ही वस्तुतः 'प्रकृति-पुत्र' कहलाने का अधिकारी है। इसके सम्बन्धी प्रयोग ही बाद के कवियों के लिए 'काव्य-रूढि' व 'कवि-समय' बन गए।

उपमा कालिदासस्य

साहित्य शास्त्र में उपमा की स्थिति और कालिदास का उपमा-विधान

भारतीय साहित्य में उपमान और उपमेय की योजना में कालिदास अद्वितीय है इस विषय में दो मत हो ही नही सकते। किन्तु इससे पूर्व कि हम उनके उपमानोपयेय की योजना पर सविवरण प्रकाश डालें, सभी दृष्टियों से यह अधिक संगत होगा कि हम स्वयं भी उपमा के शास्त्रीय विधान के विषय में कुछ परिचय प्राप्त कर ले। भारतीय काव्यशास्त्र में उपमा का क्या स्वरूप है उसके प्रयोग आदि का क्या विधान और क्या परम्परा है, इस पृष्ठ भूमि को जाने बिना सर्व साधारण के लिए कालिदास के उपमानोपमेय प्रयोग को समझना तथा उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकना सरल नही।

विषय प्रवेश

भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में उपमान और उपमेय की स्थिति एक प्रकार से अपरिहार्य सी दिखाई देती है। क्योंकि समृद्धतम साहित्य से लेकर असभ्यतम जंगली जातियों तक सर्वत्र ही इसका व्यवहार पाया जाता है। जिसका स्पष्ट अभिप्राय हुआ कि उपमा अभिव्यक्ति का अन्यतम अंग है जिसका उपयोग भिन्न-भिन्न स्थितियों में तथा भिन्न २ रूपों मे किया जाता है। इसलिए कहा जाता है कि किसी जीवित भाषा में किसी उपमा का मूल ढूंढ निकालना अति कठिन है। यह सोचना सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि कवि ही किसी उपमा को जन्म देता है। वरन् सच तो यह है कि कवि की सम्पत्ति बनने से पूर्व भी कई उपमाएँ जनसाधारण की भाषा की सम्पत्ति बन चुकी होती है। इस विषय में अधिक से अधिक हम यही कह सकते है. कि इस समय लिखित रूप में इसका प्राचीनतम प्रयोग हमें अमुक कवि की रचना में मिलता है।

उपमान-योजना में वक्ता की प्रेरणा के मूल में प्रायः यही भाव काम करता दिखाई देता है कि वह कम से कम शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने हृदयस्थ भाव या चित्र को अधिकतम स्पष्ट वा बोधगम्य रूप में अपने श्रोता या पाठक तक पहुँचाना चाहता है। किन्तु अपनी अनुभूतियों को याथा-तथ्य दूसरे व्यक्ति के हृदय में संक्रमित करना कोई सरल कार्य नही। यह उस भाषा मे नही हो सकता जिसे कि हम सर्वसाधारण या अनलकृत भाषा कहते हैं। क्योंकि कई बार तो अनुभूतियाँ इतनी सूक्ष्म सुकुमार तथा अव्यक्त होती है कि प्रतीक-योजना के बिना उनकी अभिव्यक्ति ही कठिन हो जाती है। कवि की उक्ति उसके भावों को दूसरे व्यक्ति के हृदय में संक्रमित करने में जितनी अधिक समर्थ होगी उसमें उतनी ही अधिक मात्रा में काव्यात्मकता मानी जायेगी और वह उतनी ही उच्च कोटि का साहित्य होगा। हृदय के अन्तराल में निहित अनिर्वचनीय अनुभूतियों को वचनीय बनाने में ही तो कवि का कवित्व और उसकी कला का समग्र कौशल निहित होता है। किन्तु जब वह साधारण शब्दों के द्वारा उसे अभिव्यक्त नही कर पाता तो वह असाधारण के सहारे उसे व्यक्त करने का यत्न करता है।

अभिव्यक्ति और उपमान-योजना

यह तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कार, अध्ययन और प्रत्यक्ष अनुभूति मे से चाहे जिसे भी अधिक प्रबल कारण माना जाय, कवि का हृदय सर्वसाधारण के हृदय से अधिक संवेदनशील होता है। उसमें देखी, सुनी तथा अनुभव की गई घटनाओं का अधिक निर्मल प्रति-बिम्ब पड़ता है। प्रतिभावान् कवि तो अनेक अननुभूत और अप्रत्यक्ष रूपों का भी अपने अन्तर्लोक में प्रत्यक्षवत् दर्शन कर लेता है। शायद इसीलिए उसे '**कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः**' कहा गया है। यह कवि की कोरी प्रशंसा नहीं वरन् एक ठोस सत्य है। जीवन में सुख दुःख की अनुभूति भला किसे नहीं होती किन्तु उसे इस दिक्कालावच्छिन्न संसार में करोड़ों हृदयों तक सक्रमित करने का कार्य केवल कवि ही कर सकता है, वही उसको वाणी दे सकता है। इसके लिए उसे

अभिव्यक्ति का माध्यम

स्वभावत. एक विशेष प्रकार के माध्यम की आवश्यकता होती है। संगीतकार जैसे स्वरों का विशेष क्रम से तथा स्वरूप से संयोजन करके कोटि-कोटि मानसों को तरंगित करने में समर्थ होता है चित्रकार जैसे एक विशेप प्रकार मे रेखाओं तथा रंगों की योजना करके अपने मानस के गहनतम भावों को साकार अभिव्यक्ति दे सकने मे समर्थ होता है, वैसे ही कवि भी एक विशेष प्रकार के शब्दार्थ का प्रयोग करके अपने अभिमत की सिद्धि करता है। यही वह माध्यम है जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्यीभूत पाठक को देश-काल की सीमाओं से बाहर ले जा सकता है । हजारों वर्ष पूर्व और हजारो मील दूर के चित्रों का प्रत्यक्षवत् अनुभव करा सकता है। स्पष्ट है कि यह कार्य साधारण शब्दों तथा अभिव्यक्ति के साधारण माध्यम के द्वारा नहीं हो सकता। और यदि वे चित्र अनिर्वचनीय तथा अपरिचित हो तो पाठक के लिए किसी मूर्त प्रतीक के बिना उनके स्वरूप वा प्रभाव का साक्षात्कार करना और भी अधिक कठिन हो जाता है। किन्तु प्रतीक-योजना के द्वारा पर्याप्त सीमा तक इस अनन्त को सान्त व असीम को ससीम करने का कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। इसी के सहारे कलाकार इस विशाल विश्व के अनन्त प्राणियों के अनन्त काल के अनन्त सुख-दुःखों को एक पंक्ति, एक रेखा अथवा एक स्वर मे बाँधने में सफल होता है।

साहित्य के क्षेत्र में प्रतिक-योजना ही वह प्रबल साधन है जो कि कवि की अनुभूतियों को अनन्त काल के लिये स्थिरता प्रदान करने तथा उनमे संक्रमणहिता उत्पन्न कर सकने में समर्थ

प्रतीक योजना

है। सालकार भाषा के इसी महत्त्व की ओर संकेत करते हुये भामह ने "**सैषा सर्वैव वक्रोक्ति**" के, द्वारा जिस तथ्य को स्वीकार किया था, उसी पर मुहर लगाई थी आचार्य कुन्तक ने भी '**वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्**' कहकर क्योंकि विशिष्ट ढ़ंग से कहना ही कवि की उक्ति को जनसाधारण की उक्ति से पृथक् करता है। यही बात कही जा सकती है उसकी प्रतीक-योजना के विषय में भी। जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही कहा कि सर्वसाधारण अशिक्षित जनों में भी उपमान के द्वारा भावाभिव्यक्ति की प्रवृत्ति पाई जाती है किन्तु कवि की विशेषता यह है कि वह सर्वथा ज्ञात

तथा जन-प्रचलित उपमाओं में भी कुछ शब्द जोड कर, उसे अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित कर किसी असाधारण सम्बन्ध में उसका उपयोग कर या उसमें कोई सौन्दर्य-युक्त भिन्नता लाकर या उसे अधिक रंगीन या आकर्षक रूप में प्रस्तुत कर या उसकी शब्द-योजना में कोई परिवर्तन कर उसे नये रूप और नये विधान में प्रस्तुत करके उसे नया जीवन दे डालता है, नये रूप और नये परिधान में प्रस्तुत कर अधिक बिम्बग्राही बना डालता है। फलतः वह साधारण वक्ता की अपेक्षा अधिक चमत्कारक ढग से अपने श्रोता या पाठक के मन पर उसी प्रतीक के द्वारा अधिक गहरा व अधिक ठोस चित्र उभारने में समर्थ होता है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय कभी नही कि काव्य में सर्वदा और सर्वत्र ही अलँकार-योजना का लक्ष्य और स्वरूप वही रहता है जो कि हम ऊपर बता चुके है। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह होती है कि उच्च कोटि के कवियों में जहाँ यह अलँकार-योजना रसानुभुति की स्थिति में अनायास हो जाती है जैसा कि ध्वनिवादियो को भी अभिप्रेत है[१], वहां सामान्य कवि, कभी-कभी मान्य कवि भीजान बूझ कर अपने काव्य के अलकरण के लिए भी ऐसे प्रतीकों की योजना कर डालते है। तब वह उनके अन्तः करण की अनुभूति के स्वाभाविक प्रवाह से उत्पन्न न होकर उसकी कल्पना से ही उद्भूत होता है और उसका लक्ष्य भाव-संक्रमण न होकर केवलमात्र उक्ति-वैचित्र्य उत्पन्न करना होता है। इसका प्रभाव भी न स्थायी होता है और न गहरा ही। कोई कवि किस रूप में अलकार योजना करता है यह बहुत कुछ उसके स्वभाव और व्यक्तिगत विशेषताओं पर निर्भर होता है।

उपमान योजना और जातीय जीवन

प्राय सौन्दर्य-भावना ही उपमा-प्रयोग के मूल में पाई जाती है। भिन्न भिन्न जातियों, वर्गो वा राष्ट्रों में सौन्दर्य-भावना भी भिन्न-भिन्न पाई जाती है। ऐसा नही कहा जा सकता कि एक देश वा जाति के लोगों के लिए जो उपमान सौन्दर्याधायक हो वह दूसरे लोगों के लिए भी वही भावनात्मक प्रभाव रखता है। भारतीय सौन्दर्य के प्रतिमान किसी अन्य देशवासी को उसी रूप मे प्रभावित नही कर सकते यह एक तथ्य है।

१. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्ययत्ननिर्वर्त्यः सोऽलकारो ध्वनौ मत ॥ धवन्यालोक ॥ २।१६।

इसके अतिरिक्त हमें सच्चे कवि के अन्तःकरण से प्रभावित होने वाली स्वाभाविक उपमाओं और अलंकरण के लिए सप्रयास घड़ित अन्य कवियों की उपमाओं में अन्तर करना ही होगा अन्त करण से निकलने वाली नैसर्गिक उपमा ही काव्य की शोभा बढाने वाली तथा उसे जीवन देने वाली होतीहै। वह कवि की अभिव्यक्ति का अभिन्न अग होती है। उसके लिए कवि को कोई यत्न नहीं करना पड़ता। आनन्दानुभूति के क्षणों में वह कवि की आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम अनायास ही बन जाती है। स्वयं कवि भी उसके विषय में सचेष्ट नहीं रहता है। इसी प्रकार की अलकार-प्रयोग की स्थिति के लिए तो आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा था—**अलंकारान्तराणि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसा प्रतिमानवत· कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति।'** वस्तुतः रस-समाहित प्रतिभावान् कवि के समक्ष ये कतारो में हाथ जोड़े खड़े रहते है और कवि जिसे अपनी आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अधिकतम उपयुक्त समझता है उसके ऊपर अपनी कृपादृष्टि कर डालता है। उसे देख कर ही कवि को प्रतीक-योजना पर पाठक चमत्कृत रह जाती है। किन्तु इसके विपरीत सप्रयत्न अलंकार योजना अभिव्यक्ति का अंग नहीं बन सकती। वह कवि के भावों की अभिव्यक्ति के लिए न होकर स्वयं अपने ही लिए होती है। संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों की अलंकार-योजना प्रायः इसी कोटि में आती है

अलकार योजना की आदर्शस्थिति

संस्कृत अलकार-योजना का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अर्थालंकारों में से अधिकतम अलंकार ऐसे हैं जिनका मूलाधार सादृश्य या उपमानोपमेय का साधर्म्य-वैधर्म्य ही है। इसलिए प्राचीन आलकारिकों ने इन अलंकारों को उपमा के ही विशालपरिवेश में सन्निहित करने का यत्न किया है। आचार्य अप्पयदीक्षित अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ, चित्र-मीमांसा में इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं[1] कि उपमा एक नटी की भांति काव्य के रंगमंच पर विभिन्न प्रकार

उपमा की बहुरूपता

१. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

के रूपों में अपना नृत्य दिखाती हुई काव्य-रसिकों के मन को आनन्दित करती है[1]।

अप्पय दीक्षित ने अपने इस कथन को मुख और चन्द्र के उपमानोपमेय के द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। 'यथा चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभेदेनानेकालंकारभावं भजते। तथाहि—चन्द्र इव मुख मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमा। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः। मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम्। चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं इति स्मरणम्। मुखमेव चन्द्र इति रूपकम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यतीति परिणामः। किमिदं मुखमुताहो चन्द्र इति संदेहः, चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्तीति भ्रन्तिमान्। चन्द्रोऽयं न मुखमित्यपह्नवः। नूनं चन्द्र इत्युत्पेक्षा। चन्द्रोऽयमित्यतिशयोक्तिः। मुखेन चन्द्र कमले निर्जिते इति तुल्ययोगिता।······इसी प्रकार उन्होंने दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशसा आदि का भी सुन्दर ढ़ंग से समावेश करके दिखाया है। कालिदास की उपमा पर विचार करते हुए प्रायः सभी आलोचकों ने सभी सादृश्यमूलक अलंकारों को इसके अन्तर्गत ले लिया है। उन्होंने उपमा का अर्थ मुख्यतया उपमानोपमेय-योजना से ही लिया है।

उपमा का शास्त्रीय विधान

सामान्य रूप से अलंकार-योजना पर इतना कुछ विचार कर लेने के बाद यदि हम थोड़ा सा उपमा के शास्त्रीय विधान पर भी विचार करलें तो उसके प्रकाश में कालिदास की उपमाओं का मूल्यांकन करना अधिक सरल होगा।

यों तो काव्यशास्त्र के प्रत्येक आचार्य ने उपमा जैसे महत्त्वपूर्ण अलंकार पर विचार किया है पर इसके व्यावहारिक पक्ष पर विशेष रूप से 'काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति' के रचयिता आचार्य वामन ने अच्छा प्रकाश डाला है। अतः उसका थोड़ा सा अंश यहाँ उद्‌धृतत करना अनुचित न होगा। उनके अनुसार काव्य में दो

१. अलंकार शिरोरत्न सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवृशस्य मातेवेति मतिर्मम॥ राजशेखर, उद्‌धृत अलं शे० पृ ३२

प्रकार की उपमाओं का प्रयोग देखा जाता है। एक लोकप्रसिद्ध उपमानों के रूप में और दूसरा गुणसादृश्य के कारण कवियों के द्वारा कल्पित उपमानों के रूप में। वामन ने उपमा के इन दो भेदों को क्रमशः लौकिकी और कल्पिता नाम दिया है। लौकिकी उपमा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते है—'**सा तस्याश्छायेव** (का० सू० वृ० ४।२।१४)। किसी का अनन्य अनुसरण करने वाले को 'छाया की तरह' कहना एक लोकप्रसिद्ध कहावत बन चुकी है। इस प्रकार कहने की प्रवृत्ति ऋग्वेद काल से ही मिलने लगती है[1]। कालिदास से पूर्व महाकवि भास ने भी इस लोकप्रसिद्धि का अपने प्रतिमा नाटक में प्रयोग किया है[2]।

(i) लौकिको उपमा

हम देखते हैं कि छाया और उसके आधार का बिम्बप्रतिबिम्ब की भाँति अविनाभाव सम्बन्ध है। किसी के अविच्छिन्न सम्बन्ध को प्रकट करने लिए 'वह उसकी छाया की भाँति है' कहने से कहने वाले के भाव की जितनी स्पष्ट तथा अभिव्यक्ति हो सकती है, उतनी अन्यशब्दों के द्वारा नहीं। कालिदास ने भी इस लौकिकी उपमा का प्रयोग अपने महाकाव्य रघुवंश में बड़े सुन्दर ढंग से किया है; हम देखते हैं कि पहले तो कालिदास ने सामान्य शब्दों के द्वारा दिलीप की नन्दिनी के प्रति अनन्य भक्ति को दिखलाने के लिए कहा कि—जब वह खड़ी होती तो राजा भी खड़े हो जाते, ज्यों ही वह चलने को चरण उठाती त्यों ही राजा के चरण उठ पडते, जब वह बैठती तभी वह भी बैठते और जब वह पानी पीती तभी वे भी पानी पीते। 'किन्तु कालिदास दिलीप की इस अनन्य वृत्ति का जो रूप और भाव अपने पाठकों तक पहुँचाना चाह रहे थे वह उपर्युक्त कथन से उस रूप में व्यक्त नहीं हो पा रहा था। अतः उन्हें 'छाया की भाँति' अनुसरण करने वाली लोक प्रसिद्ध उक्ति के सहारे इस भाव को स्पष्ट करना पड़ा। इस उपमा के बिना सम्भवतः दिलीप की चेष्टाओं का सही रूप उपस्थित भी नही किया जा सकता था[3]।

---

१. ऋगवेद १, ७२, अग्नि के प्रति।

२ छायेव विश्वं भुवन सिसक्षि। प्रतिमा० अंक २ श्लो० १० ~~चतुर्थपाद~~।

३. स्थित.स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।(२।६।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में इस प्रकार की लौकिकी उपमाओं का सुन्दर प्रयोग किया है। इसके विपरीत कल्पिता उपमा वह है जो कि उपमेय तथा उपमान के गुण बाहुल्य के कारण कवियों द्वारा कल्पित रूप में प्रयुक्त की जाती है[1]। संस्कृतसाहित्य में अधिकतर उपमाएं इसी कोटि में आती है। कालिदास में भी ऐसी उपमाओं की कमी नहीं। इसका भी एक ठेठ नमूना देखिए— पार्वती के नख-शिख वर्णन में उसके होठों पर बिखरने वाली मुस्कान का प्रसंग आया तो कालिदास ने लिखा[2]।

(ii) कल्पिता उपमा

उसके आरक्त होठो पर फैलने वाली उज्ज्वल मुस्कान ऐसी लगती थी जैसे कि लाल-लाल कोपलों पर कोई उजला फूल रख दिया हो या लाल-लाल मूँगे पर स्वच्छ मोती जड़ दिया हो[3]।

वस्तुतः लौकिकी और कल्पिता का भेद कोई मौलिक अथवा स्थायी नहीं। मूलतः सभी उपमाएँ कल्पित ही होती है। कालान्तर में वे ही लौकिकी भी बन जाती है।

इसके आगे वामन ने इसके 'पदार्थ-वृत्ति' और 'वाक्यार्थ-वृत्ति' के रूप में और दो भेद किये है (४ २. ३,)। काव्य के किसी पद-विशेष में बनने वाली उपमा को पदार्थ वृत्ति और सम्पूर्ण वाक्यार्थ में रहने वाली उपमाको वाक्यार्थवृत्ति कहा गया है। कालिदास की अधिकतर उपमाएँ वाक्यार्थवृत्ति के ही अन्तर्गत आती है। वामन ने इसका एक सुन्दर उदाहरण कालिदास के

(iii) उपमा के अन्य भेद

१. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुच. स्मितस्य ॥ कु० १।४४।

२ गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता। काव्यालंकार ४. २. २।

३. और भी देखिए (i) मेघ० एक मुक्तागुणमिव भुव. स्थूल मध्येन्द्रनीलम् ॥ ५० ॥

(ii) मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ मेघ० पूर्व० १६।

(iii) सद्योमुण्डितमत्तहूण चिबुक पर्स्पर्धि नारंगकम् ॥ साहित्यदर्पण ८।

रघुवंश से प्रस्तुत किया है। प्रसंग है इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर पाण्ड्य नरेश का वर्णन[१]।

किस प्रकार यहाँ पर वाक्यार्थवृत्ति उपमा घटित होती है इस को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वेश्वर लिखते है—इस उदाहरण में पाण्ड्य देश के राजा की उपमा कालिदास ने अद्रिराज से दी है। परन्तु वह केवल पाण्ड्य और अद्रिराज का ही उपमान-उपमेय भाव नही है, अपितु पाण्ड्य के साथ 'अंसार्पितलम्बहारः' और 'हरिचन्दनेन क्लृप्ताङ्गरागः' ये दो विशेषण जुड़े हुए है। इसलिए उनके साम्य को पूर्ण करने के लिए अद्रिराज रूप उपमान में भी 'बालातपरक्तसानुः' और 'सनिर्भरोद्गारः' ये दो विशेषण जोड़ दिये गये हैं। अन्यथा उन दोनों का उपमानोपमेय भाव अपूर्ण हीर हता। इस प्रकार अनेक पदों में व्याप्त—अनेक पदों में पूर्ण--होने के करण यह वाक्यर्थवृत्ति' उपमा कहलाती है।" (का॰ सू॰ टीका)

इसके आगे उपमा के पूर्णोपमा, लुप्तोपमा आदि के रूप में अनेक भेद किये जाते है (यद्यपि बाद के आचार्यो ने उपमा के इन्हीं रूपों पर अधिक विचार किया है)।

कालिदास द्वारा अलंकार-योजना के आदर्शों की स्थापना

कालिदास के काव्यों में उपमा के प्रायः सभी रूप पाये जाते हैं। ऐसा लगता है कि उपमा के रूपों का निर्धारण करते समय कालिदास की रचनाएँ ही इन आचार्यो के सामने थीं। इसीलिए उनकी उपमा पर विचार करते समय हमें इस बात कोभी ध्यान में रखना होगा कि कालिदास ने लक्षण ग्रन्थों के विधान पर अपनी अलंकार-योजना नहीं की अपितु अधिक अंशों में तथ्य तो यह है कि कालिदास की सहज की सुन्दर अलकार योजना को देखकर ही काव्यशास्त्रकारों ने अपने लिए रूप व आधार निर्धारित किये।

अब हम इससे आगे कालिदास के द्वारा प्रयुक्त की गई उपमाओं के रूपों तथा विशेषताओं पर कुछ विस्तार के साथ

---

१. पाड्योऽयमंसार्पितलम्बहार क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६।६०।

विचार करेगे। यद्यपि उनकी समस्त उपमाओं का वर्गीकृत रूप में अध्ययन प्रस्तुत करना इस निबन्ध की परिधि में सम्भव नहीं हो सकता किन्तु फिर भी संक्षेप मे उसके अधिकतम रूपों तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अवश्य किया जायेगा।

१. कालिदास ने सम्भवतः कहीं भी अलंकार-प्रदर्शन या काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धिमात्र के लिए अलंकार-योजना नहीं की। उसकी अलंकार-योजना का विशेष प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन ही कालिदास की काव्यरचना का आत्मतत्त्व भी होता है। अतः कालिदास की अलंकार-योजना केवल वहीं होती है; जहाँ इसके बिना काव्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पूर्णतया नहीं हो सकती।

शाब्दिक मित व्ययता

सभी जानते हैं कि कालिदास शब्दों के प्रयोग में बहुत सावधानी से काम लेते हैं। वे कम से कम तथा विशेषरूप से चुने हुए शब्दों के द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति करना चाहते है। ऐसा करने के लिए यदि उन्हे उपमा का सहारा लेना पड़ता है तो वे तुरन्त उसका लाभ उठा लेते हैं। इससे उन्हें परिमित शब्दों में ही विस्तृत भाव की अभिव्यक्ति का सहज अवसर प्राप्त हो जाता है। शाकुन्तल के सप्तम अंक में दुष्यन्त ने बालक दुर्दमन को देखा, उसे देखते ही उसके हृदय में वे अनेक स्नेहसंवलित भाव जागृत हो उठे जो कि एक वत्सल पिता के हृदय में अपने दुर्ललित शिशु के लिए जाग सकते है। वे भाव कितने होते हैं तथा किस प्रकार के होते है तथा किस के होते हैं इस सब का विवरण प्रस्तुत करना थोड़े से शब्दों का काम नहीं। कालिदास अपनी नाट्य रचना में किसी पात्र के द्वारा यह सब कुछ कराना नाटकीय विधान के अनुकूल नहीं समझते थे। अतः उन्होंने दुष्यन्त के मुख से कहलवा दिया—'किन्नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे चेतः।' यहाँ 'औरस इव पुत्रे' उपमान में जहाँ एक ओर सुन्दर नाटकीय सोत्प्रास बन पड़ा है वहाँ दूसरी ओर सन्ततिहीन राजा के मन की असंख्य लालसाएँ एवं भाव-तरङ्गे भी अकथनीय रूप में मुखरित हो उठती है।

इसी प्रकार जब वह प्रतारिता शकुन्तला के कोप-कुटिल भ्रुकुटि-विलास को देखता है तो कह देता है—अकैतव इवास्याः कोपो

लक्ष्यते'। यहाँ पर भी 'अकैतव इव' कह कर कवि ने शब्द-प्रयोग की मित-व्ययता का जो परिचय दिया है वह दर्शनीय है। उस समय उस अप्रत्याशित आघात से आहत हो कर शकुन्तला जिस प्रकार तिल-मिला उठी थी तथा उसका आहत नारीत्व जिस प्रकार कोपाभिभूत हो उठा था उसका निरूपण थोड़े से शब्दों की शक्ति से बाहर था। ऐसे संयत क्षण में अधिक कुछ कहना अवसर और वातावरण के अनुकूल न था। अन्य कोई कवि होता तो इस स्थान पर शकुन्तला के कोपवर्णन के सुनहरे अवसर को हाथ से न जाने देता और अपनी कल्पना के उन्मुक्त विलास के लिए बहुत कुछ लिख डालता। पर उसके बहुत कुछ लिखने का परिणाम यही होता न। कि वह इस अवसर की सघनता को ही नष्ट कर डालता। किन्तु कालिदास ने स्थिति की गम्भीरता व अवसर के औचित्य को बनाये रखने के लिये एक प्रतीक के द्वारा जो कुछ कह दिया वह दूसरा कवि शायद बहुत कुछ कह कर भी नहीं कह सकता।

ऐसे ही, रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में हम एक और ऐसी ही भावाभिव्यञ्जक छोटी सी उपमा को देखते हैं। प्रसंग है शत्रुघ्न और लवणासुर के युद्ध का। लवणासुर ने शत्रुघ्न पर एक वृक्ष से प्रहार किया किन्तु शत्रुघ्न ने अपने बाणों से बीच में ही उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। इस पर उसने एक शिला उठा कर उस पर मारी[1]। यहाँ पर कालिदास ने उस शिला की भयंकरता, अचूक मार करने की क्षमता आदि का वर्णन न करके केवलमात्र 'कृतान्त-स्य मुष्टिमिव' कहकर उसकी विनाशकता एवं क्रूरता आदि की व्यञ्जना भर कर डाली है। ऐसी उपमाएँ कालिदास में बहुत हैं।

इस प्रकार की शाब्दिक मितव्ययता के लिए उपमा उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग प्रायः सभी कवियों ने किया है किन्तु प्रयोग की संक्षिप्तता के साथ सौन्दर्य भाव की जो सृष्टि और औचित्य की जो

१. विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्।
अजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थिताम्॥ १५।२१॥

रक्षा कालिदास कर सके हैं वह अन्य कवि कम ही कर पाये हैं। जैसे भारवि को ही लीजिए हिमालय के वर्णन के प्रसंग में एक स्थान पर वह कहता है 'हिमाचलः क्षीब इवाचकम्पे' यहीं पर हिमाचल की क्रियाओं के विस्तार में न जाकर 'क्षीव' की उपमा के द्वारा उसने शाब्दिक मितव्ययता तो अवश्य प्राप्त कर ली किन्तु उसे 'क्षीब इव' कह कर औचित्य और सौन्दर्य की रक्षा नहीं कर सका।

अव्यक्त की अभिव्यक्ति

२. अन्य कवियों के समान ही कालिदास ने भी कभी-कभी उपमा के सहारे उन भावों को अभिव्यक्ति प्रदान की है जिनकी अभिव्यक्ति याथातथ्य शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक प्रकार से नहीं हो सकती। अर्थात् जब कहने वाला किसी वस्तु या भाव के स्वरूप को ठीक नपे तुले शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाता है तो वह उसी के अनुरूप किसी जाने पहचाने रूप का उल्लेख करके उसके वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त करने का यत्न करता है। मालविकाग्निमित्र में बकुलावलिका का **'इह कुटिल गतिः सर्प इव दृश्यते'** (माल० ४।१५ के बाद) कहकर राजा को रोकना एक ऐसी ही उक्ति है। जो कुछ वहाँ था उसके स्वरूप का शब्दों द्वारा यथार्थ रूप उपस्थित करने में अपने को असमर्थ पाकर ही उसने उसकी अभिव्यक्ति के लिए 'सर्प इव' (टेढ़ा चलता हुआ साँप जैसा) कह डाला। और इस उपमान के सहारे अपने वक्तव्य अभिमत की सिद्धि कर ली।

ऐसी ही है 'विक्रमोर्वशीय' में घबराये हुए विदूषक की वह उक्ति भी जिसमें कि वह आकाश से उर्वशी के द्वारा भूर्जपत्र पर लिखित मदन-लेख को अपनी ओर गिराता देख कर चिल्ला उठता है—"**भो किन्नु खलु इदं भुजंगनिर्मोकमिव सम्मुखे मे निपतितम्** (संस्कृत)" जिस चीज को वह अपने सामने गिरती देख रहा था उसका ठीक-ठीक निरूपण वह अपने शब्दों में नहीं कर पा रहा था। इसीलिए उसने उसे 'साँप की कैंचुली जैसा' कह कर उसके स्वरूप को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। ऐसे अव्यक्त रूपों की उपमानमूलक अभिव्यक्ति के लिए कालिदास के द्वारा उपमान का चुनाव उपमेय के रूप के कितना निकट होता

है यह शायद इस उदाहरण से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा। भूर्जपत्र के लिए इससे अधिक उपयुक्ततम सादृश्य शायद और कोई मिल ही नहीं सकता। और इसी सूक्ष्मनिरीक्षण और चुनाव में है कालिदास की विशेषता भी।

अव्यक्त रूपों वा भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए कालिदास ने ही सर्वप्रथम इसका सहारा लिया हो, ऐसी बात भी नही। उनके पूर्ववर्ती काव्यकार भास, वाल्मीकि आदि में भी इस प्रकार की अभिव्यक्तियों की कमी नही[1]। पर कालिदास की विशेषता यह है कि वह जहाँ उन दोनों वस्तुओं के स्वरूप के निकटतम साम्य का ध्यान रखता है वहीं उनके लिङ्ग वचन आदि के औचित्य का भी पूरा ध्यान रखता है। ऊपर के ही उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है, कालिदास भूर्जपत्र की कितनी निकटतम समता ढूढने में सफल हुआ है। लिङ्ग-वचन की समता तो है ही। यह बारीकी अन्य कवियो में इतनी मात्रा में नहीं पाई जाती।

सादृश्यान्तर योजना

३. कभी-कभी एक वस्तु के रूप या गुणों की दूसरी वस्तु के रूप या गुणों से इतनी अधिक निकटता या समता होती है कि एक के देखने पर दूसरे का स्मरण बरबस हो आता है। वक्ता एक का वर्णन करता हुआ दूसरे का वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। कालिदास के काव्यों में भी इस प्रकार की उपमाओं का अनेकत्र प्रयोग मिलता है। विक्रमोर्वशीय में नील आकाश के मध्य में बाण विषय से दूर चले जाने वाले[2] ।लाल रंग कीमणि को ले जाते हुए श्याम वर्ण गिद्ध को देखकर राजा को रात्रि में बादल के टुकड़ों के बीच में चमकते हुए मंगल ग्रह के रूप का स्मरण हो आया। दोनों का सादृश्य अति निकट था। ऐसे ही इसी नाटक के

---

१. अये ! विद्युत सम्पात इव लक्ष्यते। प्रतिमा० ५।१२।२ इत्यादि।

२. आभाति मणिविशेषो दूरमिदानी पतत्रिणा नीतः।
नक्तमिव लोहिताङ्ग वरुणघनच्छेद संतुक्तः ॥ ५।४ ॥

तीसरे अंक में हाथों में दीपमालाएं ली हुई दासियों से घिरे हुए राजा की उपमा दोनों ढालों पर फूली हुई कनेरों से युक्त चलते फिरते पर्वत से दी है[1]।

इसी कोटि की है वह उपमा भी जो कि कालिदास ने शकुन्तला में शिशु भरत के प्रसारित हाथ के लिए दी है[2]।

यद्यपि अतिप्रसिद्ध पदार्थ के साथ साम्य दिखलाने की इस प्रकार की प्रवृत्ति अति प्राचीन काल से ही साहित्यजगत् में पायी जाती है[3] किन्तु कालिदास की सूक्ष्मेक्षिका का चमत्कार कुछ और ही है। वहाँ साम्य के साथ सौन्दर्यभाव तथा व्यञ्जनात्मक रूप भी समवेत रहता है जो कि उपमा में चार चाँद लगा देता है। महर्षि वाल्मीकि ने सीता के वस्त्रों के सम्बन्ध में 'भाति विद्युत् यथाम्बरे' (रामा० ४।५९।१७) में स्वरूपतः सादृश्य का कथन तो किया किन्तु सीता और अम्बर तथा विद्युत् और वस्त्रों में लिङ्ग आदि के साम्य का ध्यान नही रखा। जब की कालिदास की दृष्टि से यह भी नहीं बचने पाता।

स्थिति की स्पष्टता

४. कालिदास की अनेक उपमाएं ऐसी होती हैं जिनमें कि उन्होंने किसी अतिपरिचित स्थूल पदार्थ के द्वारा किसी भाव या स्थिति को स्पष्ट करने का यत्न किया है। जैसे कि शाकुन्तल में किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा विदूषक को मरोड़ा जाने पर वह राजा से अपनी स्थिति को अधिकतम सही रूप में व्यक्त करने की

१. परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभि।
गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पित कर्णिकार यष्टि. ॥ ३।३ ।

२. प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जाल ग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपकजम् ॥ ७।१६ ।

३. छान्योग्य उप० 'ब्रह्मविदिव वै भासि।' इत्यादि।

४. शाकु० अंक ६।
अथवा—एष त्वामभिनव कण्ठशोणितार्थी,
शार्दूल.पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ॥ शाकु० ६।२७ ।
अथवा—स्मरिष्यति त्वां न स········कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।

दृष्टि से कहता है—यह कोई अदृश्य प्रेतात्मा मेरी गर्दन को नीचे मोड़ कर मुझे ऐसे ही मरोड़ रहा है जैसे कि कोई गन्ने को तोड़ कर तीन टुकड़े कर रहा हो (एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोकन्धरमिक्षुमिव त्रिभङ्ग-करोति)।

५. जिस प्रकार सामान्य बोल चाल में देखा जाता है कि चतुर वक्ता व्यङ्ग्य, विनोद आदि के भावो में अधिक तीव्रता लाने के लिए उपमाओं का प्रयोग करता है, उसी प्रकार कालिदास ने भी अपने नाटकों मे प्राय: हास्य, व्यङ्ग्य, विनोद आदि भावों में अधिक तीव्रता लाने के लिए अनेक उपमाओं का प्रयोग किया है। मालविकाग्निमित्र मे विदूषक अपनी भूख की तीव्रता बतलाने के लिए कहता है 'मेरा पेट भट्टी की तरह जल रहा है'[१]। ऐसे ही महारानी धारिणी के द्वारा निगृहीत मालविका की स्थिति का वर्णन करता हुआ विदूषक कहता है 'उसकी हालत तो ऐसी ही हो रही जैसे कि बिल्ली के कब्जे मे पड़ी हुई कोयल की होती है[२]।' ऐसी ही स्थिति को अभिव्यक्त करता हुआ वह फिर एक स्थान पर कहता है—'यह तो ऐसे ही हो गया जैसे कि पिजड़े से छुटा हुआ बेचारा कबूतर बिल्ली के सामने आ पड़ा हो।' (माल० ४।१७।३) यहाँ पर स्थिति के स्पष्टीकरण के साथ-साथ कबूतर की स्थिति में पिंजड़े के संकट में और बिल्ली के सामने आ पड़ने वाले सकट में जो अन्तर आ गया है उसको भी इस उपमा के द्वारा सुन्दर व्यञ्जना हुई है। इसी प्रसंग में प्रतीहारी की वह उक्ति भी इसी कोटि की है जिसमें कि वह कहती है कि 'पीले बन्दर से डरकर देवी की गोद में कुमारी वसुलक्ष्मी ऐसे ही काँप रही है जैसे कि आँधी मे सूखा पत्ता[३]।'

भाव-तीक्ष्णता

इसी प्रकार कहीं जान बूझकर ऐसी उपमाओं की योजना की गई है जिनके उपमेय और उपमान के बीच पाया जाने वाला

---

१. दृढ विपणि कन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं बाधते। माल० २।१३।२।

२. यो विडालपरिगृहीताया. परभृतिकायाः॥ वही० ४।१।८।

३. प्रवातकिसलयमिव वेपमाना। वही० ४।१७।१४ तथा च न खलु न खलु बाणः''''''इत्यादि। शाकु० १।१०।

स्वरूपात्मक अन्तर ही उसमें हास्य भाव तीव्र करने में सहायक होता है। मालविकाग्निमित्र में समुद्रगृह के द्वार पर ऊँघते हुए विदूषक को देखकर निपुणिका इरावती से कहती है—'**महिषि ! एष द्वारोद्देशे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव बलीवर्द आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते** (४।१५।…)। यहाँ पर द्वार पर बैठे-बैठे ऊँघते हुए विदूषक की सड़क पर ऊंघते हुए साँड से दी गई उपमा स्वयं ही हास्य की वृद्धि में सहायक होती है। साथ ही एक ओर तो उसे आदरार्थक 'आर्य' शब्द से सम्बोधित करती है और दूसरी ओर सड़क पर पड़े हुए साँड से उसकी तुलना करती है। ऐसे ही हम मालविका के द्वितीय अंक में भी विदूषक को राजा से विनोद करते हुए सुनते हैं—आप तो ऐसे बिना पैसे वाले मरीज़ है जो चाहता है कि वैद्य ही स्वयं उसे अपने पास से दवा दे (**दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि** २।११।१)।

भावी घटनाओ का संकेत

कालिदास ने कही कहीं उपमाओं के द्वारा ही भावी घटनाओं का अप्रत्यक्ष संकेत करने का भी कौशल दिखलाया है। कुमार-सम्भव में एक ऐसी बड़ी सुन्दर योजना की गई है। तारकासुर के अत्याचारों से पीड़ित देवताओं की रक्षा के लिए की गई प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा जी उन्हे सलाह देने लगे—कि अब आप लोग कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे समाधि में लगा हुआ शंकर जी का मन पार्वती जी के रूप की ओर ऐसे ही खिच आवे जैसे कि चुम्बक के टुकड़े से लोहा खिच आता है[1]।

पार्वती के रूप से शंकर के मन को आकर्षित करने के लिए चुम्बक के द्वारा लोहे को खीचने की उपमा ठीक है। किन्तु कालिदास की शब्द-योजना पर थोड़ा सा ध्यान देने से हमारे सामने एक और ही रहस्य का उद्घाटन होने लगता है और देवताओं की इस युक्ति के द्वारा लक्ष्यसिद्धि की विफलता यही पर प्रकट हो जाती है। जरा महाकवि के शब्दों पर तो ध्यान दीजिए कहता है '**उमारूपेण अयस्कान्तेन संयमस्तिमितं मनः लौहवत्**

---

१. उमारूपेण ते यूय संयमस्तिमित मनः।
शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लौहवत् ॥ कुमार० २।५९।

आक्रष्टुम्' बेचारे भोले-भाले देवताओं की समझ में यह भी नहीं आया कि भला चुम्बक का एक छोटा सा टुकड़ा जकड़े हुए लोह स्तम्भ को कैसे चलायमान कर सकता है। और दूसरे 'रूप' भी नपुँसक और 'मन' भी नपुंसक। भला एक दूसरे को कैसे आकर्षित करे। उपमान में भी एक (अयस्कान्तः) पुल्लिङ्ग है तो एक (लौहं) नपुंसक। सामान्यतया हम जानते हैं कि कालिदास अपने उपमेय और उपमान की योजना में लिङ्ग-वचन आदि की समानता का पूरा-पूरा ध्यान रखता है जैसा कि हम आगे चल कर देखेगे। इसलिए निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कालिदास ने विशेष प्रयोजन से ही यहाँ ऐसा किया है। ऊपर के पद्य में कवि ने जानबूझ कर उपमान या उपमेय में कोई भी ऐसा नहीं रखा जो कि पार्वती के स्त्रियोचित रूप का वाचक हो। हमें इस उपमा के सहारे यहीं पर यह व्यङ्ग्य हो जाता है कि उमा के 'रूप' से शंकर के 'मन' को नहीं जीता जा सकता। उमा 'शंकर' को जीत सकती है (अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः) किन्तु जबतक उसके साथ 'रूप' जुड़ा हुआ है या जब तक उमा और शंकर के बीच में 'रूप' खड़ा है तब तक आकर्षण नहीं हो सकता यही तो चुम्बक और लोहे के बीच में आने वाली वह वस्तु है जो कि आकर्षण में में बाधक बन जाएगी। आकर्षण इसके हटने पर ही सम्भव हो सकेगा, यह कालिदास ने प्रारम्भ में ही उपर्युक्त उपमा के द्वारा व्यञ्जित कर दिया था। भोले देवता इस रहस्य को नहीं समझ सके। अन्त में जब 'रूप' (नपुं०) के स्थान पर 'साधना' (स्त्री०) आई तभी मिलन सम्भव हो सका।

ऐसा ही पूर्व संकेत मिल जाता है शाकुन्तल के प्रारम्भ में ही उस उपमान के द्वारा जिसमें कि तपोवन के निवासी वैखानस अहेरी राजा दुष्यन्त से रूई के समान कोमल मृग-शरीर पर अग्नि के समान बाण-प्रहार न करने का आग्रह करता है[1]। इससे ही हमें शकुन्तला के कुसुमकोमल हृदय पर दुष्यन्त के काम-बाणों के कठोर प्रहार का आभास हो जाता है। क्योंकि शकुन्तला भी तपोवन के मृगों के समान ही भोली भाली तथा इन अहेरियो

---

१. न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ॥ १।१० पूर्वार्ध ।

के कठोर प्रहारों से अनभिज्ञ है। यहां उपमानोममेयविधान में कालिदास ने बड़ी चुतरता से शरीर (नपुं) से मन (नपुं) तथा अग्नि-बाण (पु०) से (पु०) का भी आभास करा दिया है।

मालविकाग्निमित्र में भी ऐसी ही एक सुन्दर योजना की गई है। मालविका के प्रति राजा के आकर्षण से कुपित रानी इरावती राजा के अनुनय-विनय को ठुकरा कर अपनी सखी के साथ उद्यान से चली जाती है। उनके चले जाने पर विदूषक राजा से कहता है—चलो हम भी यहां से जल्दी खिसक चलें कहीं वे मंगल ग्रह की भांति उल्टी चाल चल कर फिर इसी शशिपर न लौट आयें[1]। यहां दोनों ही अननुकूल हैं और उनके फिर लौट आने की आशंका मंगल ग्रह की उपमा द्वारा सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है। कालिदास की व्यञ्जनात्मक उपमाओं पर अधिक प्रकाश हम उनकी उपमाओं की विशेषता के प्रसंग में डालेंगे।

कई बार कालिदास अनेक लोक-प्रसिद्ध उक्तियों को लेकर ही उन्हें बड़े सुन्दर ढंग से उपमान के पद पर लाकर बैठा देते हैं।

प्रसिद्ध लोकोक्तियों द्वारा कथन की परिपुष्टि

सोने के खरे और खोटेपन की पहचान आग में तपाने पर ही होती है, इस लोक प्रसिद्ध भाव को कालिदास ने रघुवंश—मालविकाग्निमित्र के प्रारम्भ में बड़े सुन्दर रूप में उपस्थित किया है। यथा—'अच्छे और बुरे की परख करने वाले सज्जन ही मेरे इस काव्य को सुनने अधिकारी हैं। क्यों कि सोने का खरापन और खोटापन आग तपाने से ही जाना जा सकता है[2]।'

---

१. तद्वयं शीघ्रमपक्रमामः। यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति (मा० iii २३ से पूर्व।

२. तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति-हेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिःश्यामिकापि वा॥ रघु० १।१०।

इसी प्रकार की बात मालविकाग्निमित्र में आचार्य गणदास अपने शिक्षण-कौशल के विषय में कहता है[1]। कालिदास की उपमान योजना का एक रूप यह भी है कि वह महनीय उपमान की योजना द्वारा उपमेय को महिमान्वित करने की चेष्टा करता है।

महनीय उपमान-विधान द्वारा उपमेय की महत्ता का द्योतन

मुनि वशिष्ठ की होम धेनु तथा राजा दिलीप की सिद्धिदात्री नन्दिनी की महनीयता प्रकट करने के लिए कालिदास किस प्रकार की उपमान योजना करते हैं; इसके दो उदाहरण देखिए—एक बार तो वे उसकी उपमा चारों समुद्रों से युक्त पृथ्वी से देते हैं—**पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्** (२,३) और दूसरे स्थान पर विश्ववन्दनीय सन्ध्या से[2]। 'राजा दिलीप दिनभर नन्दिनी को वन में चरा कर सायंकाल उसके पीछे-पीछे आश्रम को लौट रहे हैं और इधर रानी सुदक्षिणा भी उसकी अगवानी करने के लिए आश्रम के बाहर तक गई हुई है। अब रानी के साथ आश्रम को लौटती हुई नन्दिनी ऐसी लग रही है जैसे कि दिन और रात के मध्य में स्थित रक्तवर्णा सन्ध्या हो।' यहां पर नन्दिनी को सन्ध्या की उपमा देकर कालिदास ने उसकी महनीयता को जितना बढ़ा दिया है वह शायद इस उपमा के अतिरिक्त और किसी शब्द से सम्भव नहीं था। नन्दिनी को सन्ध्या कह कर उसने कार्य-सिद्धि की जो व्यंजना कर डाली है वह अलग ही है।

ऐसे ही एक अन्यपद में पल्लवरागताम्रा नन्दिनी की तुलना सूर्य की सायंकालीन प्रभा से की गई है (२।१५)। उपमेय को महिमान्वित करने की इस प्रवृत्ति का सुन्दरतम रूप देखा जा सकता है उस कल्पित उपमा में जो कि अज और इन्दुमती के विवाह

---

१. उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥ २।९।

२. पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन
प्रत्युद्गता पार्थिव-धर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनु-
र्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या॥ २।२०

में उनकी होमग्नि की प्रदाक्षिणा के प्रसंग में की गई है[1]। उद्दीप्त यज्ञाग्नि के चारों ओर आंचल में गांठ बांध कर प्रदक्षिणा करते हुए अज और इन्दुमती ऐसे लग रहे हैं जैसे कि दिवस और रजनी सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा कर रहे हों। यह भाव स्वयं कवि को भी इतना अच्छा लगा है कि उसने फिर एक बार इसकी आवृत्ति कुमारसम्भव में उमा-शंकर के विवाह के अवसर पर भी कर डाली है।

कालिदास की रचनाओं में इस प्रकार की उपमाएं बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। उनके केवल दो-तीन उदाहरण ही यहां उपस्थित किये जा सकते है :—

१. जैसे सूर्य अपने तेज दौड़ने वाले घोड़ों की सहायता से थोड़े ही समय में चारों दिशाओं को पार कर लेता है वैसे ही कुशाग्रधी रघु भी अपनी तीव्र बुद्धि के द्वारा चार समुद्रों के समान चारों विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) में प्रवीण हो गया।

२. राम के उपरान्त लव आदि सात रघुवंशी शासकों ने किस प्रकार अपने अपने राज्य क्षेत्रों में शासन प्रबन्ध किया इसी को बताते हुए लिखा है[2]। 'सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी उन्होंने एक दूसरे की सीमा का ऐसे ही उल्लंघन नहीं किया जैसे कि समुद्र अपनी वेला (सीमा) का उल्लंघन नहीं करते।' यहां उनकी उपमा समुद्रों से देकर उनकी महनीयता को ही व्यक्त किया गया है[3]।

उपमा द्वारा आन्तरिक भावों को बाह्य अभिव्यक्ति

कालिदास ने अनेक अवसरों पर अमूर्त मानसिक अवस्थाओं के प्रकाशन के लिए उपमा का सहारा लिया है और उसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली है। कुमारसम्भव में शंकर को प्राप्त करने के लिए कठोर तपस्या में संलग्न पार्वती की परीक्षा लेने के लिए भगवान् शंकर स्वयं ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उसके पास जा पहुँचते हैं। अनेक

१. प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानोरुदर्चिषस् तन्मिथुनं चकाशे
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥ ७।२४।

२. धियः समग्रैः स गुणैरुदातधीः क्रमाच्चतस्तश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्या पवनातिपातिभिर्दिशोहरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ रघु० ३।३०।

३. अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव त व्यतीयुः १६।२।

प्रकार से शंकर को बुरा भला कहने के बाद जब उसकी परीक्षा ले चुकते है और अन्त में शंकर के विरुद्ध जब कुछ और कहने को उद्यत दिखाई देते हैं तो पार्वती क्रोध में वहाँ से उठकर चली जाना चाहती हैं। वह चलने के लिए कदम उठाती ही है कि शंकर अपने असली रूप में उसका हाथ पकड़ कर उसे रोक लेते है। उस समय की पार्वती की आन्तरिक स्थिति का आभास देने के लिए कालिदास लिखते है—'अप्रत्याशित रूप में शंकर को अपने सामने पाकर वे हक्की-बक्की सी रह गई। शरीर में कँपकँपी छूट गई, पसीना उतर आया और चलने के लिए उठाया हुआ चरण जहाँ का तहाँ रुक गया। उस समय उनकी दशा ऐसी हो गई जैसी कि पर्वत से अवरुद्ध-गति किसी सरिता को हो जाती है[१]।' यहाँ पर हमें इतना और समझ लेना चाहिए कि कालिदास की दृष्टि यहाँ पर उपमान और उपमेय के केवल बाह्य साम्य तक ही सीमित नहीं। वह उसके अन्तमन के भाव-प्रवाह को भी देख रहा है। उसके मन में भी पर्वतीय नदी के वेग के समान भावों का एक प्रबल वेग उमड़ रहा है। क्रोध तो था ही और अब इस अप्रत्याशित दर्शन ने आनन्द, लज्जा, संकोच आदि के भावों को और उद्भूत कर डाला है, पर वह अपने आपको इनमें से किसी की अभिव्यक्ति या गुप्ति में असमर्थ पा रही है। जिस प्रकार मार्ग में किसी महा-पर्वत के आ जाने से प्रवाहशील सरिता के बाहरी प्रवाह में ही अवरोध नहीं आता अपितु उसका आन्तरिक प्रवाह भी अवरुद्ध हो जाता है वैसे ही पार्वती की बाहरी गति के अवरोध के साथ-साथ आन्तरिक भावों का भी अवरोध हो चला था। इस दुहरे अवरोध की जितनी सफल अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा हो सकी उतनी शायद शब्दों के द्वारा कथन से कभी नहीं हो सकती। पर्वत-कन्या की उपमा के लिए पर्वतीय ही उपमा चुनी गई है इससे उसमें स्थानीय रंजन (Local Colour) के आ जाने से अभिव्यक्ति और भी अधिक सहज एवं स्पष्ट हो गई है।

---

१. तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचल-व्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥ ५।८५।

महाकवि अश्वघोष ने—

तं गौरवं बुद्धगत चकर्ष, भार्यानुराग पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गष्विव राजहंसः॥

के द्वारा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को उपमा के द्वारा अभिव्यक्ति देनें का जो प्रयास किया है वह कालिदास की समकक्षता को प्राप्त नहीं हो सका है। इस में बाहरी समता तो आ गई है पर आन्तरिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति नही हो सकी है।

शाकुन्तल में कालिदास की इस प्रवृत्ति की परिचायिका अनेक उपमाएँ पाई जाती हैं। उसके प्रथम अंक में ही हम देखते हैं कि शकुन्तला से प्रथम मिलन के उपरान्त दुष्यन्त लौट रहा है वह शरीर से तो लौट रहा है, कदम आगे बढ़ रहे हैं, पर उसका मन बराबर पीछे की ओर, शकुन्तला की ओर ही भागा जा रहा है। शरीर और मन की परस्पर विरोधी इस गति की सुन्दरतम अभिव्यक्ति की है कालिदास ने इसकी तुलना उस रेशमी पताका से करके जिसे कि प्रतिकूल वायु में ले जाया जा रहा हो। अर्थात् उसका डंडा तो आगे को ले जाया जा रहा है किन्तु पताका पीछे को ही उड़ रही है। यहाँ भी पताका के बाहरी दृश्यमान रूप के अन्दर जो आन्तरिक कम्पन है उसके द्वारा हृदयस्थ स्पन्दन को भी अभिव्यक्ति मिल गई है[1](क,ख)। ऐसी ही सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है शकुन्तला के पंचम अंक में भी दुष्यन्त के उस मनोभाव को जिसे की उसने अन्तः तुषार-युक्त कुन्दकली के ऊपर मंडराने वाले भ्रमर के उपमान को वाणी देने का यत्न किया है। अत्यन्त रूपवती नव-युवती शकुन्तला अपने समस्त रूप-संभार एवं प्रणय-याचना को लेकर दुष्यन्त के सम्मुख उपस्थित है और उस रूप और माधुर्य का प्रभाव भी ऐसा है कि दुष्यन्त उससे अपने को रोकने में असमर्थ सा भी पा रहा है पर साथ ही शाप-जन्य विस्मृति के कारण वह

---

१. (क) गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चाद् सस्थितं चेत.।
चीनांशुक मिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ १।३२।

(ख) अश्वघोष ने इसी भाव को—ययौ शरीरेण पुर न चेतसा (छन्दक)—के द्वारा व्यक्त किया है।

स्मरण नहीं कर पा रहा है कि उसने कभी इस के साथ विवाह भी किया है। इसलिए धर्म-भय से वह उसे ग्रहण भी नहीं कर पा रहा है। उसकी मानसिक स्थिति बड़ी ही विचित्र व द्वन्द्वात्मक है। उसका ठीक-ठीक वर्णन शब्दों की शक्ति से बाहर है अतः कालिदास उसे व्यक्त करते है उस 'मधुपूरित किन्तु तुषारावृत प्रातःकालीन कुन्दकली' से जिसे मधुलोलुप भ्रमर न त्याग ही सकता है और न तुषार के कारण उसका भोग ही कर पाता है। यहाँ पर दुष्यन्त की मानसिक दशा का भ्रमर की मानसिक दशा के द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है।

यहाँ दुष्यन्त के अन्तर्विरोध को उपमा के द्वारा स्पष्ट करने के अतिरिक्त कालिदास ने कुन्दकली, भ्रमर, तुषार आदि के द्वारा जो व्यञ्जना की है, वह दर्शनीय है। शकुन्तला कुन्दकली के समान शुभ्र एवं निर्मल है, मधुपूर्ण है; दुष्यन्त भ्रमर है, किन्तु उस कली पर तुषार (शाप) पड़ा है। भ्रमर उसके मधु का पान तब तक नही कर सकेगा जब तक कि उस पर तुषार है। तुषार चिरस्थायी नहीं होता। सूर्य की ऊष्मा पाते ही विलीन हो जाता है और पुनः भ्रमर उसका पान कर सकता है। यहाँ इस उपमान-योजना के द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला के चरित्र की व्यञ्जना तो हुई पर साथ ही आगे चलकर तुषार के विलीन होने की सम्भावना से शाप-नाश की व्यञ्जना भी हो गई है[1]

इसी प्रकार मालविका के निकट ही होने की सम्भावना से राजा अग्निमित्र के मन की जो अनिर्वचनीय उत्सुकता बढ़ी उसे स्पष्ट करने का यत्न है निम्नलिखित रूप में[2]। विदूषक

---

१. (क) इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवास्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैवशक्नोमि हातुम् ॥ ५।१६।

(ख) और भी शाकु० १।२४, ६।१०; ७।३१; रघु० ८।८०; ८।५४।

२. त्वदुपलभ्य समीपगतां मम प्रिया
हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।
तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः
सरितमारसितादिव सारसात् ॥ माल० ३।६।

से मालविका की स्थिति का संकेत पाकर राजा कहता है—(मित्र !) तुम्हारे द्वारा मालविका के निकटस्थ ही होने का समाचार पाकर मेरा आकुल मन ऐसे उच्छ्वसित हो उठा है जैसे कोई प्यासा पथिक सारसों के मधुर शब्द को सुनकर पास में ही सघन वृक्षों से अन्तर्हित जलाशय के होने की भावना से उच्छ्वसित हो उठता है। यहाँ पर प्यासे पाथिक के उपमान से राजा की मानसिक स्थिति का अच्छा अभ्यास मिल जाता है।

विक्रमोर्वशी में भी एक स्थान पर ऐसे ही सुन्दर ढंग से पुरूरवा की मानसिक स्थिति को व्यक्त किया गया है। उर्वशी देवकार्य के लिए स्वर्ग को चली गई और साथ में ले गई राजा के मन को भी। उसका शरीर तो यहीं रह गया पर मन उर्वशी के साथ उलझा हुआ जा रहा है। इसे व्यक्त किया है मृणालखण्ड से मृणालसूत्र को खींच कर ले जाती हुई राजहंसनी, के उपमान द्वारा। उर्वशी को हंसिनी, हृदय को मृणालसूत्र और शरीर को मृणाल दण्ड कहकर कवि ने जो सुन्दर व्यञ्जना की है वह भी दर्शनीय है[1]।

वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन

कहीं-कहीं कालिदास ने उपमा के सहारे अनेक वज्ञानिक तथ्यों को प्रस्तुत करने का सुन्दर विधान किया है। भौतिक जगत् के सभी पदार्थ एवं प्राणी सूर्य से ही चेतनता अथच जीवन प्राप्त करते हैं, इसको निम्नस्थ उपमा के द्वरा व्यक्त किया गया है[2]। महाराज रघु वरतन्तु-शिष्य कौत्स से पूछ रहे हैं—जिस प्रकार सूर्य से सारा संसार जीवन प्राप्त करता है उसी प्रकार जिन गुरु वरतन्तु से तुमने ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया, मन्त्रद्रष्टाओं में सर्वश्रेष्ठ तुम्हारे वे पूज्य गुरु जी कुशल पूर्वक तो हैं न ?

---

१. एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रात्
सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ।। १।२०।

२. अप्यग्रणीमन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धेः कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ।। ५।४

इसी प्रकार दिलीप-कुमार रघु के शारीरिक विकास के विषय में बतलाते हुए कालिदास लिखते हैं 'सब प्रकार से सम्पन्न पिता दिलीप की देख-रेख में रघु के अङ्ग प्रत्यङ्ग ऐसे ही वृद्धि को प्राप्त होने लगे जैसे कि सूर्य की रश्मियों से शुक्ल का चन्द्रमा दिन प्रति-दिन बढ़ता चला जाता है[1]।' यहाँ पर महाकवि ने उपमा के कौशल से इस वैज्ञानिक तथ्य का निर्देशन किया है कि चन्द्रमा में जो प्रकाश दिखाई देता है वह स्वयं उसका नहीं अपितु वह उसे सूर्य से प्राप्त होता है। इसी प्रकाश से वह वृद्धि को और पूर्णता को भी प्राप्त होता है। अपनी रचनाओं में इस प्रकार के वैज्ञानिक तथ्यों का प्रकाशन कालिदास ने यत्र-तत्र किया है[2]।

शास्त्रज्ञान की अभिव्यक्ति

११. इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि कालिदास विविध कलाओं के समान ही विविध शास्त्रों में भी पारंगत थे। इसलिए उनके काव्यों में कुछ उपमाएं ऐसी भी मिल जाती है जिनमें कि उन्होंने अपने शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन करने की चेष्टा की है। व्याकरण शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कुछ उपमाएं इस प्रकार है।

बाली की मृत्यु के बाद राम ने उसके स्थान पर सुग्रीव को अभिषयक्त कर दिया। अब बाली के सभी कार्यो को सुग्रीव उसी का स्थानापन्न होकर करेगा। इस भाव की अभिव्यक्ति के लिए कालिदास ने उपमा दी है 'धातु' के स्थान में होने वाले 'आदेश' की। व्याकरण शास्त्र के अनुसार आदेश सर्वथा 'स्थानी' के अर्थ का वाचक होता है। जैसे 'अस्' के स्थान पर 'भू' या

---

१. पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा॥ रघु० ३।२२।

२. देखिए—मेघ···धूम ज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः॥ ;
कुमार सम्भव—क्रोधं प्रभो संहर संहरेति० ३।७२।
शब्द की गति से प्रकाश की गति की तीव्रता।,
और भी शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरबुम्दः॥
रघु० ३। ५८।

'इण्' के स्थान पर 'गा' आदि। प्रसंग में इस उपमा के द्वारा सुग्रीव की स्थिति नितान्त स्पष्ट हो जाती है। कालिदास लिखते हैं :—

धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ रघु० १२।५८।

ऐसे ही अन्य प्रसंग में कहा गया है—

व्याकरण शास्त्र में जैसे एक अपवाद सूत्र अनेक व्यापक सूत्रों को व्यर्थ कर देता है वैसे ही रघु के वंश का एक अकेला बालक ही अनेक शत्रुओं को पछाड़ सकता था"[1]। कालिदास ने बिल्कुल इसी उपमा को एक एक बार पुनः कुमार सम्भव में भी प्रयुक्त किया है :—

अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥ कुमार० २।२७।

इसी प्रकार की एक और उपमा भी है कवि लिखता है कि—

'यद्यपि लवणासुर का विनाश करने के लिए अकेला ही शत्रुघ्न पर्याप्त था फिर भी राम की आज्ञा के अनुसार व्यर्थ ही एक बहुत बड़ी सेना उसके साथ गई[2]। एक उपमा के द्वारा उसकी व्यर्थता को दिखलाने हुए कालिदास कहते हैं वह ऐसे ही व्यर्थ थी जैसे कि 'इङ' धातु के साथ अधिउपसर्ग होता है। अर्थात् केवल 'इङ्' का भी अर्थ होता है 'अध्ययन करना' पर 'अधि' भी व्याकरण के अनुसार उसमें जोड़ दिया जाता है यद्यपि उससे उसके अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। ब्राह्म सरोवर से निकलने(वाली सरयू की उपमा अव्यक्त मूल-प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि-तत्त्व से दी गई है जोकि सांख्य शास्त्र के अनुकूल है (रघु० १३।६०) ऐसे ही नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने वाली रानी सुदक्षिणा की उपना श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति से दी गई है[3]।

---

१. यः कश्चन रघुणां हि परमेकः परंतपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥ रघु० १५।७।

२. रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थ-सिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्॥ रघु० १५।९।

३. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। रघु० २।२)।

१२. काव्य-शास्त्र के आचार्यो ने अलंकारों को काव्य की शोभा का आधायक कहा है। कालिदास ने जहां विशेष प्रयोजन से अलंकारों का प्रयोग किया है वहीं काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए भी उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है। उनकी उपमाओं में से अनेक उपमाएँ ऐसी है जिन का प्रयोजन केवल काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाना है। जैसे **'भगौ वज्र समुत्कीर्णे सूर्यस्ये वास्ति मे गतिः'**[1] उपमा का प्रयोग यहां पर विशेष रूप से काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए किया गया है। ऐसे ही एक अन्य पद्य में कहा गया है कि महाराज कुश की आज्ञा से शिल्पियों ने उजड़ी हुई अयोध्या नगरी का ऐसे ही पुनरुद्धार कर दिया जैसे कि ग्रीष्म से संतप्त धरती मेघवर्षा से फिर से हरी भरी हो जाती है[2]।

काव्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि

यहां पर भी उपमा का प्रयोजन काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ऐसे ही रघुवंश में (५।६४) अज को इन्दुमती को पाने की चिन्ता में रात को नीद देर से आई, इस बात को बताने के लिए ही कवि अनोखी कल्पना करता है[3]।

कही कहीं तो यमक अनुप्रास आदि के मोह में पड़ कर भी उपमान-योजना की गई दिखाई देती है। पीछे अनुच्छेद में मालविकाग्निमित्र से उद्धृत उपमा **'सरितमारसितादिव सारसात्'** (माल० ३।६) अथवा ऋतुसंहार के शरद् वर्णन में **'चञ्चन् मनोज्ञशफरी··· समदाः प्रमदा इवाद्य'** में कालिदास का यह मोह स्पष्ट व्यक्त हो

---

१. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्र समुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ रघु० १।४

२. तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघाः निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥
रघु० १६।३८।

३. भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ।
निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥

रहा है। इसी प्रकार 'प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावतादिव' (रघु० १।३६) में भी आनुप्रासिक मोह स्पष्ट झलक रहा है।

एक और भी प्रवृत्ति कालिदास में पाई जाती है जो कि उनके उपमा-विधान में चार चांद लगा देती है। उपमेय के किसी गुण का अतिशय बतलाने के लिए वे उपमान का विधान करके भी उसकी उपयुक्तता का निषेध कर डालते हैं जिससे कि उपमेय की अनुपमेयता व्यञ्जित हो उठती है। इसका एक सुन्दर उदाहरण कुमारसम्भव से लिया जा सकता है—कालिदास उमा के अंग प्रत्यङ्ग का वर्णन करते जा रहे हैं; जब उनके उरुस्थल के वर्णन का अवसर आया तो कवि ने पहले उनके दो उपमान प्रस्तुत किये। एक हाथी की सूंड और दूसरा कदलीस्तम्भ, किन्तु अगले ही क्षण हाथी की सूड में कठोरता और कदलीस्तम्भ में अत्यन्त शीतलता को दोष बता कर उनकी अनुपमेयता को ही व्यक्त कर दिया[1]।

उपमेय की अनुपमेयता की अभिव्यक्ति

मालोपमा की विशिष्ट योजना

कालिदास के उपमा-विधान का एक रूप यह भी है कि जब वह किसी उपमेय की अतिशय महनीयता को अभिव्यक्त करना चाहता है तो वह वहाँ एक दो उपमाओं से सन्तुष्ट न हो कर उपमाओं की झड़ी लगा देता है। कालिदास की विभिन्न रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनके मन पर त्रिवेणी-संगम के सौन्दर्य एवं महनीयता की बड़ी गहरी छाय पड़ी थी। इसीलिए रघुवंश के तेरहवें सर्ग में जब राम का विमान त्रिवेणी संगम के ऊपर आया तो कवि ने वहाँ उसके स्वरूप और सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उपमाओं की झड़ी लगा दी। एक के बाद एक उपमान प्रस्तुत करता चला गया। सात उपमाएँ दे डालीं पर संतोष शायद फिर भी नहीं हुआ।

(i) उपमेय की यह नीयता

ऐसे ही परम तेजस्वी गर्भ को धारण करने वाली रानी

---

१. नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥
कुमार० १।३६।

सुदक्षिणा की उपमा का प्रसंग आया तो कालिदास नें वहाँ एक साथ ही तीन उपमाओं की योजना कर डाली। महनीय उपमानों से ही उपमेय की अतिशय महनीयता को कवि ने कैसे अभिव्यक्त कर दिया स्वयं देखिए। कवि कहता है 'राजा दिलीप गर्भ वती रानी सुदक्षिणां को वैसी ही महनीय समझते थे जैसे कि अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण पृथ्वी हो, अग्निगर्भा शमी हो या अन्तःसलिला सरस्वती हो'[1]।

यहाँ पर गर्भस्थ भ्रूण की रत्नअग्नि तथा सरस्वती के पावन जल से तथा रानी की सागराम्बरा धरणी शमी एवं सरस्वती से एक साथ ही उपमा देकर कवि किस भाव को अभिव्यञ्जित करना चाहता है, यह स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

लगभग ऐसी ही योजना की गई है सुदर्शन के राज्याभिषेक के प्रसंग में भी। बालक सुदर्शन के सिंहासनारूढ़ होने से रघुकुल की कैसी श्रीवृद्धि हुई इसे बतलाने के लिए कवि कहता है कि— इस बाल-नरेन्द्र सुदर्शन से रघु का वंश ऐसे ही सुशोभित होने लगा जैसे कि दूज के चाँद से आकाश, सिंह-शावक से वन और कमल की कली से सरोवर सुशोभित होता है[2]।

एक साथ ही तीन उपमाओं की योजना से प्रसंग की महनीयता तो अभिव्यक्त होती ही है पर साथ ही उपमानोपमेय-योजना भी विशेष दर्शनीय है। बाल-नरेन्द्र सुदर्शन में दूज के चन्द्र की आह्लादकता, सिंह-शावक की तेजस्विता तथा कमल-कुड्मल की सुकुमारता एक साथ ही अभिव्यक्त हो उठती है[3]।

---

१. निधान-गर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तः सलिलां सरस्वती नृपः ससत्वां महिषीममन्यत ॥, ३।६.

२. नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मल पुष्करेण तोयेन च प्रौढ़नरेन्द्रमासीत् ॥ १८।३७।

३. द्रष्टव्य शाकु० २।१० अनाघ्रातं पुष्पम्० ५।१२ आदि। कुमार० १।४४ रघु० ३।३२। २।७५।

कभी-कभी किसी-स्थिति विशेष की गम्भीरता को अभिव्यक्त करने के लिए भी कालिदास मालोपमा की योजना कर डालते हैं। रघुवंश में ही अग्निवर्ण के क्षयरोगग्रस्त हो जाने से रघु-कुल की दयनीय दशा का आभास कराने के लिए कालिदास ने यहाँ पर भी एक साथ ही तीन उपमाओं की योजना कर डाली है। वे लिखते हैं 'राजा अग्निवर्ण के क्षय-ग्रस्त होने पर रघुवंश की स्थिति ऐसी ही हो गई जैसी कि कला-मात्र शेष कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के चाँद से आकाश की या पंकमात्र शेष ग्रीष्म के सरोवर की या तनिक सी बची हुई बाती वाले दीपक की होती है'[1]।

(ii) स्थिति की गम्भीरता

बतलाने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार कवि ने इन गूढ़ व्यञ्जक तीन उपमाओं के द्वारा ही आने वाली स्थिति की गम्भीरता को अभिव्यक्त कर दिया है। पाठक के मन पर स्वयं ही स्थिति की गम्भीरता प्रतिबिम्बित हो उठती है।

सामान्यतः यही कुछ है कालिदास का अलंकार-विधान जिसने कि आने वाले युगों के लिए अलंकार-योजना का मार्ग निदर्शन किया। पर थोड़े ही काव्यकार निकले जोकि कालिदास को अलंकार-योजना के महत्त्व को समझ सके तथा उसे अपनी रचनाओं में निरूपित कर सके।

---

१. व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत् क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥ रघु० १९।५१।

कालिदास के प्रसिद्ध उपमान

कालिदास के उपमा विधान पर इतना कुछ कहने के बाद अब हम संक्षेप से कालिदास के कुछ प्रसिद्ध उपमानों तथा उनके काव्य-सौन्दर्य पर भी थोड़ा विचार करेंगे।

कालिदास की उपमान-योजना में वैशिष्ट्य

जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं कि किसी उपमा की विशेषता केवल इसी में नहीं कि वह किसी कवि की नवीन कल्पना है वरन् वह तो उसके प्रयोग पर निहित होती है। स्वयं कालिदास में अनेक ऐसी उपमाएँ हैं जोकि उनसे बहुत पूर्व ही साहित्य-क्षेत्र में प्रयुक्त हो चुकी थीं। वे एक प्रकार से रूढ़ (लौकिकी) हो चुकी थीं। काव्य-रसिक उन उपमानों से होने वाली अभिव्यक्ति से परिचित हो चुके थे। उनकी लोकप्रियता का कालिदास ने भी लाभ उठाया। पर कालिदास के ये प्रयोग केवल पिष्ट-पेषण-मात्र नहीं थे। अपनी प्रतिभा एवं सूझ-बूझ के साथ कालिदास ने देश, काल परिस्थिति आदि का लाभ उठा कर उन्हें एक नवीन एवं चमत्कारी रूप दे डाला है।

उपमान के स्रोत

कालिदास ने अधिकतर उपमानों की योजना स्थूल एवं ज्ञात जगत् से की है। प्रकृति ने कालिदास को अधिकतम उपमान प्रस्तुत किये है उनके समस्त उपमानों में कम से कम आधे ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध प्रकृति से है। अन्य उपमानों में भी अधिकतर ऐसे हैं जो हमारे दैनिक जीवन या उसकी अनुभूतियों से सम्बन्ध रखते हैं। वस्तुतः कालिदास के मानस पर ऐसी मोहनी छाई है कि उसे जब कभी अभिव्यक्ति की पूर्णता अथवा काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए किसी उपमान की आवश्कता होती है तो प्रकृति ही सबसे पहले अपना विविध उपमान-भण्डार लेकर उसके सामने आ खड़ी होती है। उपमा

(i) प्रकृति

के क्षेत्र में प्रकृति का अक्षय भण्डार उसके लिए सदा खुला रहा है। किन्तु साथ ही यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कालिदास ने अपने पाठकों के सामने उन्हें उसी प्राकृतिक रूप में प्रस्तुत नहीं किया है जिस रूप में कि वे उसे प्राप्त हुए हैं। उसने उन्हें अपनी प्रतिभा की शाण पर रखकर सजाया है, संवारा है, चमकाया है और उनमें जीवन डाला है। सच तो यह है कि कालिदास की प्रतिभा की संजीवनी दमक पाकर प्रकृति का अकिंचन पदार्थ भी सौन्दर्य की खनि बन गया है। प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले ये उपमान पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष तक सर्वत्र व्याप्त हैं।

भारतीय दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति प्रारम्भ से ही समानता का हामी रहा है। इस परम्परा में प्रकृति को सजीव मानने के कारण उसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की कल्पना बराबर होती रही है उन्हें मानवीय रूप के अनुरूप ही मान कर उनमें भी पारस्परिक स्नेह, विवाह, वियोग, मिलन आदि की कल्पना रूढ़ रही है। कालिदास ने अनेक स्थानों पर वृक्ष और लता को पुरुष और नारी के उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है[1]। इससे पूर्व व्यास और वाल्मीकि ने भी इन्हें इस रूप में देखा है[2] किन्तु कालिदास के प्रयोग में जो बिम्बग्राहिता और सौन्दर्य उपस्थित हो जाता है वह अन्यत्र नहीं। कुमारसम्भव में कवि ने सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है—

पार्वती स्तनभार से झुके हुए शरीर पर लाल लाल वस्त्र पहने हुए ऐसी लग रही थी जैसे कि फूलों के गुच्छों के भार से झुकी हुई लाल लाल कोपलों वाली चलती फिरती लता हो[3]।'

१. देखिए—विसृज सुन्दरि······परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलता-चरितं मयि। माल० ४।१३।

अथवा मम भाग्यविप्लवात्···मदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ रघु० ८।४७।

ततोऽभिषंगानिलविप्रविद्धा······लतेव सीता सहसा जगाम ॥ रघु० १४।५४।

शाकु० ४।१३······चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयम्; यथावनज्योत्स्ना०

२. महाभारत—१२।१४५।५।
वाल्मीकिरामा० ४।२२।३१।

३. आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां, वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा, संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ कु० ३।५४।

यहां पर पार्वती की 'पल्लविनी लता से दी गई उपमा न केवल पार्वती के रूप की चित्रात्मक अभिव्यक्ति में सहायक हो रही है अपितु इससे काव्यसौन्दर्य की भी अद्भुत वृद्धि हो गई है। ऐसी ही है कालिदास की वह प्रसिद्धतम उपमा भी जिसमें कि उन्होंने परम रूपसी इन्दुमती की उपमा 'संचारिणी दीप-शिखा' से दी है।

कभी-कभी तो कालिदास प्रकृति और मानव के भेद को इस प्रकार मिटा डालते हैं कि प्रकृति के बजाय मानव ही प्रकृति का उपमान बन जाता है[1]। रघुवंश के सोलहवें सर्ग में एक स्थान पर दिन और रात की पति-पत्नी के रूप में कल्पना करके उसमें मान-वीय भावों का एक मधुरतम रूप प्रस्तुत कर दिया है। ग्रीष्म का वर्णन है। इस प्रसङ्ग में कवि कहता है—

'ग्रीष्म के कारण अत्यन्त ताप से भरे दिन और छोटी रातें उन पछताते हुए पति-पत्नियों के समान दिखाई देने लगे जो कि आपस में झगड़ा करके एक दूसरे से रूठ बैठे हों[2]'

इसी प्रकार लतावृक्षों के बीच पति-पत्नी की मदिर कल्पना की है कालिदास ने कुमारसम्भव के एक पद्य में सुन्दर चित्र उपस्थित किया है :—

'काम के प्रबल प्रभाव के कारण वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियों को भुजाओं की भाँति फैला-फैला कर उन लता-वधुओं से आलिंगन करने लगे जिन पर कि स्तनों के समान फूलों के गुच्छे लटक रहे थे तथा नई कोंपलों के रूप में जिनके लाल-लाल होंठ हिल रहे थे[3]।'

मानव और प्रकृति के बीच इस प्रकार के उपमानोपमेय विधान के द्वारा कालिदास काव्य में किस अद्भुत सौन्दर्य तथा भावाभिव्यक्ति में किस प्रकार की रम्यता, मधुरता एवं प्रगाढ़ता

---

१ द्रष्टव्य कुमार० ८।६३।

२. प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम्॥
१६।४५।

३. पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि॥ कुमार० ३।३९।

की सृष्टि कर डालते है, इसे कोई रसिक ही बता सकता है। इसी प्रकार चन्द्र और चन्द्रिका, मेघ और बिजली में भी पति-पत्नी भाव की कल्पना की है[1]। आदर्श प्रणयीयुगल के रूप में चक्रवाक् मिथुन का उल्लेख भारतीय साहित्य में वैदिक काल से ही उपलब्ध होने लगता है। अथर्ववेद के वैवाहिक मन्त्रों में कहा गया है कि—'हे इन्द्र तू इस जोड़े को ऐसे ही संयुक्त करदे जैसे कि चक्रवाक् का जोड़ा होता है (१४।२।३४)। महर्षि वाल्मीकि ने पति-पत्नी के अनन्य प्रेम के उपमान के रूप में इसकी योजना की है (**चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्** ४।३०।६५) इसी उपमान का प्रयोग कालिदास की रचनाओं में भी हुआ है। रघुवंश में दिलीप और सुदक्षिणा के प्रगाढ़ प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए कालिदास ने उसकी तुलना चक्रवाक्-मिथुन से ही की है[2]। कुमार-सम्भव के आठवें सर्ग में भगवान् शंकर रूठी हुई पार्वती जी को मनाते हुए कहते है—'**किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसम-वृत्तिमात्मनः** । ८।५१ ।[3] अथवा मेघदूत में—'**दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्**' मेघदूत की इस उपमा में कालिदास ने उपमा-विधान के अतिरिक्त चकवा-चकवी के शापगत वियोग के समान ही यक्ष-दक्षिणी के शापगत वियोग का भी बड़े कौशल से संकेत कर दिया है।

अत्यन्त कारुणिक क्रन्दन की अभिव्यक्ति के लिए उपमान के रूप में कुररी का उल्लेख भारतीय साहित्य में बराबर पाया जाता है। कालिदास के पूर्व के साहित्य में ही इसका प्रयोग होने लगा था।[4] कालिदास की रचनाओं में भी करुण क्रन्दन की अभिव्यक्ति के लिए इसका सुन्दर उपयोग किया गया है। सीता

---

१. शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते । कुमार० ४।३३ ।
खिन्न विद्युत्कलत्र' मेघ० इत्यादि ।

२. रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् (३।२४)।

३. अश्वघोष—सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षत चक्रवाका सौ० ६।६०);

ततो धरायामपतत् यशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्ग साह्वयाबुद्ध० ८।६०)।
मालविका० राजा—अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे अननुज्ञात-सम्पर्का धारिणी रजनीव नौ ॥ ५.९।

४. महाभारत—१।६।१२ ; २।७०।१ ; ११।१२।१० ।
रामा० ४।१९।२८ ।

परित्याग से कालिदास का भी हृदय द्रवित हो चुका है। लक्ष्मण के द्वारा निर्जन वन में परित्यक्ता सीता का दुःख इतना महान् है कि कालिदास स्वयं शब्दों के द्वारा उसे अभिव्यक्त करने में अपनी वाणी को असमर्थ पाकर 'कुररी' के हृदयद्रावक क्रन्दन से उसकी तुलना करके ही उसकी ठीक-ठीक अनुभूति अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं। वे लिखते हैं[1] 'उस विपत्ति से घबरा कर सीता ऐसे ही गला फाड़ फाड़ कर क्रन्दन कर उठी जैसे कि कुररी कर उठती है[2]।, ऐसे ही उर्वशी और उसकी सखी के चीत्कार को सुनकर पुरूरवा कहता है— 'अरे आकाश में यह कुररियों का सा करुण क्रन्दन क्या सुनाई दे रहा है'[2]।

चातक और मेघ का उपमान भी भारतीय साहित्य में कालिदास से पूर्व ही स्थान पा चुका था[3]। कालिदास ने भी उसका यथावसर लाभ उठाया है। मालविकाग्निमित्र में नाट्याचार्य गणदास से कुछ भी न पाकर कह रहा है— विदूषक 'तो क्या मैं कोरे बादलों से प्यास मिटाने की आशा रखने वाला पपीहा ही बन गया[4] ?'

इसी प्रकार विपद्ग्रस्त उपमेय के लिए राहुद्वारा ग्रस्त चन्द्र का पौराणिक उपमान भी कालिदास से पूर्व ही भारतीय काव्यकारों में स्थान पा चुका था। यह उपमान इतना प्रचलित हो चुका था कि कालिदास के पूर्ववर्ती नाटककार भास ने अपने नाटकों में अनेक बार स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए इसका प्रयोग किया है[5]। कालिदास ने भी कई बार इस

(ii) पुराण

---

१. सा मुक्तकण्ठंव्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥
रघु० १४।६८

२ 'अये किन्तु खलु···आर्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते (विक्रम० १।२।१)

३. महा० १२।३०६।६।

४. मया नाम शुष्क-घन-गर्जिते अन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम्।

५. किं द्रष्टव्यः शशांकोऽयं राहोर्वदनमण्डले। (बाल);
राहुवक्त्रान्तर्गता चन्द्रलेखेव शोभते (दूत०);
यदि शत्रुबलग्रस्तो राहुणा चन्द्रमा इव (प्रतिज्ञा०)
वृद्धस्य विप्रचन्द्रस्य भवाद् राहुरिवागतः (मध्यम०).

उपमान की योजना की है। किन्तु कालिदास के प्रयोग में एक विशेष रूप से उल्लेखनीय अन्तर यह पाया जाता है कि जहां भास ने इस उपमान के द्वारा केवल विपद्ग्रस्त की स्थिति का आभास कराने का यत्न किया है वहां कालिदास की दृष्टि इस विपत्ति के बाद प्राप्त होने वाली सम्पत्ति की ओर गई है। इस उपमान के प्रयोग द्वारा उन्होंने सर्वदा इसके बाद आने वाली सम्पत्ति की स्थिति की व्यञ्जना की है। एक उदाहरण लीजिए। शस्त्र के द्वारा नन्दिनी की रक्षा करने में विफलप्रयत्न दिलीप के प्रति सिंह कह रहा है। 'जिस प्रकार चन्द्रमा की कला का पान करके राहु तृप्त होता है वैसे ही भूख से तृप्ति के लिये भगवान् शंकर के द्वारा भेजी हुई यह आरक्त नन्दिनी भी मेरे लिए पर्याप्त है[1]।' यहाँ पर कालिदास ने इस उपमा के द्वारा एक ओर तो सिंह से आक्रान्त नन्दिनी के स्वरूप को स्पष्ट किया और दूसरी ओर उसने यह व्यञ्जित करने का भी यत्न किया है कि जिस प्रकार राहु से ग्रस्त होने पर चन्द्रमा फिर अक्षत दशा में सामने आकर लोगों के आनन्द का कारण बनता है उसी प्रकार यह नन्दिनी भी आक्रान्त होने पर भी अक्षत ही रहेगी तथा इसके बाद दिलीप के आनन्द का कारण बनेगी।

इसी प्रकार शाकुन्तल में भी दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन के अवसर पर भी कवि ने दुष्यन्त के मुख से चन्द्रग्रहण के बाद की सुखद स्थिति की ओर ही संकेत किया है[2]। पति-पत्नी के वियोग और संयोग को विभिन्न स्थितियों को व्यक्त करने के लिये चन्द्र और चन्द्रिका अथवा चन्द्र और रोहिणी का उपमान भी कालिदास पूर्वयुग से ही प्रचलित रहा है। भास के नाटकों में इसके दर्शन होते हैं[3]। कालिदास ने भी लगभग इन्हीं रूपों में इनका प्रयोग किया है पर शब्द-चयन में उसने जो कौशल दिखाया है उससे उसमें सौन्दर्य-वृद्धि अवश्य हो गई है[4]।

---

१. तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणित-पारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव॥ रघु० २।३९।

२. 'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् (शाकु० ७। २२)।

३. भास—अनुचरति शशांकं राहु-दोषेऽपि तारा (प्रति०),।

४. शाकु- ७।२२, शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्ता।, चित्रा चन्द्रमसाव (रघु० १। ४६)।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय कवियों को चन्द्रिका के सौन्दर्य ने सौन्दर्यानुभूति के प्रारम्भिक काल से ही मुग्ध कर लिया था। इसीलिये भारतीय कवियों ने कई रूपों में इस उपमान का प्रयोग किया है। एक ओर इसके द्वारा जहां सौन्दर्य की आह्लादकता को अभिव्यक्ति दी गई है वहीं दूसरी ओर सौन्दर्याधायक रूप में किसी कारणवश आ जाने वाली क्षीणता की अभिव्यक्ति भी इसके द्वारा हुई है। भास ने अपने नाटकों में मेघ के छा जाने से चन्द्रिका के सौन्दर्य की हानि का उलेख किया है[1]।

(iii) चन्द्रिका

कालिदास ने भी इस भाव को अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है[2]। पर कालिदास को चन्द्रलेखा के जिस रूप को देखकर विशेष दुःख होता है वह है उसका दिवागत रूप।

हमें यह मानना होगा कि कालिदास की दृष्टि इस विषय में अधिक पैनी तथा अनुभवशील है। मेघ से अन्तरित होने पर उसकी क्न्ति मलिन नहीं होती। केवल दर्शन की ही बाधा होती है। कभी-कभी तो नील घन से झाँकता हुआ चाँद और भी सुन्दर लगता है। उसकी वास्तविक दयनीय स्थिति तो दिन के ही समय होती है। इसीलिए कालिदास शोकसन्तप्ता रति की उपमा दिन में दिखाई देने वाली चन्द्रलेखा से देते हुए लिखते हैं। 'आकाश वाणी तथा वसन्त से धैर्य दिलाया जाने पर शोक-सन्तप्ता रति शाप की अवधि बीतने की ऐसे ही प्रतीक्षा करने लगी जैसे कि दिन के समय निस्तेज पड़ी हुई चन्द्रलेखा सायंकाल की प्रतीक्षा करती है'[3]।

इसी प्रकार पार्वती के कठोर तपस्या से कृश शरीर की ओर निर्देश करते हुए वर्णी शंकर कहते हैं। दिन में

---

१. सवृता शारदभ्रेण चन्द्रलेखेव शोभसे। चारु० १ । २७३)।
और भी—वास० ३ । ०।; अभि० २ । ११; ५।११ ।इत्यादि,

२. इन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तिर्विभाति; मेघ०, मेघावली निरुद्धा ज्योत्स्नेव० (माल० २। १३ । ५),

३. अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव ।
शशिन इव दिवागतस्य लेखा किरणपरिक्षतधूसरा प्रदोषम् ॥ कुमार० ४।४६ ।

दिखाई देने वाली चन्द्रमा की किरण के समान क्षीण आपके इस तपःकृश शरीर को देखकर किस सहृदय का हृदय न पिघल उठेगा[१]।

ऐसे ही मर्मान्तक व्यथा को अभिव्यक्ति देने के लिए 'विष में बुझे हुए बाण' की उपमा भी कालिदास पूर्व के युग में अपरिचित नहीं थी। अथर्ववेद (५।१०।२।५) तथा वाल्मीकि रामायण (२।३०।२३) में इसका प्रयोग किया गया है। कालिदास ने भी इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति के लिए इसका उपयोग किया है। रति के विलाप के स्वर काम-सखा वसन्त के हृदय में ऐसी ही व्यथा उत्पन्न कर रहे थे जैसी कि 'विष-दग्ध' बाण के आघात से होती है[२]। इसी प्रकार शकुन्तला के छठे अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के क्षणों की स्मृति में दुष्यन्त कहता है। फिर उस बेचारी ने आँसुओं से डबडबाई हुई दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसके उस देखने की स्मृति अब मेरे हृदय को विष से बुझे हुए बाण के नोक की भाँति व्यथित कर रही है[३]।

(iv) विषदग्ध बाण

मालविकाग्निमित्र में एक स्थान पर काम के बाण के आघात की अतितीव्र व्यथा को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे **'बाणः कामस्य विषदिग्धः'** कहा गया है (माल० २।१३)।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में घट को या कुम्भ को स्तन का प्रतिमान माना गया है। स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने इस दृष्टिकोण का परिचय दिया है[४]। कालिदास ने भी रघुवंश में दिलीप-सिंह संवाद में इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। सिंह कहता है 'तुम सामने जो यह देवदारु का वृक्ष देख रहे हो, इसे भगवान्

(v) कुम्भ

१. शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ ५।४८।

२. अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ॥ कुमार० ४।२५।

३. पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती।
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ शाकु० ६।९।

४. पाणिभ्यां च कुचौ काचित् सुवर्णकलशोपमौ। उपगुह्य...रामा०॥ ५।१०।४७।

शंकर ने अपने पुत्र के रूप में स्वीकार किया है और कुमार कार्तिकेय की जननी पार्वती ने स्वयं अपने सुवर्ण-कुम्भ के समान स्तनों से इसे स्तन्यपान कराया है[1]। किन्तु कालिदास ने अपनी प्रतिभा तथा अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के आधार पर इसे एक बिल्कुल नया ही रूप दे डाला है। वह लिखता है 'तपस्विनी उमा घट रूपी स्तनों से आश्रम के बालवृक्षों को स्वयं सींच-सींच कर बड़ा करने लगी। उन वृक्षशिशुओं पर कुमारी उमा का ऐसा नैसर्गिक वात्सल्य हो गया कि बाद में कुमार कार्तिकेय के जन्म से भी उसमें कोई कमी नहीं आ सकी"[2]।

यहाँ पर कालिदास ने स्तन को घट का उपमान बना कर जो कल्पना प्रस्तुत की है वह सर्वथा अपूर्व है। कम से कम इससे पूर्व के साहित्य में इसका रूप नही मिलता। कालिदास अपने इस उपमा विधान के द्वारा चेतन और अचेतन में जिस अद्वयत्व की स्थापना कर गए है वह उनके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सका है।

इसी प्रकार और भी अनेक उपमान हैं, जिनका कि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में विविध रूपों में प्रयोग किया है। इससे पूर्व भी इनका प्रयोग होता रहा है किन्तु कालिदास ने जिस सुरुचि एवं सूक्ष्मता के साथ प्रकरणगत उपमेयों के साथ इनकी संगति की है उससे न केवल उसकी भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता आ जाती है अपितु उसमें एक नया सौन्दर्य भी आ जाता है। कई बार पुरानी उपमाओं को उसने ऐसे सुन्दर तथा नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है कि वह सर्वथा नवीन एवं अभूत पूर्व सी लगने लगती है। अथर्ववेद की एक उपमा को उसने कितने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है इसका एक तुलनात्मक चित्र देखिए—विवाह के अनन्तर कन्या-विदाई के अवसर पर कहा गया है।

(vi) पुष्प-स्रज

---

१. अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥ २।३६।

२. अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्र वात्सल्यमपाकरिष्यति॥
कुमार० ५।१४।

'वर कहता है कि मैं इसे वृक्ष की माला (पुष्प) की भांति स्वीकार करता हूं और अपने पितृकुल में पर्वत के समान इसकी स्थिरता की कामना करता हूं'[1]। यहाँ पर दो उपमान दिये गये हैं। एक में पितृकुल से कन्या के सम्बन्ध-विच्छेद को वृक्ष से पुष्प के विच्छेद के रूप में तथा दूसरे में उसकी श्वशुर-कुल में स्थिरता को पर्वत की स्थिरता के रूप में प्रस्तुत किया है। कालिदास ने भी इन दोनों उपमाओं का प्रयोग किया है, पर इससे कही अधिक सुन्दर तथा उपयुक्त ढग से। प्रथम पितृकुल से कन्या के वियोग के लिये कालिदास ने विदाई के समय शकुन्तला के मुख से कहलाया है **'कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिताचन्दन-लतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि'** यहाँ पर शकुन्तला अपनी तुलना मलयपर्वत से उखाड़ी हुई चन्दनलता से करती है। प्रकरण पर ध्यान देने पर हम देख सकेंगे कि शकुन्तला कण्व की औरस सन्तान नही है केवल पालिता पुत्री है। अतः वृक्ष और पुष्प के सम्बन्ध की अपेक्षा पर्वत और पादप का सम्बन्ध ही अधिक संगत है। वृक्ष के जन्म का कारण भूमि नहीं बीजविशेष होता है, भूमि से तो उसे केवल पोषण ही मिलता है। एक और दृष्टि से यदि हम विचार करें तो यहाँ यह उपमा बड़े ही व्यञ्जक रूप में दिखाई देती है। कविपरम्परा में चन्दन सर्प से संसर्ग होने पर भी शुद्ध एवं पवित्र रहता है पर कृष्णसर्पावृत होने पर वह भयावह अतएव तब तक अस्वीकार्य या पहुंच के बाहर होता है जब तक कि वह उससे सर्वथा निर्मुक्त न हो जाय। इस समय शकुन्तला भी, सर्वथा निर्दोष तथा पवित्र होने पर भी, दुर्वासा के शाप के सर्प से आवेष्टित है अतः तब तक दुष्यन्त को स्वीकार्य नही जब तक कि वह उस शाप से मुक्त न हो जाय। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास पुरानी उपमाओं के समान ही उपमान-योजना करने पर भी मनोवैज्ञानिक ढंग से उसमें किस प्रकार की व्यञ्जना का नवीन चमत्कार उत्पन्न कर डालता है। एक वन वासिनी कन्या के मुख से इसे कहलवा कर तो कालिदास ने इसके रंग को और भी सादृश कर डाला।

---

१. भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिवस्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक्पितृष्वास्ताम्॥ अथर्व० १।१४।१।

अब देखिए दूसरे उपमान को। भारतीय साहित्य में पर्वत अपनी स्थिरता के लिए सदा उपमान बनते रहे हैं। उपर्युक्त उल्लेख से ही स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही इन्हें इस रूप में उपस्थापित किया जाता रहा है। उपर्युक्त मन्त्र में वधू की श्वशुर-कुल में पर्वत के समान स्थिर रहने की कामना में ऋषि के समक्ष इसकी स्थिरता ही प्रमुख रूप से रही है। अन्यथा वधू और पर्वत का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। कालिदास ने भी उपमेयगत स्थिरता एवं उच्चता की अभिव्यक्ति के लिए पर्वतों को उपमान के रूप में लिया अवश्य है[1] पर उसकी दृष्टि केवल गुण-सादृश्य तक ही सीमित नहीं रही है। सादृश्य तो होता ही है पर उसके साथ साथ प्रसंग और वातावरण का जो जीवन्त चित्रण कालिदास उपस्थित करता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उदाहरण के तौर पर देखिए—व्याहतशक्ति तथा किं-कर्त्तव्यविमूढ़ राजा दिलीप को सम्बोधित करता हुआ सिंह कहता है। 'राजन् ! मुझ पर अस्त्रप्रहार की चेष्टा मत करो, क्योंकि मुझ पर यदि तुमने अस्त्र-प्रहार किया भी तो वह व्यर्थ जायेगा। देखो ! वृक्षों को उखाड़ फेंकने की शक्ति रखने वाला वायु का वेग पर्वतो का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता[2]।'

(vi) पर्वत

यहाँ पर जहाँ तक तुलना की बात है, वह तो स्पष्ट ही है किन्तु कालिदास ने जिस वातावरण में यह उपमा प्रस्तुत की है वह इसके रंग को और भी अधिक गहरा कर देता है। यह उपमा सिंह के मुख से उस स्थान पर कहलाई गई है जहाँ कि एक ओर देवदारु जैसे विशाल एव प्राँशु वृक्ष खड़े है और दूसरी ओर हिमालय की उत्तुङ्ग शैलमाला। इनकी उपस्थिति में इसकी कितनी उपयुक्तता बढ़ जाती है इसे बतलाने को आवश्यकता नहीं। साथ ही सिंह जहाँ अपनी महत्ता का बखान कर रहा है वहीं दिलीप की महत्ता

---

१. ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः (शाकु० ६।१६ मे पूर्व।

२. अल महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ रघु० २।३४।

को भी कम नहीं कर रहा है। सिंह उसे सामान्य मानव नही मानता है। वरन् वह स्वीकार करता है कि सांसारिक मानवों में अधिकतम जितनी शक्ति हो सकती है, वह उसमें विद्यमान है। क्योकि प्रकारान्तर से वह यह तो स्वीकार करता ही है कि वह हवा का वह तूफान है जो कि बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ सकता है। तूफान का प्रबलतम रूप ही विशालवृक्षों का उन्मूलन कर सकता है। पर्वतों को तो भयंकर से भयंकर तूफान भी नहीं हिला सकते। अत वृक्षों को उखाड़ने की शक्ति रखने वाले वायुवेग को ही वेग का उच्चतम रूप कहा जायेगा। क्योंकि दिलीप की तुलना भी उसी से की गई है अतः स्वयं ही उसमें महामानव की शक्तियों की व्यञ्जना हो जाती है।

पर्वत की स्थिरता एव कालिदास की प्रकृति-प्रियता को प्रकट करने वाली एक सुन्दर उपमा मालविकाग्निमित्र में भी देखने को मिलती है[1]। वहाँ पर सोनेकी काञ्ची की उपमा बिजली से, आँसुओं की मूसलाधार वर्षा से दी गई है। इरावती मेघपंक्ति बनाई गई है और स्वयं राजा बना है अविचल विन्ध्याचल। यहाँ पर कालिदास ने इरावती को मेघमाला कहकर उसके हृदय की मलिनता तथा अग्निमित्र को विन्ध्य बनाकर मालविका के प्रति उसको स्थिरता को बड़े ही कौशल से ध्वनित कर दिया है। ऐसी ही है 'अद्रिराज' से दी गई पाण्डय नरेश की उपमा भी (रघु० ६।६०)।

अभी तक हमने संक्षेप में कालिदास द्वारा प्रयुक्त कुछ उन प्रसिद्ध प्रकृतिसम्बन्धी उपमानों पर विचार किया जिनका प्रयोग उपमान के रूप में कालिदास से पूर्व ही होने लगा था। और कालिदास ने उनका किन रूपों में परिष्कार या इस पर भी कुछ

---

१. वाष्पासारा हेमकाञ्चीगुणेन
श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन ।
चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता मां
विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम् ।। माल० ३।२१ ।

प्रकाश डालने का यत्न किया। अब हम संकेत रूप में ही कालिदास के कुछ अन्य प्रकृतिसम्बन्धी उपमानों पर विचार करने का यत्न करेंगे। हम पहले ही कह चुके है कि कालिदास प्रकृति के परम उपासक है और उनकी उपमाओं में आधी से ज्यादा ऐसी हैं जिनका कि प्रकृति से साक्षात् सम्बन्ध है। अतः उनके विविध रूपों की कुछ बानगी पेश किए बिना हम इस वर्ग की उपमाओं के साथ न्याय नहीं कर पायेंगे।

प्रकृति से सम्बन्धित सभी उपमाओं को यहाँ उपस्थित करना न सम्भव होगा और न वाञ्च्छनीय, अतः स्थाली-पुलाक-न्याय से कुछ नमूने अवश्य दिये जायेंगे। हमें यहाँ पर इतना और भी स्पष्ट होना चाहिए कि कालिदास की प्रकृति के विषय में अपनी ही कुछ धारणाएँ है जिन्हें उसने अनेकत्र अभिव्यक्ति दी है। प्रकृति के उपमान कालिदास द्वारा निर्धारित विभिन्न मानदण्डों के प्रतीक हैं। प्रकृति-सम्बन्धी उपमानों में पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, वन-नदी-पर्वत, ग्रह-नक्षत्र, दिवा-रात्रि आदि का पर्याप्त उपयोग किया गया है।

नारी सौन्दर्य के प्रतिमापक उपमान

सौन्दर्य के विषयों में कालिदास की दृढ़ धारणा है कि प्राकृतिक रूपों में ही शुचि, निर्मल और उदात्त सौन्दर्य के दर्शन हो सकते है। इसलिए मानवीय सौन्दर्य (नारी और पुरुष दोनों) के सभी प्रतिमान कालिदास ने प्रकृति में ही ढूढें हैं। ये उपमाएँ बड़ी मदिर एवं मधुर हैं तथा इनकी संख्या भी बहुत है। ऐसा लगता है कि कालिदास प्रकृति के विविध सौन्दर्य-उपादानों से अपनी मानसी नारी के समस्त सौन्दर्य को मूर्तिमान कर देने के लिए आकुल हैं पर उन सभी उपादानों को एकत्र न पाकर वे ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। अतः उन्होंने जहाँ भी सौन्दर्य के जिस अंश को देखा वहीं उसे टाँक दिया। उनके नारी-पात्रों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने उत्तरोत्तर एकत्र प्रकृति के सभी सौन्दर्य-तत्त्वों को देखने का प्रयास किया। इसका उच्चतम रूप जिसे कि वे उपस्थित कर सके हैं निसर्ग

कन्या शकुन्तला। उसमें कालिदास ने प्रकृति के समस्त सौन्दर्य को समा देने का यत्न किया है। पर उसमें भी वे इसे पूरी तरह से प्रतिष्ठापित करने में सफल हो गये हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहाँ भी उन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य को मानवीय सौन्दर्य से ऊपर की, बहुत ऊपर की चीज़ माना है। यही कारण है कि इसके बाद भी उनकी परम्परा इस ओर निरन्तर प्रयत्नशील रही पर उनसे आगे बढ़ना तो दूर रहा, वहाँ तक भी नहीं बढ़ पाई। उसी के कुछ नमूने हैं।

दुष्यन्त शकुन्तला के अंग-प्रत्यङ्ग में विन्यस्त सौन्दर्य को शाब्दिक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा कर रहा है। रनिवासों में प्राप्त मानवीय सौन्दर्य की अपेक्षा उस सौन्दर्य में जो विशिष्टता है वह यही कि वह प्रकृति-सौन्दर्य के अनुरूप है। अर्थात् उसके अधरों की लालिमा कोमल किसलय की लालिमा जैसी है। दोनों भुजाएँ कोमल टहनियों जैसी है, और उसके अंग-अंग से फूलों का मोहक सा सौन्दर्य टपक रहा है[१]।' इस 'वनलता' के रूप में ऐसा कौन तत्त्व है जिसने कि उद्यान-लताओं' में विहरण शील दुष्यन्त के मानस-भ्रमर को उन्मादित कर डाला है। संक्षेप में यही न ! कि वह प्रकृति की निर्मल एवं प्रशान्त गोद में फूलने वाले अनसूंघे फूल की तरह है नख-स्पर्श से अक्लिष्ट कोमल किसलय की भाँति है, नैसर्गिक रूप में स्थित अनविद्ध रत्न की तरह है और है अनास्वादित मधु-रस की भाँति। संसार चाहे अप्राकृतिक ढंग से परिष्कृत तथा सजो संवारीवस्तुओं में सौन्दर्य का दर्शन करता रहे पर कालिदास तो ऐसे ही नैसर्गिक सौन्दर्य को पुण्यराशि का अखंड मूर्तिमान फल समझता है। और कोई बड़ा भाग्यवान् ही ऐसे सौन्दर्य के दर्शन का या उसके भोग का भागी हो सकता है[२]।

---

१. अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमगेषु सन्नद्धम्॥ शाकु० १।२०।

२. अनाघ्रात पुष्प किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिह च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ शाकु० २।१०।

शकुन्तला के लिए दिए गए उपमान दर्शनीय है। उसके अभुक्तपूर्व सौन्दर्य के व्यञ्जक होने के अतिरिक्त ये प्रकृति के प्रति कालिदास के दृष्टिकोण के व्यञ्जक भी है। इसीलिए तो बल्कल से आवेष्टित शकुन्तला भी 'अधिकमनोज्ञा' है। 'मनोज्ञ' तो वह थी ही पर नैसर्गिक प्रतिवेश में उसका सौन्दर्य और भी अधिक निखर उठा है। क्योंकि प्राकृतिक सौन्दर्य की यही खूबी होती है। सौन्दर्य का प्रतिमान कमल शैवाल से परिवृत होने पर और भी अधिक सुन्दर लगने लगता है। ऐसे ही कलंक की कलिमा से सौन्दर्य-राशि कमनीय कलाधर और भी अधिक सुन्दर हो उठता है। यही तो नैसर्गिक और कृत्रिम सौन्दर्य में अन्तर है। सुन्दर वह है जो सभी रूपों में सुन्दर दिखाई दे और ऐसी विशेषता है केवल प्रकृति में, यही तो कालिदास भी कहना चाहता है[१]। कालिदास को अभिप्रेत नारी-सौन्दर्य के कुछ नैसर्गिक उपमानों पर ऊपर की पंक्तियों में प्रकाश डाला गया है। अब हम कुछ और उपमानों पर विचार करेंगे जिनका उल्लेख कालिदास ने मेघदूत काव्य के एक पद्य में किया है। विरही यक्ष प्रकृति के किन-किन सौन्दर्य प्रतिमानों में अपनी प्रेयसी के अङ्गविन्यास के सौन्दर्य को देखना चाहता है, इसे ही संदेश रूप में कहता हुआ वह बताता है कि 'हे प्रिये! मैं श्यामा लता में तुम्हारे अङ्गों के, हरिणी के चंचल नेत्रों में तुम्हारे चञ्चल नेत्रों के, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख के, मयूर-पुच्छ में तुम्हारे केशभार के, नदी की चञ्चल लहरों में तुम्हारे भ्रूविलास के लावण्य को देखने का यत्न करता हूं। इन सब में पृथक् पृथक् तो तुम्हारे सौन्दर्य की झाँकी मिल जाती है पर एकत्र उसे देखने की लालसा पूरी

---

१. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापिरम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
शाकु० १।१९।

नहीं हो पाती है"।

कठोर तपस्या में निरत उमा के वर्णन प्रसंग में कालिदास ने अपनी इस धारणा को फिर एक बार दुहराया है। उमा ने अपने अंगों के किस-किस सौन्दर्य का प्रकृति के किन-किन रूपों में आधान कर दिया इसी को बताते हुए कहते हैं[2] कि कुमारी उमा ने तन्वी लताओं को अपना विलास-विभ्रम सौंप दिया और चंचल नेत्रों वाली हरिणियों को अपने नेत्रों की चञ्चल चितवन सौप दी।' क्योंकि विलास-विभ्रम और चंचल चितवन के प्रतिमान ये ही दो हो सकते हैं।

कालिदास ने निसर्गकन्या शकुन्तला की भांति पर्वत-तनया पार्वती के आंगिक लावण्य को भी प्राकृतिक उपमानों के सहारे व्यक्त किया है। उसके फूटते हुए नवयौवन से समृद्ध उसका लावण्य कवि को 'सूर्य की किरणों से उद्‌भिन्न अरविन्द की भांति दिखाई देता है' **सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्** ॥ कुमार० १।३२।[3]

'संचारिणी पल्लविनी लतेव' (कुमार० ३।५४) के द्वारा कवि ने पार्वती के सौन्दर्य को जो अभिव्यक्ति दी है उस पर पीछे विचार किया ही जा चुका है। यहां पर पार्वती की लतिका से, उसके स्तनभार की सौन्दर्य गुच्छकों से तथा उसके चरण, भुजाएं, अंगुलियां, ओष्ठ आदि की उपमा किसलय से देकर कवि ने अपनी भावना के आदर्शों का ही पुष्टि की है।

---

१. श्यामास्वगं चकित हरिणी-प्रेक्षणे दृष्टिपात वक्त्रच्छायाँ शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्, हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ उत्तरमेघ० ४६।

२. लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं
विलोलदृष्ट हरिणांगनासु च ॥ कुमार० ५।१३।

३. तुलनीय—अलोभ्यवस्तु प्रणय प्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥ शाकु० ७।१६।

पर कभी-कभी हम यह भी देखते हैं कि कवि प्रकृति के इन दृश्यमान रूपों से सन्तुष्ट न होकर इससे भी आगे कल्पना लोक में जाकर अलौकिक प्राकृतिक उपमानों की योजना कर बैठता है। कुमारसम्भव में प्रथम तो वह पार्वती के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए सुपरिचित उपमानों का प्रयोग करता गया पर जब पार्वती की अलौकिक मधुर मुस्कान का प्रश्न आया तो कवि ने परिचित उपमानों में सभी को उसकी अभिव्यक्ति के लिए, अनुपयुक्त पाकर प्रकृति के विविध उपादानों को एकत्र जुटा कर एक नवीन अनजाने, अनसुने उपमान की सृष्टि कर डाली, और कह दिया कि इसकी उपमा तो केवल इसी रूप में सम्भव हो सकती है अन्यथा नहीं।[1]

कल्पित उपमान

सौन्दर्य के उपमानों में कमल कालिदास को बहुत प्रिय है। उनकी सभी रचनाओं में उनके इस प्रेम के दर्शन होते है। शकुन्तला शैवाल से घिरे हुए सरसिज के समान है **'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्'** तो पार्वती सूर्य की किरणों से विकसित अरविन्द के समान **'सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्'** (१।३२), इसी प्रकार पार्वती के चरण स्थलारविन्द की शोभा धारण करते हैं **'स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्'** (१।३३) तो शिशु भरत की हथेली प्रातः कालीन सूर्य की लाली से चमकते हुए रक्त कमल से दी गई है। **'नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम्'** (शाकु० ७।१६) ऐसे ही मेघदूत में भी **'सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्'** **'साभ्रेह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्'** आदि के द्वारा इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है[2]। पर कहीं-कहीं हम यह भी देखते हैं कि कवि साधारण कमल को किसी उपमेय के लिए उपयुक्त उपमान न समझ कर अलौकिक सुवर्ण कमलों की भी कल्पना कर डालता है। कोमल-कलेवरा पार्वती अब तपस्या की कठोर साधनाओं को

कमल और स्वर्णकमल

१. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्, मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ कुमार० १।४४।

२. दर्शनीय—रघु० ७।११; कुमार० १।४६; ५।६; ८।६२; माल० ५।३; और कुवलय—कुवययदलनीलैः (ऋतु: २,२२) कुवलयनयेन (माल० ४।२२)

भी सहन करने लगी। इस भाव की पुष्टि के लिए कालिदास कहते है। कि जो पार्वती पहले (इतनी कोमल थी कि) गेंद खेलने में ही थक जाया करती थी वही अब मुनियों की सी कठोर साधना में निरत है। निश्चय ही इसका शरीर सुवर्ण-कमलों का बना हुआ था जोकि कमल के नाते कोमल तथा सुवर्ण के नाते सारवान् था[१]।

इसी प्रकार यक्ष मेघ को अपने घर के निकटस्थ वापी परिचय देता हुआ कहता है[२] कि मेरे भवन के परिवेश में ही तुम्हें एक वापी मिलेगी जिसकी सीढियाँ नीलम की पट्टियों से बनी हुई है और उसमें चिकने वैदूर्य मणि के नाल वाले बहुत से सुवर्ण कमल खिले रहते है। ऐसे ही इसके अगले पद्य में 'कनक-कदली' की भी कल्पना कर डाली है[२]।

कुछ अन्य उल्लेखनीय उपमान

प्रकृति के विराट सौन्दर्य से कालिदास ने उसके इतने अधिक रूपों को देखा है तथा उन्हें इतने विविध एव रम्य रूपों में अभिव्यक्ति प्रदान की है कि सहृदय उसका आस्वादन करता हुआ थकता ही नही। बहुत कुछ कह देने पर भी बहुत कुछ कहना शेष रह जाता है। उन सब का ऐसा जादूई आकर्षण होता है कि बार बार रोकने पर भी और अधिक कुछ कहने को जी करता है। सच तो यह है कि इस कहने से तृप्ति हो नही होती। जैसे कालिदास उस विराट् अनुभूत सौन्दर्य को वाणी देने के लिए लालायित दिखाई देता है वैसा ही उसका सहृदय पाठक उसका अधिक से अधिक रसास्वादन करने के लिए आकुल दिखाई देता है। ऐसी ही कुछ दशा अपनी भी है। उस अक्षय रत्न-भण्डार से बानगी के तौर पर कुछ रत्न चुन लेने पर भी उसमें एक से एक अधिक सुन्दर रत्न

---

१. क्लम ययौ कन्दुकलीलयाऽपया तथा मुनीना चरित व्यागाह्यत।
एवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ कुमार० ५।१९।

२. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हेमैश्छन्ना विकचकबलैः स्निग्धवैदूर्यतालैः ॥ उत्तर मेघ०।
तुलनीय—सुनहरी शाखाओ वाला कल्पवृक्ष (विक्रम० ५।,९)।

दिखाई देने लगता है जिसे कि सौन्दर्यलोभी रसिक पहले ही पर्याप्त होने पर भी और अधिक उठा ले चलने का लोभ कर बैठता है । इस लोभी प्रवृत्ति का भी थोड़ा सा रूप निम्नलिखित उपमाओं में देखिए। विवाह से पूर्व मंगलस्नाता पार्वती का वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

'पार्वती मंगलस्नान करके निर्मल हो गई और उसने विवाह के (श्वेत) वस्त्र धारण कर लिये। उस समय वह ऐसी लग रही थी जैसे कि मेघ-जल से धुली हुई तथा कास के (श्वेत) फूलो से सजी हुई धरती सुशोभित होती है'[1] । यहां पर उमा की उपमा प्रकृति के एक विराट एव महनीय रूप से दी गई है। इससे जहा प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त उपमेय की महनीयता व्यक्त की गई है वही उमा को 'पर्जन्यजलाभिषिक्त' धरणी कहकर आगे होने वाले कुमार जन्म की बड़े कौशल से व्यञ्जना भी कर दी गई है।

इसके बाद विवाह-नेपथ्य से अलंकृत उमा के सौन्दर्य के वर्णन मे तो ऐसा लगता है जैसे कि कवि उस अद्भुत सौन्दर्य को किसी एक रूप मे बांध पाने में अपने को भी असमर्थ पा रहा है। इस लिये तो वह एक ही सांस मे उसकी तुलना कुसुमित लता, नक्षत्रोद्भासित रजनी तथा विहंगम-शोभिता सरित् से कर डालता है[2] ।

यहाँ हमें व्यञ्जना की दृष्टि से इतना और भी टाँक लेना चाहिए कि कुसुमितलता ही फल को, नक्षत्रोद्भासित रजनी ही प्रभात को तथा सजला सरित् ही सफल शस्य को जन्म देती है। लगभग ऐसी ही एक उपमा दी गई है मालविका के विषय में भी समस्त संशयों का निराकरण हो जाने के बाद विवाह-नेपथ्य में अलंकृत मालविका को देखकर राजा कहता है—सिर पर छोटी

---

१. सा मंगलस्नान-विशुद्धगात्री गृहीत प्रत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
निर्वृत्तपर्जन्य—जलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ।। कुमार० ७।११ ।

२. द्र०—सा सम्भवद्भि कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ।। कुमार० ७।२१ ।

सी ओढ़नी ओढ़े हुए, थोड़े से आभरणों से सुसज्जित (कहीं-कहीं 'बहुभिराभणै, पाठ भी मिलता है) यह मालविका ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे कि हिम के दूर हो जाने से चमकते हुए नक्षत्रों से युक्त मधुयामिनी हो"[1]।

यहां मालविका की तुलना चैत्र की रात्रि से, उसके आभरणों की नक्षत्रो से तथा उसकी श्वेत पुष्पमाला की चन्द्रिका से की गई है। बाह्य सादृश्य की स्थापना के अजिरिक्त यहां पर सुन्दर व्यञ्जना भी की गई है। जैसे हेमन्त और शिशिर के बाद वसन्त की रात्रि स्वच्छ, शीतल और आनन्दोद्बोधक हुआ करती है वैसे ही मालविका भी सशय के तुहिन कणों के हट जाने से स्वच्छ और उन्मुक्त आकाश के नीचे चमक रही है। इसी प्रकार और भी अनेकानेक कमनीय उपमाए है जिन्हें कालिदास ने प्रकृति के भण्डार से मानवीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए चुना है[2]।

जिस प्रकार नारी-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए लता कुसुम, पल्लव मृगी आदि को विशेष रूप से लिया गया है वैसे ही पुरुष-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए साल, देवदारु आम्र आदि दृढ़ एव विशाल-काय वृक्षों को तथा सिंह, वृष आदि जीवो को लिया गया है। राजा दिलीप के कन्धे सांड के ककुद के समान, तथा उसकी लम्बी भुजाएँ साल वृक्ष के समान कही गई हैं[3]। इसी प्रकार युवा रघु की तुलना महावृषभ तथा गजेन्द्र से की है[4]। और इसके बाद उसकी भुजाओं को हल के जुए के समान दृढ़

पुरुष-सौन्दर्य के अभिव्यञ्जक उपमान

१ अनतिलम्ब दुकूलनिवासिनी लघुभराभरणै. प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्र-विभावरी॥ माल० ५।७।
अनन्य नकृत नारी-सौन्दर्य क मनक्षत्रा रजनी से उपमा कालिदास को बहुत प्रिय है। द्रष्टव्य—रघु० ३।२ (प्रभात-कल्पा शशिनेव शर्वरी)।

२. द्रष्टव्य—कुमार० ३।५३, ७।२६, ३ ६८, ५।६, रघु १०।६६; १३।२६।

३. व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध. शालप्रांशुर्महाभुजः॥ रघु० १।१३।

४. द्र०—महोक्षता वत्सतर स्पृशन्निव
द्विपेन्द्रभाव कलभ श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः
पुपोष गम्भीर्य-मनोहर वपु॥ रघु० ३।३२॥

एवं लम्बी तथा उसके वक्षस्थल को चौड़े कपाट के समान कहा गया है[१]। इसी प्रकार कुमारसम्भव मे गिरिराज हिमालय के पुरुष-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उसे 'देवदारुबृहद्भुज' तथा 'शिलोरस्क' कहा गया है। देवदारु जैसी लम्बा भुजाएं तथा चट्टान सी छाती उसके पौरुष के प्रतीक है। यहां पर स्वय हिमालय के अपने ही अगों को जिस कौशल से कवि ने उपमा और उपमेय बना कर दिखाया है, वह दर्शनीय है[२]। राजा दुष्यन्त को पहाड़ों मे घूमने वाले हाथी के समान कहा गया है। 'गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति' (शाकु०२।४)। रघुवश में महेन्द्रनाथ को महेन्द्राद्रि-समान-सार.' पाण्डय को बालातपरक्तसानुः अद्रिराज.'।

नेत्रो के उपमान

प्रायः दीर्घ और चञ्चल नेत्रो की तुलना के लिये मृग, मृगी, शफरी का उल्लेख आया है। 'मृगायताक्षः' (रघु० १८।६५)' बालमृगाक्षि.' (कुमार० ५।७२) 'चकित-हरिणी-प्रेक्षणा' (मेघ०)' विलोल दृष्टं हरिणांगनासु च (कुमार० ५।१३) मदिरेक्षणवल्लभाभि हरिणाङ्गनाभि· (शाकु० ५।२५) सारंगाक्ष्याः (शाकु० ६।७) चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि (पू० मे० ४४) आदि में इस प्रकार की उपमाओं के दर्शन होते है।

विविधउपमान

अग्नि—अग्नि पवित्रता, तेज और शक्ति का प्रतीक माना गया है। ऋषि-मुनियों की उपमाएँ प्रायः इसी से दी गई है[३]। शकुन्तला के गर्भ के विषय में कहा गया है कि वह दुष्यन्त के तेज को अपने गर्भ में ऐसे ही धारण कर रही है।

---

१. युवा युगव्यायत-बाहुरंसल. कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धर. (रघु० ३।३४)।

२ धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ कुमार० ६।५१ ॥

३. (क) शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढ़ हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥
शाकु० २।७।

(ख) शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्। रघु० ३।९।

जैसे कि शमीवृक्ष के गर्भ में अग्नि छिपी रहती है[1] ।'

हंस—हंस की गति और रुत को नारी की गति तथा मंजीर-ध्वनि के उपमान के रूप में लाया गया है। पार्वती को 'सा राज हंसैरिव सन्नतांगी' कहा गया है और शरद्वधू को 'सोन्माद-हंस-रव-नूपुर-नादरम्या' (ऋतु०) कहा गया है। कहीं-कहीं उपमेय की महनीयता को प्रकट करने के लिये भी इसका उपयोग किया गया है। इन्दुमती (रघू० ३।२६) तथा उर्वशी (विक्र० १।२०) दोनों की उपमा 'राजहंसी' से दी गई है।

समुद्र—इसके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, नदी, सागर, वन, पर्वत आदि से सम्बन्धित बेशुमार उपमाएँ कालिदास की रचनाओं में भरी पड़ी है। हर्षातिरेक की अभिव्यक्ति के लिये सागर और चन्द्रमा की अनेक सुन्दर उपमाओं की योजना हुई है। पुत्र-दर्शन से उत्पन्न दिलीप के हृदय के हर्षातिरेक का वर्णन करता हुआ कालिदास कहता है कि—पुत्र-दर्शन से रघु के हृदय में प्रसन्नता का एक ऐसा ही ज्वार आ गया जैसा कि पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र के हृदय में आ जाता है[2] ।

इसी प्रकार काम के सम्मोहन बाण से विचलित भगवान् शंकर ने जब बिम्बाधरोष्ठी पार्वती के मुख पर दृष्टि डाली तो उनके हृदय में ऐसी हलचल मच उठी जैसे कि चन्द्रमा के निकलने पर समुद्र में ज्वार आ जाता है।

सूर्य-चन्द्र—दो तेजस्वी शक्तियों में से एक के घटते तथा दूसरे के बढ़ते हुए तेज की अभिव्यक्ति के लिए कालिदास ने अनेकत्र चन्द्र और सूर्य को एकत्र उपमा प्रस्तुत की है। रघुवंश के आठवें सर्ग में संसार से विरक्त होकर शान्त जीवन की ओर अग्रसर

---

१. दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधाना भूतये भुव ।
अवेहि तनया ब्रह्मन्नग्निगर्भा शमीमिव ।। शाकु० ४।४ ।

२ निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबत सुताननम् ।
महोदधे. पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरु. प्रहर्ष: प्रबभूव नात्मनि ।। रघु० ३।१७ ।

होते हुए रघु तथा ऐश्वर्यशाली साम्राज्य की ओर बढ़ते हुए अज की उपमा अस्त होते हुए चन्द्र तथा उदय होते हुए सूर्य से दी गई है[1]।

ऐसे ही श्रीराम और परशुराम के घटते और बढ़ते हुए तेज को बताने के लिए भी एक ऐसी ही उपमा की योजना की गई है। आमने सामने खड़े राम और परशुराम में से एक का तेज बढ़ गया और दूसरे का घट गया। उस समय उपस्थित लोगों को वे ऐसे जान पड़ने लगे जैसे कि संध्याकाल न चन्द्र और सूर्य हों[2]।

यहां पर तेज की वृद्धि तथा हीनता का क्रम बदल जाने के कारण कवि ने उसी के अनुसार सायंकाल की योजना कर डाली है। प्रकृति के कुछ दृश्य ऐसे हैं जिन्होंने कि कालिदास को अत्यधिक प्रभावित किया है। प्रातः और सायं सन्ध्या के ये दृश्य भी ऐसे ही हैं। इसीलिए शाकुन्तल में हम देखते हैं कि कालिदास ने एक अकिंचन पात्र के मुख से एक अविस्मरणीय प्रभाव-युक्त उपमा की योजना कर डाली है। महर्षि कण्व ने प्रातःकाल समय का पता लगाने के लिए एक शिष्य को कुटिया के बाहर भेजा। उसने देखा कि एक ओर तो चन्द्रमा अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है और दूसरी ओर सूर्य अपने सारथी अरुण के साथ उदयाचल पर आरुढ़ हो रहा है। दो तेजों के उदयास्त के दृश्य ने उसे इतना प्रभावित किया कि अनायास ही उसके मुख से निकल पड़ा[3] कि इन दो तेजस्वियों का एक साथ ही उदय और अस्त को देखकर ऐसा लग रहा जैसे कि संसार

---

१. प्रशमास्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितोर्कण समारुरोह तत् ।। रघु० ८।१५ ।

२. तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमान-परिहीन-तेजसौ ।
पश्यतिस्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ।। रघु० ११।८२

३. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरौषधीनो-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।। शाकु० ४।२ ।

को सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख की आवृत्ति का उपदेश मिल रहा हो।

यों सामान्यत: सूर्य को प्रखरतेज (तेजोभिरिनपत्तिशत:स्पर्धमानै, कुमार० १०। ६० सूर्य इवोद्दित—रघु० (१७।७४) तथा चन्द्र को आह्लाद के लिये उपमाया गया है (कुमार० ७।१६ आदि)। दूज के चाँद को आह्लादक तथा मंगल दायक के रूप में लाया गया है। नन्दिनी के माथे के श्वेत भौंर को दूज का चांद कहा है[1]।

स्वभाव से ही समृद्धि पाकर विनम्र होने वाले सज्जन पुरुषों की उपमा के लिये फलभार से झुक पड़ने वाले वृक्षों
वृक्ष तथा जलभार से झुक पड़ने वाले मेघों से दी गई है[2]।

इस प्रकार कालिदास ने प्रकृति के विशाल क्षेत्र से और भी अनेक उपमाओं का चयन किया है जो कि स्वय में सामान्य प्रतीत होते हुये भी कालिदास की प्रतिभा का स्पर्श पाकर चमक उठते हैं[3]।

कभी-कभी कालिदास की रचनाओं में ऐसे उपमान भी पाये जाते है, जो कि या तो केवल कवि-परम्परानुमोदित कहे जा सकते है या कालिदास की कल्पना से ही प्रसूत हुए हैं। राजा दिलीप अपने जीवन के प्रकाश और अन्धकार के विषय

---

१. बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम्।। रघु० १।८३।
तुलनीय—भास—नवशशिनमिवार्य पश्यतो मे न तृप्तिः।। प्रतीमा० ७।१२।

२. भवन्ति नम्रास्तरव फलागमैः
नवाम्बुभिर्भूरि-विलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभि.
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।। शाकु० ५।१२।

३. द्रष्टव्य—रघु० १०।५६; १०।६६; ७।६६; कुमार० ३।५३; ३।६८; ५।६; ६।२।

में गुरु वशिष्ठ के सामने अपनी स्थिति को स्पष्ट करता हुआ कहता है 'कि यज्ञादि सत्कर्मों से प्रसन्न तथा सन्तान न होने से शोक सन्तप्त मेरी स्थिति ऐसी ही है जैसे कि एक ओर सूर्य का प्रकाश पडने से उज्ज्वल तथा दूसरी ओर न पडने से अन्धकार युक्त लोका लोक पर्वत की होती है''[1]। लोकालोक पर्वत केवल कविपरम्परानुमोदित ही है इसी प्रकार नन्दिनी का दुग्ध-पान करते हुए दिलीप को शुभ्र यश का पान करता हुआ सा उत्प्रेक्षित किया गया है (**शुभ्र यशोमूर्तमिवातितृष्णः** २।३९)। यश की श्वेतिमा कवि-जगत् में ही प्रसिद्ध है।

कुमार-सम्भव के प्रारम्भ में ही हिमालय के लिये '**स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः**' कहना कालिदास की अपनी कल्पना है। हिमालय की पृथ्वी के मानदण्ड से तुलना कालिदास से पूर्व कोई नही कर सका था।

कहीं-कहीं पर सामाजिक सम्बन्धों को लेकर भी सुन्दर उपमाओं की योजना की गई है। राजा रघु की राज्यलक्ष्मी युवा अज को प्राप्त करने के लिये किस प्रकार रघु की आज्ञा की बाट जोहती रही, इसको एक बहुत ही सुन्दर सामाजिक उपमा के द्वारा व्यक्त किया गया हैं कि—जिस प्रकार शीलवती कन्या अपने मन से रूपगुणसम्पन्न पति का वरण करके भी विवाह के लिये पिता की आज्ञा की अपेक्षा रखती है वैसे ही राजलक्ष्मी समस्त विद्याओं में पारंगत युवा अज को पति के रूप में प्राप्त करने के लिये रघु द्वारा उसके राज्यभिषेक की बाट जोहती रही[2]।

प्रकृतिक उपमानों के समान ही कालिदास ने पौराणिक गाथाओं का भी पर्याप्त उपयोग किया है। वस्तुतः ये गाथाएं किसी देश-जाति वा सम्प्रदाय-विशेष की अपनी अमूल्यनिधि होती है। इनसे ही उनके जीवन को प्रकाश मिलता है। इनके पात्र उनके आदर्श होते हैं और इनकी घटनाएँ उनके जोवन का मार्ग-दर्शन करती हैं। अतः

गाथात्मक-उपमान

१. सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोप-निमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः॥ रघु० १।६८।

२. उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेद-विशेषकान्तम्।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष॥ रघु० ५।३८।

वे उनके जीवन और व्यवहार के साथ इस प्रकार घुली मिली रहती है कि उनके किसी पात्र या घटना विशेष का उल्लेख करने मात्र से ही उससे सम्बन्धित सभी कुछ प्रत्यक्षवत् जाग उठता है। जब उपमान के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है तब ये न केवल अपने से सम्बन्ध रखने वाली एक घटना विशेष वा घटना-श्रृखला का ही प्रत्यक्ष कराते है अपितु उपमेय की भी स्थिति को स्पष्ट तर कर डालते हैं। पर इस प्रकार के उपमानों मे जहाँ एक ओर शब्दों की मितव्ययिता इतनो होती है कि एक पूरा कथानक वा घटना एक शब्द में समा जाती है वहाँ सर्व-साधारण अथवा उस सभ्यता या संस्कृति में अपोषित व्यक्ति के लिये उसे समझना या उसके सौन्दर्य का हृदयंगम करना कठिन हो जाता है। हिन्दू पौराणिक गाथाओं से अपरिचित व्यक्ति शायद कालिदास की इन सूत्रमयी उपमाओं का सम्यक् आस्वादन वा मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे।

आदर्श-प्रेमी पति के रूप में कालिदास को ययाति का चरित्र बहुत भाया था। शर्मिष्ठा के प्रति उसका प्रेम अगाध और अनुकरणीय था। अतः शकुन्तला की विदाई के समय महर्षि कण्व शकुन्तला को जो उच्चतम आशीर्वाद दे सके थे वह यही था कि 'शर्मिष्ठा को अपने पति का जिस प्रकार का उदात्त प्यार मिला था वेसा ही तुझे भी मिले"[1]।

जहाँ स्नेह की दृष्टि से शर्मिष्ठा का पद काम्य था वहीं गौरव की दृष्टि से इन्द्राणी का पद अधिक स्पृहणीय था। देवराज जैसे प्रतापी पति को प्राप्त करना भारतीय नारी के लिये सबसे अधिक गौरव और सम्मान की बात कही जा सकती थो। इसलिये कालिदास ने जब माराच से शकुन्तला को आशीर्वाद दिलवाया तो कहलाया— वत्से तुम्हारा पति इन्द्र के समान है और तुम्हारा पुत्र जयन्त के समान। इसलिये तुम्हारे लिए उपयुक्ततम आशीर्वाद यही दे सकता हूँ कि तुम इन्द्राणी के समान सम्मान का पद प्राप्त करो"[2]।

---

१. ययोतेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव ॥ शाकु० ४।७।

२. आखण्डल-समो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुत।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥ शाकु० ७।२८।

आदर्श जोड़े के रूप में इन्द्र और इन्द्राणी का तथा आदर्श पुत्र के रूप में जयन्त का उल्लेख कवि ने रघुवंश में भी किया है। दिलीप और सुदक्षिणा को कुमार रघु के जन्म पर किस प्रकार की प्रसन्नता हुई इसी को बतलाने के लिये कवि दो प्रसिद्ध तथा प्रिय उपमानों की योजना करता हुआ कहता है— जिस प्रकार कार्तिकेय के जन्म से शंकर-पार्वती को, जयन्त के जन्म से इन्द्र और इन्द्राणी को प्रसन्नता हुई थी वैसे ही परम तेजस्वी पुत्र रघु को पाकर दिलीप और सुदक्षिणा को भी परम प्रसन्नता हुई[१]।

इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य, प्रताप, शक्ति आदि के भावों की अभिव्यक्ति के लिए इन्द्र को अनेक स्थलों पर उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है[२]। कभी-कभी तो वह किसी भाव को अत्यन्त स्पष्ट अभिव्यक्ति देने के लिए एक साथ ही कई कई पौराणिक घटनाओं को उपस्थित कर डालता है। रानी सुदक्षिणा ने समय आने पर किस प्रकार गर्भ धारण किया इसे बतलाने के लिए एक उपमान को पर्याप्त न समझ कर कालिदास ने 'अत्रि के नेत्र से निकली हुई ज्योति का जैसे आकाश ने धारण किया तथा भगवान् शंकर के परम तेजस्वी तेज को अग्नि के द्वारा उगल दिये जाने पर जैसे गंगा जी ने धारण किया' इन दो उपमानों से व्यक्त करने की चेष्टा की है[३]।

विक्रमोर्वशी में कुमार आयुष के उसके पिता से मिलने के प्रसंग में तो कालिदास ने इन पौराणिक सकेतों की झड़ी सी लगा दी है; तुम अपने माता पिता के ऐसे ही योग्य पुत्र बनो जैसे कि ब्रह्मा जी के अमर मुनि अत्रि हुए अत्रि के पुत्र चन्द्रमा हुए, चन्द्रमा

---

१. उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥ ३।२३।
और भी—शची और जयन्त की उपमा (विक्रम० ५।१४)

२. रघु० २।७४, ४।२८, ४।४० (पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः);

३. अथ नयन-समुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्। इत्यादि। रघु० २।७५

के बुध हुए और बुध के पुरुरवा हुए। इत्यादि[१]।

इसी प्रकार कहीं मोरमुकुट-धारी कृष्ण को मेघ की उपमा के लिये चुना गया है (पूर्वमेघ० १५) कहीं राजा बलि का नियमन करने के लिए चरण उठाते हुए भगवान विष्णु को (पूर्वमेघ० ३१) तो कहीं कन्धे पर नीला दुपट्टा डाले हुए बलराम को (पूर्वमेघ० ६३)।

पौराणिक उपमानों में सबसे बड़ी संख्या है शिवसम्बन्धी उपमानों की। कालिदास की रचनाओं के अनुशीलन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वे भगवान शंकर के परम उपासक थे। जहाँ काव्य-निबन्धन के अन्य रूपों में उन्होंने अपने आराध्य देव के प्रति अपनी श्रद्धा के श्रेष्ठतम पुष्प अर्पित किये हैं वहां उपमान योजना में भी वे अपनी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर गये हैं। भगवान शंकर उनकी अर्धाङ्गिनी पार्वती तथा उनके परम पराक्रमी पुत्र कार्तिकेय के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को अनेकत्र रूपों में उपमाया गया है। रघु के जन्म पर दिलीप और सुदक्षिणा की प्रसन्नता को कार्तिकेय के जन्म पर होने वाली शंकर-पार्वती की प्रसन्नता से किस प्रकार उपमाया है, यह हम अभी ऊपर के अनुच्छेद में देख ही चुके हैं (रघु० ३।२३।)

इन्द्र के द्वारा शंकर पर वज्र-प्रहार किये जाने तथा शंकर के द्वारा उसे दृष्टि मात्र से ही जड़ीकृत कर देने की किसी पौराणिक घटना की ओर संकेत करते हुए सिंह पर बाण प्रहार में असफल-प्रयास दिलीप की दशा को व्यक्त करने के लिए वे कहते हैं—जिस प्रकार शंकर पर वज्रप्रहार करने के लिए उद्यत इन्द्र की ओर जब शंकर ने जरा सी दृष्टि डाली तो वे जैसे ज्यों के त्यों काठमारे से हो गये वैसी ही राजा दिलीप की भी दशा हो गई[२]। अग्नि द्वारा उद्गलित शंकर के तेज को गंगा के द्वारा धारण करने की बात भी अभी ऊपर आ ही चुकी है। रघु और इन्द्र के युद्ध के पर अवसर भी कवि इसी उपयुक्त पौराणिक घटना को ध्यान में रख कर कहता है—'यह कह कर रघु ने धनुष पर बाण चढा दिया और इन्द्र की ओर

---

१. अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मयोऽत्रेरिवेन्दु।
बुध इव शिशिराशयोर्बोधनस्येव देवः।
भव पितुरनुरूपस्त्वगुणैर्लोककान्तैः
अतिशयिनि समस्ता वश एवाशिषस्ते ॥ विक्रम० ५।२१।

२. जड़ीकृतस्त्र्यम्बक-वीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ रघु० २।४२।

उन्मुख होकर डट कर खड़ा हो गया । उस समय वह ऐसा लग रहा था जैसे कि स्वयं भगवान् शंकर ही इन्द्र से युद्ध करने के लिए आ डटे हों[१]।' इसके आगे फिर वह रघु को **'कुमार-विक्रमः** (३ । ५५) कहकर अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय दे रहा है[२]। फिर युद्धरत महाराज ककुत्स्थ की उपमा भी शंकर से ही दी गई है (**महेन्द्रमास्थाय महाक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः** । (रघु० ६ । ७२)

रघुवंश की भांति ही मेघदूत में भी कालिदास ने जहां भी अवसर पाया है, शंकर तथा कार्तिकेय आदि के संकीर्तन के प्रति पूरी रुचि दिखलाई है। मेघ की उपमा भगवान शंकर के कण्ठ की नीलिमा से दी गई है (पूर्व मेघ ६७)। सान्ध्याकालीन मेघ की उपमा गजासुर-वध के समय शंकर के द्वारा ओढी जाने वाली उसकी खाल से (४०) दी गई है। शंकर के तेज को अग्नि के द्वारा धारण करने की घटना का उल्लेख (४७) उनके वृषभ (५७) की उपमा तथा उनके अट्टहास की उत्प्रेक्षा (७) भी मेघदूत में की गई है।

इसी प्रकार शाकुन्तल में भी धनुष पर बाण चढा कर हिरण का पीछा करता हुआ दुष्यन्त सूत को मृगरूप धारी यज्ञ के पीछे भागते हुए भगवान शंकर की तरह दिखाई देता है[३]। अपनी विशाल वाहिनी को लेकर पूर्वसागर की ओर बढ़ता हुआ दिग्विजयी रघु कालिदास को ऐसा ही लगता है जैसे कि भगवान शंकर की जटाओं से निकली हुई गंगा को लेकर महाराज भगीरथ (पूर्व सागर की ओर) जा रहे हों[४]। परशुराम के द्वारा अपने फरसे से सह्यादि को काट कर समुद्र से पृथक् करने की पौराणिक घटना को भी इसी प्रसंग में उत्प्रेक्षा के रूप में प्रस्तुत किया गया है (४।५३)।

---

१. स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुख. करिष्यमाण· सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदा लीढविशेषशोभिना वपु प्रकर्षेण बिडम्बितेश्वरः ॥ रघु० ३।५२ ।

२. द्रष्टव्य—रघु० ७।१, ११।८३, १७।६० ।

३. कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ शाकु० १। ६ ।

४. स सेनां महतीं कर्षन् पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथ. ॥ ४ । ३२ ॥

शाकुन्तल में ऋषि-कार्य और गुरुजन-कार्य की दुविधा में पड़े हुए दुष्यन्त को त्रिशंकु के समान अधर मे लटकने की बात कही गई है—(विद्वषकःत्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ।) ऐसे ही कुछ और भी छोटे-मोटे पौराणिक उपमान इनके ग्रन्थों मे पाये जाते है[1]।

पार्थिव उपमानों में कालिदास को त्रिवेणी-संगम की उपमा बहुत प्रिय है। त्रिवेणी-सगम के दृश्य ने उनके मन को किस प्रकार मोह लिया था यह उनके त्रिवेणी-सगम के मनोहारी वर्णन (रघु० १३।५४—५७) से स्पष्ट हो जाता है[2]।

यहां पर अब हमारे लिए इस विषय में अधिक विस्तार पर जाना सम्भव न हो सकेगा। स्थाली-पुलाक न्याय से जो कुछ सम्भव हो सकता था, प्रस्तुत कर दिया गया है। विशेष-जिज्ञासु कालिदास की रचनाओं का अवगाहन करके उनके उपमानों का साङ्गोपाङ्ग आस्वादन कर सकते है। साधारण के लिए इतना भी पर्याप्त होगा।

---

१ कपिलद्वारा सगर का अश्वहरण (रघु० ३ । ५०), बडवानल की उरुजन्म ऋषि से उत्पत्ति (माल० ५ । १७)

२ रघुवश (६।४८), मेघदूत (पूर्व० मेघ० ५५)।

कालिदास की उपमाओं का वैशिष्टय

कालिदास की उपमा-योजना तथा उनके प्रसिद्ध उपमानों पर इतना विचार कर लेने के बाद अब हम उनके उपमागत वैशिष्ठ्य पर भी थोड़ा विचार करेंगे। कालिदास के उपमानों की विविधता के समान ही उनका उपमाओं की विशेषताएं भी विविध हैं। उन सब पर प्रकाश डालना इस लेख की परिधि से बाहर होगा किन्तु विज्ञ पाठकों की प्रवृत्ति के लिए हम उनमें से कुछ उल्लेख अवश्य ही निम्न पंक्तियों में करेंगे।

निर्दोषता

कालिदास की उपमाओं में जो सबसे बड़ी विशेषता मुझे दिखाई देती है वह है उनकी निर्दोषता। शास्त्रकारों ने उपमा में ६ प्रकार के दोषों का परिगणन किया है। आचार्य वामन ने उनका हीनत्व अधिकत्व लिङ्गभेद, वचनभेद, असादृश्य और असम्भव इन नामो से परिगणन किया है (काव्या० ४।२।८)। और इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—उपमान की जाति, परिमाण और धर्म की न्यूनता में हीनत्व दोष होता है (जाति-प्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम्। ४।२।९) जिस प्रकार उपमेय की अपेक्षा उपमान में जाति, परिमाण और धर्म की न्यूनता से हीनत्व दोष होता है, वसे हो उपमेय का अपेक्षा उपमान में इनकी अधिकता होने से अधिकत्व दोष हो जाता है (जातिप्रमाणधर्माधिक्यमधिकत्वमिति)। लिङग-भेद दोष उसे कहा गया है जिसमें कि उपमेय और उपमान के लिङ्गों में परस्पर भेद पाया जाता हो (उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेदः ४।२।१२) लिग भेद के ही समान यदि उपमान और उपमेय में वचन भेद हो तो वहां 'वचन-भेद' नामक उपमा-दोष होता है (४।२।१५)। लोक में प्रतीत न होने वाले गुणों से यदि उपमान और उपमेय का परस्पर सादृश्य दिखाया जाय तो वहां 'असादृश्य' नामक दोष होता है (अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम्। ४।२।१६)। आचार्य वामन लिखते हैं कि सादृश्य के अभाव मे तो उपमा ही नही बनता है और

इस प्रकार की उपमा की योजना करने वाले कविजन यश के भागी नहो हो सकते (असादृश्यहता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवयः ४।२।१७)। और 'असम्भव' दोष वहां माना गया है जहां पर कि उपमान की उपपत्ति ही न हो सकतो हो (अनुपपत्तिरसम्भवः ४।२।२०)।

इन समस्त दोषों की कसौटी पर यदि हम कालिदास की उपमाओं को कसें तो हमें सर्वथा निर्दोष मिलेंगी। केवल एक दो स्थानों पर लिङ्ग दोष दिखाई देता है जैसे रघवंश के द्वितीय सर्ग मे दिलीप और सुदक्षिणा के मध्य में स्थित नन्दिनी को 'दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या' कहा गया है। इसमें जहाँ तक सुदक्षिणा और नन्दिनी के उपमानों का प्रश्न है वे तो दोनों ही स्त्रीलिङ्ग है, ठीक हैं। किन्तु 'पार्थिव' पुल्लिङ्ग का उपमान 'दिन' नपुसक लिङ्ग दिया गया है। अतः लिग दोष कहा जाएगा। पर ऐसी योजना के लिए आचार्य वामन ने निर्देश दिया है कि पुलिग और नपुसक लिगो के बीच होने वाला लिग-व्यत्यय दोष नही माना जायगा इष्टः पुन्नपुसकयोः प्रायेण। ४।२।१३)। अतः उपर्युक्त भिन्न लिग-योजना मान्य ही है। किन्तु इसके अतिरिक्त एकाध स्थल ऐसे भी है जहाँ कि आचार्य वामन का उपर्युक्त निर्णय भी सहायक नहीं हो सकता। यथा नन्दिनी का अनन्य अनुसरण करने वाले राजा दिलीप को 'छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्' (२।६)' कहा गया है। यहाँ पर पुल्लिग उपमेय राजा दिजीप के स्त्रीलिग उपमान छाया की योजना की गई है। जिसे कि दोष पूर्ण कहा जा सकता है। परलोक प्रसिद्ध उपमा होने के कारण आचार्य वामन इसे भी दोष नही मानने (लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्च चेष्टो लिङ्ग भेदः प्रायेण ४।२।१४) किन्तु कालिदास की कुल लगभग १२५० उपमाओ में से यदि एकाध ऐसी बन भी पड़ी हों तो उसके लिए कालिदास ने स्वय ही कह दिया है—एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणे-

१. अपि च—शुद्धान्तदुर्लभमिद वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृता. खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभि.॥ शाकु० १।१७।

आचार्य वामन ने यहा पर प्रतिवस्तूपमा होने के कारण इसे 'उपमा प्रपञ्च' कह कर इस लिङ्ग व्यत्यय को दोष नही माना है। ऐसे ही समास मे भो नही माना जाता है। (४।२।१४)

प्विद्धाङ्गः (कुमार० १ ३)। अन्यथा उनकी उपमाओं में लिंगवचन की समता कितनी अधिक पाई जाती है यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

विवाह-मण्डप में इन्दुमती की सखी सुनन्दा उसका मार्ग-दर्शन करती हुई एक के बाद एक राजा के पास ले जाकर उसे उसका परिचय देती जा रही है। इसी क्रम मे वह इन्दुमती को एक राजा के पास से दूसरे राजा के पास ले गई। इसी बात को यों कहा है—

पूर्णता

'सुनन्दा इन्दुमती को ऐसे ही एक राजा से दूसरे राजा के पास ले जा रही थी जैसे कि वायु से उठी हुई मानसरोवर की लहर राजहंसिनी को एक कमल से दूसरे कमल पर ले चलती है[1]'।

यहाँ पर सुनन्दा और इन्दुमती के लिए स्त्रियोचित उपमाएं 'तरंग-लेखा' और 'राजहंसी' दोनों ही स्त्रीलिंग है और वहाँ उपस्थित पुरुषजातीय राजाओं के लिए पुल्लिंग 'पद्म' की योजना की गई है। यहाँ पर कालिदास ने 'पद्म' शब्द का प्रयोग सोच समझ कर किया है। क्योंकि कमल के पर्यायवाची शब्दों में 'पद्म' ही एक ऐसा शब्द है जोकि पुल्लिंग में प्रयुक्त हो सकता है। इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास लिंग-साम्य के विषय में कितना सावधान है।

कालिदास की प्रारम्भिक रचनाओं को देखने से पता चलता है कि वे उपमा के इस पक्ष के विषय में विशेष सावधान नहीं थे। अन्य कवियों के समान ही वे भी केवल बाह्य रूप गुण-साम्य को ही प्रमुख रूप से देखते थे। अपनी प्रथम नाट्यकृति मालविकाग्निमित्र में रानी धारिणी व नायिका मालविका के लिए उपमान-योजना करते हुए केवल उनके गुण-स्वभाव की समता के आधार पर कह देते है—"**सा तपस्विनी देव्याधिकतरं रक्ष्यमाणा नागरक्षितो**

---

१. तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता
राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा
पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥ रघु० ६।२६।

निधिरिव न सुखं समासादयितव्य।" यहाँ पर धारिणी को 'नाग' और मालविका को 'निधि' कहने में कवि की दृष्टि उपमा के अन्य पक्षों पर ही अधिक रहने के कारण लिंग-साम्य पर, उसका ध्यान ही नहीं गया है, पर इसके विपरीत शाकुन्तल में जब वे कण्व की करुणामयी गोद से उनकी पालिता पुत्री शकुन्तला की विदाई के लिए उपमान-योजना करने लगते हैं तो उन्हें वहाँ जानबूझ कर लिंग-साम्य के लिए 'चन्दन' के स्थान पर 'चन्दनलता' करना पड़ता है।[1]

उनकी सहस्रों उपमाओं में से आप किसी को भी लीजिए उसे इस दृष्टि से निर्दोष ही पाएंगे। जिसकी मनोहारी एवं अपूर्व कल्पना पर मुग्ध होकर सहृदयों ने उन्हें **'दीपशिखा कालिदास'** की उपाधि से विभूषित किया था उनकी उस विश्वविश्रुत उपमा को ही देखिए कि वहाँ पर कालिदास ने अलौकिक भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ उपमान और उपमेय के बीच पूर्ण रूप से लिंग और वचन का साम्य भी रखा है। रात्रि के समय चलती हुई दीपशिखा के समान पतिंवरा इन्दुमती जिस किसी राजा की ओर बढ़ती है वह उसे पाने की आशा से दमक उठता है किन्तु ज्यों ही वह उसका वरण न करके अगले राजा की ओर बढ़ती है तो उसका चेहरा निराशा से फीका पड़ जाता है[2]। स्वयंवर की इस स्थिति का चित्रण कवि ने रात्रि में चलती हुई दीपशिखा के मार्ग में आने वाले राजमार्ग के भवनों के सम्मुख आने तथा पीछे छूटने की उपमा के द्वारा प्रस्तुत किया है। कल्पना बड़ी ही मोहक है पर लिंग वचन की समता भी दर्शनीय है। 'इन्दुमती' को 'दीपशिखा', 'राजसभा' को 'रात्रि' तथा 'भूमिपाल' को 'अट्ट' कहकर लिंग का पूर्णसाम्य दिखाया गया है। इसी प्रकार वचन की सामता भी पूरी तरह दिखाई गई है। संस्कृत के कवियों को 'आट्टालिका'

---

१. कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये। अंक ४

२. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ।
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः ।। रघु० ६।६७।

शब्द प्रिय होने पर भी कालिदास ने 'भूपति' के साथ लिंग साम्य की दृष्टि से ही यहाँ 'अट्ट' शब्द का प्रयोग किया है। इस बाहरी साम्य के अतिरिक्त उपमान और उपमेय के आन्तरिक साम्य का भी पूरा ध्यान रखा गया है। इन्दुमती दीपशिखा के समान उज्ज्वल एव दीप्त है और राजा भी साधारण भवन या झोपड़िया नहीं वरन् राज-भवन है। इसमें न उपमान की जाति, धर्म और परिमाण की न्यूनता है और न अधिकता। अतः न्यूनत्व और अधिकत्व दोष से भी रहित है। इसी प्रकार इस रूप में लोक में भी सम्भव होने के कारण इसमे असम्भव भी नही। सभी दृष्टियों से उपमा पूर्ण एवं निर्दोष है। यह बात इससे पूर्व लिंग-साम्य के लिए प्रस्तुत उदाहरण (**तां सैव-वेत्र ग्रहण०**) के विषय में अथवा अन्य किसी भी उदाहरण के विषय मे भी कही जा सकती है[१]। असादृश्य और असम्भव उपमा तो कालिदास मे शायद कही मिल ही नहीं सकती। जहाँ कही ऐसी सम्भावना हो भी सकती है वहाँ कवि स्वयं ही इस ओर सकेत कर देता है। जैसा कि उसने पार्वती के मुस्कान की उपमा देते हुए स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। **(कुमार० १।४४ अथवा वही० १।२६)**

अपूर्वता

काव्य-रसिको के मन को मुग्ध करने वाली कालिदास की उपमा की दूसरी विशेषता है उसकी अपूर्वता। ऊपर हम पर्याप्त विस्तार से उपमा-योजना के उन कुछ रूपों पर प्रकाश डाल चुके है जो कि भारतीय काव्य जगत् में कालिदास से पूर्व ही व्यवहृत हो रहे थे। कालिदास ने इनका क्या परिष्कार किया तथा इनमें किस नवीन सौन्दर्य की सृष्टि की यह भी स्पष्ट किया ही जा चुका है। अब यहाँ नवीनता से हमारा अभिप्राय है उन उपमाओं से जो कि प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा नवीन या अछूती कही जा सकती है। कम से कम साहित्य जगत् में कालिदास से पूर्व इनकी स्थिति नहीं पाई जाती।

---

१. द्रष्यव्य—वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम्।
शिलाविभङ्गैर् मृगराजशावस्तुङ्ग नगोत्संगमिवारुरोह॥
रघु० ६।३।

अपि च—कुमार० ३।५४।

आंखों की भ्रमर से उपमा-संस्कृत साहित्य में अपरिचित नहीं। पर कालिदास जब इसका प्रयोग करता है तो वह इसी में अलौकिक चमत्कार पैदा कर देता है। अर्थात नेत्र' को 'भ्रमर' कहना तो सभी जानते थे पर 'कटाक्ष' में 'मधुकर-श्रेणि' की कल्पना कालिदास से पूर्व शायद कोई नही कर सका था। मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है—सायकाल के समय महाकाल के मन्दिर में नृत्य के समय थिरकती हुई वेश्याओं की करधनी के घुघरूओं से मीठा शब्द हो रहा होगा और नगों से जडे हुए चवरों को बड़े विलास के साथ डुलाने से उनके हाथ थक गये होगे। उन वेश्याओं के नखक्षतों पर जब तुम्हारी प्रथम वर्षा की शीतल बूदें पड़ेगी और वे बड़े आनन्द का अनुभव करती हुई बड़े प्रेम से जब तुम्हारी ओर देखेंगी तो उस समय उनकी चितवन ऐसी लगेगी जैसे कि वह भौरों की ही पाँत हो'[1]।

भ्रमरपंक्ति से ही सम्बन्धित मेघदूत की एक और उपमा है, जोकि इससे पूर्व सर्वथा अनजानी लगती है। यक्ष मेघ को दशपुर की ओर जाने की प्रेरणा देता हुआ कह रहा है—'चर्मण्वती को पार करके तुम दशपुर की ओर बढ़ जाना। वहाँ जाने पर वहाँ की विलासिनियों की भोहों की चटक-मटक से युक्त तथा मदभरी श्वेतश्यामरतनार दृष्टि जब बडे कौतूहल से तुम पर पड़ेगी तो वह ऐसी ही लगेगी जैसे की कुन्दकी कली के पीछे भ्रमर-पंक्ति ही' चल रही हो"[2]। यहाँ पर कुन्द की कली के पीछे भ्रमर-पक्ति का इधर से उधर तथा उधर से इधर आने की कल्पना सर्वथा नवीन है।

ऐसी ही नवीनता तथा अपूर्वता लिए हुए है वह कल्पना भी जिसमें कि कालिदास ने फूलों की गन्ध का अनुसरण करने वाले

---

१. पादन्यासै-क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छाया-खचित-बलिभिश्चामरै. क्लान्तहस्ता.।
वेश्यास्त्वत्तो नखपद सुखान् प्राप्यवर्षाग्रविन्दू—
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर-श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥ पू०मेघ०।

२. तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणा
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्-कृष्णशार प्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्ब
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधू-नेत्र-कौतूहलानाम् ॥ पू० मेघ० ५१।

भौरों को वीणा के काजल मिले हुए आँसुओं के रूप में उत्प्रेक्षित किया है। गोकर्ण धाम को जाते हुए महर्षि नारद की वीणा से स्वर्गीय फूलों की माला खिसक पड़ी है। फूलों की सुगन्धि के कारण भौरे बार-बार वीणा तक जाते हैं पर वहाँ फूलों को न पाकर फिर पीछे लौट पड़ते है। इसी का चित्रण करते हुए कालिदास लिखते है—'महर्षि की वीणा से वह माला तो गिर गई पर उसके फूलों के साथ लगे हुए भौरे अब भी उस पर मँडराए जा रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे कि वायु से अपमानित होकर वीणा भी काजल के आँसू बहा रही हो"[१]।

क्या ही सुन्दर एवं नवीन कल्पना है! माला के वियोग में वीणा की अंजनयुक्त आँखों से बार बार टपकते हुए अश्रुबिन्दु की ऐसी मधुर कल्पना इससे पूर्व किसी और ने की हो ऐसा लेखा नहीं मिलता।

मेघदूत की वह उपमान-योजना भी अभूतपूर्व ही है जिसमें कि यक्ष प्रगाढान्धकार के बीच चमकती हुई पतली सी विद्युत् रेखा की तुलना स्निग्ध कसौटी पर चमक उठने वाली पतली स्वर्ण रेखा से करता है[२]। ऐसी उपमान-योजना हमे कालिदास से पूर्व देखने को नही मिलती। परम्परागत साहित्य में प्राप्त होने वाली इन उपमाओं से परिचित होने के कारण भले ही हमें आज ये इतनी अपूर्व या नवीन न लगती हो पर कालिदासकालीन सहृदय को तो इन्होने अवश्य ही चमत्कृत कर दिया होगा।

मेघदूत में ही एक और स्थान पर कवि ने चञ्चल चितवन की उपमा दी है 'चटुल शफरी के उद्वर्तन' से। गभीरा में नायिका

---

१. भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः
परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपज
सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ रघु० ८।३५।

२. गच्छन्तीनां रमण-वसतिं योषितां यत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनक-निकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्मभूर्विक्लवास्ता ॥ पूर्वमेघ० ४१।

का आरोप करके उसमें-रहने वाली मछलियों की चंचल उलट-पुलट में उसके चञ्चल नेत्रों का आरोप करना भी कालिदास की अपनी प्रतिभा की देन है। तरंगों में भ्रूभंग की कल्पना तो प्रचलित थी ही पर मछलियों के उद्वर्तन से चञ्चल कटाक्ष की तुलना की बात शायद इससे पूर्व किसी ने सोची भी नही थी। अधिक नही तो बात कम से कम एक सर्वथा नवीन ढग से कही अवश्य गई है। 'हे मेघ तुम्हारे सहज सलौने रूप की परछाई चित्त के समान निर्मल गम्भीरा के जल में अवश्य पड़ेगी। और वह अपनी चमकदार मछलियों के उद्वर्तन के बहाने अपनी चञ्चल चितवन से तुम्हारी ओर निहारेगी। पर तुम कही अपनी निठुराई के कारण उसके इस स्नेह को ठुकरा न देना''[1]।

इन्दुमती के दीपशिखा से दी गई उपमा के विषय में हम पर अभी ऊपर कह आये है। ऐसी और भी अनेक उपमाएँ है जिनकी अपूर्वता को देख कर हम कालिदास की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि चमत्कृत हुए बिना नही रह सकते। रघु ने अपने दिग्विजय के प्रसंग में पारसीक यवनो से जो भयंकर सग्राम किया उसमें उसने अपने भल्ल नामक बाणों उनके सिरों को काट काट कर उनसे धरती को छा दिया। उनके दाढ़ी और मूछ से युक्त सिर कालिदास को ऐसे लगे जैसे कि मधु मक्खियों से भरे उनके छत्ते हों[2]। कितनी सजीव एवं उपयुक्त उपमा वन पडी है इसे बतलाने की आवश्यकता ही नहीं। इससे सुन्दर उपमा शायद उनके लिए हा हो नही सकती थी। ऐसी उपमा न कालिदास से पूर्व कोई दे सका और न उसके बाद ही। सादृश्य, सम्भाव्यता, लिङ्ग-वचन-साम्य जातिधर्म और परिमाण की उपयुक्तता सभी कुछ दर्शनीय है। किसी अकिंचन सी लगने वाली वस्तु से भी कालिदास किस प्रकार चमत्कारक उपमा की योजना कर

---

१. गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृति-सुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्या [illegible] त्वं न धैर्या—
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ पूर्वमेघ० ४० ।

२. भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ रघु ४।६३ ॥

डालते है इसका इससे सुन्दर उदाहरण और क्या होगा।

कभी कभी तो कालिदास ऐसी उपमा की योजना कर डालता है जिसकी कि शायद कोई कवि कल्पना भी नही कर सकता। एक ऐसी ही उपमा देखिए ? रात्रि के अन्धकार का वर्णन है। वह कहता है—'सूर्यास्त के बाद अन्धकार के फैल जाने से इस समय न तो ऊपर न नीचे, न आस पास और न आगे पीछे ही कुछ लिपट दिखाई दे रहा है। सारा ससार रात्रि के इस अन्धकार में ऐसे ही गया है जैसे कि गर्भ की झिल्ली में लिपट हुआ बालक होता है'[1]।

गर्भ की झिल्ली में लिपटे हुए भ्रूण की उपमा निश्चित ही कालिदास के सिवा और कोई नही दे सकता। उपमा सभी अशों में पूर्ण होने के साथ साथ कवि की सूक्ष्मेक्षिका तथा उसका ज्ञान भी इस से स्पष्ट झलकता है। कुछ उपमाएँ ऐसी है जिन्हें कालिदासीय उपमा कहा जा सकता है। यह एक ऐसी ही उपमा है। उनकी रचनाओं में और भी अनेक ऐसी उपमाएँ भरी पड़ी है। उन सब का विश्लेषण यहाँ सम्भव नही अत: सहृदय पाठकों को इसके लिए उनकी रचनाओं का ही अनुशीलन करना चाहिए।

उपमा के ही समान उनकी अनेक उत्प्रेक्षाये भी अद्भुत तथा अभुतपूर्व है। कुमारसम्भव में उन्होने हिमालय की पृथ्वी को नापने तौलने के मानदण्ड की जो कल्पना की है वह अभूतपूर्व तथा अश्रुत पूर्व है[2]। कालिदास के अतिरिक्त अन्य कोई कवि उसकी कल्पना कर भी नहीं सकता।

कालिदास कभी-कभी रसाक्षिप्तहृदय होकर कुछ ऐसी मदिर, मधुर तथा गोप्य उपमाओ की योजना कर डालते हैं जोकि लौकिक श्लीलता और अश्लीलता से अपरिक्षिप्त कही जा सकती है। इस प्रकार की उपमाओं की योजना प्राय: वहाँ हुई है जहाँ कि कालिदास प्रकृति की

मादकता

१. नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि॥ कुमार. ८।५६

२. द्र० अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥१।१॥

उपमा मानवीय जीवन से देने लगते हैं। प्रकृति में इस प्रकार के मानवीकरण द्वारा उन्होंने मानवमन की कोमलतम भावनाओं को अभिव्यक्ति देने का यत्न किया है। रजनी (नायिका स्त्री०) और शशी (नायक पु०) की स्निग्ध चेष्टाओं की एक अत्यन्त सुकुमार कल्पना के द्वारा परस्परानुरक्त नायक-नायिका की गोप्य चेष्टाओं को अभिव्यक्ति दी है। रात्रि में चन्द्रमा के निकल जाने से अन्धकार हट गया है और कमल बन्द हो गये हैं। इसी को अभिव्यक्ति देने के लिए कवि कहता है—'इस समय इस दृश्य को देखकर ऐसा लग रहा है जैसे कि चन्द्रमा अपनी किरणरूपी अंगुलियों से नायिका के मुख पर बिखरे हुए उसके काले-काले बालों को हटा कर उसका मुख चूम रहा हो और रात्रि रूपी नायिका भी प्रिय स्पर्श से आत्मविभोर होकर कमल रूपी आँखों को बन्द करके बैठी हो।

इसी प्रकार कुमारसम्भव में ही अकाल वसन्तागम से वन-स्थली मे सहसा फूट पड़ने वाले किंशुकों का वर्णन करते हुए वह कहता है— अर्ध विकसित तथा दूज के चन्द्रमा के समान टेढ़े लाल-लाल रंग के पलाश-पुष्प ऐसे लग रहे हैं जैसे कि प्रिय वसन्त ने प्रिया वनस्थली के गाल पर ये ताजे-ताजे नखक्षत कर दिए हों। उत्प्रेक्षा गोप्य भाव को लिए हुए होने पर भी मधुर मदिर है[२]।

प्रकृति के प्राधान्य के कारण मेघदूत और ऋतुसंहार में तो इस प्रकार की गोप्य उपमाओं का रूप अतिमुखर दिखाई देता है। प्रियतम मेघ को आया हुआ जानकर गम्भीरा के हावभाव से व्यक्त होने वाली कुछ रसभरी चेष्टाओं पर तो हम अभी ऊपर

---

१. अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभि.।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ कुमार० ८।६३।
तथा अन्य द्रष्टव्य—रघु० ॥ १६।४५।

२. बालेन्दुवक्त्राण्यविकाशभावाद्
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥ ३।२९।

कालिदास की अपूर्व कल्पनाओं के प्रकरण में प्रकाश डाल ही चुके है और शेष भी प्रस्तुत है निम्नलिखित रूप में—'यथा तटवर्ती वेतस की शाखाओं के पास से बहता हुआ तथा तट से कुछ हटा हुआ उसका नील जल रूपी वसन तुम्हें ऐसा हो दिखाई देगा जैसे कि किसी नायिका का नील वसनरहित जघनप्रदेश हो'[1]।

अपने प्रणयी मेघ को देखकर वेत्रवती का 'मुख सभ्रूभंग' (मेघ० २४) दिखाई देता है तो विरह-संतप्ता पतिव्रता निर्विध्या मेघ को देखते ही 'तरंग क्षोभ' से ही विहगण के कलरव के बहाने अपनी करधनी को छनका कर अपनी आवर्त रूपी नाभि का प्रदर्शन करने लगती है[2]। प्रकृति और मानव के इसी अभेद के वातावरण में कालिदास को अलका नगरी भी अपने प्रियतम कैलास की गोद में बैठी हुई प्रेयसी के समान तथा उससे बहती हुई गंगा की नील धारा उसके खिसके हुए नील वसन के समान दिखाई देती है[3]। इस विषय मे अब और अधिक विस्तार मे न जाकर हम यहाँ पर केवल एक और उपमा प्रस्तुत करेंगे। रघुवंश में अज के नूतन राज्यभार ग्रहण का प्रसग है। कालिदास कहते है कि—'महाबाहु अज ने इस नई पाई हुई पृथ्वी का भोग (पालन) ऐसे ही दयालुता के साथ करना प्रारम्भ किया जैसे कि कही घबरा न जाए इस डर से, समझदार व्यक्ति अपनी सद्यो विवाहिता नववधू का संसर्ग बड़ी दयालुता के साथ करता है[4]। परम गोप्य होने पर भी उपमा स्वय में कितनी पूर्ण तथा व्यञ्जक बन पड़ी है, इसे देखते ही बनता

---

१. तस्या.किंचित् करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नील सलिलवसन मुक्तरोधोनितम्बम्। इत्यादि (मेघ० ४१)

२. वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्ची गुणाया
संसर्पन्त्याः स्खलित-सुभग दर्शितावर्तनाभे.॥ पूर्वमेघ ३०।

३. तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगगादुकूलां
नत्व द्रष्टवा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्॥ पूर्व मेघ ६७।
तथा—द्रष्टव्य—मध्ये श्यामस्तन इव भुवः शेष विस्तारपाण्डुः॥
पूर्व मेघ०।

४. सदयं बुभुजे महाभुज. सहसोद्वेगमिय व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनी नवपाणिग्रहणा वधूमिव॥ रघु० ८।७।

है[1]। स्मरण रहे, अज अभी अपनी नव विवाहित पत्नी को लेकर लौटा है। यहाँ पर हमें इतना और स्मरण रखना चाहिए कि उपमा चाहे जितनी भी गोप्यता लिए हुए हो पर कालिदास की योजना में सर्वत्र ही यह सम्बन्ध शास्त्र व समाज के द्वारा अनुमोदित पति-पत्नी का ही सम्बन्ध हुआ करता। इन सभी गोप्य उपमाओं के के औचित्य के विषय में अगले परिच्छेदो में कालिदास की उपमाओं में पाए जाने वाले गुण-औचित्य पर विचार करने हुए प्रकाश डाला जाएगा।

प्ररूढ़गर्भा रानी सुदक्षिणा के पीवर तथा श्यामायमान चूचुकों की कोशस्थ भ्रमरों से युक्त कमलकोश के जोड़े से दी गई उपमा गोप्य होते हुए भी सार्थक एवं कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति की परिचायिका है[2]।

संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में औचित्य का अपना एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्यगत औचित्य के विभिन्न पक्षों पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया है। देशकाल और पात्र के अनुरूप कही गई बात का प्रभाव बड़ा गहरा तथा स्पष्ट होता है। इसके उचित प्रयोग से काव्य में अनायास ही रमणीयता आ जाती है। औचित्यपरम्परा के पोषकों ने तो इसे ही काव्य का प्राण माना है। कालिदास की उपमाओं में सर्वत्र ही देश-काल-पात्र के औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

औचित्य पात्रगत

जैसे विदूषक के द्वारा कही गई या उसे लक्ष्य करके कही गई सभी उपमाओं का सम्बन्ध हास्य या मूर्खता से है जोकि पात्र के औचित्य से सम्बन्ध रखता है। जैसे उसे उगता हुआ चन्द्रमा लड्डू की तरह दिखाई देता है (**खण्डमोदक सदृशविक्र० ३।६...**) जोकि उसकी पेटू प्रकृति के अनुकूल है। इसी प्रकार शाकुन्तल के छठे अंक में अदृश्य शक्ति से आक्रान्त होने पर वह अपनी तुलना बिल्ली के पंजे मे फसे हुए चूहे से करता है (**विडालपरिगृहीतो मूषक इव,** शाकु० ७।२८ से पूर्व) जोकि उसकी कायरता का परिचायक है।

---

१. द्रष्टव्य रघु० ५।६४।

२. दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तन-द्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥ ३।८।

विक्रमोर्वशी में हम देखते हैं कि चेटी उसकी तुलना चित्र में बने हुए बन्दर से करती है (**आलेख्य वानर इव**) तो मालविकाग्निमित्र में निपुणिका उसे बैठे-बैठे ऊँघता देखकर उसकी तुलना सड़क पर लेटे हुए साँड से करती है (**विपणिगत इव वृषभः**, ४।१५ के बाद)। ऐसे शाकुन्तल (अंक ६) में वह अपनी बुद्धि की तुलना मिट्टी से करता है (**मया पुनः मृत्पिण्डबुद्धिना०**) आदि।

इसी प्रकार हम देखते है कि कालिदास का प्रत्येक पात्र अपने कार्य तथा वातावरण के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग करता है। निरन्तर यज्ञ-याग मे निरत महर्षि कण्व जब शकुन्तला और दुष्यन्त के स्वेच्छा सम्बन्ध की उपयुक्तता की बात कहना चाहते है तो वे कहते है 'यज्ञीय धूम के आकुल होने पर भी यजमान की आहुति यज्ञाग्नि में ही पड़ी (**धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एव आहुतिः पतिता**)। उनकी इस उपमा में देश-काल-व्यक्ति की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। तपोवन की यज्ञपूत भूमि मे महर्षि कण्व के द्वारा कथित यह उपमा सर्वथा उनके अनुकूल ही है। ऐसे ही निरन्तर अध्ययन-अध्यापन मे रत कुलपति जब कहते हैं कि बेटी ! योग्य शिष्य को दी गई विद्या की भाँति तुझे दुष्यन्त को देते हुए मुझे कोई दुःख नही हो रहा है (**वत्से सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता**) तो भी हमारे सामने देल-काल-पात्र का औचित्य स्पष्ट हो उठता है। महर्षि कण्व को शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना भी तपोवन के उपयुक्त उपमान (**अग्निगर्भां शमीमिव**) की यज्ञीय भाषा में ही होती है। शकुन्तला को दुष्यन्त को सौंपते हुए ऋषिकुमारों का शकुन्तला को '**मूर्तिमती सत्क्रिया**' कहना (५।१५) उनकी बुद्धि और स्वभाव के सर्वथा अनुकूल ही है ऐसे ही उन ऋषिकुमारो के बीच लावण्यवती शकुन्तला को देखकर राजा का यह कहना कि इन तपस्वियों के बीच में पीले पत्तों के बीच नई कोपल के सामान लावण्यमयी यह कौन हो सकती है ? उपमा के औचित्य काही परिचायक है।

वक्तृगत औचित्य का एक सुन्दर उदाहरण रघुवंश में देखने को मिलता है। महाराज रघु सर्वस्वदक्षिण याग में अपना सब कुछ दान कर चुके हैं और ऐसे समय में ही वरतन्तु-शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा की

राशि की याचना के लिए वहां पहुंचते है किन्तु सर्वस्वदानी महाराज को इस प्रकार धनहीन देखकर उन्हें अपने आश्रम का एक दृश्य स्मरण हो जाता है और वे कहने लगते है—'हे राजन् आपने अपना सारा धन योग्य पात्रों में बांट दिया और अब तो आपके पास केवल यह शरीरमात्र बचा हुआ है। इस समय तो आप ऐसे ही रह गये है जैसे कि तमाम दाने झाड़ लेने के बाद तिन्नी (नीवार) का ठूठ रह जाता है[1]। भला आश्रमनिवासी ऋषिकुमार को इससे अधिक उपयुक्त उपमा महाराज रघु की वर्तमान स्थिति को व्यक्त करने के लिए कहाँ मिल सकती थी ! इस प्रकार की उपमाओं से तत्कालीन तथा तत्स्थानीय वातावरण की सृष्टि में बड़ी सहायता मिलती है।

उपर्युक्त गोप्य उपमाओ में भी यदि हम देश-काल-पात्र का विचार करें तो उनका औचित्य बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा। हम जानते हैं कि समस्त मेघदूत ही एक 'प्रकृति-कृपण कामार्त' का विलाप है और उसे दूत भी मिल गया है 'मघवा का कामरूप पुरुष'। अतः जब तक वह 'सरस्वती का निर्मल जल पान करके अन्तःशुद्ध नहीं होता तब तक दोनों की ही दृष्टि काम-रंजित है और उस दृष्टि में ऐसे मादिर दृश्यों का उभरना पात्र की प्रकृति तथा उनकी देशकाल परिस्थिति के अनुकूल ही है। ऐसे ही कुमारसम्भव से उद्धृत दो प्रसगों में से एक का सम्बन्ध कामदेव के उद्दामप्रभावकाल से है और दूसरे का शंकर-पार्वती की उद्दाम केलि के काल से है और वक्ता है प्रणयकुपिता पार्वती का अनुनय करते हुए उनके प्रिय शंकर। रघुवंश का प्रसंग भी ऐसा ही है। वहां सद्यः परिणीत अज के लिए ऐसा कहा गया है जो कि उसकी नई नवेली वधू इन्दुमती के साथ होने वाले प्रथम प्रिय-समागम की भी अभिव्यञ्जना कर रहा है। इस प्रकार उनकी सभी गोप्य उपमाओं का औचित्य सिद्ध हो जाता है। केवल गोप्य उपमाओं की ही बात नही अपितु

---

१ शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्
आभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धि ॥
आरण्यकोपात्तफल-प्रसूति.
स्तम्बेन नीवार इवावशिष्ट ॥ रघु० ५।१५।

कालिदास की सभी उपमाओं में देश-काल-पात्र का औचित्य स्पष्ट झलकता है। इसी से चमत्कृत हो कर पाठक उसके श्लील या अश्लील के भेद को ही भूल जाता है।

इसी प्रकार उपमेय के अनुरूप ही उपमान की योजना करना भी औचित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग है। कालिदास ने इस विषय में कितने कौशल का परिचय दिया है यह हम पीछे देख ही चुके हैं। कुमारसम्भव में शंकर की उपमा समुद्र से तथा पार्वती की उपमा पूर्णचन्द्र से दी गई है। (३।६७), रघुवंश में नन्दिनी की त्रैलोक्यवन्दनीया सन्ध्या से (२।२०) युवराज अज की मृगराज शावक से (६।३) विक्रमोर्वशी में उर्वशी की राजहंसिनी से (१।२०) आदि सभी उपमान और उपमेय के औचित्य के पूर्ण रूप से व्यक्त करते हैं[1]।

(ii) स्वरूपगत

स्थानीय रंजन

देश-काल-पात्र के औचित्य का ही एक अन्य रूप है स्थानीय रंजन। इसमें देशगत औचित्य की ही विशेषरूप से प्रमुखता देखी जाती है। कालिदास ने इन्दुमती को **'संचारिणी दीपशिखा'** कहा तो पार्वती को **'संचारिणी पल्लविनी लता**, इससे ही उसका स्थानगत औचित्य स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि पार्वती का सम्बन्ध हिमालय से होने के कारण वहा स्थानीय रूप से 'पल्लाविनी लता' की बात उचित हो सकती थी उतनी 'संचारिणी दीपशिखा' की बात नहीं यह तो केवल राजपथ पर ही उपयुक्त हो सकती थी।

(iii) देश गत औचित्य

उपर्युक्त औचित्य के उदाहरणों में भी कई उदाहृणों में स्थानीय रंजन (local colour) विद्यमान है पर इसके कुछ बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते है। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु के दिग्वजय प्रसंग में। यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास अपनी उपमाओं के इस वैशिष्टय के विषय में बराबर सावधान रहते हैं। क्यों

१. द्रष्टव्य—रघु० ५।१३ इसमें रघु की सूर्य से तथा अमगल कीं अन्धकार से तुलना करके दोनों के वर्णों का भी साम्य रखा गया है। अपिच-शाकु० ६।१८

कि इसमें प्रत्येक प्रदेश के शासक को उपमा वहाँ की स्थानीय विशेषता रखने वाले उपमानों से दी गई है।

बंगाल में धान की खेती की विशेषता के कारण कालिदास ने बंग नरेशों की उपमा दी एक स्थान से उखाड़ कर दूसरे स्थान पर रोपे गये धान के पौधे से—'जिस प्रकार एक क्यारी से उखाड़ कर दूसरी क्यारी में रोपा हुआ धानका पौधा दानों से भरी बालियों के भार से झुक कर किसान को समृद्ध कर देता है वैसे ही पहले पदच्युत करके फिर स्थापित किये बंगीय नरेशों ने सम्राट रघु के चरणों में बहुमूल्य भेंट प्रदान की'[1]। धान बंगाल की स्थानीय विशेषता होने से यहाँ यह उपमा पूरी तरह फबती है।

इसी प्रकार कलिंग नरेश की उपमा गंभीरवेदी हाथी से दी (४।३६ तो प्राग्ज्योतिषेश्वर के पतन की उपमा कालागुरु वृक्षों से (४'८१) और कम्बोजों की उपमा अखरोट के वृक्षों से जो कि विभिन्न प्रदेशों का स्थानीय रंजन प्रस्तुत करते है। इसका एक और सुन्दर उदाहरण हमें रघुवंश के द्वितीय सर्ग में मिलता है। राजा दिलीप ने चकित हो नन्दिनी के उपर बैठे हुए सिंह को किस रूप में देखा इसी का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं— कि धनुर्धारी राजा दिलीप ने नन्दिनी गाय पर बैठे हुए सिंह को ऐसे देखा जैसे कि पहाड़ की गैरिक ढलान पर खूब फूलों से लदा हुआ लोध का वृक्ष हो'[2]।

यहाँ पर उपमा का स्थानीय रूप इतना स्पष्ट उभर आया है जैसे कि लगता है एक ओर दिलीप पाटलवर्णा गाय को दबोचे हुए पीत घाटियों से युक्त सिह को देख रहा है और अपने सामने ही लाल-लाल रंग की गेरुई भूमि वाली पहाड़ की उपत्यका पर फूलों से लदे हुए लोध्र के वृक्ष को देख रहा है। यहाँ पर कालिदास की

---

१. आपाम-पद्म-प्रणता कलमा इव ते रघुम्।
फलै संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ।।४।३७ ।।

२. स पाटलायां गवि तस्थिवास
धनुर्धरः केसरिण ददर्श
अधित्यकायामिव धातुमय्यां
लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ।। रघु०२।२८

सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति तथा स्थानीय विशेषताओं से परिपूर्ण उपमान योजना की शक्ति का अद्‌भुत परिचय मिलता है[1]।

'मेघदूत' में मेघ के लिए विभिन्न स्थानों पर जुटाये गये विभिन्न उपमानों का विश्लेषण करने से कालिदास की स्थानीय रंजन की प्रवृति तथा अद्‌भुत कौशल का पता चलता है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे तत्-स्थानीय उपमानों की मेघ के लिए कैसे योजना की गई है इसका स्वरूप देखिए-रामगिरि पर्वत पर यक्ष ने मेघ को पहले तो **'वप्रक्रीडापरिणतगज'** के रूप में देखा (२) तो बाद में **'गोपवेषधारी विष्णु'** के रूप में (१५)। यही मेघ जब वनचरवधू भुक्तकुज्जी वाले (१९) आम्र कूट पर पहुंचा तो पृथ्वी के स्तन के नील चूचक सा दिखाई देने लगा **'मध्ये नीलः स्तन इव भूवः शेष विस्तारपाण्डु'**(१८) और यही मेघ जब उज्जयिनी में महाकाल के मन्दिर में पहुँचता है तो वहाँ शंकर की स्थिति के कारण इसका रूप **'महादेव जी के कण्ठ की नीलिमा** (३७) तथा **आर्द्र गजाजिन** (४०) के समान दिखाई देता है। और यही मेघ जब हिमालयपर पहुंचता है तो वहां पर यह भगवान शंकर के वृषभ के सीगों पर लगे हुए पंक की उपमा को प्राप्त होता है (**शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्** ५२) उपमान-योजना की ऐसी सूक्ष्म दृष्टि कालिदास के सिवा और किसी को नहीं मिल सकी है।

अन्य दृष्टियों से विचार करने पर भी कालिदास की रचनाओं में औचित्य की मात्रा उपयुक्ततम रूप में पाई जाती है।

(iv) व्यवहारगत

व्यावहारिक दृष्टि से लोक में बड़ों के पीछे छोटों का चलना ही ठीक समझा जाता है। कालिदास भी जब रघुवश में नन्दिनी के पीछे पीछे चलने वाली सुदक्षिणा की उपमा श्रुतयों का अनुसरण करने वाली स्मृतियों से देते हैं (**श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत**) तो इसी लोक-सम्मत ओचित्य का पालन करते हैं।

इतना ही नही अपितु हम देखते हैं कि कालिदास जब किसी उपमा की योजना करते हैं तो वे बड़ी सतर्कता के साथ प्रसंग,

(i) कालगत

भाव, भाषा आदि के औचित्य का भी पूरा-पूरा ध्यान रखते है। प्रसंगानुकूल कोमल मसृण स्थलों पर महाकवि की उपमा भी अत्यन्त

१. अपि च, तुलनीय सिंह की उक्ति- अल महीपाल० रघु० २।

सुकुमार, नाजुक हो उठती है। 'शाकुन्तल' के छठे अंक में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के चित्रांकन का प्रसंग है। समस्त प्रसंग, वातावरण, सभी कुछ अत्यन्त, सुकुमार है। अतः इस अवसर पर कालिदास कितनी मसृण उपमा की योजना करते हैं इसे देखिए। विदूषक की जिज्ञासा पर दुष्यन्त कहता है—'मित्र! अभी तो मैंने इस चित्र में सिरस का वह फूल भी नही बनाया जिसकी कि डठल उसने अपने कानों में खोस रखी थी, और जिसका पराग उसके कोपोलों पर झर रहा था। और अभी तो मैंने उसके स्तनों के बीच पड़ी पड़ी हुई कमल नाल के सूत्र की वह माला भी नही बनाई जोकि शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान कोमल सूत्र से बनाई गई थी'[1]।

वस्तुत: सुकोमल मृणालदण्ड से निसृ-त कौशेयसूत्र से भी सुकोमल मृणाल सूत्र की उपमा शरतकालीन चन्द्रमा की कोमल किरणों से देकर कवि ने प्रसंग के औचित्य के किस खूबी के साथ व्यक्त कर दिया है इसे कोई सौन्दर्यपारखी सहृदय हो बता सकता है। कल्पना की कोमलता के अतिरिक्त इसमे दोनों के स्वरूपगत औचित्य का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। मृणाल सूत्र भी मृदुल, शीतल और श्वेत होता है और चन्द्रकिरण भी ऐसी ही होती है।

पर इन सहस्राधिक उपमाओं में एकाध ऐसी भी मिल जाती है, जहाँ पर कि कवि का ध्यान केवल बाह्य सादृश्य पर हो अधिक रहा है और पात्रादिगत औचित्य सम्बन्ध की पूरी रक्षा नही हो सकी है। रघुवश के प्रथम सर्ग में दिलीप और सुदक्षिणा पुत्रकामना से गुरु वशिष्ठ के आश्रम की ओर जा रहे हैं[2]—'मीठी-मीठी घनघनाहट शब्द

औचित्यदोष

---

१. कृत न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बि केसरम्।
न वा शरच्चन्द्र-मरीचि-कोमल
मृणाल-सूत्रं रचित स्तनान्तरे॥ शाकु० ६।१८।

२. स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेक स्यन्दनमास्थितौ।
प्रावृषेण्यं पयोवाह विद्युदैरावताविव ॥ रघु० १।३६।

करने वाले रथ पर बैठे हुए वे दोनों पति पत्नी ऐसे लग रहे थे जैसे कि वर्षाकालीन मेघ पर ऐरावत और बिजली चढ़े हुए जा रहे हों'।

स्पष्ट है कि रथ पर बैठे हुए दिलीप और सुदक्षिणा की उपमा बादल पर बैठे हुए ऐरावत और बिजली से दी गई है। औचित्य की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते है कि दिलीप और सुदक्षिणा में जो दाम्पत्यसम्बन्ध है वह ऐरावत तथा बिजली मे नहीं है। दूसरे मेघ विद्युत का पति है अतः विद्युत को उस पर सवार बतलाना लौकिक व्यवहार की दृष्टि से उचित नही। कवि पवन-रथ पर आरूढ़ मेघ और बिजली से उपमा दे सकता था। पर लगता है कि दिलीप के श्वेत वेष ने उसे ऐरावत से उसकी उपमा देने को प्रेरित किया। श्वेत तो कभी-कभी मेघ भी हो जाता है। किन्तु जब वह श्वेत होता है तब उसके साथ विद्युत नही रहती चाहे जिस बात से प्रेरित होकर कवि ने यह उपमा दी हो पर इसमे औचित्य का पालन नहीं हो सका है।

स्थिति स्थापकता

जैसा कि हम पहले ही कह आए है कि कालिदास ने उपमा के सहारे अनेक स्थानों पर अनुभूति वा स्वरूप की वास्तविकता को पाठकों के सामने लाने का प्रशसनीय प्रयास किया है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग में भगवान् शंकर के प्रभाव से सिंह पर अस्त्रप्रहार न कर सकने के कारण दिलीप की आन्तरिक दशा को पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति देने की कामना से कवि कहता है—'हाथ बन्ध जाने के कारण सामने ही स्थित अपराधी पर प्रहार न कर सकने के कारण राजा दिलीप क्रोध से तमतमा उठे। उनका अन्त:करण अपने ही तेज से ऐसे जल उठा जैसे कि मन्त्र और औषधि के प्रभाव से बंधा हुआ विषधर क्रोध से भभक उठता है'[1]। पर्याप्त

---

१. बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्यु-
रभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्त—
र्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥ रघु० २।३२।

उद्दीपन और पराक्रम के रहते हुए भी दिलीप कुछ कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। उसकी असमर्थता तथा मानसिक स्थिति को कवि ने बड़े ही सुन्दर ढग से यहाँ अभिव्यक्त कर दिया है 'मन्त्रौषधि-रुद्धवीर्य' सर्प की उपमा से। इसी प्रकार कुमारसम्भव मे शंकर के हृदय की तुलना समुद्र से करके (३।६७) कवि ने उसके भीषण एवं रौद्र रूप धारण करलेने तथा महाविनाश की सृष्टि करने की स्थिति का सम्यक् आभास उपमा के ही द्वारा कराने का यत्न किया है। ऐसे ही माल० (१।११) में राजा की उपमा समुद्र से देकर एक ही शब्द से राजदरबार के आकर्षण तथा राजकर्म-चारियों के कारण उसकी कठिनाइयों को बड़े स्पष्ट रूप से बता दिया है। रघुवंश मे आसन्नप्रसवा सुदक्षिणा को 'सुप्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी' में एक ओर जहाँ-उसके मुख की पाण्डुरता को अभिव्यक्ति दी है, वही दूसरी ओर उसके गर्भ से उत्पन्न होने वाले प्रातःकालीन सूर्य के समान देदीप्यमान सूर्यवंशी कुमार के जन्म की स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया है।

चेतन ही नहीं अपितु कभी-कभी अचेतन में भी चेतन का आरोप करके कालिदास उसके हर्ष-शोक आदि की आन्तरिक स्थिति को उपमा के द्वारा स्पष्ट कर डालते है। भगवान् राम चौदह वर्ष के बाद लका विजय करके अयोध्या लौटे तो अयोध्या के आन्तरिक उल्लास की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कालिदास कहते है[1]— राज प्रासादों से उठता हुआ कृष्ण अगरु का धुआँ वायु के कारण इधर-उधर फैल जाता था। उस समय वह ऐसा लगता था जैसे कि वन से लौटे हुए राम ने उस अयोध्या नगरी की एक वीणि को खोल कर केशराशि को बिखरा दिया हो।

राम के प्रवास काल में अयोध्या नगरी का भोग भरतादि कोई भी नहीं कर सके थे। अतः यह राजभोग्य नगरी पतिव्रता

१. प्रासाद-कालागुरु-धूमराजि-
स्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन
मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे। रघु० १४।१२।

की भाँति पति के प्रवास काल में भारतीय प्रोषित पतिकाओं की भाँति एक वेणी बाँधे हुए इतने दिनों तक उनके आने की बाट जोहती रही थी। आज प्रवास से लौटे हुए पति ने स्वयं उसकी वेणी का मोक्ष किया है। इससे उसकी कितनी आन्तरिक प्रसन्नता हुई होगी इसका आभास यहाँ उपर्युक्त उपमान के द्वारा भली भाँति हो जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' में नवाभिषिक्त राजा (विदर्भनरेश) की 'सुजेयता' को बताने के लिए राजा अग्निमित्र उसकी तुलना उस ताजे रोप गये वृक्ष से करता है, जिसकी कि जड़ें अभी गहरी नही है।

ताजे रोपे हुए, अरूढ़मूल पौधे को उखाड़ फैंकना जैसे सरल है वैसे ही अचिर राज्याभिषिक्त राजा को भी उखाड़ फैंकना सरल है' यह कहकर निदर्भ नरेश की स्थिति को बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से स्पष्ट कर दिया है[1]।

कालिदास की उपमाओं की व्यञ्जकता पर पीछे विभिन्न प्रसगो में विभिन्न प्रकार से पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

व्यञ्जकता

वस्तुतः उनकी सभी प्रसिद्ध उपमाएँ इस गुण से परिपूर्ण है। यह उनकी उपमाओ में पाया जाने वाला सबसे विशेष गुण है। देश विदेश के सभी विद्वान् उनकी उपमाओ के इस गुण पर विशेष रूप से मुग्ध हैं। यहाँ पर अब हम अधिक विस्तार में न जाकर केवल एक दो उपमाओं का निर्देशनमात्र करेंगे।

'सचारिणी दीपशिखा' और 'चारिणी पल्लविनी लता' की बात हम ऊपर कह आये हैं। अब जरा 'प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी' की व्यञ्जनात्मक रूप भी देखिए। रानी सुदक्षिणा अब आसन्न प्रसव की स्थिति में पहुँच गई है, उनकी तत्कालीन दशा

१- अचिराधिष्ठितराज्य. शत्रु. प्रकृतिष्वरूढ़मूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥ माल० १।८।
अपि च—द्रष्टव्य माल० १।११।

का वर्णन करता हुए कवि कहता है— 'गर्भ भार के कारण शरीर दुर्बल हो गया था इसीलिए उन्होंने अपने अधिततर भारी आभूषण उतार डाले थे और थोड़े से ही आभूषण शरीर पर शोभित थे। उनका चेहरा भी लोध के फूल की भान्ति पीला पड़ गया था। इन सब के साथ उस समय रानी पौ फटने के समय की उस स्वल्पावशिष्ट रजनी के समान लग रही थी जिसमें कि तारे भी थोडे-थोड़े टिमटमा रहे हो और निकटवर्ती प्रभात के कारण चन्द्रमा भी पीताभ हो गया हो[1]'।

रानी के उपयुक्ततम बाह्य सादृश्य के साथ-साथ कवि ने इस उपमा की योजना के द्वारा इसके प्रत्येक पद में जो व्यञ्जना भर दी है वह दर्शनीय है। यहाँ पर **'प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी'** के द्वारा कवि रानी के गर्भ से शीघ्र ही एक ऐसे तेजस्वी पुत्र के जन्म की व्यञ्जना कर रहा है जोकि सूर्य के समान अपने तेज से सारे विश्व को दीप्त कर डालेगा। उसके अलकरणों की नक्षत्रों तथा मुख की चन्द्रमा से उपमा देकर वह स्वयं सुदक्षिणा में भी एक ऐसी महिमामयी उषः कालीन रजनी का रूप प्रतिष्ठापित करना चाहता है जिसमें कि सूर्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है।

विविध भावो से पूर्ण एक और ऐसी ही ध्वन्यात्मक उपमा आती है रघुवंश के द्वितीय सर्ग में। इसका जिक्र हम किसी अन्य प्रसग में इससे पूर्व भी कर चुके है। पर वहां इसके व्यञ्जनात्मक पक्ष पर विचार नहीं किया जा सका था। उपमा है[2]—

---

१. शरीरसादादसमग्राभूषणा।
मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका
प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी।। रघु० ३।२।

२. पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन
प्रत्युद्गता पार्थिव-धर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुः
दिन-क्षपा-मध्यगतेव सन्ध्या।। रघु० २।२०।

'राजा दिलीप नन्दिनी को सायंकाल के समय वन से लौटा कर घर ला रहे है और रानी सुदक्षिणा उसकी अगवानी करने के लिए आश्रम के बाहर तक गई हुई है। उस समय राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में खड़ी पाटलवर्णा नन्दिनी ऐसी ही लग रही है जैसी कि दिन और रात्रि के बीच में रक्तिमवर्णा सन्ध्या हो'।

यहाँ पर इस उपमा का विश्लेषण करने पर पता च लेगा कि स्थितिक्रम में पहले 'पार्थिव' फिर 'पार्थिवधर्मपत्नी' तथा अन्त में 'तदन्तरे धेनुः' कहा गया है और इस क्रम में इनकी संगति की गई है 'दिन' (पु० पार्थिव), क्षपा (स्त्री० पार्थिव धर्म पत्नी) और मध्यगता संध्या (स्त्री० नन्दिनी) के रूप में। क्रम और लिंगसाम्य के बाद यदि हम थोड़ा और विचार करें तो हमें इसमें दिखाई देगा उनका वर्ण भी। राजा (दिन) गौरवर्ण, सुदक्षिणा (क्षपा) श्यामा और धेनु (संध्या) रक्त वर्णा। (इससे पूर्व २।१५ में धेनु को '**पल्लवरागता**' कहा गया है।) इसके बाद यदि हम इस उपमा के सहारे उनकी आयु की भी व्यंजना देखना चाहें तो शायद देख सकते हैं—राजा (दिन) अपनी चतुर्थ अवस्था में, रानी (क्षपा) पर्याप्त युवती, और नन्दिनी (संध्या) अपने पूर्ण यौवन पर। अब देखिए कवि की उपमा का चातुर्य। '**दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या**' कह कर क्या कुछ नहीं कह डाला। राजा की उतरती हुई अवस्था, पुत्र के अभाव में दोनों के मन में बढ़ता हुआ निराशान्धकार नन्दिनी की सायं सन्ध्या के समान सर्वलोकवन्द्यता आदि सभी कुछ तो ध्वनित कर डाला है। और भी— नन्दिनी क्या है सन्ध्या अर्थात् सम्यक् ध्यान की वस्तु। व्यञ्जना के आचार्य कवि ने यहाँ यह भी ध्वनित कर दिया है कि सर्वलोकवन्दनीया सन्ध्या सावित्री के सम्यक् ध्यान से जिस प्रकार साधक को सिद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार इस सन्ध्या के समान ध्येय नन्दिनी का सम्यक् ध्यान करने से इन दोनो साधकों को भी सिद्धि अवश्य ही मिलेगी।

क्रम, लिङ्ग, वचन, वर्ण, अवस्था, ध्वनि आदि के अतिरिक्त एक और विशेष उल्लेखनीय सौन्दर्य इस उपमा में यह है कि इस में कालगत औचित्य का अद्भुत रूप पाया जाता है। प्रकरण से यह तो स्पष्ट है कि यह प्रसंग सायकाल का है। सायं-काल के अवसर पर सायं-काल से ही उपमा देने में कितनी सार्थकता तथा

स्थिति-स्थापकता भरी हुई है इसे बतलाने की आवश्यकतानहीं। उपमा का ऐसा चमत्कारिक विधान विश्व के किसी कवि की रचना में नहीं पाया जा सकता इस बात को डके की चोट से कहा जा सकता है।

इसी प्रकार 'रघुवंश' के १९वें सर्ग में (९।५१) परम-विलासी राजा अग्निमित्र की अन्तिम दशा के वर्णन के लिए दी गई उपमाओं के द्वारा कालिदास ने जहाँ एक ओर रघुवंश के अचिर विनाश का सकेत किया है वहीं दूसरी ओर रघुवश के उदात्त गुणों—आह्लादकता, महानता एवं तेजस्विता की भी व्यञ्जना कर डाली है। यह सब कुछ कवि ने बड़े सहज ढग से उपमा के सहारे कर दिखाया है।

उपमा ही नही ऐसी ही एक चमत्कारिक उत्प्रेक्षा भी देखिए—'प्रशंसनीय चरित राजा दिलीप ने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से बछड़े के पीने से तथा हवन से अवशिष्ट नन्दिनी के दूध को सतृष्ण होकर ऐसे ही पिया जैसे कि मानो वे अपने ही मूर्तिमान यश का पान कर रहे हो'[1]।

यहां पर कवि के शब्दों पर ध्यान देने तथा उनका विश्लेषण करने पर एक मनोहारिणी उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त एक अन्य तथ्य जो सामने आता है वह यह है कि कवि दिलीप की इस सिद्धि के अवसर पर अपने पाठकों को उस कहानी का भी संकेत कर देना चाहता है जिसके कारण राजा दिलीप को ऐसी कठिन साधना करनी पड़ी थी और अन्त में मूर्तिमान यश को अर्जित किया था। सच है, दिलीप आज ससार मे नही रहा पर उसने अपने शरीर को अर्पण करके नन्दिनी को बचाने के प्रयत्न स्वरूप जो यश कमाया या वह आज भी संसार में मूर्त रूप से जगमगा रहा है। हां, कवि बताना चाह रहा है कि दिलीप को जिस दिन शाप मिला था उस दिन भी वह प्यासा था और आज भी प्यासा है। पर इन दोनों प्यासों में अन्तर यह है कि उस दिन, की प्यास

---

१. स नन्दिनी-स्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशिष्ठम्।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥ रघु० २।६९।

ऐसी असंयत थी कि उसने नन्दिनी के जलपान में बाधक बनकर स्वयं तृप्ति प्राप्त की थी और फलस्वरूप प्राप्त किया था शाप (कलंक की कालिमा) किन्तु ठीक उसके विपरीत आज हम देख रहे है कि सतृष्ण होने पर भी वह अपनी तृप्ति से पूर्व बछड़े और देतताओ की तृप्ति का ध्यान रखता है। इसके बाद भी धैर्य के साथ गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है (ध्यान रहे कि नन्दिनी ने उससे जंगल में ही दुग्धपान के लिए कहा था (२।६५) और उसने कहा था नहीं माँ, गुरु की आज्ञा से ही वत्स, और होम से अवशिष्ट दुग्ध का पान करूगा (२।६६) इसीलिए तो उसे आज जल के स्थान पर 'स्तन्य' प्राप्त हो रहा है। यह 'स्तन्य' क्या है मूर्तिमान यश, जिसे कि उसने सिह के समक्ष आत्मसमर्पण करके आज ही अर्जित किया है। उस दिन दिलीप ने नन्दिनी के जलपान में बाधा डाल कर अपयश का पान किया था और आज नन्दिनी की रक्षा के लिए जीवन की बाजी लगा कर यश पाया है और शुभ्र दुग्ध के रूप में शुभ्र यश का ही पान कर रहा है[1]।

मनोवैज्ञानिकता

कालिदास की उपमाओं में मनोवैज्ञानिकता का अंश पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है इस पर हम पीछे यत्रतत्र पर्याप्तप्रकाश डाल चुके है। यहां पर केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। मेघदूत में यक्ष मेघ से दशपुर के निकट राजा रन्ति देव के गो-मेघ यज्ञ से प्रसूत चर्मण्वती को पार करके दशपुर पहुँचने की बात कह रहा है[2]। पर जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का अनुमान है[3] कि उसके मन में रन्ति देव के उन विकट यज्ञों की बात घूम रही थी, वह बताना चाहता था कि तुम जिस देश में जा रहे हो वह याज्ञिक देश है, वहाँ कृष्णसार मृग स्वच्छन्द चरा करते हैं। उनकी काली-काली कंटीली आखों की चितवन वैसी ही होती है जैसी कि सफेद कुन्द-पुष्प के पीछे दौड़ने वाली भ्रमर-पंक्ति। किन्तुविरह-विधुर यक्ष का मन वश में नहीं था। कहना कुछ चाहता था और

---

१. द्रष्टव्य—इत्याख्याते पवन तनयं मैथिलीवोन्मुखी सा, उत्तर मेघ० ४२।

२. यह पद्य तथा इसका अर्थ पीछे दिया गया है वही देख लेना चाहिए

३. मेघदूत एक पुरानी कहानी, पृ० ८७।

निकल कुछ गया। 'कृष्णसार' के स्थान पर निकल पड़ा 'कृष्णशार' जिसका अर्थ है ,श्वेत श्याम रतनार' अर्थात् मदभरी दृष्टि। कालिदास की इस उपमा में न केवल नेत्रों के सौन्दर्य तथा उनकी मादकता झलक मिलती है अपितु उस प्रदेश की पवित्रता तथा यक्ष के मन की अव्यवस्थित दशा की भी स्पष्ट झलक मिल जाती है। ऐसे ही हम देखते हैं कि मेघदूत तथा शाकुन्तल की प्रायः सभी उपमाओं में मनोवैज्ञानिकता का अंश बहुत अधिक है।

रम्यता—रम्यता कालिदास की उपमाओं का एक ऐसा गुण है जो कि उनके काव्य-रसिको को सर्वतोभावेन उनका भक्त बना डालता है। भाषा, भाव, अभिव्यक्ति सभी इतने रमणीय रूप में प्रस्तुत किये गये है कि पाठक एक के बाद एक पर मुग्ध होता चला जाता है। उनकी प्रत्येक उपमा में इसे सहज ही देखा जा सकता है। ऊपर के अनुच्छेदों मे हम जिन उपमाओ पर विचार कर आये है, उन सब में इसके दर्शन कि जाये सकते है। फिर भी पाठकों की अनुभूति के लिए हम यहां पर ऋतुसंहार से दो तोन पद्य उपस्थित करेंगे। इससे हम देख सकेंगे कि काव्य-रचना के प्रारम्भिक काल में ही कालिदास में यह गुण कितनी मात्रा में विद्यमान था। कवि शरत् का वर्णन करने चला है उसके अवतरण मे ही कहता है— 'वर्षा बीत चली है और अब शरत् नवेली का आगमन हो रहा है। निर्मल काश ही उसका निर्मल परिधान है, खिले हुए सुन्दर कमल ही उसका मुख है, मस्ती से कल निनाद करते हुए हस उसकी नूपुर ध्वनि है, पके हुए धान की बालियाँ ही उसकी शरीर-यष्टि है, ऐसी रूपसी शरत् नववधू के समान आ पहुँची है'[1]।

इस रूपकानुप्राणित उपमा में कवि ने शब्द-चयन, भाव-गठन तथा अलंकार-योजना में जिस तरह रमणीयता को भर दिया है, वह देखते ही बनती है।

---

१. काशांशुका विकच-पद्म-मनोज्ञ-वक्त्रा
सोन्दमाद-हसरव-नूपुर-नादरम्या।
आपक्व-शालि-रुचिरा तनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्वधूरिव रूपरम्या॥ १।

इसके बाद जब शरत् कालीन नदियों के वर्णन का प्रसंग आया तो कलाप्रिय कवि ने कहा—'शरत् काल में नदियाँ मदालसा रमणियों की भाँति मदभरी चाल से चलती हैं। चञ्चल, मनोहर मछलियाँ ही उनकी करधनी है, दोनों कूलो पर सुशोभित हंसों की पंक्तियाँ ही उनके कण्ठहार है, और विशाल पुलिन ही उनके नितम्ब-बिम्ब है'[1]। युवा कवि की कैसी रसभरी मनोज्ञ कल्पना व शब्द योजना है।

एक और मनोज्ञ चित्र देखिए वर्षा का भी—'वैदूर्य मणि के समान हरित तृणाँकुरो तथा फूटते हुए कन्दली के पत्तो एव लाल-लाल रग की बीर बहूटियों से छाई हुई भूमि उस सजी हुई नायिका के समान दिखाई दे रही है जोकि श्वेत रंग की मणि मुक्ताओ के अतिरिक्त अन्य सभी रगों (लाल, पीली, हरी इत्यादि) की मणियो से अलंकृत हो'[2]।

रमणीयता की दृष्टि से 'रघुवंश' के तेरहवे सर्ग की उपमाएँ विशेष रूप से दर्शनीय है। चित्रकूट की 'दृप्तककुद्मान' से (४७) तथा मन्दाकिनी की पृथ्वी के गले में पडी हुई 'मुक्तामाला' से (४८) दी गई उपमा भी सुन्दर है। 'वटः श्याम' को देखकर राम कहते है— 'सामने वह वही श्याम वट है जिसकी कि तुमने मनौतियां की थी। इसमें लगी हुई लाल-लाल बट पोपलियाँ ऐसी ही लगर ही है जैसे कि नील मणियों के ढेर पर पद्मराग मणियाँ सजा दी गई हों'[3]।

---

१. चञ्चन्-मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः
पर्यन्त-संस्थित-सिताण्डज-पंक्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्त-नितम्बबिम्बा
मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥ ३ ।

२. प्रभिन्न-वैदूर्य-निभै स्तृणाङ्कुरैः
समाचिता प्रोत्थियकन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतर-रत्नभूषिता
वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोयकैः ॥ ५ ।

३. त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ।

इसके अनन्तर भाव विभोर होकर महाकवि ने त्रिवेणी-संगम का जो चित्र खींचा है तथा उसके जिन उपमानों की योजना की है वे सभी दर्शनीय है, ये चारों ही पद्य इतने रमणीय है कि हम यहाँ उन सभी को उद्‌धृत करने के लोभ का सवरण नही कर सकते। त्रिवेणी-सगम की अलौकिक रूप माधुरी पर मुग्ध होकर राम सीता जी से कहने लगते हैं—'हे सुन्दरी सीते! देखो यमुना की श्यामल धारा से मिलती हुई गङ्गा की निर्मल धारा कही तो ऐसी लग रही है जैसे कि इन्द्रनील मणियो के बीच में गुंथी हुई मोतियों की लड़ी हो और कही पर ऐसी लग रही है जैसे कि नील और श्वेत कमलों से गुंथी हुई पुष्पमाला हो'[1] — 'कही सफेद रंग के राजहंसों तथा श्यामवर्ण के कादम्ब हंसो की मिली हुई पंक्ति सी लग रही है तो कहीं पर चन्दन से पुती हुई भूमि पर काले अगरु से की गई चित्रकारी सी[2]। कही-कही पत्तो की छाया से युक्त उजली चाँदनी सी लग रही है तो कहीं शरत् काल के उन श्वेत बादलो सी दीख रही है जिनके बीच में से नीला आकाश दिखाई दे रहा हो[3]। 'हे सुन्दरी सीते, देखो यमुना की तरङ्गों से भिन्न प्रवाह वाली गङ्गा कहीं पर ऐसी दिखाई दे रही है जैसे की भगवान् शकर के भस्म से आवृत शरीर पर काले-काले सर्प लिपटे हुए हों[4]'।

कितना दिव्य, प्रभावकारी व मनोरम है यह समस्त वर्णन? लगता है कि कवि ने यहाँ उपमाओं की गगा जमुना ही प्रवाहित कर डाली हो।

इस प्रकार यदि हम उनकी उपमाओं की सभी छोटी मोटी विशेषताओं पर प्रकाश डालना तथा उन्हे उदाहरण स्वरूप उद्‌धृत करना प्रारम्भ करदे तो शायद इस विषय पर एक

उपसहार

अच्छी खासी पुस्तक ही तैयार हो जायेगी। हमारा उद्देश्य न सभी उपमाओ को एकत्र करना है

---

१. क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सित-पङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥ ५४

२. क्वचित् खगानां प्रियमानसानां कादम्बससर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दन-कल्पितेव॥ ५५।

३, क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभि-श्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा॥ ५६।

४. क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥ ५७

और न उन सभी का विश्लेषण करना। हमने तो केवल संक्षेप में संकेत रूप से ही कालिदास की उपमाओं के उन विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने का यत्न किया है जिनके कारण कि संसार में कालिदास की उपमाओं को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त है। उपमा के सफल प्रयोग मे कालिदास आज भी 'कनिष्ठकाधिष्ठित' ही है। सूत्र रूप में हम उनके उपमाओ के वैशिष्टच के विषय में यही कह सकते है कि उनमे निर्दोषता है पूर्णता है, रम्यता है यथार्थता है कि भावो की श्रेष्ठता एव गम्भीरता है, औचित्य है, आनुपातिक सम्बन्ध है, सूक्ष्म निरीक्षण है, अद्भुत सादृश्य है, व्यञ्जना का चमत्कार है, अपूर्वता है और है रसपेशलता। ऐसे ही न जाने और भी कितने गुण इस रससिद्ध कवीश्वर की उपमाओं में निहित है सम्पूर्ण रूप से कुछ कहा नही जा सकता है। धन्य है सरस्वतीपुत्र कालिदास और धन्य है उसकी कलाविलासिनी प्रतिभा।

वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते

(कालिदास की शैली)

महाकवि की महानता ! कि कोई उसकी किसी अदा पर मुग्ध है तो कोई किसी पर। क्या रस, क्या अलकार, क्या छन्द-योजना तथा क्या शैली (रीति) सभी में कवि ने जिस अद्वितीय चमत्कार की योजना की है उसके एक एक अश पर आलोचकों के दल के दल मुग्ध हो पड़े है। अर्थात् किसी ने **'शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासो विशिष्यते'** की बात कही तो किसी ने **'उपमा कालिदासस्य'** के द्वारा उनकी उपमाओ की ओर सहृदयों का ध्यान आकर्षित किया। इसी प्रकार कुछ आलोचक **'सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गते'** कह कर उनकी छन्द योजना के प्रति अपना मोह पकट करते दिखाई देते हैं तो कोई उनकी 'पद सघटना' के विशिष्ट रूप **'वैदर्भी रीति'** पर ही मुग्ध हुए बैठे हैं। वस्तुत ये ही वे सूत्र है जिनसे कि महाकवि के व्यक्तितत्व का उभार होता है। और उनकी काव्य कला में निखार आता है।

बहुमुखी प्रतीभा

उनके एक ही गुण का भिन्न-भिन्न साहित्यालोचकों ने भिन्न-भिन्न रूपों में उल्लेख किया है। सप्तम शताब्दी के कवि एव आचार्य दण्डी उनकी वैदर्भी रीति पर रीझ गए। अपनी रचना 'अवन्तिसुन्दरी कथा'[1] में उन्होंने कहा कि वस्तुत· कालिदास ने ही सर्व प्रथम इस 'वैदर्भ मार्ग' को अपनी मधुमयी वाणी' से परिष्कृत किया। सच पूछा जाय तो बाद में साहित्यशास्त्र में 'वैदर्भी रीति' को जो महत्त्व मिला तथा उसका जो रूप निर्धारण हुआ उसके पीछे कालिदास की मधुमयी वाणी ही कार्य कर रही है। वस्तुतः कालिदास ने वैदर्भी रीति को काव्य के लिए उपयुक्ततम शैली का पद ही नहीं दिलाया अपितु आगे के लिए रास्ता साफ करके इसका स्वरूप भी

कालिदास द्वारा वैदर्भी की स्थापना एव परिष्कार

---

१ अ० सु० कथा दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला।

निर्धारित कर दिया। ऐसा लगता है कि लक्षण ग्रन्थों के रचयिता आचार्य गण जब वैदर्भी रीति का लक्षण स्थिर करते थे तब कालिदास के काव्यो का लक्ष्य ही उनके सामने रहता था, इसे ही आधार बनाकर वे लक्षणों की योजना करते थे। काव्यशास्त्र के आचार्यों मे भरत के उपरान्त सबसे प्रथम आचार्य जो हमारे सामने आते है वे है आचार्य दण्डी। उन्होने अपनी रचना अवन्तिसुन्दर कथा मे कालिदास के वैदर्भ मार्ग को जिन शब्दों में प्रशंसा की है वे इस प्रकार है[1]।

वैदर्भी के तत्वो का विवेचन

अस्तु कालिदास की शैली अथवा उसकी वैदर्भी रीति के विषय मे कुछ कहने से पूर्व यदि हम रीति के सिद्धान्तों एवं वैदर्भी रीति के स्वरुप पर भी कुछ विचार करले तो हमें उसके प्रकाश मे कालिदास की काव्यकला का परीक्षण करना तथा उसके ठीक-ठीक स्वरूप को पहचानना सरल होगा। इसलिए पहले यहाँ सक्षेप मे हम इसी पर कुछ विचार करेगे।

इस परम्परा में हम देखते है कि भरत मुनि ने यद्यपि अपनी प्रसिद्ध रचना नाट्यशास्त्र (१४।३६) में आवन्ती, दाक्षिणात्य, उड् (उडीसा तथा मगध) एव पाञ्चाली इन चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है किन्तु इनका सम्बन्ध केवल साहित्य से ही न होकर जीवन की अन्य प्रवृत्तियों से भी माना है। साहित्यिक दृष्टि से इस प्रकार की प्रादेशिक विशिष्टताओं से युक्त शैलियों का सर्वप्रथम विवेचन हमें महा-कवि बाण के हर्षचरित के प्रारम्भ में प्राप्त होता है[2]। तदनुसार उदीच्य अर्थात उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष को प्रयोग करते है, प्रतीच्य अर्थात् पश्चिम भारत के लोग अर्थ गौरव को अधिक महत्त्व देते है, दक्षिण के लोगों को उत्प्रेक्षा अधिक प्रिय है तो पूर्व के कविजनों को शब्दाडम्बर का ही अधिक शौक है। सर्वप्रथम बाण ने भारत की चार दिशाओं में प्रमुख रूप से प्रचलित

---

१. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिर.।
तेनेद वर्त्म वैदर्भ-कालिदासेन शोधितम् ॥१५॥

२. श्लेष प्रायम भुदीच्येषु प्रतिच्येष्वर्थ मात्रकम्।
उत्पेक्षा दाक्षिणात्येषु, गोड़ेष्वक्षरडम्बर: ॥१. ७.॥

चार विशिष्ट साहित्यिक शैलियों का उल्लेख किया। किन्तु इन शैलियों के नाम और स्वरूप का कोई विवेचन इसने भी नही किया। यह उसका विषय भी नही था।

इसके बाद सिद्धान्त रूप से रीतियों अथवा काव्य मैलियों का प्रारम्भिक विवेचन हमें 'भामह' मे मिलता है। इन्होंने दो रीतियों का उल्लेख किया है। काव्य-भेदों के अन्तर्गत ही उन्होंने वैदर्भ एवं गौडीय काव्य-भेदों की चर्चा की है जो कि प्रकारान्तर से इन दो रीतियों का ही विवेचन है।

रीति विवेचन एवं स्वरूप-निर्धारण का कार्य वस्तुतः पहली बार आचार्य दण्डी ने ही किया है। काव्य साहित्य के क्षेत्र में रीति को प्रमुख स्थान दिलाने में दण्डी का बहुत बडा योग दान है, इसीलिए कई लोग वामन की भांति दण्डी को भी 'रीति-वादी' मानते हैं। इन्होंने रीति को 'गिरा मार्गः' कहा है। उन्होंने यह भी माना है कि प्रत्येक कवि की अपनी भिन्न शैली हो सकती है जोकि उसके व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करेगी[1]। किन्तु उनके समय तक साहित्यिकों में जिन दो प्रमुख मार्गो (शैलियों)—वैदर्भ और गौड—का प्रचलन हो चुका था उनका स्वरूप उन्होंने हमारे सामने रखा है। वैदर्भ मार्ग के लिए जिन काव्य-गुणों की अपेक्षा की जाती है[2]। वे दश गुण ही वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं और गौड मार्ग में प्रायः इसका विपर्यय दिखाई देता है[3]।

इन दस गुणों की कल्पना यद्यपि दण्डी की अपनी नही यह तो भरत ने ही इनकी सख्या एवं स्वरूप का विवेचन कर दिया था किन्तु गुणों का रीति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य प्रथम बार दण्डी ने ही किया। गुण ही रीति के आधारभूत तत्त्व है, इस बात का विवेचन यही से प्रारम्भ हुआ।

---

१ अस्त्येनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तद् भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥ दण्डी० का० प्र० प०।

२. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥ काव्यदर्श, १।४१।

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः स्मृताः।
ऐषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौड़वर्त्मनि॥ का० १।४२

उपर्युक्त विवेचन से वैदर्भ शैली की सत्ता एवं उसके स्वरूप पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ा है किन्तु अभी तक रीति के स्वरूप एवं उसके मूल तत्त्वों की बात स्पष्ट नहीं हो पाई थी। इस कार्य को किया है 'रीति को ही काव्य की आत्मा' घोषित करने वाले आचार्य वामन ने। वस्तुत. शैली को प्रादेशिक सीमाओं से मुक्त करा कर शुद्ध साहित्यिक क्षेत्र में लाने का काम वामन के ही द्वारा हो पाया है। मूलत. 'विशिष्ट पदरचना' को ही 'रीति' मानते हुए भी उन्होंने इसके अन्तर्गत ही शब्द-सौन्दर्य, अर्थ-सौन्दर्य, एवं उक्ति-सौन्दर्य का भी सम्यक समावेश करने का यत्न किया है। अर्थात् जब वे '**विशिष्ट पदरचना रीतिः**' कहते है तो उनका अभिप्राय विशिष्ट से होता है गुण-सम्पन्न– 'विशेषो गुणात्मा' (१. २. ८) और गुण से अभिप्राय है 'काव्य-शोभा के करने वाले धर्म से' अर्थात् शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से। कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना का नाम ही रीति है। इसी को आचार्य आनन्द वर्धन ने '**संघटना**' का नाम दिया और विभेदक आधार समास को माना और राजशेखर ने आचार्य वामन के ही शब्दों को उलट पुलट कर इसे **वचन- विन्यास-क्रमो** रीतिः कह डाला है। आचार्य मम्मट ने वर्ण-संगुम्फन को रीति का आधार माना है। मम्मट के अनुसार भी वर्णो का सम्बन्ध गुणों से होने के कारण वृत्ति (रीति) का गुणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्यप्रकाशकार ने इन रीतियों को वृत्ति नाम दिया है— उपनागरिका, परुषा, कोमल। तथा लक्षण दिया है - **वृत्तिर्नियत-वर्णगतो रसविषयो व्यापारः** (का० प्र० ९)।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न आचार्यो ने रीति के स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया है।

अब हम अधिक विस्तार में न जाकर प्रथम रीति के मूल तत्त्वों तथा वैदर्भी रीति के स्वरूप पर कुछ विचार करने के उपरान्त उसके प्रकाश में कालिदास के वैदर्भ मार्ग का विवेचन करेंगे।

आचार्य दण्डी ने गुणों को ही रीति के मूल तत्त्व माना है। उनके विवेचन का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे श्लेष, समता, सुकुमारता और ओज को शब्द के आश्रित और प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता और समाधि को अर्थ के आश्रित

तथा माधुर्य को दोनों का आधार मानते है। इनके बाद आचार्य वामन ने भी गुणों को ही रीति के मूल तत्त्व माना है किन्तु रुद्रट ने समास को रीति का मूलतत्त्व माना जिसे किसी न किसी रूप में आनन्दवर्धन, राजशेखर और भोज भी मानते रहे। इसके उपरान्त आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने वर्णसंयोजना एवं वर्ण-गुम्फ को ही रीति का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। हम उपर्युक्त सभी तत्त्वों—गुण, समास, वर्ण गुम्फ—की पृष्ट भूमि पर ही कालिदास की रीति का विश्लेषण करेंगे।

वैदर्भी रीति के विषय में दण्डी के विचारो का विवेचन ऊपर हो ही चुका है। वामन ने उसे 'समग्रगुणा वैदर्भी' (१।२।११) कहा है। 'समग्र' का अर्थ है दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुण। वामन ने वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए कहा है— 'दोषों की मात्रा से रहित और समस्त गुणो से युक्त वीणा के समान मधुर लगने वाली वैदर्भी रीति मानी जाती है'[1]। और उस वैदर्भी की कविजन इस प्रकार प्रशसा करते है— सुकविरूप (योग्य) वक्ता, (सुन्दर वर्ण्यविषयरूप) अर्थ, और शब्दों पर अधिकार रहते हुए भी जिस (विशिष्ट रचना शैली) के विना वाणी का मधुरस स्रवित नहीं होता (वह ही वैदर्भी रीति है) अर्थात् सुवक्ता सुन्दर अर्थ और पर्याप्त शब्द-भण्डार के रहते हुए भी जिस विशिष्ट पद-रचना के बिना काव्य मे मधु-स्रवण नही हो सकता वही वैदर्भी रीति है[2]।

वैदर्भी के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यो ने रीति के आधारभूत तत्त्वों के आधार पर अपने-अपने लक्षण प्रस्तुत किए है। रुद्रट और आनन्दवर्धन ने वैदर्भी का मुख्य स्वरूप माना है समासों का न होना। राजशेखर तथा उसके कुछ अनुयायियो ने इसे 'योगवृत्ति माना। उनके अनुसार इसमें समास का अभाव और स्थानानुप्रास की स्थिति अपेक्षित है। अग्निपुराण ने इसका जो

१. अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

२. सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

आधार माना है उसके अनुसार इसमें 'मुक्तविग्रह' (समास का अभाव), 'नाति कोमल संदर्भ' (शब्दावली में अत्यन्त कोमलता का अभाव) 'औपचारिकता' (अलंकारों) की बहुलता का अभाव होना चाहिए[१]। इसका तात्पर्य है कि वैदर्भी रीति में भाषा न अत्यधिक अलंकृत हो और न अलंकार से सर्वथा विरहित हो। पदरचना न अत्यन्त कोमल हो और न जटिल समासयुक्त हो।

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने भी वैदर्भी के स्वरूप पर विशेष विवेचन किया है। मम्मट की उपनागरिका ही अन्य आचार्यों की वैदर्भी है। विश्वनाथ ने वैदर्भी का लक्षण करते हुए लिखा है—वैदर्भी के आधारभूत तत्त्व है माधुर्य-व्यञ्जक वर्ण, ललित पद-रचना, और समास का अभाव या अल्प समास[२]।

आधुनिक शैली तथा भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रयुक्त रीति को एक मानने के विषय में आधुनिक विद्वानों मे कुछ मतभेद है।

शैली और रीति

यद्यपि आचार्य कुन्तक ने रीति में व्यक्तितत्त्व को प्रमुख स्थान दिया है[३]। फिर भी अनेक आलोचकों का कहना है कि आधुनिक 'शैली' शब्द में जो 'शैली ही व्यक्ति है' (style is man) की प्रतिध्वनि पाई जाती है वह 'रीति' शब्द मे नही। डा० नगेन्द्र इससे आंशिक सहमति ही प्रकट करते हैं। उनके अनुसार जहाँ तक वस्तुरूप का सम्बन्ध है वहाँ रीति और शैली एक ही है। किन्तु 'व्यक्ति-तत्त्व' के विषय में 'रीति' 'शैली' से पूर्णतः मेल नहीं खाती। इसमें व्यक्ति तत्त्व को उतना महत्त्व नही मिल सका जितना कि शैली मे[४]। फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र में रीति और शैली का

---

१. उपचारैर्न बहुभिरुपचारैर्विवर्जिता।
नातिकोमल सन्दर्भा वैदर्भो मुक्तविग्रहा॥ अग्नि० ४।३।

२. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अपृत्तिर अल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥ सा० द० ६।२।

३. दण्डी—अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तद्-भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः॥ का० प्र० प०।

कुन्तक—न च विशिष्ट-रीति-युक्तेन काव्यकरणं···शक्यम् etc. व० जी०।

४. डा० नगेन्द्र—हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृति···भूमिका पृ० ५६।

इस प्रकार का भेद नहीं पाया जाता। दोनों का अन्तर्भाव एक के ही अन्तर्गत होता रहा है। यद्यपि उसमें वस्तु-तत्त्व की ही प्रधानता रही।

हम भारतीय 'रीति' शब्द तथा पाश्चात्य शैली (style) के बीच चाहे थोड़ी देर के लिए कुछ बाह्य अन्तर मान भी लें किन्तु मूलत: तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों के बीच कोई विभाजक रेखा नही खींची जा सकती है। एक के तत्त्व दूसरे के साथ घुले मिले से पाये जाते हैं। ग्रीक आचार्य अरस्तू ने शैली के जिन दो प्रमुख गुणों को बताया है उनमें से स्पष्टता का प्रसाद में था औचित्य का समावेश आनन्द-वर्धन के वक्तृगत एवं वस्तुगत औचित्य में तथा कुन्तक के औचित्य में हो जाता है। वक्ता और विषय की अनुकूलता हो तो औचित्य है।

इसी प्रकार अरस्तू ने शैली के जिन दोषों को गिनाया है वे भी हमारे काव्य शास्त्रीय दोषों के समकक्ष ही है, उसने शैली के निम्नलिखित चार दोष माने है—(१) समासों का अधिक प्रयोग (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग[1]। वैदर्भी रीति के अनुसार ये सभी उसके दोष माने जा सकते हैं।

रोम के आचार्य सिसरो ने भी उपयुक्त शब्द-चयन, स्पष्टता, पद-रचना, एवं वर्ण गुम्फ को शैली के आधारभूत तत्त्वों में गिनाया है। उपयुक्त शब्द-चयन से उसका अभिप्राय है साधारणतया प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग करना किन्तु शैली को उदात्त एवं रंजक रूप देने के लिए असामान्य शब्दो का भी प्रयोग उचित है।

स्पष्टता का अभिप्राय है—भाषा स्पष्ट, मुहावरेदार और चलती होनी चाहिए, पद-रचना से अभिप्राय है—चुने हुए शब्दों की रचना सामञ्जस्यपूर्ण होनी चाहिए। और वर्णगुम्फ का अर्थ है—स्वर और व्यञ्जनों की योजना श्रुतिकटु और कर्कश नही होनी चाहिए[2]।

१. हि० काव्यालकार भूमिका पृ० १०२।

२. वही पृ० १०४।

क्विन्टीनियन ने शैली के मूल तत्त्व माने है—१. शब्द-चयन, २. अलंकरण ३. (कलात्मक) पद-रचना।

विशेषकर 'पद-रचना' के बारे में इसके विचार बड़े ही सुन्दर है। पद-रचना मे नपे तुले शब्दों का प्रयोग हो जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सके। इसे ही वामन ने '**प्रयोजकमात्र पदपरिग्रह**, कहा है। उसका कहना है कि - "रचना का उद्देश्य केवल यह नही होना चाहिए कि उससे पाठक अथवा श्रोता को समझने में सरलता हो, वरन् यह होना चाहिए कि उसके लिए न समझना असम्भव हो जाए[1]।" इसके साथ ही पद-योजना कलात्मक भी होनी चाहिए। यही तो वह तत्त्व है जो कि काव्य को अन्य उक्तियों से भिन्नता प्रदान करता है।

रीतिसिद्धान्त वा रीति-परम्परा का विवेचन हमारा मुख्य लक्ष्य न होते हुए भी हमने उस पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की है। वह केवल इसीलिए कि उसके प्रकाश में हम कालिदास और उसकी वैदर्भी रीति का सम्यक् विश्लेषण कर सकें।

भारतीय आचार्यो की परम्परा के अनुसार वैदर्भी रीति ही काव्यशैली का आदर्शतम रूप है। रीतियों के स्वरूप का विवेचन कर चुकने के उपरान्त उनका तारतम्य प्रदर्शित करते हुए आचार्य वामन लिखते है—**तासां पूर्वा ग्राह्या गुण-साकल्यात्**' (१, २, १४) उनमें से प्रथम (अर्थात् वैदर्भीरीति) समस्त (अर्थात् दसों) गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है। आचार्य भामह ने भी सुन्दर काव्य के लिए जिन माधुर्य, प्रसाद, समासहीनता आदि गुणों को आवश्यक माना है उसका सम्बन्ध वैदर्भी रीति से ही हो सकता है[2]।

डा० नगेन्द्र ने वैदर्भी के दस शब्दगुणों एवं दस अर्थ गुणों को आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में इस प्रकार समाविष्ट किया है[3]।

---

१. वर्ण-योजना का चमत्कार—

१. वही पृ० ११७।

२. भामह—माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसाद चा सुमेधस.।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥ २।१।

३. हि० का० सू० वृ० भूमिका प० १८७–८८।

(क) झंकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)
(ख) औज्ज्वल्य (कान्ति)

२. शब्दगुम्फ का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति में)

३. स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कान्ति)

४ लय का चमत्कार (उदारता)

दस अर्थ गुणों में निम्नलिखित काव्यतत्त्व पाये जाते है।

१. अर्थप्रौढ़ि—अर्थात् समासः तथा व्यासशैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषण-प्रयोग आदि (ओज)

२. अर्थ वैमल्य—अन्यून-अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, अनुगुणत्व (प्रसाद)

३. उक्ति-वैचित्र्य (माधुर्य)

४, प्रक्रम (समता)

५. स्वाभाविकता तथा यथार्थता (अर्थव्यक्ति)

६. अग्राम्यत्व-अभद्र-अमंगल तथा अश्लील शब्दों का त्याग (औदार्य-सौकुमार्य)

७. अर्थ-गौरव (समाधि, श्लेष)

८, रस (कान्ति)

अब हम देख सकेंगे कि महाकवि कालिदास न केवल प्राचीन भारतीय रीति परम्परा के आधार पर ही अपितु आधुनिक शैलीगत तत्त्वों के आधार पर भी खरे उतरते है। आचार्य दण्डी ने इनकी वैदर्भी रीति की प्रशसा मे जो कुछ कहा है वह केवल अर्थवाद ही नहीं अपितु एक स्वीकृत तथ्य है। इस बात की पुष्टि स्वयं आचार्य वामन ने भी की है। उन्होंने वैदर्भी रीति की प्रशंसा करने के उपरान्त उसके लिये जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह कालिदास की अमर कृति शाकुन्तल से ही लिया गया है। शाकुन्तल के द्वितीय अक में शकुन्तला की रूपराशि पर मुग्ध दुष्यन्त मृगया से अपनी विरक्ति अभिव्यक्त करता हुआ अपने सेनापति से कह रहा है—

१. गाहन्तां महिषा निपान-सलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ २।६ ।

आचार्य विश्वेश्वर ने इस श्लोक में वामन द्वारा निर्धारित दस शब्दगुणों एवं दस अर्थ गुणों का समावेश इस प्रकार दिखलाया है[1]। 'छाया बद्धकदम्बकम्' और 'शिथिलज्याबन्धम्' इन पदों में बन्ध के गाढ होने से 'बन्धगाढत्व लक्षण' (१) 'ओज' गुण विद्यमान है। 'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं' इसमें बन्ध के गाढ़त्व एवं शैथिल्य के कारण (२) 'प्रसाद' है (शैथिल्यं प्रसादः) 'महिषा निपानसलिलं' में कोमल रचना के कारण (३) श्लेष है (मसृणत्व श्लेषः)। 'गाहन्तां महिषाः' इस पद्य में जिस क्रम से पद्य का प्रारम्भ हुआ है उसी शैली से पद्य की समाप्ति भी हुई है इसलिए 'मार्गाभेद' रूप समता है (मार्गाभेदः समता) 'गाहन्तां' में आरोह और 'महिषाः' में एक प्रकार का अवरोह होने से 'आरोहावरोहक्रम' रूप (५) समाधि' गुण पाया जाता है 'आरोहावरोहक्रमः समाधि')। 'शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्' इसमें 'पृथक् पदत्व' से (६) माधुर्य गुण (पृथक् पदत्वं' माधुर्यम् तथा 'रोमन्थमभ्यस्यतु' इसमें कोमल बन्ध के कारण सौकुमार्य (अजरठत्वं सौकुमार्यम्), 'शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' में बन्ध के विकटत्व के कारण (८) उदारता' (विकटत्वमुदारता) पदों के उज्ज्वल होने से (९) कान्ति (औज्ज्वल्यं कान्तिः) और पदों के स्पष्ट होने से (१०) अर्थव्यक्ति गुण पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि कालिदास के इस अकेले पद्य में समस्तगुणा वैदर्भी का श्रेष्ठतम उदाहरण पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त वामन ने 'श्लेषः' के उदाहरण में भी कालिदास के कुमारसम्भव के प्रथम पद्य को उद्धृत किया है[2]। इसकी प्रथम पंक्ति में पदों के पृथक्-पृथक् होने पर भी वे एक पद

---

१. हि० का० सू० वृ० पृ० २३।

२. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा।
हिमालयो नाम नगाधिराजः।

की भाँति भासित होने लगते है। यही 'मसृणत्व' है और इसे ही श्लेष कहा जाता है। कालिदास के इसी श्लोक का सन्दर्भ पुनः 'माधुर्य' (पृथक् पदत्वं माधुर्यम्) के उदाहरणरूप में भी दिया गया है। इसी प्रकार 'सौकुमार्य' के उदाहरण के लिए भी इसी ओर संकेत किया गया है। इसी की अन्तिम पक्ति में प्रयुक्त **'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'** में नवीन कल्पना होने के कारण इसमें 'कान्ति' गुण भी पाया जाता है।

वामन ने वैदर्भी रीति की प्रशंसा में अपने पूर्ववर्ती आलोचकों के जिन श्लोकों को उदधृत किया है उनको देखने से भी ऐसा ही लगता है मानों कि कालिदास की कविता को सामने रखकर ही ये शब्द कहे गये है। एक पद्य है—

> **किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी**
> **यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति।**
> **आनन्दयत्यथ च कर्णपथप्रयाता,**
> **चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा॥**

किन्तु वह (वैदर्भी रीतिमयी) कुछ और ही (प्रकार की लोकोत्तर पदरचना है जिसमें (निबद्ध होने पर) अकिचन (तुच्छ या असत सी वस्तु भी कुछ (अलौकिक चमत्कारमय) सी प्रतीत होती है। और सहृदयो के कर्णगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करतो है मानों (कही से) अमृत की वर्षा हो रही हो। इसी प्रकार का एक और पद्य है—

> **वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-**
> **र्वितथमवितथत्व यत्र वस्तु प्रयाति।**
> **उदयति हि स तादृक क्वापि वैदर्भीरीतौ**
> **सहृदयहृदयानां रञ्जक कोऽपि पाकः॥**

अर्थात "जिस (वैदर्भी रीति) को (काव्य रूप) वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौन्दर्य (वाचकश्री) थिरकने लगता है, जहाँ (वैदर्भी रीति मे पहुँच कर) नीरस (वितथ) वस्तु भी सरस (अवितथ) हो उठती है, सहृदयो के हृदयो को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में ही कहीं उदय हो जाता है[१]।

---

१. हि० का० सू० वृ० पृ० ३२–३३।

वैदर्भी रीति के विषय में अभिव्यक्त अलोचकों के इन विचारों की समता कालिदास की काव्य-कला से करने पर निः-सन्देह कहना पड़ता है कि कालिदास की कला का चमत्कार वैदर्भी रीति मे है और वैदर्भी रीति को उपर्युक्त गौरव मिलने का रहस्य कालिदास की काव्यकला में है। एक दूसरे से पूर्णतः गौरवान्वित हुई यही है कहना पड़ेगा।

यों तो कालिदास की कृतियो में पदे-पदे 'माधुर्य' 'ओज' और 'प्रसाद' की त्रिवेणी लहराती दृष्टि गोचर होती है, कोई भी पद्य इससे विरहित नही किन्तु सभी पर यहाँ प्रकाश डाल सकना हमारे लिए सम्भव न हो सकेगा। अतः यत्र तत्र से कुछ अश उठा कर बानगी के रूप में उन्हें ही कालिदास की शैली और वैदर्भी रीति के आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकेगा।

सर्वप्रथम हम उनके मेघदूत से ही कुछ अंश इस विषय में प्रस्तुत कराना चाहेगें। यों तो मेघदूत का प्रत्येक पद्य माधुर्य, ओज और प्रसाद की फल्गुधारा से आप्लावित है किन्तु फिर भी हम यहाँ कुछ थोड़ा सा ही रूप प्रस्तुत कर सकेंगे। मेघ की भाषा एवं भावो की सुकुमारता विश्व-विश्रुत है। उसके लालित्य पर जितना भी कहा जाय थोड़ा है। इसकी कविता में न भाषा का आडम्बर है और न अलंकारों का बोझ, पौर्वात्य या पाश्चात्य किसी भी साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर कसिये शैली की दृष्टि से खरा उतरेगा। निम्नलिखित एक ही पद्य में कैसा सुन्दर समावेश किया गया है श्लेष, सौकुमार्य, प्रसाद, माधुर्य और कान्ति आदि गुणों का। कितने सरल, स्पष्ट एवं सुकुमार शब्दावली में खींच दिया है विरह विधुरा यक्ष पत्नी का चित्र। और इसी से किस प्रकार द्रवित कर डालता है सहृदय के हृदय को।

रस और वैदर्भी रीति
(1) विप्रलम्भ

यक्ष मेघ से अपनी पत्नी के सम्भावित रूप एवं चेष्टाओं के बारे में बतलाता हुआ कह रहा है। **'उत्सङ्गेवामलिनवसने०'**[1]

---

१. उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणा
मद्गोत्राङ्कं विरचितप दगेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥

इत्यादि इस समस्त श्लोक में न कहीं दीर्घ समास है, न अप्रचलित शब्द है, न श्रुतिकटु वर्ण-गुम्फ है, और न क्लष्ट किल्पना। यहाँ तक कि बिना किसी सादृश्यमूलक अलंकारयोजना के ही विरह विधुरा यक्ष-पत्नी का इतना जीवन्त एवं कारुणिक चित्र प्रस्तुत कर दिया गया है। सच तो यह है कि जितनी सुकुमार यक्ष-कान्ता होगी उससे भी अधिक सुकुमार है कालिदास के शब्द और उससे भी अधिक सुकुमार है इस पद्य में अभिव्यक्त अर्थ। अर्थ-वैमल्य इतना कि प्रत्येक शब्द के साथ-साथ उभरता जाता है वियोगिनी का वह चित्र जिसके हमारे मानस पटल पर प्रतिबिम्बित होते ही हमारी आँखे भी उसी के साथ उसकी सहानुभूति में गीली हो जाती है। यह चित्र स्वयं मे इतना स्पष्ट हो उठता है कि कोई भी चित्रकार तूलिका लेकर इसे फलक पर अंकित कर सकता है।

अभी उपर्युक्त पद्य मे हमने वैदर्भी के प्रमुख तत्त्व माधुर्य और प्रसाद के दर्शन किये, अब एक और पद्य मे उनके शब्द गुम्फ ओज, प्रसाद, समाधि, समता, उदारता, श्लेष, आदि सभी का एकत्र चमत्कार देखिएः—

तं चेद् वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः
अर्हस्येनां शमयितुमलं वारिधारा सहस्रै-
रापन्नार्तिं प्रशमनफला संपदो ह्युत्तमानाम् ॥

इसमें **'सरलस्कन्ध'** **'क्षपितचमरीबालभारः'** **'आपन्नार्तिं-प्रशमनफला'** **बन्धवैकट्य लक्षणः** ओज की घटा लहराती है तो **'आपन्नार्तिप्रशमनफला. संपद'** में गाढ़त्व और शैथिल्य के कारण प्रसाद भी पाया जाता है। प्रथम तीन पंक्तियो मे बराबर आरोह और अवरोह के कारण 'समाधि' भी है, आरम्भ और समाप्ति के समान होने से समता' **स्कन्धसंघट्टजन्मा'** में बन्ध के विकटत्व के कारण 'उदारता' **'सरति सरल'** आदि पदों में मसृणता के कारण श्लेष, आदि सभी गुणो का समावेश हो गया है। राज-शेखर के अनुसार 'अनुप्रास' भी वैदर्भी रीति के आधारभूत तत्त्वों में माना गया है। उपर्युक्त पद्य में **'सरति सरल-स्कन्ध-सघट्ट'** में 'स' का बड़ा ही सुन्दर अनुप्रास बन गया है। सभिप्राय शब्दों की

झंकार भी प्रथम पंक्ति में अर्थ-वैमल्य का रूप प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार अन्तिम पक्ति का अर्थ-गाम्भीर्य आदि सभी मिलकर इसे कालिदास की वैदर्भी शैली का उत्तम स्वरूप बना डालते हैं।

इसी प्रकार निम्नलिलित पद्यमें शब्दगुम्फ, अर्थ-प्रौढ़ि, उक्ति-वैचित्र्य, झकार और अर्थगौरव की जो छटा पाई जाती है वह अनूठी है क्या व्यञ्जना तथा क्या अलकार-प्रयोग सभी दृष्टियों से कालिदास की शैलो की कलात्मकता का ही प्रतिनिधित्व करतो है[1]।

सहृदय आलोचकों ने इस पद्य में पाये जाने वाले नाद-सौन्दर्य के लिये इसकी विशेष प्रशसा की है। इसमें प्रत्येक पद भावानुरूप ही अनुनादित होता चलता है। जिससे श्लेष, सौकुमार्य, उदारता आदि का सुन्दर रूप सामने आ जाता है[2]।

कालिदास की कविता में यत्र तत्र ओजः प्रधान गौड़ी रीति के भी दर्शन हो जाते है पर यह उनकी प्रिय शैली नही है, ओज के एक दो उदाहरण और देखिए—

कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग में तप में विघ्न होने से कुद्ध शंकर का वर्णन करते हुए कहते है—

तपः परामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदार्चि सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किलनिष्पपात॥ ३।७१।

यहां पर द्ध. ष्प्र, क्ष्णः आदि कठोरता दर्शनीय है। ऐसी ही मालविकाग्निमित्र के ५ वे अंक में डाकुओं के आक्रमण के वर्णन में भी—

तूणीरपटपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बि शिखिबर्हकलापधारि।
कोदण्डपणिविनदप्रतिरोधकानामापातदुष्प्र सहमाविरभूदनीकम्॥
५।१०।

कालिदास कितने थोड़े तथा साभिप्राय शब्दों के द्वारा कितनी स्पष्टता एवं स्वाभाविकता के साथ किसी चित्र को पूरी तरह

---

१. तस्माद् गच्छेरनुकनखल शैलराजावतीर्णां
जह्नो कन्या सगर-तनय-स्वर्ग-सोपानपक्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रकुटिरचनां या, विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥

२. मायूरी मदयति मार्जना मनांसि (माल० १।२०। मकारानुवृति मे मृदंग की तालध्वनिका राम अनुकरण।

उभार सकते हैं इसका एक और उदाहरण देखिए मेघदूत से ही। यक्ष अपनी पत्नो के रूप का वर्णन करते हुए मेघ से कह रहा है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभि ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्यैव धातुः ।।

वस्तुतः यह कल्पना भी दूरारोहिणी लगती है कि इतने सरल शब्दों में संसार की श्रेष्ठतम नारीकल्पना का चित्र खींचा जा सकता है। पर महाकवि ने 'वैदर्भ मार्ग' से यह कर दिखाया है। कालिदास के सन्दर्भों को देखकर किसी ने कहा होगा कि इस वैदर्भी में कुछ नही भीब हुत कुछ बन जाता है—(**यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति**)। साधारण से प्रसगों पर सहृदयों के हृदयों को अमृत से सिंचित करने की क्षमता अथवा उन्हें किसी अनिर्वचनीय शब्दपाक का आस्वादन करने की क्षमता जो वैदर्भी रीति ने पाई है वह इसी रससिद्ध कवीश्वर की देन कही जायेगी[1]। इनकी प्रथम काव्यकृति में ही एक एक पद्य ऐसा है जिसमें कि वैदर्भी के समस्त गुणों का एक एक करके विश्लेषण किया जा सकता है। और यही बात कही जा सकती है उनकी अन्य कृतियों के बारे में भी। विभिन्न आचार्यों के द्वारा वैदर्भी के विषय में निर्धारित गुण, अलंकार, समास, वर्ण-गुम्फ आदि किसी भी कसौटी पर कस लीजिए, उनकी कविता खरी ही उतरेगी। यक्ष-पप्नी के उपर्युक्त शब्द-चित्र को ही ले लीजिए इन सभी रूपों मे वैदर्भी रीति का उत्कृष्टतम रूप प्रस्तुत करता है। अग्निपुराणकार की परिभाषा तो इस पर शत प्रतिशत ठीक बैठती है[2]।

इसी भांति 'रघुवंश' में भी महाकवि की वैदर्भी शैली के उत्कृष्ट रूप देखे जा सकते है। 'ओज' और 'प्रसाद' के एकत्र साम्य के उदाहरण स्वरूप आचार्य वामन ने रघुवंश के निम्न श्लोक को उद्धृत किया है—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपति-ककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।

---

१. श्लोक-सन्दर्भ पिछले पृष्ठो पर देखिए।
२. श्लोक सन्दर्भ ··· ··· ... ... ।

इसमें विषयव्यावृत्तात्मा' में समास, वर्ण-संयोग, दीर्घाक्षर आदि के कारण गाढबन्धत्व लक्षण 'ओज' तथा अन्यत्र शिथिलबन्ध के कारण प्रसाद गुण पाया जाता है।

रस और रीति (ii) करुण

हम जानते हैं कि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में विशेषकर 'करुण' और शृङ्गार' का चित्रण किया है। शृङ्गार में भी 'विप्रलम्भ' को विशेष स्थान मिला है। ये दोनों ही रस ऐसे है जहाँ पुरुष वर्ण, संयुक्ताक्षर, दीर्घसमास एव क्लिष्ट कल्पना के लिए कोई स्थान नही होता। यहां तक कि ये तोस्वयं में इतने सुकुमार होते हैं कि इनमे अलंकारों को सम्भालने की भी शक्ति नही होती। ये प्रखर बुद्धि की नही अपितु द्रवित हृदय की उपज होते है। इसमें पाठक के द्रवीभूत हृदय में अभिलषित चित्र अकित करने के लिए आवश्यकता होती है उच्च कोटि के नाद-सौन्दर्य की एवं सुकुमार पद-योजना की। 'भस्मावशेष मदन' की मृत्यु पर विलाप करती हुई रति को देखिए, कैसे छोटे छोटे अस्त व्यस्त से, टूटे-फूटे वाक्यो द्वारा अपने हृदय के अधैर्य एवं मानसिक अस्तव्यस्ता को अभिव्यक्त कर रही है[1]। 'हे नाथ ! आपने कभी मुझे नाराज नहीं किया, मैने भी कभी आपके प्रतिकूल कोई आचरण नही किया, फिर क्यों कर आप बिना बात के ही इस बिलखती रति को दर्शन नहीं देते। उस वियोगिनी के लिए भला कहाँ समय है अपनी उक्तियो को शब्द जाल से एव कल्पना वैचित्र्य से सजाने का। इसी का तो नाम है 'वक्तृगत औचित्य'। एक ही पद्य मे तीन-तीन, चार-चार क्रियाओ की स्थिति क्या बतलाती है ? कालिदास का शब्द-दारिद्रय या उसकी शैली की विशिष्टता ? और देखिए—'च' 'एव' जैसे पद भी क्या कुछ व्यञ्जित करते है।

इतनी ही सरल, स्पष्ट एवं असमस्त पदावली मे एक उक्ति और देखिए[2]। हे प्राणनाथ ! तुम कहा करते थे कि तू मेरे हृदय में

---

१. कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शन विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥ कुमार० ४।७।

२. हृदये वससीति मत्प्रिय यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपद न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ ४।६।

रहती है ; मैं समझती हूँ कि ये मीठी मीठी बातें सब झूठ थी, (आप मुझे बहलाते थे) यदि यह बात केवल मेरा मन बहलाने के लिए आप न कहते तो आज आप के राख ढेर हो जाने पर भी रति अक्षत ही रहती ?

इससे अलंकार और क्लिष्ट कल्पना तो दूर रही, एक समस्त पद तक नही है। चारों चरणों में क्रियापदो की स्थिति अर्थ को सहज बोधगम्य बनाने के साथ साथ वक्ता की मानसिक स्थिति का भी सुन्दर परिचय दे रही है।

वस्तुतः यह समस्त प्रकरण कालिदास की वैदर्भी शैली का ऐसा साङ्गोपाङ्ग रूप प्रस्तुत करता है कि हम उसके एक और पद्य को उद्धृत करने के लोभ का सवरण नही कर सकते। काम-सखा वसन्त से अपने 'मरण-निश्चय' के में बारे में बतलाती हुई रती कह रही है'— 'चांदनी चांद के साथ चली जाती है। बिजली मेघ के साथ ही विलीन हो जाती है, पतिव्रता स्त्रियां पति के साथ ही चली जाती हैं यह बात तो अचेतन जगत् में भी सिद्ध हैं'[1]।

रस और रीति (iii) सम्भोग श्रृङ्गार

करुण के परिपाक के लिए कालिदास ने वैदर्भी शैली का कैसा सुन्दर प्रयोग किया है इस विषय में और अधिक उदाहरणों की योजना न करके अब हम श्रृङ्गार के विषय में कुछ और उदाहरण प्रस्तुत करेगे। विप्रलम्भ श्रृङ्गार के कुछ रूप पर हम मेघदूत के प्रसंग में कुछ कह ही चुके हैं। अब हम सम्भोग श्रृङ्गार के चित्रण में कालिदास ने वैदर्भी का कैसा सुन्दर प्रयोग किया है इस पर भी कुछ विचार करेगे। पार्वती के यौवन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—'स्तन भारसे कुछ झुकी हुई सी, प्रातः कालीन सूर्य की किरणों के समान लाल रगों के वस्त्रों से सुसज्जित पार्वती ऐसी लग रही थी जैसे कि फूलों के भार से झुक पड़ने वाली लाल लाल कोपलों वाली कोई लता ही हो[2]।'

१. शशिना सह याति कौमुदी सहमेघेनी तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा. इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि।। ४।३३।

२. आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव।। ३।५४।

ओज प्रसाद और माधुर्य का कैसा सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है इस पद्य की पद योजना में इसे पृथक् पृथक् कहने की आवश्यकता नही। 'वासो वसाना' 'पल्लविनी लता' में भी न केवल ललित अनुप्रास योजना है अपितु शब्दझकार की योजना भी उतनी ही हृदय हारिणी है। अलकार-योजना भी कितनी सहज तथा कितनी औचित्य-पूर्ण है ? उपमा से अभिव्यक्त होने वाली व्यञ्जना तो और भी अधिक सुकुमार है।

इसी प्रकार अष्टम सर्ग में 'शंकर पार्वति' के रति-वर्णन-प्रसंग मे लजीली नववधू पार्वती का वर्णन भी उसी के समान लजीला, उन्मादक और "पिनाकिनः रतये' है। जिस प्रकार उसकी प्रत्येक छोटी सेछोटी चेष्टा स्वयं में पूर्ण है उसी प्रकार उसको अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली भी स्वयं में पूर्ण है। पार्वती की शृङ्गार चेष्टाओं से जो आनन्द शंकर को प्राप्त होता है उससे भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है सहृदय पाठक को उनकी पदचेष्टा से[१]।

नाद सौन्दर्य एव सुकुमार पद विन्यास

राजा दशरथ के मृगयावर्णनप्रसंग में किया गया रघुवंश का वसन्त-वर्णन कालिदास के नाद-सौन्दर्य-एवं सुकुमार-पद-विन्यास का एक उत्कृष्टतम नमूना है। पवन-झकोरों से थिरकती हुई लताओं का नर्तकियों के रूप में वर्णन करते समय किस प्रकार सुकुमार वर्ण-विन्यास का आयोजन किया गया है[२] 'वनों में लताएँ नाच रही है, भोंरों की कानों को प्यारी लगने वाली गुन गुन ही उनका मधुर संगीत है। विकसित कुसुमकलिकाएँ ही उनके चमकते हुए दांत है, वायु के मन्द झकोरों से हिलते हुए पल्लव ही उनके हाथ हैं जिनसे कि मानों वे विभिन्न प्रकार के हाव भाव व्यक्त कर रही है[३]"। इसी प्रकार का वर्णन अन्यत्र भी प्राप्त हो जाता है।

---

१ व्याहृता प्रतिवचो न सदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितां शुका।
सेवते स्म शयन पराङ्मुखी सा तथापि रतेय पिनाकिनः ॥८ २॥

२ श्रुति सुखभ्रमरस्वनगीतय कुसुमकोमलदन्तरुचो वभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥९, ५३॥

३. शुशिभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥९, ३७॥

कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास की कविता में भाव और भाषा दोनों की ही ऐसी अपूर्व कोमलता है कि काव्यामृत सहज एव अनायास रूप में सहृदयों के लिये आस्वाद्य हो जाता है। इसके लिए उन्हें किसी प्रकार का प्रयत्न करना पड़ा हो ऐसा नही कहा जा सकता। वरन् सच तो यह है कि भाषा और भाव उनके कवि-हृदय से अनायास ही फूट पड़ते हैं। इसलिए उन दोनों में सामञ्जस्य बराबर बना रहता है। जहाँ भावों की कोमलता है वहाँ कोमलकान्त पदावली स्वयं ही उनकी लेखनी से टपक पड़ती है। किन्तु इसके विपरीत जहाँ भाव की रौद्रता है वहाँ भाषा भी अपना ऐसा ही कठोर रूप धारण कर लेती है। 'मदन-दाह, का दृश्य कुछ ऐसा ही है। कालिदास की भाषा का ओजस्वी रूप भी अपनी विशिष्टता लिए रहता है। तपस्या में विघ्न डालने के कारण भगवान् शंकर को कामदेव पर इतना क्रोध आया कि उनकी भौहे चढ गईं और इतनी विकराल कि उनके बीच मे स्थित नेत्र की ओर देखा भी नही जा सकता था, इतने में ही आग की ज्वालाओं को उगलता हुआ उनका वह तृतीय नेत्र खुल पडा। इसे देखकर आकाश में सारे ही देवता घबरा कर एक स्वर से चिल्ला उठे—हे प्रभो ! अपने क्रोध को रोकिए, रोकिए: पर, इतनी देर मे तो कामदेव भगवान् शंकर के नेत्र से निकली हुई ज्वाला में जलकर राख का ढेर बन चुका था, ॥ कैसी कराल कल्पना है ! और उसी के साथ कैसा विकट पद-बन्ध है !! प्रथम श्लोक में शब्दों के साथ ही विकराल भ्रूभङ्ग का और लपलपाती हुई अग्नि ज्वालाओं का चित्र सा खिच जाता है। इसके बाद देवताओं की 'रुको, रुको' की ध्वनि भी इतनी ही तीव्र सुनाई देती है पर अन्ततः कामदेव की राख की ढेरी के समान ही भाषा भी उस ऊर्जस्वित् रूप को छोड़कर सामान्य प्रवाह में आ जाती है'।

भावानुरूप भाषा

जब हम एक ओर **संचारिणी पल्लविनी लतेव**, '**किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः**' '**मदकलोदकलोलविहङ्गमा**' जैसी ललित

---

१ तपःपरामर्शविवृद्धमन्यो भ्रूभङ्ग-दुष्प्रेक्ष्य-मुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानु किल निष्पपात ॥३. ७१॥
क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति यावद्गिरः रवे महता चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३.७२॥

पदावली को देखने हैं और दूसरी ओर 'परामर्श-विवृद्धमन्गोः भूभङ्ग-दुष्प्रेक्ष्यमुखस्य' 'स्फुरन्नुदर्चि' 'वह्निर्भवेनञ्जन्मा' जैसी कठोर एव जटिल पदशय्या को देखते है तो हमारे सामने कालिदास की शैली का 'औचित्य' स्पष्ट हो जाता है। दोनों ही अपने अपने स्थान पर विषय, वक्ता और रसाभिव्यक्ति के सर्वथा अनुकुल है।

किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करने में कोई विचिकित्सा नहीं होनी चाहिए कि कालिदास की प्रकृति जितनी शृङ्गार रस तथा वैदर्भी रीति के वर्णन में रमती है और उनमें उसे जितनी सफलता मिली है उतनी अन्य रसों एवं रीतियों में नही। अपनी इस दुर्बलता के कारण ही रघुवश के सप्तम सर्ग मे इन्दुमती के विवाह के अनन्तर होने वाले राजाओं के युद्ध वर्णन (में ७.३५-७.६५) वीर और रौद्र रसों का परिपाक नही कर पाये। इन रसों के लिए अनुकूल गौड शैली पर पूर्ण अधिकार ने होने के कारण इस वर्णन में इन्होंने जिस ललित शब्दावली का प्रयोग किया है उससे इन रसों की पुष्टि में बाधा पडी है। कुछ थोड़े से उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी युद्ध का वर्णन देखिए—

वैदर्भी का अस्थान--प्रयोग

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीर जन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः॥ ७।४२

सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे॥ ७।४३

उपर्युक्त श्लोकों में गौड़ी के निकटबन्ध के अभाव में वीर अपने रूप में सामने आ ही नही सका है। निःसन्देह इस विषय में वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण तथा भवभूति कालिदास से बहुत आगे पाये जाते हैं। यही शिथिलता रह गई है उनके रौद्र एवं बीभत्स मे भी। इसी प्रसंग मे युद्ध भूमिगत बीभत्स की झांकी प्रस्तुत करने की योजना की गई है किन्तु तदनुकूल शब्द-गुम्फ के अथच शैली के अभाव में अभिप्रेत रसोद्रेक हो नहीं पाया है उदारणार्थ केवल दो श्लोक प्रस्तुत है—

शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढया च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पान-भूमिः॥
७।४९॥

'वह युद्ध स्थल महाकाल के मदिरालय सा जान पड़ता था, इसमें बाणों से छिन्न शिर ही मानो फल है, उलट कर पड़े हुए कुंड (शिरस्त्राण) ही मानो पानपात्र (चषक) हो और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा हो।'

'एक स्थान पर गिद्ध आदि पक्षियों के द्वारा नोचा हुआ किसी योद्धा की बाँह का टुकड़ा पड़ा था। माँस के लोभ से उसे कोई सियारिन खीच कर ले गई। पर ज्यों उसने खाने के लिए उसे मुँह में लिया उसमे बँधे हुए भुजबन्ध की नोक से उसका तालू छिद गया और वह उसे वही फैंक कर चली गई'[1]।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि '**वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यत**' कहने वाले आलोचक ने उनके ग्रन्थो का पर्यालोचन करने के उपरान्त ही ऐसी नपी तुली बात कह डाली। यह न तो अर्थवाद ही था और न बिना सोचे समझे कही गई बात। हम देख ही चुके है कि बैदर्भी के उपयुक्त स्थलों पर उन्होने अपनी प्रतिभा का कैसा चमत्कार दिखाया है और गोड़ी के प्रयोग में वे कितने असफल रहे है।

दृश्य-काव्य और वैदर्भी

वैदर्भी शैली की जितनी उपयुक्तता काव्य के लिए मानी जाती है उससे भी कहीं अधिक अनिवार्यता है नाटकों के लिए। कालिदास ने अपने नाटको में इसे पूरी तरह फलने फूलने का अवसर दिया है। इस दृष्टि से कालिदास भास को छोड़ कर अन्य सभी संस्कृत नाटककारों से कई कदम आगे है। दृश्य काव्य के लिए रचना के जिन गुणों की आवश्यकता होती है वे सभी कालिदास की शैली में पाये जाते है। सरल एव सरस शब्दावली के साथ जिन छोटे-छोटे वाक्यों की योजना कालिदास ने अपने नाटकों में की है उससे साधारण कोटि का दर्शक भी सहज ही अर्थ बोध एव रसास्वादन कर सकता है। आश्रमवासिनी शकुन्तला के जिस अलौकिक एव अछूते यौवन का उन्होंने वर्णन किया वह वास्तव में अपनी समता नही रखता[2]।

---

१. उपान्तयोर्निष्कुषितं विहगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार॥७.५०॥

२, अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै
अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्ड पुण्यानां फलमिह च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि.॥

वर्णन के लिए अपनाये गये शब्दो में एक भी शब्द समस्त नहीं और न कोई श्रुतिकटु शब्द ही आने पाया है । अर्थ वैमल्य इतना कि पढ़ते पढ़ते यह सुनते सुनते शकुन्तला की वह अलौकिक रूपराशि आंखों के सामने खड़ी सी हो जाती है।

यों शाकुन्तल के गद्य और पद्य की प्रत्येक पंक्ति कालिदास की वैदर्भी शैली का सुन्दरतम नमूना उपस्थित करती है। कही से भी, कोई भी पंक्ति या पद्य इसके लिए प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु हम अब इस विषय में अधिक विस्तार में न जाकर केवल एक स्थल की शाकुन्तल से ही और प्रस्तुत करेगे। शकुन्तला को बाधा पहुँचाने वाले भ्रमर को लक्ष्य करके दुष्यन्त कह रहा है। 'अरे भ्रमर ! तुम वस्तुत: बड़े भागवान् हो, हम तो यों ही वास्तविकता का पता लगाने के चक्कर में ही पड़े रहे और तुम उस चञ्चल-नेत्रों वाली तथा काँपती हुई बाला को बार बार छुए जा रहे हो, इतना ही नही किसी भेदिए की भाँति उसके कान के पास जाकर ऐसे गुन गुना रहे हो जैसे कि कोई भेदभरी बात कह रहे हो। वह बार बार हाथ हिला हिला कर तुम्हें बरज रही है किन्तु तुम उसके रसीले अधर को पिये जा रहे हो'[१]।

शास्त्रीय दृष्टि से कालिदास की वैदर्भी शैली पर ऊपर थोड़ा बहुत विचार हो चुका है। अब हम कालिदास की काव्य-शैली की दृष्टि से साधारणतया इस पर कुछ विचार करेगे। हम जानते है कि लक्ष्य ग्रन्थों के बन जाने के बाद ही लक्षण ग्रन्थ बना करते है, या यों कह सकते है लक्ष्य के लक्षण बना करते है। काव्य-शैलियों के विषय में पुरातन या आधुनिक, पौर्वात्य या पाश्चात्य आचार्यो ने जो भी गुण-दोष बताये हैं वे अपने पूर्ववर्ती महाकवियों की काव्य कला को देखकर ही स्थिर किये है। उच्च कोटि के साहित्यकारो की शैलियों सभी कालों तथा सभी देशो के लिए हुआ करती हैं। वे प्रकाश-स्तम्भ की भाँति सदा

भारतीय काव्य-शैली के प्रतिमान को स्थापना

---

१. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमती
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचर. ।
करौ व्याधुन्वन्त्या : पिबसि रतिसर्वस्वमधर
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्व खलु कृती ॥१.२२॥

स्थिर रहती है, समय की झंझा या तूफानों का उन पर कोई असर नहीं होता। लक्षण के आधार पर लक्ष्य की स्थापना करने वाले साहित्यकार थोड़े दिनों के लिए भले ही वाहवाही लूट लें किन्तु सदा के लिए कोई मानदण्ड स्थापित नहीं कर सकते। हमारे संस्कृत साहित्य में ही हम देखते हैं कि बाण और सुबन्धु अपने युग की गद्य शैली (गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति) से ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने सस्कृत गद्य का जटिलतम बाँध दिया। फलत अपने युग में तो इस शैली के लिए सम्मान पा गये, किन्तु साहित्यिक शैली के रूप में कोई चिर स्थायी प्रभाव न छोड़ सके।

कालिदास इस प्रकार के प्रभावों से सर्वदा ऊपर रहे। उनसे पूर्व शैली का कोई रूप स्थिर न था। वैदर्भ नाम की कोई शैली भी न थी। उनकी इस शैली की प्रशंसा करने वाले लोग ईसा की छठी शताब्दि से मिलने लगते है। इसलिए कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि कालिदास की शैली में वैदर्भी शैली का उत्कृष्टतम रूप पाया जाता है किन्तु उनकी शैली वैदर्भी की दासी नहीं, नहीं उन्होंने वैदर्भी शैली के उन आदर्शों को सामने रख कर काव्य-रचना की जिनको कि बाद के आचार्यों ने वैदर्भी के लिए आवश्यक माना है।

कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास के काव्यों में न केवल पौर्वात्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शैलियों के विशिष्ट गुण ही प्राप्त होते है अपितु अनेक ग्रीक और पाश्चात्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणों का भी सुन्दर समावेश पाया जाता है। यों तो हम पीछे दिखा ही चुके हैं कि आधुनिक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न शैलीगत गुणों का समावेश हमारे साहित्य शास्त्रों में प्रतिप्रादित दश गुणों में हो जाता है। फिर भी हम कालिदास की शैली में अनेक ऐसे रूप पाते हैं जिन्हें कि साहित्यिक शैलियों के आधुनिकतम रूपों में समाविष्ट किया जा सकता है। बाद में आकर काव्यशास्त्रकारों की कारा में पड़कर रीति चाहे बँध गई हो किन्तु कालिदास के सामने उसका ऐसा रूप नहीं था यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है। कहा जाता है कि "सामान्य रूप से वर्तमान युग की कला में रीति की अपेक्षा अभिव्यजना का हीं प्राधान्य रहा है[1]"। कालिदास की भाषा में जो अभिव्यञ्जना

शैली की सर्वाङ्गीणता

1. डा० नगेन्द्र हि० का० सू० पृ० १७७

है वह किसी से छिपी हुई नहीं। वहां रीति भी है और अभिव्यञ्जना भी। इतना ही नहीं इससे भी अधिक बहुत कुछ जो जो-कुछ उसमें खोजना चाहता है वह उसे उसमें मिल जाता है। क्योंकि उन्होंने किसी युग-विशेष वा आचार्य-विशेष को सामने रख कर काव्य-रचना नहीं की। सरस्वती के वरद पुत्र की वाणी, वाणी के समस्त रूपों को साथ लेकर अवतरित हुई है। यह कोरा अर्थवाद नही तथ्य है।

डा० नगेन्द्र ने वामन के हिन्दी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की भूमिका में व्यौरेवार ग्रीक तथा पाश्चात्य आचार्यों के काव्य-शास्त्रों में प्रतिपादित रीति-सिद्धान्तो का ऐतिहासिक रूप प्रस्तुत करने के उपरान्त कहा है— यूरोप मे, सार रूप मे, शैली का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है— व्यक्ति-वैशिष्टच (पर्सनल इडियोसिक्रेन्सी) के रूप में, अभिव्यञ्जना-रीति (टेकनीक आफ एक्सप्रेशन) के रूप मे,[1] निरपेक्ष (एब्सोल्युट) रूप मे—अर्थात् कला के पूर्ण उत्कर्ष के रूप में'।

कालिदास की शैली में व्यक्ति वैशिष्टथ की मात्रा इतनी अधिक है कि उसकी कविता से साधारण सा परिचय रखने वाला, व्यक्ति भी उसे सहज ही दूसरे से पृथक् कर सकता है।

व्यक्ति-वैशिष्टय तत्व

शैली ही व्यक्ति है (Style is man) की बात चाहे संस्कृत के अन्य कवियों पर तो लागू न हो सकती हो किन्तु कालिदास और बाण पर तो लागू होती ही है। कालिदास की शैली तो पुकार पुकार कर शैलीकार का नाम बता देती है। इसी की सहायता से तो उनके ग्रन्थों के प्रक्षिप्त अंशों को हटा कर प्रामणिक सस्करणों का निर्माण सम्भव हो सका है। अभिव्यञ्जना तो रीति के ही अन्तर्गत आ ही जाती है, तथा वस्तु एवं व्यक्ति के समन्वित रूप से बनने वाला निरपेक्ष रूप भी कालिदास में न्यून नही। इनकी शैली में शैली के वैयक्तिक तथा सार्वजनिक दोनों ही रूपों का सुन्दर समावेश पाया जाता है।

कालिदास महान् थे और उनकी शैली भी महान् है ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नही। यूनानी रोमी काव्यशास्त्र के आचार्य लौन्जाइनस् का कथन है कि महान् शैली "आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि है।" उन्होंने भव्य शैली के जिन उद्गम स्थानों

---

१. डा० नगेन्द्र हि० का० सू० पृ० १३६

की ओर संकेत किया है वे कालिदास की काव्य-शैली पर पूरे उतरते है। उनका कहना है कि उदात्त शैली का उद्गम इन आधारों पर हो सकता है (i) धारणा की भव्यता (ग्रेन्जर आफ़ कन्सैप्शन) (ii) भावना की तीव्रता (इन्टेन्सिटी आफ़ इमोशन), (iii) अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग (एप्रोप्रियेट यूस आफ़ फ़िगर्स), (iv) भाषागत आभिजात्य (नोबिलिटी आफ़ डिक्शन) और (v) पद रचना की गरिमा एवं औदार्य (डिग्निटी एण्ड ऐलीवेशन आफ़ वर्ड आर्डर)[1] कालिदास के विज्ञ पाठकों को ज्ञात है कि इन में से कौन-कौन से रूप कालिदास की कविता में पाये जाते है।

व्यञ्जनात्मकता

कालिदास की शैली मे व्यक्ति-तत्त्व की मात्रा बहुत है, उसकी कुछ अपनी ही ऐसी विशेषताएँ है जो कि उनके अतिरिक्त और किसी में पाई नहीं जाती। बाण, भवभूति आदि अन्य कविजन जहाँ किसी रम्य कल्पना वा मार्मिक स्थिति के सामने आते ही जी खोलकर उसका वर्णन करने को उतावले हो उठते है वहाँ कालिदास केवल सीमित एवं संयत शब्दों में उसकी सूक्ष्म व्यञ्जना भर करके चुप हो जाते हैं और इससे आगे का काम सहृदय पाठको पर छोड़ देते हैं। भवभूति एवं कालिदास का यह शैलीगत अन्तर निम्नलिखित उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाएगा। बन्धुजन-वियोग-जन्य दुःख किसी प्रियजन के मिलने पर किस प्रकार असह्य हो उठता है यह बतलाने के लिए जहाँ भवभूति ने एक सम्पूर्ण सालंकार पद्य की योजना की है[2]। वहीं कालिदास ने इस प्रकार के भाव को एक ही पँक्ति में व्यक्त कर दिया है। मदन-दाह के उपरान्त जब रति ने कामदेव के परम-मित्र वसन्त को अपने सम्मुख देखा तो स्वभावतः उसे देखकर उसका शोक और भी असह्य हो गया। इसी का रूप देखिए इस पंक्ति में—**स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते**"। यहाँ पर 'विवृतद्वार' जैसी छोटी सी उत्प्रेक्षा में ही सब कुछ कह डाला है।

इसी प्रकार रघुवंश के चौदहवें सर्ग में भी सीता को एकाकी

---

१ उद्धृत हि० का० सू० पृ० ११६।

२. सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतः सहस्ररिव सम्प्लवन्ते॥ उत्तर० ४।८।

वन में छोड़कर जब लक्ष्मण लौट आये तब सीता के विलाप के लिए पर्याप्त अवसर होते हुए भी महाकवि ने केवल—'विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीता जी मुक्त कण्ठ से 'कुररी के समान' रोने लगीं (सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः १४।६८।) कह कर ही उस समस्त व्यथा को सूक्ष्म रूप से बोधगम्य बना दिया है। यदि यहाँ कोई और कवि होता तो वह कभी भी ऐसे मार्मिक अवसर को लम्बा चौड़ा वर्णन किए बिना हाथ से न जाने देता। पर कालिदास ने 'कुररीव' सी छोटी सी उपमा की गागर में ही इस अपार व्यथा के सागर को भर दिया है।

उनके काव्यों से दो उपाहरण दे देने के बाद अब उनके नाटकों से भी केवल एक या दो उदाहरण दे देना अनुचित न होगा। शाकुन्तल में विरह-विकल दुष्यन्त ने जब उस अलौकिक रूप राशि शकुन्तला को देखा तो वह उस अद्भुत रूप को देखकर आनन्द मग्न हो गया। यह एक ऐसा अवसर था जिसका उपयोग शकुन्तला के रूप-वर्णन के लिए अधिक से अधिक किया जा सकता था। दूसरा कोई कवि इससे लाभ उठाये बिना मानता भी नहीं। किन्तु कालिदास ने 'ओह' आँखें तो तर गई! (अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् अंक ३) कह कर ही उस अलौकिक रूप की अवर्णनीयता एवं आनन्द को हृदय-गम्य कर दिया है। इसी प्रकार यदि कालिदास चाहते तो दुष्यन्त के चले जाने के बाद विरह-विधुरा शकुन्तला के विषय में स्वयं भी बहुत कुछ कह सकते थे। शकुन्तला के विरहोद्गारों एवं हार्दिक व्याकुलता के चित्रण के बहाने, किन्तु कालिदास ने इस विषय में शब्दों से कुछ भी न कह कर और आत्मविस्मृत शकुन्तला के द्वारा अपने घर मे आये हुए अतिथि का सत्कार न करवाने की योजना में ही सब कुछ कह डाला है। इसमें कालिदास का नाटकीय कौशल इतना नही जितना कि शैली का चमत्कार है। ऐसे ही एक छोटे से वाक्य में (वत्स ते भागधयानि पृच्छ) अभिव्यक्त करवा दी है शकुन्तला की समस्त परित्याग-जन्य वेदना की कसक।

काव्य की व्यञ्जनात्मक शैली पर जो असाधारण अधिकार कालिदास को प्राप्त है वह शायद ही किसी और कवि को प्राप्त हो सके। उन्हें किसी बात को अभिधा से कहने की अपेक्षा व्यञ्जना से कहना ही सदा अच्छा लगता है। उन्हें पार्वती का सौन्दर्य वर्णन

करना था, कैसा सुन्दर अवसर था किसी कवि के लिए कल्पना की उड़ानें भरने का, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगाने का; किन्तु कालिदास सौन्दर्य वर्णन की बात तो दूर रही, कहीं उसका नाय तक नहीं लेते, पर साथ ही आश्चर्य कि उस शैलसुता के उत्कृष्ट सौन्दर्य की बड़ी मनोहारिणी झलक भी प्रस्तुत कर डालते हैं। वर्णन तो हो रहा है तपस्या में मग्न पार्वती के माथे पर गिरने वाली वर्षा की प्रथम बिन्दु का पर व्यञ्जना हो रही है उसके अनिन्द्य सौन्दर्य की 'ध्यनावस्थित पार्वती की बरौनियों पर जब वर्षा की पहली बूंद पड़ी तो वह एक क्षण को तो उन्हीं में झलक गई किन्तु पुनः वहाँ से सरक पड़ी और उसके होठ से टकराती हुई स्तन मण्डल पर आ गिरी और वहां उनसे टकराकर चकनाचूर हो गई। फिर उदर की त्रिबली में उलझती-पुलझती सी बड़ी देर से नाभि-प्रदेश में पहुँच सकी"[1]। इस वर्णन पर सूक्ष्मता से विचार करने पर पता चलता है कि प्रत्येक स्थल पार्वती के उत्कृष्ट शारीरिक सौन्दर्य की व्यञ्जना कर रहा है। बर्षा की बूंद का बरौनियों मे उलझना जहाँ उनकी सघनता की व्यञ्जना करता है वही वहां से फिर सरक जाना उनकी स्निग्धता की व्यञ्जना कर रहा है। इसी प्रकार अधर से ताड़ित होने पर भी छिन्न न होना अधर की अत्यन्त सुकुमारता एवं स्तनों से छिन्न-भिन्न हो जाना उनकी कठोरता का व्यञ्जक है। इसके बाद नाभि के गहन प्रदेश में पहुंचने से पूर्व ही त्रिवली-प्रदेश में उनका देर तक भटक जाना त्रिवली की गहनता का द्योतक कहा जायेगा। अब देखिए कि महाकवि ने पार्वती के शारीरिक सौन्दर्य के बारे में शब्दों से कुछ न कहते हुए भी उसके अनवद्य अवयवों का कैसा चारु चित्रण कर डाला है यही बात कही ज ासकती है शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन के विषय में भी। वहाँ भी **'अनाघ्रातं पुष्पं'** या **'न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्'** आदि के द्वारा शकुन्तला के अभुक्तपूर्व यौवन की एव अलौकिक रूप-राशि की व्यञ्जना बड़े ही सुन्दर ढंग से की गई है।

चुने हुए शब्दों के सहारे कोमल भावों की मधुर व्यञ्जना जितनी अधिक कालिदास में पाई जाती है उतनी शायद ही किसी

१. स्थिताःक्षण पक्ष्मसु ताडिताधरा. पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभि प्रथमोदबिन्दवः ॥ ५।२४।

और कवि में मिल सके। उनके शब्दों पर जितना अधिक विचार किया जाय नवीन विचारों एवं भावों की परिधि उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। इस प्रसंग में शाकुन्तल का एक श्लोक ही पर्याप्त है। दुष्यन्त शकुन्तला के प्रत्याख्यान के बाद उसकी सुधि आ जाने से आत्म संताप से सन्तप्त है। अपने मनस्ताप को बहलाने के लिए वह शकुन्तला का चित्रांकन करने लगता है। चित्र अधिकतर बन चुका है किन्तु अभी पूर्ण नही हुआ है। जब इसे पूरा करने का उपक्रम चल रहा होता है तो विदूषक उससे जानना चाहता है कि इसमें वह और क्या कुछ लिखना चाहता है। इसी के उत्तर में दुष्यन्त कहता है। "बन्धु! मुझे तो अभी इसमें मालिनी की वह धारा अंकित करनी है जिसके रेतीले किनारों पर हंसों के जोड़े बैठे हुए हो और उसके दोनों ओर हिमालय की वे पावन उपत्यकाए बनानी है जिन पर बैठे हुए हिरन निर्भय होकर जुगाली कर रहे हो, फिर इसमें यही पर एक वृक्ष भी बनाना है जिसकी शाखाओं पर तपस्वियों के वल्कल वस्त्र लटक रहे हों और उसी के नीचे हरिणी अपने काले हिरन के सींग पर अपनी बायी आँख रख कर खुजला रही हो।

इसमें 'रुप' चित्रण की कुशलता एवं भावों की कोमलता तो है ही किन्तु इसके साथ ही कालिदास ने भावों की सूक्ष्म ध्वन्यात्मकता के जिस रूप को इस वर्णन में डाल दिया है वह उसकी शैली की अपनी विशेषता है। इस पद्य में पाई जाने वाली ध्वनि की अद्भुत शालीनता का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि दुष्यन्त के मानसपटल पर उस पावन आश्रम-कण्वाश्रम की कितनी गहरी छाप पड़ी है। यद्यपि उसकी पावनता को दुष्यन्त और शाकुन्तला ने कभी का नष्ट कर दिया था किन्तु फिर भी तपःपूत 'गौरी' जो कि तप, सयम और कुमारीगत आदर्शों की जीवन्त मूर्ति है, उसके पूज्य पिता हिमवान् के चरणों से उस आश्रम की पवित्रता अभी अक्षुण है। यही इस आश्रम के पास बह रही है वह

१. कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतो वहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ ६। १७।

जीवनदायिनी मालिनी जो कि स्वयं ही जीवन की अविरल गति की एवं स्नेह के अटूट सम्बन्धों की प्रतीक है। इन पावन उपत्यकाओं पर बैठे हुए हिरन भी अपनी निःशंकता का परिचय दे रहे हैं। भला पावन चरणों में बैठकर भय और शंका रह भी कैसे सकती है ? वह तो शान्ति और विश्राम का स्थल है। अपनी प्रियतमा परिणीता पत्नी को खोकर दुष्यन्त का हृदय इतनी ग्लानि तथा एकाकीपन का अनुभव कर रहा है कि वह आज प्रत्येक जीव-जन्तु को जोड़े के ही रूप में देखना एवं अंकित करना चाहता है। हसों का भी जोड़ा है तो मृगों का भी। गातिमान् जीवन के किनारे ही जोड़े अपनी मधुर लीलाएँ करते है। उनके जीवन का कलरव जागता है। जीवनधारा के तटों की सुकुमार सैकत ही उस विलास और वैभव का आश्रय बनती है।

विधाता की सृष्टिविविध रूपा है, इसी विविधता में ही एकता भी है। इसके विविध रूपों में ही सृष्टि का रूप निखरता है। एक ओर त्याग, तपस्या और संयम का प्रतिनिधित्व करने वाले वल्कल वस्त्र लटक रहे है तो दूसरी ओर उन्ही के नीचे स्नेह और विश्वास हिलोरे ले रहा है। साँसारिकता इठला रही है। मृग और मृगी का जोड़ा उस सांसारिक स्नेह और विश्वास का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिसमें कि एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है। क्या ही अद्भुत विश्वास निहित है इस प्रेम पाश में, कामातुर मृगी अपनी सौन्दर्यराशि आंख की कोर को निःशंक होकर मृग के तीखे, नुकीले सीग के अग्रभाग पर रख देती है। रखती ही नहीं, उसे खुजाती है, वहाँ कोमलतम अग आँख और कहाँ सीग का नुकीला तथा कठोर अग्रभाग। जरा सा इधर उधर हो जाए तो मृगी की आँख, जो कि उसके सौन्दर्य का सर्वस्व है, सदा के लिए जाती रहे, किन्तु नही, यही तो दाम्पत्य जीवन के विश्वास की परम सीमा है। जहाँ केवल स्नेह समर्पण और विश्वास ही है और कुछ नही। इसी स्नेह और विश्वास की छाया में तो फलती-फूलती है स्रष्टा की सृष्टि।

कभी इसी उछालें मारती हुई मालिनी के तट पर इन्ही तप और संयम का जीवन बिताने वाले वृक्षों की छाया में इन्हीं पावन उपत्यकाओं के चरणों में किसी मृगी ने किसी मृग का विश्वास इसी तरह किया था। दुष्यन्त का परितप्त हृदय आज स्पष्ट

देख रहा है कि उस मृग ने उस मृगी के साथ घोर विश्वासघात किया है। अपराधीपन का यह भाव उसके मन को इस भाँति कचोट रहा है कि वह आज चिल्ला-चिल्ला कर सारे संसार को इस विश्वासघात की कहानी सुना देना चाहता है। संसार कहीं इसे भूल न जाए, इस लिए उसे एक चित्र में अंकित कर डालना चाहता है जो कि युग-युग तक इस कथा को जीवन्त रख सके। पर यह सब कुछ व्यञ्जित कर डाला है कालिदास ने कुछ चुने हुए शब्दों से ही।

यों तो सभी ग्रन्थों में कालिदास ने अपनी इस ध्वन्यात्मक विशिष्टता का परिचय दिया है[1] किन्तु शाकुन्तला में तो यह शैली सब रूपों को छोड़ कर आगे आ गई है। शाकुन्तल की प्रस्तावना एवं प्रथम अंक की एक-एक पंक्ति किसी न किसी भावी घटना का ध्वनन करती जाती है। एक प्रकार से महाकवि ने शाकुन्तल की प्रस्तावना में ही इसके समस्त रूप को समेट कर रख दिया है[2]। इसी प्रकार चतुर्थ अंक का कण्वशिष्य का प्रभात वर्णन, शकुन्तला की विदाई, पंचम अंक का हंस पादिका का गीत आदि सभी भावी घटनाओं का सुन्दर ध्वनन कर डालते है।

पुराने कथानकों में भी उसने जो अद्भुत नवीनता भर दी है वह उसकी शैली की ही विशेषता है। मानव-हृदय का असाधारण पारखी तो वह था ही पर 'विशिष्ट पद रचना' के द्वारा उसने उन भावों में तीव्रता लाकर उन्हें सहज रूप से हृदयगम्य बना डाला है।

कालिदास की काव्य-शैली में हमें बोल चाल की उस शिष्टता तथा व्यवहार की शालीनता के दर्शन होते हैं जो कि अन्यत्र बहुत कम देखने को मिल सकती है। किसी सामान्य क्रिया वा बात को सीधे सादे ढंग से न कहकर वचन की भङ्गिमा के साथ कहना उन्हे विशेष प्रिय है। कथन की इस हृदयावर्जक कला को ही कुन्तक ने काव्य का जीवन कहा है (**वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्**)। बातचीत के इसी शिष्ट एवं मुहावरेदार ढंग का नाम 'पर्यायोक्त' भी है[3]। कालिदास के कवि जीवन का

उक्ति-वैचित्र्य

१. देखिए—कालिदास काव्य कौशल तथा उपमा प्रकरण।

२. देखिए—लेखक की रचना-शाकुन्तल-एक नया दृष्टि कोण।

३. पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।। सा० द० परि० १० का ६०।

अधिकांश भाग राजदरबारों में ही बीता था इसलिए उनकी बोल-चाल की भाषा में भी नागरिकता का पुट अधिक मिलता है। इस औपचारिक ढंग की बात चीत का एक बहुत सुन्दर नमूना हमें शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में देखने को मिलता है। दुष्यन्त शकुन्तला और उसकी सखियों के सामने प्रकट हो चुका है तथा सभी सप्तच्छद की वेदिका पर विश्वस्त रूप से बैठ चुके हैं। बातचीत शुरू होने पर अनसूया ने प्रियंवदा के कहने पर उसका परिचय प्राप्त करने के लिए उससे पूछना था—आप कौन है? कहाँ से आये है? तथा यहाँ आने का क्या काम पड गया था? पर इतनी सीधी सी बात को कालिदास ने किस लखनवी नजाकत से कहलवाया है, इसे जरा स्वयं ही देखिए—अनसूया कहती है—जनाब, आपकी इन रसभरी मीठी मीठी बातो ने तो हमारे मन मे आपके प्रति ऐसी बेतकल्लुफी (आत्मीयता) पैदा कर दी है कि हम आप से यह पूछने की गुस्ताखी (धृष्टता) करना चाहती हैं कि वह कौन सा खुशकिस्मत (भाग्यशाली) राजर्षि-वंश है जिसे कि आपने अपने जन्म से अनुगृहीत किया है। किस भाग्यशाली प्रदेश के प्रजाजनों को अपने विरह से व्याकुल करके आप यहाँ पधारे, ऐसा कौन सा काम आ पड़ा था जिसने कि आपके इस नाजुक (सुकुमारतर) शरीर को इस तपोवन की कठोर भूमि में लाने का कष्ट दिया[1]। कितनी औपचारिकता है उसके इस कथन में!

इसी प्रकार जब दुष्यन्त शकुन्तला की सखी अनसूया से यह जानना चाहता है कि शकुन्तला आजीवन तपस्विनी ही रहेगी या इसका विवाह भी होगा तो वह इस प्रश्न को सीधे ढग से न पूछ कर कहता है—"कामदेव की गति को रोकने वाला इनका यह तपस्वी जीवन इनके विवाह तक के लिए ही है अथवा ये अपना सारा जीवन मदभरी प्यारी प्यारी आँखों वाली हिरनियों के बीच में ही रह कर यों ही बिता डालेगी[2]। यह भी कैसा शिष्ट एवं परिष्कृत आलाप है।

---

१. अन०=आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽलङ्क्रियते, कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतोदेशः किन्नि-मित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः॥
शाकु० अंक १।

२. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षण वल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः
॥१।२५॥

ऐसे ही शकुन्तला को वृक्षसेचन की बारी से छुटकारा दिलाने के लिए दुष्यन्त जब अपनी अंगूठी देने लगता है तो प्रियंवदा 'इसे आप ही रहने दीजिए' न कहकर कहती है—इस अंगुली से इस अंगूठी को वियुक्त करना ठीक नहीं है[१]। इसी प्रकार तीसरे अंक में शकुन्तला "मैं मर जाऊंगी" न कह कर, कहती है—नहीं तो समझो कि मुझे तिलाञ्जलि दे दी[२]। ऐसे ही जब से मैंने राजा को देखा न कह कर कहती है—जब से वह राजर्षि मेरे नयनपथ पर आया है[३]। ऐसी ही अनेकों उक्तियां उनके नाटकों में भरी पड़ी हैं।

नाटकों में ही नहीं काव्यों में भी उनकी इस शैली के पर्याप्त दर्शन होते हैं। मेघदूत में यक्ष मेघ से यह न कह कर कि 'जनपदों की स्त्रियां तुम्हें अत्यन्त स्निग्ध दृष्टि से देखेंगी' कहता है—जनपद-वधुओं के प्यार भरे नयनों से पिया जायगा[४]। 'देखने' के लिए 'नेत्रों से पिए जाने' की बात को रघुवंश में भी बड़े सुन्दर ढंग से कुछ ऐसे ही व्यक्त किया गया है—कहा है 'वन से वशिष्ठ की धेनु के पीछे पीछे आते हुए राजा को रानी सुदक्षिणा ने अपने प्यासे अपलक नेत्रों से पिया[५]।

'देखने' के ही भाव को कवि ने मेघदूत में एक अन्य प्रकार से भी अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। यक्ष मेघ से कह रहा है कि जब तुम दशपुर की ओर जाओगे तो वहां की नारियां तुम्हें बड़ी कौतूहलभरी दृष्टि से देखेंगी। पर इस बात को यों सीधे ढंग से न कह कर वह कहता है—अपने आपको दशपुर की नारियों के नेत्र-कौतूहल का पात्र बनाते हुए जाना[६]।

ऐसे ही जब उसे मेघ से यह कहना होता है कि उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में तुम तब तक ठहर जाना जब तक कि

---

१. नार्हत्यङ्गुलीयकमङ्गुलिवियोगम् ॥ शाकु० १।२९ पू०।।
२. अन्यथा अवश्य मे सिंचत तिलोदकम्। वही अंक ३।
३. यतः प्रभृति मम दर्शनपथमायतः स राजर्षिः। वही ३।९ प० ॥
४. प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः। मेघ० १।१६।
५. पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ रघु० २।१९।
अपिच—नत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिः ॥ वही २।७३ ॥
६. पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलम् ॥ मेघ० १।५१।

सूर्यास्त न हो जाय तो वह इसे इस रूप में न कह कर कहता है कि तुम्हें तब तक वहां रहना है जब तक कि सूर्य तुम्हारे दृष्टिपथ से दूर न चला जाय[१]।

जिस प्रकार 'देखने' के लिए 'नेत्रों से पीना' 'नेत्र पथ का अतिथि होना' आदि पदों का प्रयोग अनेकत्र पाया जाता है उसी प्रकार 'सुनने' के भाव की अभिव्यक्ति भी कवि ने बडे मधुर-एवं भावगर्भित शब्दों में की है। मेघदूत में ही हम देखते है कि यक्ष अपने सदेश को 'कानों से पीने योग्य' (श्रोत्रपेय) कहता है[२]।

'कुमारसम्भव' में भी हम देखते हैं कि पार्वती ने बात को बड़े गौर से सुना, इस भाव की अभिव्यक्त करने के लिए कहा गया है कि उसने उस वचन को कानों से खूब पिया'[३]।

इसी प्रकार अपने भारी शरीरों के कारण नन्दिनी और दिलीप मन्द मन्द गति से तपोवन के मार्ग मे चलते हुए सुन्दर लग रहे थे, इस बात को कहने के लिए वह कहता है कि 'दोनों ही अपनी सुन्दर मन्द गति से तपोवन के मार्ग को अलकृत कर रहे थे'[४]। रघुवंश के इसी सर्ग में दिलीप-सिंह संवाद के अवसर पर दिलीप सिंह से यह न कह कर कि 'आप मुझे खा लीजिए' कहता है-'आज आप मेरे शरीर से ही अपने शरीर की आवश्यकता की पूर्ति कर लीजिए'[५]।

इसी प्रकार रघुवंश में ही 'कुमार अज को देर तक नींद नही आई. न कह कर कवि कहता है-नीद ने बड़ी देर से उसकी आखों की ओर देखा'[६]।'कुमारसम्भव' में भी काम की मृत्यु पर रति व्याकुल हो कर भूमि पर लोट पोट हो गई, ऐसा न कह कर कवि कहता है-पृथ्वी के आलिंगन से उसका वक्षस्थल धूलिधूसरित हो गया'[७]।

---

१. स्थानश्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।। वही ३८ ।

२. सन्देश मे तदनुजलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।। वही० १३ ।

३. आलोचनान्त श्रवणे वितत्य पीत गुरोस्तद्वचन भवान्या ।। कुमार० ७।६४।

४. उभावलचक्रतुरञ्चिताभ्या तपोवनावृत्तपिथ गताभ्याम् ।। रघु० २।१७ ।

५. स त्व मदीयेन शरीरवृत्ति देहेन निर्वर्तयितु प्रसीद ।। वही २।४५।।

६. निद्राचिरेण नयनाभिमुखी बभूव ।। वही ५।६४।।

७. वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।। कुमार० ४।४ ।

ऐसे ही इन्द्र भी भगवान् शंकर के चरणों में सिर झुका कर प्रणाम करता है' इसी भाव को व्यक्त करने के लिए वह कह गया है-'इन्द्र अपने मुकट में धारण किये हुए कल्पवृक्ष के फूलो के पराग से उन (शकर) के चरणों की अगुलियों को रग देता है'[1] । अथवा 'शंकर पार्वती की ओर देखने लगे' जैसे भाव को व्यक्त करने के लिए कहता है- 'उसके मुख पर नेत्रों का संचार करने लगे'[2]। इस प्रकार की और भी अनेको काव्यमय सरस उक्तियों से उनके काव्य नाटक भरे पड़े हैं[3] ।

---

१. करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दारजोऽरुणाङ्गुली ॥ वही ५।८० ।

२. उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ वही ३।६७ ।

३. देखिए-रघु० ४।३१;६।२४,२९,३५,४३,५०;१४।४३,कुमार०५।५६

कालिदास की शृंगार-योजना

(शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासो विशिष्यते)

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥

महाकवि कालिदास के ललित शृङ्गार की प्रशंसा में कथित राजशेखर की यह उक्ति श्री जल्हण विरचित 'सूक्ति-मुक्तावली, के कवि काव्य-प्रशंसा प्रकरण में पाई जाती है और अधिकतर विद्वान इसका यही अर्थ लगाते रहे हैं कि शृङ्गार के ललित वर्णनों में एक कालिदास की भी कोई तुलना में नही आ सकता तो फिर तीन कालिदासों का तो कहना ही क्या। इस प्रकार की आलोचक की शब्दावली को ठीक ठीक न समझ सकने के कारण इस पद्य ने इस भ्रम को जन्म दिया कि राजशेखर के काल (९ वम शताब्दि) तक कालिदास नाम के तीन महाकवि हो चुके थे जिनका उसे पता था। और इसी अटकल को सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने इस काल तक उत्पन्न हुए कालिदासों की खोज प्रारम्भ कर दी और ज्यों त्यों इधर उधर से तीन नाम जुटा भी लिए। नाम तो जुट गये किन्तु मूल कालिदास के शृङ्गार के जोड़ की उनकी न तो कोई रचना ही मिल सकी और न काव्य-शास्त्रीय आलोचना-ग्रन्थों में उनका कोई सन्दर्भ ही। इसी भ्रम में कुछ लोगों ने कवि कालिदास और नाटककार कालिदास को भिन्न भिन्न व्यक्ति सिद्ध करने का भी दुसाहस किया।

कालिदासत्रयी समस्या और समाधान

किन्तु सोचने की बात है कि जिनको राजशेखर जैसा कवि और आचार्य 'दीपशिखा' कालिदास के समकक्ष रखता है उनकी कोई महत्त्वपूर्ण रचना या संदर्भ काव्य-शास्त्रीय आलोचना ग्रन्थो में न मिले ! जब कि अन्य अनेक साधारण कोटि की रचनाओं के सन्दर्भ भी उपलब्ध हो जाते हैं"। आलोचना ग्रन्थों में तथा अन्य सग्रहों में किसी अन्य कालिदास के सदर्भो की अनुपलब्धि ही हमें इस बात का संकेत करती है कि हो न हो राजशेखर की आलोचना का वह अर्थ

नहीं हो सकता जो कि प्राय: लगाया जाता है। और इधर आचार्य चन्द्रवली पांडे ने अपनी अन्तिम रचना 'कालिदास' में इस विषय पर एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है[१]। विचार करने पर उनका वह संकेत अधिक सगत लगता है।

वस्तुतः न केवल सस्कृत साहित्य में अपितु अन्य साहित्यों में भी ऐसी परिपाटी पाई जाती हैं कि काव्य का सकेत-बोध कभी कभी कवि के नाम से ही कर दिया जाता है अर्थात् कवि ही काव्य का प्रतीक बन जाता है। यद्यपि 'माघ' कवि द्वारा रचित काव्य ग्रन्थ का नाम 'शिशुपालवध' है किन्तु पण्डित समाज में उसका सकेत-बोध 'माघ' के ही नाम से होता है। इसी प्रकार भट्टि के काव्य 'रावण-वध' का भी नाम 'भट्टि' काव्य ही प्रचलित है। लगता है कि कवि और काव्य को एक कर देने की प्रवृत्ति से कालिदास भी न बच सके। और राजशेखर ने भी इससे लाभ उठाकर प्रचलित परिपाटी में कह डाला कि कालिदास की श्रृङ्गार के ललित उद्गारों से सराबोर एक ही रचना उन्हें इस क्षेत्र में अद्वितीय ठहराने को पर्याप्त है फिर तीन रचनाओं का तो सामना ही क्या। 'कालिदास-त्रयी' का यही अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। इसका संकेत महाकवि के तीन ललित प्रबन्धों की ओर ही मानना ठीक होगा व्यक्तियों की ओर नहीं। और वे ललित प्रबन्ध है 'कुमार सम्भव' 'रघुवंश' और 'मेघदूत'। यद्यपि उनकी दृश्य त्रयी भी इन ललित उद्गारों से रहित नहीं, किन्तु यहाँ पर हम विशेष रूप से उनकी 'काव्य-त्रयी' पर ही विमर्श करेंगे।

कालिदास के श्रृङ्गार पर कुछ कहने से पूर्व अच्छा हो यदि हम भारतीय आचार्यों के श्रृङ्गारविषयक दृष्टिकोण की ओर भी थोड़ा झाँक लें। हमें यह न भूलना चाहिए कि भारतीय आचार्यों के दृष्टि कोण से प्रत्येक श्रृङ्गारिक उक्ति श्रृङ्गार रस का स्थान नहीं ले सकती। और जो रस-स्थानीय नहीं, वह आदरणीय नहीं उसकी अपनी मर्यादायें है और उन मर्यादाओं की रेखाओं के अन्तर्गत चित्रित श्रृङ्गार चित्र ही मान्यता पा सकता है। श्रृङ्गार का स्थायी भाव है 'रति' और रति का आलम्बन है 'स्वकीया' 'अनूढ़ा'। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने कभी भी उस रति को श्रृङ्गार रस की मान्यता न दी

काव्यशास्त्र सम्मत रूप

१. कालिदास पृ २,

जो कि पर कीया गत या वेश्यागत हो । आचार्य विश्वनाथ कहते हैं ।

उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ।
परं ढां वर्जयित्वात्र वेश्यां चाननुरागिर्णाम् ।
आलम्बन नायिका· स्यु· दक्षिणाद्याश्च नायका· ।। सा० द० ।।

इसी प्रसंग में आचार्य मम्मट ने भी अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि अनुचित क्षेत्र में रति की प्रवृत्ति शृङ्गार रस के अन्तर्गगत नही आ सकती । वह तो 'रसाभास' है । (तदाभाचा अनौचित्यप्रवर्तितः) । हमें कालिदास के शृङ्गार पर विचार करते हुए इस विचारधारा को बराबर सामने रखना होगा । तभी हम उसके साथ पूरा न्याय कर सकेंगे । हो सकता है कि किसी अन्य कवि की शृङ्गारोक्तियाँ इससे भी अधिक ललित हो । पर देखना यह है कि वे हमारी सैद्धान्तिक कसौटियो पर भी ठीक उतरती है :—

काव्यशास्त्र के अनुसार शृङ्गार के दो प्रमुख भेद माने गए हों १. सम्भोग २. विप्रलम्भ । तदनुसार नायक नायिका के मिलनकाल की रति या राग मे 'सम्भोग'[१] तदतिरिक्त में विप्रलम्भ'[२] होता है । शुद्ध सम्भोग शृङ्गार केवल स्वकीया अर्थात् अपनी पत्नी-विषयक ही मान्य है । इसी लिए 'अनुढा' कन्या के प्रति होने वाली रति 'पूर्वराग,[३] के अन्तर्गत ही रखी गई है । जो कि विप्रलम्भ का ही एक अग हैं । कुमार सम्भव के तीसरे सर्ग एव रघुवंश के छटे सर्ग की शंकर-पावती और 'अज-इन्दुमती' की रति चेष्टायें इसी के अन्तर्गत आती है और कुमारसम्भव के ८ वें सर्ग (१६-२० ७३-८३) और रघुवश के ९३ वें सर्ग (२-१७) के वर्णन ही सम्भोगशृङ्गार की सीमा में आते हैं । विप्रलम्भ का ही एक भेद प्रवास भी है जो कि प्रिय के कार्यवंश या शापादिवश परदेश चले जाने की स्थिति में होता है[४] ।

१. दर्शन-स्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ, यत्रानुरक्तावन्योन्य सम्भोगोयमुदाहृतः । ३,२१५ ।।

२. यत्र तु रतिः प्रकुष्टा नाभीष्टमुदैति विप्रलम्भोऽसौ ।। सा० द० (३,१८१) ।

३. श्रवणाद दर्शनाद्वापि मिथः सरूढरागयो ।
दशा-विशेषो योऽप्राप्तो पूर्वरागः स उच्चते । वही (३,१८३) ।

४. प्रवासो भिन्नदेशत्वं कार्याच्छापाच्च सभ्रमात् । वही (३,२१०) ।

इसे भी वियोग शृङ्गार ही कहा जाता है। इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है कालिदास का मेघदूत । मान अर्थात् प्रणय-कोप भी विप्रलम्भ का ही अंग है क्योंकि इसमें भी अभीष्ट रति का व्याघात होता ही है। कुमारसम्भव का अष्टम सर्ग (४७-५२) इसका सुन्दर उदाहरण है ।

इस पृष्ठभूमि में जब हम कालिदास को देखते है तो हमें पता चलता है कि अन्य सरस उक्तियों के होते हुए भी राजशेखर ने कालिदास के काव्यों को ही क्यों कर श्रेष्ठतम कहा। यों भी हम देखते है कि कालिदास का मन कोमल रसों के चित्रण में जितना रमता है उतना गम्भीर रसो के चित्रण में नही। यों तो महाकवि की लेखनी सर्वत्र पूर्ण अधिकार के साथ चलती है किन्तु शृङ्गार की ललित उक्तियों एव नागरिक जीवन की विविध विलास लीलाओं के चित्रण में वह थिरक उठती है और झूम उठता है उसका लक्ष्यीभूत सहृदय पाठक। न केवल सयोग पक्ष ही अपितु वियोग पक्ष के चित्रण में भी महाकवि की लेखनी ने महान् चमत्कार दिखाया है। बल्कि यों कहिये कि सयोग की अपेक्षा वियोग के चित्रण में वह अधिक पैनी हो उठती है (रघु० १४ वे सर्ग में ८४ श्लोक, मेघ० उत्तरार्ध का सदेशाश)। भावो का ऐसा हृदय स्पर्शी उद्रेक बहुत ही कम देखने को मिलता है । बात 'नावक के तीर' की भांति हृदय के अन्तराल तक पहुँच जाती है। शृङ्गार जहाँ करुण का अंग बन कर आया हैं वहाँ तो उक्तियों के सूक्ष्म एव व्यञ्जनापूर्ण होने के कारण करुण की अनुभूति तीव्रतर हो उठती है[1]। धन्य है इस जादूगर की जादूभरी लेखनी को!

यद्यपि कुछ नीतिवादी भारतीय आलोचकों ने कालिदास की कुछेक शृङ्गारोक्तियों पर अमर्यादित होने का आक्षेप किया है[2] किन्तु यदि हम थोड़ी देर के लिए अपने आदर्शवादी पूर्वाग्रह से मुक्त मानस हो कर निरपेक्ष रूप से इन्हें देखने का प्रयास करें तो कहने की आवश्यकता नही कि वे न केवल दोष रहित है अपितु काव्य की दृष्टि से अद्वितीय भी।

---

१. देखिए कुमार० रतिविलाप(४. ८ १८) रघु० अजविलाप

२. स्थिता. क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधरा: पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता.।
वलीषु तस्याः स्खलिता प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥४,२४॥

आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य की स्निग्ध एवं शृङ्गारिक व्यञ्जना सम्भवतः कालिदास से बढ़कर विश्व का और कोई कवि नहीं कर सकता। अप्रस्तुत विधानों के द्वारा नखशिख वर्णन की शैली कालिदास की सर्वथा अपनी ही है। उसकी समता न कोई कर पाया और न कर सकेगा। शकुन्तला, पार्वती, यक्ष-पत्नी सभी कालिदास की लेखनी को पाकर न केवल अमर हो गई अपितु सदा के लिए नारी-सौन्दर्य का मानदण्ड बन गई। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि नारी-सौन्दर्य का इतना सूक्ष्म किन्तु विम्बग्राही शब्दचित्र दूसरा कोई नहीं खींच सकता। उनके विधानों में अथ से इति तक सर्वथा अछूतापन है, सजीवता है और है—अनिर्वचनीय सलौनापन।

कालिदास की शृङ्गार चित्रण की शैलियाँ

जलबिन्दु की गति के वर्णन द्वारा शैलजा के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन कवि ने जिस अनूठेपन से किया है वह अपना सानी नहीं रखता। जरा सुनिये तो सही क्या कहता है व्यञ्जना विशारद, शब्दशिल्पी रससिद्ध कवीश्वरः[1] पार्वती जी हिमालय के एक उन्नतः शृङ्ग पर तपस्या में निरत है। वर्षा की एक बूंद ऊपर से आकर उनकी बरौनियों पर गिरती है। किन्तु बरौनियों की स्निग्धता एवं सघनता ऐसी कि वह उस पर क्षण भर टिक कर सरक पड़ती है अधरों की ओर, पर अधर भी तो पार्वती के अधर, हैं, प्रवालपुष्प से भी अधिक, कोमल, तभी तो पानी की बूंद उनसे टकराई किन्तु टूटी नहीं। और वह अक्षत बूदें ज्यों की त्यों उस स्निग्ध एवं सुकुमार अधरपल्लव से भी नीचे को सरक पड़ी और आ लगी पार्वती के उन्नत एवं कठोर उरोजों पर और चूर चूर हो गई उनसे टकरा कर (यहां नव यौवनोद्गम की व्यञ्जना दर्शनीय है)। इसके उपरान्त विक्षत विन्दुकणावलि उदर की त्रिवली में लहराती गहन नाभि प्रदेश, चञ्चलगति के बाधक बोझिल नितम्ब, तनुलता को आगे की ओर झुकाने में समर्थ उन्नत उरोज—यही सब कुछ तो है उस विरह विधुरा यक्ष पत्नी का रूप और उसकी पहचान।

प्रतीक माध्यम से नखशिख चित्रण

---

१. स्थिता क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताप्रपेदिरे चिरेण नाभि प्रथमोदविन्दवः ॥४।२४।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

रीति काल की नायिकाओं की लम्बी कतार में क्या कोई ऐसी नायिका हो सकती है जो कि ब्रह्मा की इस आदि सृष्टि की बराबरी में खड़ी होने का दावा कर सके ?

सच तो यह है कि 'कालिदासत्रयी' के इस रत्नागार से किस रत्न को लिया जाए और किसे छोड़ा जाय, यह निर्णय करना ही कठिन है। अतः अब हम यहाँ नारी-सौन्दर्य के दो तीन प्रसंगों की ओर सकेत करके ही आगे बढ़ने का प्रयत्न करेंगे।

विरह-विधुरा यक्षपत्नी के अधर यदि पके हुए बिम्बफल के समान आरक्त है तो शकुन्तला के अधर नवपल्लव की लालिमा से रंजित (**अधरः किसलयरागः**)। इधर पार्वती के दोनों हाथ शिरीष पुष्प से अधिक सुकुमार है (**शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ०** कु० १। ४१) तो उधर कण्व दुहिता के बाहु कोमल शाखाओं का अनुकरण कर रहे है (**कोमलविटपानुकारिणौ बाहू**)। यदि प्रस्फुटित हो रहा है विकासित फूल के समान लुभावना यौवन शकुन्तला के अंगों में (**कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्**) तो पार्वती भी दीख रही है फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल-लाल नये पल्लवों को धारण करने वाली किसी चलती-फिरती लता सी। (**पर्याप्त-पुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव** कु० ३.५८) '**संचारिणी पल्लविनी लता**' के प्रसंग में हमें इस '**संचारिणी दीपशिखा**' को भी नहीं भूलना चाहिए। क्यो नहीं ? सौन्दर्य का आदर्श तो वही है। अतः यदि **स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्**' यक्ष-पत्नी के सौन्दर्य का मानदण्ड हो सकता है तो '**आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्याम्**' गिरिराज सुता पार्वती का।

भावुक कवि के शब्दों में शैलजा के अधरों पर खेलने वाली मधुर मुस्कान की मधुर कल्पना तो देखिये। कहता है—'यदि जुही की कलियां चुनकर आरक्त पल्लवों पर रखी जायें अथवा मोतियों

को लाल-लाल मूंगों पर तरतीब से सजा दिया जाय तब कहीं पार्वती के आरक्त होठों पर फैली हुई मधुर मुस्कान की तुलना की जा सकती है अन्यथा नहीं[१] ।

बलखाती हुई बूद अन्त में प्रवेश करती है नाभि के नयमाभिराम गहन गह्वर में । इस प्रकार जल बिन्दु के ललाट प्रदेश से नाभिप्रदेश तक जाने का वर्णन करके कवि ने कितनी चातुरी से नवयौवना पार्वती के सौन्दर्य का बिम्बग्राही चारु चित्रण किया है । तथा कितनी मधुर व्यञ्जना की है स्त्री-सौन्दर्य के आदर्श प्रतीक भौंह, ओष्ठ, उरोज, त्रिवली और नाभिप्रदेश की ।

नख शिख वर्णन के इसी अनूठे सौन्दर्य के दर्शन होने है, मेघदूत में भी । दुर्दैव ने बेचारे यक्ष को अपनी प्रेयसी से वियुक्त कर रामगिरि पर ला पटका है जहाँ उसे चारों ओर प्रकृति के विविध रूपों—लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी-सरोवर, चन्द्र-तारक आदि के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नही देता । बेचारा इन्हीं में अपनी प्रेयसी की अनुहार देखने का विफल प्रयत्न करता रहता है । पर इनके इतने प्रबल पुण्य कहाँ कि उनमें एकत्र ही यक्षिणी का सम्पूर्ण सौन्दर्य समा सके । इसीलिए तो निराश वह कहला भेजता है—मैं देखा करता हूँ प्रियङ्गुलता में तेरे तनु अंगों की मृदुलता की झलक व हरिणी के चञ्चल नयनों में तेरी छबीली आँखों की छटा, चन्द्रमा यदि कुछ-कुछ मुखमण्डल की समताको पहुंचता है तो मयूर का पुच्छभार केवल केशपाश की, और रामगिरि की इन उपत्यकाओं पर इठला कर बहने वाली ये तरङ्गवती सरिताए अपनी तरल लहरियों से स्मरण दिलाती है तुम्हारे चञ्चल भ्रूविलास का । परन्तु हे चण्डि ! इस विशाल प्रकृति का कोई भी ऐसा रूप नहीं जिसमें कि तुम्हारे समस्त सौन्दर्य का एकत्र दर्शन हो सके ।" इस प्रकार प्रस्तुत कथन में महाकवि ने प्रकृति के माध्यम से नारी-सौन्दर्य का जैसा आदर्शतम एवं जीवन्त चित्रण प्रस्तुत किया है, उसका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं ही कर सकते है ।

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षित दृष्टिपाते,
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥

इतना ही रमणीय है वह चित्र भी जिसमें यक्ष अपनी प्रेयसी का नखशिख वर्णन करता है। विधाता की सर्वश्रेष्ठ कारीगरी का नमूना तो देखिए—कनक छरी सा इकहरा दुबला पतला शरीर, अनार के दानों के सदृश कुछ नुकीली दन्तपंक्ति, पके हुए बिम्बफल के समान लाल-लाल होंठ, बल खाती हुई पतली कमर, डरी हुई हरिणी के समान चञ्चल आंखें[१]।

ऋषि कन्या के अभुक्त यौवन की 'अनाघ्रातं पुष्पम्०' तथा पार्वती के अनिद्य सौन्दर्य की 'जलविन्दु गति' से व्यञ्जना करने वाले रसिक कवि के ललित एवं शृंगार संसिक्त उद्गारों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। रसराज कविराज के हाथों में आकर किस प्रकार नाच उठता है, इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं।

कालिदास के शृङ्गार का जितना साङ्गोपाङ्ग एवं अनावृत रूप 'कुमार सम्भव' में देखने को मिलता है उतना अन्यत्र नहीं।

शृंगार की विभिन्न अवस्थाओ का निरूपण

इसमें शृङ्गार 'अभिलाष' से लेकर 'रति' तक को समस्त अवस्थाओं से गुजरता हुआ परिपाक को प्राप्त होता है। क्या अनुपम आलम्बन है और क्या अद्भुत उद्दीपन! शैल-सुता की अनुपम रूपराशि ही किसी शंकर की समाधि विचलित करने के लिए पर्याप्त है। महाकवि ने उसके नखशिख वर्णन में जो रस लिया है भाव और भाषा का जो लालित्य प्रदर्शित किया है वही—'**एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्**' की उक्ति को परिपुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। वस्तुतः हमें यह कभी नही भूलना चाहिए कि कालिदास कवि था, रसिक या ऋषि या उपदेष्टा भर नही। उसने जो कुछ भी लिखा शुद्ध कला की दृष्टि से लिखा, धर्म-प्रचार की भावना से नहीं। उसके शंकर पार्वती मानवत्व के प्रतीक है, देवत्व के नहीं। इसी दृष्टि कोण को सामने न रखने के कारण कालिदास के शंकर पार्वती

---

१. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुट विद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्त रुचं स्मितस्य ॥१।४४॥

के सम्भोग शृंगार-वर्णन की कटु आलोचना की जाती है। यहां पर हमारीधार्मिक भावना उसको कला का ठीक-ठीक परीक्षण करने में बाधक बनती है। यदि थोड़ी देर के लिए हम अपने पूज्य भाव को दूर रख कर केवल मात्र कला की दृष्टि से इसे देखें तो इसके कलात्मक सौन्दर्य की अवश्य ही प्रशंसा करेंगे।

कालिदास का शंकर-पार्वती के शृङ्गार का ऐसा वर्णन करना उचित था या नहीं इस प्रसंगान्तरगत विषय पर यहाँ कुछ न कह कर पहले हम अपने प्रसंग पर आएँगे। हाँ, तो महाकवि खींचने लगे पार्वती के रमणीय सौन्दर्य का शब्द-चित्र। किन्तु वह रूप ऐसा कि जिसके बारे में कविवर बिहारी को कहना पड़ा—

'भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।' कालिदास उसके एक-एक अंग का वर्णन करते गए फिर भी अघाए नहीं, उसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि मानों कालिदास की लेखनी विश्व की समस्त रूप राशि को इसी नवयौवना के वर्णन में उडेल डालना चाहती है। देखिये क्या क्या न कह गये रसिक कवि (१।३२-४८)।

शैलसुता के यौवनावतार का प्रारम्भ करता हुआ महाकवि कहता है—जैसे ठीक-ठीक रंग भरने से चित्र खिल उठता है और सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर कमल विकसित हो उठता है, उसी प्रकार नया यौवन पाकर पार्वती का शरीर भी खिल उठा[1]।'

यह समस्त वर्णन ही बड़ा सरस एवं शृङ्गारभावना से ओत-प्रोत है। इसके कुछेक पद्य इस प्रकार हैं:—

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्याकदली-विशेषाः
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमान-बाह्याः। १।३६।

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवरोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥ १।३८।

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥ १।३९।

---

१. मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रेः पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥ ३।३६।
पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्र शाखाभुजबन्धनानि॥ ३।६९।

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥ १।४०।
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥ १।४१।
पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥ १।४४।
लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युः वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः॥ १।४८।

यह तो थी आलम्बन की पृष्ठभूमि, और इधर हो रहा था चराचर प्रकृति का खुला आह्वान। "भौरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पान करने लगा, काला हरिण अपनी उस हरिणी को सींग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श से आनन्दित हो आँखे बन्द किए बैठी थी। ×××× वृक्ष भी अपनी झुकी डालियों को फैला-फैला कर उन लताओं से लिपटने लगे जिनके फूलों के गुच्छों के रूप में स्तन लटक रहे थे और पल्लवों के रूप में होंठ हिल रहे थे'।"

वसन्त के इस मादक वातावरण के बीच 'लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों, सुवर्ण की दमक को फीकी कर देने वाले कर्णिकार के फूलों, मोतियों की लड़ी के समान उज्ज्वल सिन्दुवार के वासन्ती फूलों के आभूषणों से सुसज्जित तथा बाल (निर्गुण्डी) रवि के समान लाल वस्त्र धारण किए, उरोज भार से कुछ झुकी सी होने के कारण फूलों के गुच्छों के भार से झुकी हुई नई लाल-लाल कोंपलों वाली चलती फिरती लता के समान दीखने वाली, नितम्ब से नीचे खिसक पड़ने वाली केसर के फूलों की करधनी को बार बार हाथ से ऊपर को सरकाती हुई, घबराहट से चञ्चल नेत्रों वाली, सुरभित श्वासों के लोभी भ्रमरों को अपने आरक्त अधरों से कमल पुष्पों से बार-बार हटाती हुई और अपने सुगठित अंगों के रूप सौन्दर्य से रति को भी लज्जा देने वाली पार्वती को

---

१. उन्मीलितं तूलिकयैव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥ १।३२।

देखा तो 'समाधिस्थ' जटा-जूटधारी' त्रिलोचन के धैर्य का भी बांध टूटने लगा (५३–५७)[1]।

रति को भी ले जाने वाली इस रूप-राशि को देखकर समाधि से सद्यःनिवृत्त शंकर का धैर्य जाता रहा। उनके हृदय में कुछ हल-चल सी मच गई। पार्वती के बिम्बफल के समान लाल-लाल अधरों को ललचाई हुई आँख से देखने लगे। इधर मानों पूर्णिमा के चाँद को देखकर समुद्र में ज्वार आ गया और उधर पार्वती जी भी फूले हुए नये कदम्ब के समान पुलकित अंगों से हृदयस्थ प्रेम को प्रकट करती हुई लजीली आँखों से अपने सुन्दर मुख को बड़े अन्दराज़ के साथ तिरछा करके खड़ी हो गईं[2]।

देखा ? इस अनुपम आलम्बन और उद्दाम उद्दीपन ने किस प्रकार 'अभिलाष' को जन्म दिया। और मौका पाकर आ टपके विविध अनुभाव भी। साथ ही शृंगार का संयत एवं व्यञ्जनात्मक रूप भी दर्शनीय हैं।

'चक्षुप्रीति' ने 'अभिलाष' को जन्म दिया। वेदना जागी, शंकर में कुछ कम और उमा में कुछ गहरी। काम उतावला हो उठा शृंगार की समस्त भूमियों को पार किये बिना ही रति के लिए अतः एक तूफान आया जिसने क्षण भर में ही 'काम' का काम तमाम कर दिया, और उमा, शून्य-हृदया उमा, बड़ी कठिनाई से लौट आई अपने भवन को, यही तो उसके सच्चे अनुराग की परीक्षा थी, सभी जानते हैं कि पार्वती ने फिर किस प्रकार 'अरूपहार्य' को रूप से जीतने की अभिलाषा छोड़कर नये मार्ग पर चलने का संकल्प

---

१. आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ ३।५४।
स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥ ५५।
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥ ३।५७।

२. हरस्तु किंचित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोलोचनानि ॥ ३।३७।
विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ३।६८।

किया। मां ने बहुत चाहा कि वह इस कठोर मार्ग से विरत हो जाय किन्तु उसका 'अनुराग' संग की कामना (रागात्संगबुद्धिः स्यात्) इतनी प्रबल हो चली थी कि स्वयं मातृशक्ति भी उसे डिगा सकने में समर्थ न हो सकी। राग दृढ़ था, अतः स्नेह की उपलब्धि के लिए कठोर साधना प्रारम्भ हो गई। कोमल कटि मूंज की तिहरी करधनी से छिल-छिल कर लाल हो गई। होठों को लाक्षा राग से रंगने वाली सुकोमल अंगुलियों पर कुशा के अंकुर उखाड़ने से घाव हो गये। मृदु शय्या पर फूलों की चुभन को भी सहन न कर सकने वाला कोमल तन हाथ का तकिया लगा कर रूखी भूमि पर विश्राम करने लगा (५-१०-१२)।

यद्यपि पार्वती के इस पवित्र स्नेह का ससर्ग पाकर सारा तपोवन ही पवित्र हो उठा उसके समस्त वातावरण में एक अद्‌भुत परिवर्तन आ गया, चराचर प्रकृति उसके सामने सिर झुकाने लगी (५-१३-१७) किन्तु अभी प्रेम की परीक्षा पूरी नहीं हुई थी। उसके लिए अभी और अधिक तपस्या और बलिदान की आवश्यकता थी। अतः शरीर-निरपेक्ष कठोर साधना प्रारम्भ हुई। ग्रीष्म का झुलसाता हुआ सूर्य, वर्षा के मूसलाधार बरसते हुए मेघ और शिशिर का कड़कड़ाता शीत कोई भी जब उसे डिगा न सका तो प्रेमी को स्वयं ही उठ कर उसके पास आना पड़ा और कहना पड़ा[1]। गौरी जी भला! बतलाइए तो सही कि आप कब तक तपस्या करती रहेंगी? मैंने भी ब्रह्मचर्य अवस्था में बहुत सी तपस्या इकट्ठी की हुई है। उसका आधा भाग मैं आपको दे सकता हूँ और उससे आप जो चाहे, साध पूरीकर लिजिए। किन्तु इतना तो बतला ही दिजिए कि आप की साध है क्या? वस्तुतः यह स्नेह कसौटी पर ऐसा खरा उतरा कि स्नेही को उसे अपने 'अर्धभाग' की अधिकारिणी बनाना ही पड़ा।

यद्यपि सखी ने कह तो दिया कि 'पिनाकपाणि पतिमाप्तु-मिच्छति" किन्तु प्रेमी की शरारत तो देखिये कि स्वयं प्रिया के मुख से ही उसे सुनने को आतुर है। और जब प्रेयसी ने संकेत से ही सखी की बात की पुष्टि की तो और भी परीक्षण की भावना

१. कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रम-संचितं तप.।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥ ५।५०।

लगी। अतः शिवनिन्दा की झड़ी लग गई। यहाँ तक कि वह सुनने वाले को असह्य हो उठी, क्रोध से पार्वती के होंठ काँपने लगे। आँखें लाल हो गई और भ्रुकुटियाँ चढ गई। और अन्त में क्षुब्ध होकर उन्हे कहना ही पड़ा—ब्रह्मचारी जी, बात असल में यह है कि आप उन्हे भली प्रकार जानते ही नही। जो खोटे लोग होते है वे महापुरुषों के उन कार्यो की निन्दा करते है जिन्हें कि वे पहचानने की योग्यता नही रखते। तथा और भी जो कुछ कहा उसे भी सुन लीजिए :—(५.७५–८३) और अन्त में बात यहाँ तक पहुँची कि पार्वती जी क्रुद्ध कर कहने लगीं—

अलं विवादेन यथाश्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनस्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।
निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।।५।८२।

क्यों नही, प्रेम की स्थिति भी तो है 'तद्वियोगासहं प्रेम' सच्चा अनुराग रंग लाया और नौबत पहुंच गई "**न ययौ न तस्थौ**" (वह न तो जा ही सकी और न रुक ही सकी) तक। और आखिरकार चन्द्रमौलि को भी कहना पड़ा 'हे कोमलाङ्गी आज से तुम मुझे अपना तप से खरीदा हुआ दास समझो।' यह सुनना था कि प्रिय को पाने के लिए सहे गये समस्त कष्ट क्षण भर में ही विस्मृत हो गये[1]।

प्रेम की परिणति हुई चाह भरी चितवन और मधुर लज्जा की अठ खेलियों के साथ (७.७५) और अग्निदेव के साक्षित्व में। पिता द्वारा सौपे गये हाथ का जब प्रथम स्पर्श हुआ तो उधर शैलजा को रोमांच हो आया और इधर महादेव जी की अंगुलियो से पसीना छटने लगा। '**रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्** ।। ५।७७ ।। बस फिर क्या था, अशरीरी कामदेव पुनरुज्जीवित हो उठे और उन्हें अधिकार मिल गया यथेच्छ शर-सन्धान का[2]। इस प्रकार शृंगार जब अनुरागभूमि को पार कर

---

१. अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।।५।८६।
२. तस्यानुमेने भगवान् विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ।। ७।९३ ।

रति-भूमि में पहुंचा तो चारों ओर चराचर जगत् में मादकता मचल उठी। 'रजनीश अपनी किरण रूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के मुख पर बिखरे हुए अन्धकार रूपी केशपाश को धीरे से समेट कर उसके मुख का चुम्बन कर रहा है और वह भी मानों उसका रस लेती हुई अपते कमल रूपी नेत्रों को बन्द किये बैठी है[1]।

इस प्रकार धीरे-धीरे प्रकट हो उठा काम का उद्दाम रूप। क्योंकि सब कुछ एकान्त में अनावृत रूप में हो रहा था इसलिए कामशास्त्र में निष्णात रसिक कवि भी अपने वर्णन की विशिष्ट शैली व्यञ्जना के आवरण को एक ओर फेंक कर शुद्ध अभिधा की बांह पकड़ कर मैदान में उतर आया और अपनी लेखनी से गुदगुदाने लगा रसिकों के हृदयों को बार-बार (८. १-२०;-८३) जिसको कुछ झांकियां इस प्रकार हैं। प्रस्तुत हैं लजीली नवेली वधू पार्वती।

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः॥ ८. १॥

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवतेस्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥
८. २॥

कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वतीप्रतिमुखं निपातितम्
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत्॥
८. ३।

नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तयाकरः।
तद्दुकूलमथ चाभवत् स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीवि-बन्धनम्॥४॥

एवमालिनिगृहीतसाध्वसं शंकरो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये॥ ५॥

अप्यवस्तुनि कथा-प्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ॥ ६॥

शूलिनः करतलद्वयेन सा सन्निरुध्य नयने हृतांशुका।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत्॥ ७॥

---

१. अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥ ८।६३।

चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥ ८ ॥

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत् ।
पिडीतं च सदय प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरम् ॥ ९ ॥

यह तो था 'समाधिक लज्जावती, रतिवामा मुग्धा' नायिका का रूप। किन्तु यह स्थिति धीरे-धीरे बदलने लगी समय और सहवास के साथ साथ। और अब देखिए 'ईषत् प्रगल्भा-मध्या' नायिका का रूप भी—

वासराणि कतिचित्कथंचन स्थाणुना रतमकारि चानया ।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥ १३॥

सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥ १४ ॥

भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम् ॥
कैश्चिदेव दिव :स्तथा तयोः प्रेमरूढमितरतराश्रयम् ॥ १५ ॥

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया ।
शिक्षितं युवति-नैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥ ७ ॥

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ॥ २० ॥

और इसके बाद इस सर्ग के अन्त में तो पार्वती का वह रूप सामने आने लगता है जो कि उसे, स्मरान्धा प्रगल्भा' की कोटि में रख छोड़ता है और उधर भगवान् शंकर भी अत्यन्त दक्षिण नायक की भांति विभिन्न प्रकार की काम क्रीडाओ से उन्हे मुग्ध कर डालते हैं। बात बहुत आगे बढ़ गई। सब प्रकार की लज्जा एवं संकोच जाता रहा। यहां तक कि—

'दोनों के केश छितरा गए, चन्दन पुंछ गया, नखचिन्ह भी इधर के उधर हो गए, पार्वती जी की करधनी टूट पड़ी किन्तु फिर भी पार्वती के साथ रति करते को तृप्ति न हुई।'

यही वह प्रसंग है जिसे लेकर अनेक आलोचकों ने कालिदास

---

१. क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिद्रुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥ ८. ८३ ॥

की अत्यन्त कटु आलोचना की है। यों तो ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह वर्णन वस्तुतः अत्यन्त विलासी, अश्लील एवं अमर्यादित सा लगता है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि 'क्षणं स्थिताः पक्ष्मषु ताडिताधरा०" के द्वारा नारी के अनिद्य सौन्दर्य और 'अनाघ्रातं पुष्पं०" के द्वारा उसके अभुक्त यौवन की व्यञ्जना करने वाला कवि यहाँ पर कोरी अभिधा पर उतर आया, इसमें आवश्य कोई रहस्य होना ही चाहिए। इसका समाधान किये बिना हम कालिदास पर अंगुलि नही उठा सकते, ऐसा मैं समझता हूँ।

शकर-पार्वती रति-प्रसग का औचित्य और अनौचित्य

यहाँ पर एक विशेष स्मरणीय बात यह है भारतीय आचार्यो में, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने रसदोष के प्रसंग मे 'उत्तम देवता विषयक रति वर्णन' को रस-दोष अवश्य कहा है पर, किसी ने भी इस प्रसंग में न कालिदास का और न 'कुमार सम्भव' के इस सर्ग का ही उल्लेख किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस प्रसंग में 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव का तो उल्लेख किया है पर कालिदास का नहीं। इस जानबूझ कर मौन रहने की बात का भी कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य अवश्य होना चाहिए।

बात यह है कि इस प्रसंग पर ऊपर से हम चाहे जितना नाक भौं सिकोड़ते रहें किन्तु 'फ्रायड' के चेले बता सकते है कि मानव मन इस काम-भावना से कितना 'लिप्त' या 'मुक्त' है। वर्णन स्वयं में सचाई के कितने निकट तथा कितना बिम्बग्राही है शायद बतलाने की आवश्यकता ही नहीं। इतने दिनों से संजोये हुए अनुराग की परिणति का (दम्पती के प्रथम समागम का) इससे अधिक सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक चित्र कोई और प्रस्तुत कर सकेगा इसमें सन्देह है। फिर यहां काम 'अतनु' है तो मन 'भावैकरसस्थित'। ऐसे शृंगार पर क्या आलोचना की जाय स्वयं सवेद्य है।

बात तो खरी सी है पर समझ में आ जाय तब ना! यदि थोड़ी देर के लिए हम अपने बाह्य नैतिकता के चोले को उतारकर खूंटी पर टाँक दें और 'उमा-शंकर' के प्रकरण से निरपेक्ष होकर रस के साधरणीकरण की स्थिति में इस वर्णन को पढ़ें तो सन्देह

नहीं कि कालिदास के प्रति हमारी उक्त धारणा बदली दिखाई देने लगे और हम उसकी कला का उचित मूल्यकांन कर सकें।

यहाँ पर साधारणीकरण की प्रक्रिया पर यदि हम कुछ विचार करलें तो अनुचित न होगा। इस विषय को लेकर हमारे साहित्य-चार्यों में बहुत प्राचीनकाल से ही बड़ा वाद-विवाद चलता रहा है और भट्टनायक अभिनवगुप्त आदि आचार्यो ने इस पर अपनी जो मोहर लगाई है उसे बाद के सभी आचार्यों की मान्यता मिलती रही है। साधारणीकरण का सिद्धान्त वस्तुतः काव्यशास्त्र के लिए एक अमर वरदान सिद्ध हुआ। इसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी। क्योंकि जब तक पाठक या श्रोता व्यक्ति-निरपेक्ष होकर काव्य के भावन द्वारा सर्वजन-सुलभ भाव की सामान्य भूमि पर नहीं पहुंच जाता तब तक रस की वास्तविक अनुभूति हो ही नहीं सकती। हम रसास्वादन की अवस्था को तभी प्राप्त कर सकते हैं जब कि हम काव्यगत पुरुष वा नारीविशेष— राम-सीता, दुष्यन्त—शकुन्तला के विशिष्ट रूप को भूल कर उसे केवल मात्र पुरुष और स्त्री की साधारण अवस्था में न देखने लगें। हमें काव्य का आनन्द (स्नेह, करुणा, घृणा क्रोध आदि) तभी प्राप्त हो सकता है जब हमारी अनुभूति कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित करले। वैसे किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति हमारी परम्परागत पूज्य बुद्धि हो सकती है किन्तु जब हम काव्य में उसे देखते हैं तो वह वही व्यक्ति विशेष न रह कर केवल स्त्री या पुरुष विशेष रह जाता है। इस प्रकार साधारणीकृत अवस्था में वह केवल कवि की अनुभूति का प्रतीक रह जाता है। अत: यदि कवि की उसके प्रति अमिश्रित शृंगार की अनुभूति है तो हमें भी वैसी ही होगी और इसके विपरीत यदि कवि की अनुभूति श्रद्धा-मिश्रित रति की है तो हमें भी वैसी ही होगी। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं।

काव्य-गत आलम्बन का किस प्रकार साधारणीकरण होता है इस विषय में हम यहाँ एक और विवेचन उद्धत करते हैं जिसमें विद्वान आलोचक ने बड़े सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में इसे प्रस्तुत किया है। नायक का साधारणीकरण न हो सकने की बात पर विचार करने के उपरान्त प्रश्न आता है "क्या आलम्बन का साधारणी-

करण होता है? अर्थात् पुष्पवाटिका के प्रसंग में (रामचरित मानस) जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की रति जागृत हो जाती है? क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्ट नायक आदि) 'शान्तं पापं, शान्तं पापं' कह उठता है, और उसने स्पष्ट शब्दों में तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नहीं? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है? अगर माता ही बनी रहती है तो कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृंगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नहीं देखेंगे, शृंगार रस की दशा से दूर रहेंगे। और इस में कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ-बुद्धि रखते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र है; जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा में जैसा कि तुलसी के शृंगार चित्रों से स्पष्ट है हमें अमिश्रित शृंगार नहीं मिलता। हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन-रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हम को किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो। वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है[१]।"

इस प्रकार "तुलसीदास की यदि उस सीता के प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हम को भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमार-सम्भव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंगों को पढ़ कर यदि हमें अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीतिकवि की तद्-विषयक

१. डा० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका पृ. ४७।

अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि (Complex) नहीं थी। यह सीधा सत्य है।"

इसके अतिरिक्त भारतीयता के परम पुजारी, सहृदय आलोचक श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने शकर-पार्वती के इस रूप को जिस रूप में देखा है, वह भी ध्यान देने योग्य है। वे कहते है—"यह काव्य शिव-पार्वती के विवाह और कुमार के जन्म की ही कथा कहता है। इसलिए समष्टिप्रेम का काव्य है। शिव कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि 'विश्वमूर्ति' हैं। पार्वती निखिलभूत में व्याप्त ह्लादिनी शक्ति हैं। इसलिए कवि ने इसके मंगलाचरण में केवल एक ही शब्द का प्रयोग किया है जो प्रथम श्लोक में आया है— 'अस्ति' अर्थात् 'है'। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के साथ तुलना करने पर यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वहाँ अष्टमूर्ति शिव की वन्दना है अर्थात् जो शिव अपने आप को बहुधा विभक्त करके संसार में व्याप्त है उनसे कल्याण प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। वह व्यक्ति-प्रेम का काव्य है जब कि कुमार-सम्भव समष्टि प्रेम का काव्य है। इसीलिए कवि ने केवल 'अस्ति' शब्द का प्रयोग कर के इंगित से यह बताने का प्रयत्न किया है कि शिव और पार्वती का प्रेम सत्ता-मात्र है। वह 'है' प्रत्येक पिण्ड के भीतर मनुष्य लोक से देवलोक तक व्याप्त महाशक्ति की प्रेमलीला है। यह सम्भव है कि कालिदास ने अपने काव्यों में पुरुष और स्त्री के पारस्परिक आकर्षण का जो मोहक चित्रण किया है उसके कारण कुछ लोग उनके जीवनकाल में ही उन पर घोर श्रृङ्गारी कवि होने का दोषारोपण करने लगे हों और उन्हीं आक्षेपों के उत्तर में कवि ने पुरुष और स्त्री के प्रेम को शाश्वत भूमिका पर रखभर इस महान् काव्य के प्रणयन की बात सोची हो। इस काव्य में स्पष्ट रूप से कवि ने यह घोषणा की है कि देवाधिदेव शिव नें ही पुरुष और स्त्री के रूप में अपने आपको द्विधा विभक्त किया है[१]। इस पुरुष तत्त्व और स्त्री तत्त्व में जो पारस्परिक आकर्षण है वह भगवान् शिव की आदि सिसृक्षा का ही विलास है[२]।

उपर्युक्त विवेचन से कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता

---

१. स्त्रीपुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।

२. का० ल० यो० पृ० १४।

है कि 'कुमारसम्भव' का यह शृंगार-चित्रण सैद्धान्तिक रूप में किस प्रकार आलोच्य है तथा इसमें वर्णित शंकर-पार्वती के प्रति कालिदास क्या दृष्टि कोण रहा है। निश्चय ही यहाँ इस दम्पति का रूप "जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" की भावना से कुछ भिन्न है। कालिदास की दृष्टि में मानव ही समस्त क्रियाओं का आदर्श आधार-बिन्दु होने के कारण शंकर-पार्वती भी आदर्श नव-दाम्पत्य के प्रतीक ही है। कवि की दृष्टि यदि 'जगतः पितरौ' की होती तो वह इस प्रकार का वर्णन कर ही नहीं सकता था। जब प्राकृत नर भी माता-पिता के शृंगारवर्णन की कल्पना नहीं कर सकता तो फिर कालिदास जैसा संस्कृत एवं परिमार्जित रुचि का कवि इसका वर्णन कर ही कैसे सकता है? इसके लिए हमें उसके दृष्टिकोण को समझना होगा। इस वर्णन की स्थिति में यदि लौकिक भाव प्रबल हो जाए तो फिर तो कोई भी सुसंस्कृत रुचि का कवि शृंगार वर्णन कर ही नहीं सकता। किसी भी नायक-नायिका के वर्णन में कन्या-भागिनी, पुत्र-बन्धु का भाव भी आ सकता है। ऐसा होने पर फिर रस आस्वाद्य कैसे रह सकता है? अतः मानना होगा कि सिद्धान्ततः यद्यपि इसमें दोष के लिए अवकाश कम है किन्तु क्रियात्मक रूप में इसे सफलता पूर्वक निभा सकना सामान्य प्रतिभाशालि कवि के लिए सम्भव नही। अतः अनेक आचार्यों ने इस प्रकार के रस वर्णन का जो विरोध किया है वह व्यवहारिक रूप से ठीक है। यही कारण है कि मम्मट तक के सभी आचार्यों ने इस प्रकार के रस-निरूपण की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करने का यत्न तो किया है पर किसी ने भी सप्रसंग कालिदास को इसके लिए दोषी ठहराने का उल्लेख नहीं किया है।

अनावृत शृंगार-चित्रण

यह ठीक है कि कालिदास कहीं-कहीं ऐसे अनावृत शृंगार पर उतर आते हैं जिसे कि हमारे संस्कार उसी रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं होते, पर कालिदास ने प्रथम बार ऐसा किया हो ऐसी बात नहीं। उनसे पूर्ववर्ती साहित्य में भी उसकी स्थिति बराबर इसी रूप में पाई जाती है। पर न उसकी ओर हमारा ध्यान ही जा पाता है और न हम उस पर आक्षेप ही कर पाते हैं। क्योंकि वह ऋषियों की दिव्य वाणी होती है अतः हम बिना संकोच के उस आर्ष वाणी को स्वीकार कर लेते हैं तथा उसमें

निहित गूढ तत्त्व को समझने का यत्न करते हैं। किन्तु इसके विपरीत कालिदास को केवल मात्र एक शृंगारी कवि मान कर उस की उक्तियों को देखकर चौंक उठते हैं और नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं, उसके तत्त्व को समझे बिना ही।

'मेघदूत' की जिस पंक्ति को देखकर हमारे नैतिकता-वादी आलोचक चौंक पड़ते हैं—वह यही तो है न—"ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।' प्रथम तो बात यह है कि कालिदास ने मेघदूत की रचना न अप्रौढ़ों के लिए की थी और न धर्मोपदेशकों के लिए। दूसरे कालिदास ने प्रथम बार इतनी स्पष्ट भाषा में ऐसी बात कही हो यह बात भी नहीं। स्वयं आदिकवि, जिन्हें कि कालिदास ने अपना आदर्श माना है, इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत कर चुके थे। विश्वास न हो तो ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

> नीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्तनस्ततः।
> वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता॥
>
> दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः
> नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः॥

ऐसे ही 'कुमार सम्भव' में उमा-शंकर की रति का जो रूप चित्रित किया गया है वह भी औपनिषदिक ऋषियों की वाणियों का ही सरस काव्यात्मक निरूपण है[१]।

न जाने हम यह क्यों कर भूल जाते हैं कि जो व्यक्ति भारतीय आदर्शों और मर्यादाओं की रक्षा के लिए भोलीभाली निसर्ग कन्या को राजदरबार से अपमानित करवा कर कठोर, व्रती जीवन बिताने के लिए विवश कर सकता है, स्वेच्छा विहार करने

---

१. (क) "योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते (वृहदारण्यक उप०)॥ १६।१६।२।

(ख) उपमन्त्रयते स हिंकारो, क्षपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सहशेते स उद्गीथः, प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः, कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् (छान्दोग्य०) ॥ १।१३।२ ॥

वाली अप्सरा को गृहस्थ के पवित्र बन्धन में बाँध कर ही दम लेता है, असंयमित काम को क्षण भर में ही राख का ढेर करवा डालने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। पार्वती के कठोर तपस्या से विजित स्नेह को भी तब तक उसे पाने की अधिकारिणी नहीं समझता जब तक कि उस पर पिता की अनुमति की मुहर न लग जाए (कुमार० ६।१)। उद्दाम वासना के क्षणों में भी जो महादेव से सन्ध्या-वन्दन करवाना नहीं भूलता (वही० ८।४७-४८) एव दुष्यन्त और शाकुन्तला के एकान्त विवाह को भी सरलता से मान्यता देने को तैयार नहीं, वह क्यों कर इस प्रकार मर्यादा का उल्लघन सकता है? शायद हम फिर भूल करते हैं कि कालिदास पाणिग्रहण की पवित्र विधि से सम्बद्ध तपःपूत पति-पत्नी के सम्भोग का वर्णत कर रहे हैं किन्हीं काम-लोलुप नायक-नायिकाओं का नहीं, जरा देखिए तो उनके विचित्र विधान को। इस कामक्रीडा का फल केवल मात्र शारीरिक बुभुक्षा की तृप्ति या विलास भर नही अपितु इसका फल है लोकों को पीड़ित करने वाले धूमकेतु का नाश, अथवा मानवीय जीवन पर काम के अप्रतिहत प्रभाव की अनिवार्यता। अब जरा ठण्डे दिल से विचार कीजिए और फिर कहिए कि क्या कालिदास का विधान कुछ समझ में आया? किसी रसिक आलोचक ने शायद इसी प्रसग को ध्यान मे रखते हुए कालिदास की एक और आलोचना भी की तो इन शब्दों में कर डाली।

> रम्या श्लेषवती प्रसादमधुरा श्रृङ्गारसङ्गोज्ज्वला
> चाटूक्तैरखिलप्रियैरहरहः सम्मोहयन्तीमनः॥
>
> लीलान्यस्तपदप्रचाररचना सद्वर्णसंशोभिता
> भाति श्रीमतिकालिदासकविता कान्तेव कान्तेरता॥
>
> (अमोघ राथवकार-दिवाकर)

श्रृंगार क्षेत्र में 'कुमारसम्भव' के बाद आता है 'रघुवंश' का स्थान। अपने इस महाकाव्य में भी कालिदास ने स्थान-स्थान पर प्रस्तुत एव अप्रस्तुत विधानों के द्वारा श्रृगार की सुन्दर व्यञ्जना की है, इन्दुमती के स्वयंवर पर आये हुए नरेशों की जो 'श्रृगार-चेष्टाए' है (श्रृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः ६।१२) वे भी दर्शनीय हैं (६।१३-१९)। और इन श्रृगार-

रघुवंश की श्रृङ्गार-योजना

चेष्टाओं को देखकर 'श्रुतवंशलभा पुंवत्प्रगल्भा' सखी सुनन्दा ने तदनुरूप जो उत्तर दिए वे भी कम सुन्दर नहीं (६।२४, २९, ६५, ४३, ५०, ५७, ६५, ७९)। जब वह 'पतिंवरा' इन्दुमती 'संचारिणी-दीपशिखा' की भाँति अन्य नरेशों के चेहरों को उदास करती हुई आगे बढ़ी तो 'सर्वावयवानवद्य' अज को देखकर वहीं निश्चिल हो हो गई। पैर आगे न बढ सके और स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभावों ने आ घेरा[१]।

ठीक भी है जब कुल, वय, गुण आदि की समता हो तो 'रत्नकाञ्चन संयोग' होना ही चाहिए (६।९) आखिर सुनन्दा की पैनी दृष्टि ने जिस संयोग को समुचित समझा, वह सभी दृष्टियों से ठीक होना चाहिए।

इस आलम्बन और उद्दीपन ने मिलकर ही तो अज और इन्दुमती के उस 'पूर्वराग' को जन्म दिया (७।२२-२३) जिसके परिपाक की झाँकी हमें अज विलाप (८।४४=६८) के अंगभूत शृंगार में मिलती है।

इसके अतिरिक्त 'रघुवंश' के तेहरवें सर्ग में भी प्रकृति की पृष्टभूमि पर शृंगार के संयोग तथा वियोग पक्षों की मधुर झांकी प्रस्तुत की गई है। राम पुष्पक विमान से सीता जी के साथ लंका से आयोध्या को लौट रहें हैं। समुद्र एवं वेलातट के दृश्यों ने वरवश उनके मन को मोह लिया और वे न जानकी जी से कहने लगे—देखो! यह समुद्र कैसा दक्षिण नायक है। दूसरे लोग स्वयं स्वयं तो अपनी प्रेयसियों का अधर-पान करते हैं किन्तु अधर पान का उन्हें कभी अवसर नहीं देते। पर समुद्र का व्यवहार इस विषय में अन्य पतियों से भिन्न है। क्योंकि जब नदियां ढीठ होकर चुम्बन के लिए अपना मुख इसके सामने बढ़ाती है तब यह बड़ी चतुराई से अपना तरंग रूपी अधर उन्हें पिलाता है और स्वयं उनके अधरों का पान करता है[२]।

---

१. तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।।
नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ।। ६।६९ ।

२. मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः । १३ ९ ।

फिर आगे चलकर वे कहते हैं—'हे विशालाक्षि! समुद्रतट का वायु तुम्हारे मुख मण्डल पर केतकी का पराग छिड़क रहा है। मानो वह समझ गया है कि मैं तुम्हारे अधरों को चूमने के लिए उतावला हो रहा हूँ और इसके लिए शृंगार-प्रसाधनों की प्रतीक्षा नहीं कर सकता[1]।

राम अपने पिछले बनवासकाल में सन्यासी बन कर नहीं रहे इसका भी संकेत दे रहीं हें वे मधुर स्मृतियाँ जिनका जिक्र किया जा रहा है, इसी प्रसंग में पञ्चवटी के दृष्टि पथ में आते ही राम को वहाँ पर बिताये हुए अपने गार्हस्थ्य जीवन की घटनाओं की स्मृति हो आई और वे कहने लगे—सीते! मुझे आज उन दिनों की याद आ रही है जब मैं यहाँ पर एकान्त में इस वेतस के कुञ्ज में तुम्हारी गोदी में सिर रख कर सो जाया करता था और गोदावरी की लहरों के ससर्ग से शीतल वायु मेरी आखेट की थकान को मिटाया करती थी[2]।

'चित्रकूट' पर विमान पहुँचा तो बनवास-काल के प्रिय मण्डल का एक और प्रसग याद हो आया। सीता जी को सम्बोधित करके कहने लगे—'इस पहाड़ की ढाल पर जो तमालवृक्ष दिखाई दे रहा है यह वही है जिसकी कोपलों का कर्णफूल बना कर मैं तुम्हारे कान में पहनाया करता था और जो तुम्हारे जौ के अंकुर के समान पीले कपोलों पर लटका हुआ बड़ा सुन्दर लगता था (१३ ४९)।

इस प्रकार इस प्रेमी युगल की वियोग-स्थिति भी तो कम हृदयस्पर्शी नहीं। राम जानकी को बतला रहे हैं कि—तुम्हारे वियोग में मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन स्तन के समान गुच्छों वाली इस अशोक लता को मेने यह समझ कर गले लगाना चाहा था कि यह तो तुम ही हो। और मैं उसे गले लगाने ही वाला था कि लक्ष्मण ने आंखों में आँसू भर कर मुझे रोक दिया[3]।

---

१. वेलानिलः केनकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम्॥ १३.१६।

२. अत्रानुगोद मृगयानिवृत्तस्तरगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ १३.३५।

३. इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्धया परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः॥ १३.३२।

उधर सीता की भी तो यही दशा है उसे लज्जा है इस बात की कि राम-निधन, झूठे ही सही, सुनकर भी वह क्यों कर जीवित रही ? (१२।७५) । इसके अतिरिक्त नवम सर्ग को वसन्त-वर्णन (९।३१—४७) शृङ्गार की मधुर भावनाओं से सराबोर है। उसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं :—

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयार्पितलज्जया ॥ ९. ३१ ।

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितं रविरलंविरलंकृतवान् हिमम् ॥
९. ३२ ॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं, पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहं भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ ९. ४६ ॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ ९।४७ ।

कुछ कुछ ऐसा ही है वह ग्रीष्म भी जिसमें महाराज कुश अपनी रानियों के साथ सरयू में जल-विहार करते है—(१६।४५-७०)। जल-विहार करती हुई विलासिनियों की शोभा का वर्णन करते हुए कुश कह रहे हैं—

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ।।१६.६१।

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनाभ्याम् ,
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ।। १६.६३ ।

सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः,
अमी जलापूरितसूत्रमार्गाः मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ।।१६.६५ ।

इसके अनन्तर आता है रघुवंश के १९ वें सर्ग का अग्निवर्ण का वह विलास-वर्णन जिसके आगे किसी भी विलासी सामन्त का विलास फीका पड सकता है। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' के उच्चादर्श के निर्माता सम्राटों के वंश में वह कलंक भी उत्पन्न हुआ जिसने उस प्रतापी रघुवश के सूर्य को सदा के लिए डुबा दिया। यह संम्पूर्ण सर्ग ही घोर श्रृंगार से भरपूर है (१९.९-४७)। जिसके कुछ नमूने निम्नलिखित हैं—

चारुनृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात्।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरः ॥ १६.१५ ।

तस्य सावरण-दृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥१६.१६।

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ १६.२६ ।

चुम्बनेपरिचर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ १६,२७ ।

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ १६.३२ ।

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥१६.३५।

और इस अत्यधिक विलास का जो परिणाम हुआ वह सर्व विदित है। शृंगार के इस उग्र वर्णन से कालिदास का क्या अभिप्राय है इसे कहने की अवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

रघुवंश में और भी अनेक छोटे-मोटे प्रसंग आ जाते हैं जहाँ पर कालिदास के ललित उद्गारों की झांकी देखने को मिल जाती है। यह तो निश्चित है कि शृंगारिक वर्णनों में हमारे कवि का मन अधिक रमता है। इसके लिए इतना ही संकेत प्रर्याप्त होगा कि ताड़का वध के प्रसग में भी वह शृंगारोक्तियों के लोभ का संवरण न कर सके। राम का बाण जाकर सीधा ताड़का के वक्ष पर लगा और वह तुरन्त ही यमलोक को चली गई। इसी पर कालिदास क्या कहते हैं सुनिए—

शृङ्गार का अनुचित मोह

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ ११.२०

हृदय पर राम के बाण की लक्ष्य बनने के कारण रुधिर से लिप्त ताड़का इस प्रकार सीधे यमलोक को चली गई जिस प्रकार कि काम के बाणों से घायल कोई नायिका अपने प्रिय के पास जा रही हो[1]।

१; द्रष्टव्य—रघु० ७। ६३ ।

'रघुवंश' के बाद 'कालिदासत्रयी' में स्थान आता है 'मेघदूत' का। जहां इन महाकाव्यों में सम्भोग शृंगार का चरमोत्कर्ष दिखाइ देता है वहां मेघदूत में विप्रलम्भ का।

मेघदूत में शृङ्गारिक निरूपण

यहाँ तो वेचारे यक्ष का परिचय ही 'अबला-विप्रयुक्तः स कामी' के द्वारा दिया गया है। इन शब्दों के द्वारा मानों महाकवि ने सक्षेप मे विप्रलम्भ शृंगार की परिभाषा ही लिख डाली। जिस काव्य की प्रथम पक्ति ही इन शब्दों से प्रारम्भ होती हो, वह पदे-पदे यदि विप्रलम्भ शृंगार की अनुपम छटा दिखलाये तो इसमें आश्चर्य क्या ?

प्रकृतिगत

फिर 'कामी' शब्द भी तो निरभिप्राय नहीं। कवि ने 'कामी स्वतां पश्यति' को आधार मानकर ही पूर्व मेघ की समस्त एवं दृश्यों का चित्रण किया है। मेघ को देखते हो कण्ठाश्लेष प्रणयिजन' की याद आई और मन 'अन्यथावृत्ति' हो गया। यों तो मेघ को आता देखकर चराचर जगत् सभी आल्हादित होता है पर कवि के मेघ पर विशेष कृपा दृष्टि हुई है, 'मुग्ध सिद्धाङ्गनाओं की' 'भ्रूविलासानभिज्ञ जनपद वधुओ की' या, धूप से परिम्लानवदन पुष्पलावियों की'। मेघ मालक्षेत्र को पार कर आम्रकूट पर जा पहुँचा और उसकी चोटी पर विश्राम के लिए उतरा। चारों ओर से पके हुए आमों के वनों से घिरे हुए आम्रकूट की चोटी पर बेठे हुए मेघ को देखकर कवि की रसभरी कल्पना कहाँ जा पहुँची, देखिए—पके हुए जगली आमों से घिरे हुए उस पर्वत की चोटी पर जब चिकनी काली वेणी के रग वाले तुम बंठोगे तो उस समय देवदम्पतियों के द्वारा दर्शनीय तुम्हारी शोभा ऐसी ही होगी जैसे कि वह श्याम अग्रभाग वाला उठा हुआ पृथ्वी का स्तन हो।

इस पर्वत की महत्ता इसी में है कि वह वनचरवधूभुक्त है। (स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तम्।) और यही विशेषता है 'निचले' नामक पर्वत की भी।

---

१. छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः
त्वय्यारूढे शिखरमचल. स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्था
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः।

विश्राम के लिए 'निचले' नामक पर्वत पर जाकर रुकना जो कि तुम्हारा सम्पर्क पाकर खिले हुए कदम्ब के समान पुलकित हो उठेगा। उसकी कन्दराओं से उठने वाली गणिकाओं के भोग की रतिगन्ध वहां के विलासी नागरिकों के उद्दाम यौवन का संकेत करती है[१]।

उज्जयिनी तो मानों शृङ्गार और विलास की ही नगरी है। वहाँ गये बिना रसिक जीवन की सफलता ही कहाँ। वहाँ की नागरी नारियों के नेत्रों की चञ्चल चितवन यदि किसी ने न देखी तो उसने संसार में कुछ नहीं देखा। बल्कि यों कहें कि उसके देखे बिना तो इन नेत्रो का अस्तित्व ही व्यर्थ है[२]।

इसी रास्ते मे मिलने वाली 'निर्विन्ध्या' की शृङ्गार चेष्टाएं तो देखने योग्य है। वह उन्मादिनी बन कर कहीं भंवर रूपी नाभि को दिखाती फिरती है तो कहीं विहग-पक्ति रूपी रशना को झकारती हुई इठलाती है[३]। लहरो की थपेड़ों से किलकारी भरते हुए हसो की पंक्ति रूपी करधनी झंकारती हुई, अटपट बहाव से चाल की मस्ती प्रकट करता हुई और भंवर रूपो नाभि उघाड़ कर दिखाती हुई निर्विन्ध्या से मार्ग में मिलकर उसके रस का आस्वादन कर लेना। प्रियतम से स्त्री की पहली प्रार्थना शृङ्गार-चेष्टाओं द्वारा ही कही जाती है।

उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में नर्तन करती हुई वार विलासिनियों की चञ्चल चितवन के द्वारा मेघ का जो स्वागत

---

१. नीचैराख्य गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि।

२. विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वंचितोऽसि॥

३. वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।

होगा वह भी उपस्थित है'। पैरों की थिरकन में जिनकी करधनी की किंकिणियां बज उठती है तथा रत्नजटित चंवरों के डुलाने से जिनके हाथ थक जाते हैं ऐसी वेश्याएं नखक्षतों पर पड़ने वाली तुम्हारी जल बूंदों से आनन्दित हो प्यार भरी तिरछी चितवनों से तुम्हारी ओर देखेंगी।

मेघ को कामरूप पुरुष कहकर प्रकृति में जहाँ कहीं भी उसका काम सम्बन्ध है उस सब का ही वर्णन महाकवि ने एक सी स्पष्टता एवं निर्भीकता से किया है। कालिदास के इन स्पष्ट एवं निर्भीक वर्णनों पर अंगुलि उठाने वालों को सम्भवतः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के इस विवेचन से कुछ सन्तोष हो सके।

"कवि ने प्रतिज्ञा की थी 'जानामि त्वा प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।' उसी कामरूप के दर्शन हमने प्रकृति में सर्वत्र घूमकर किये। अचेतन चेतन में कहीं भेद न मिला। जड़ रामगिरि के चिरविरहोत्पन्न उष्ण आँसू और यक्षिणी के वर्षभोग्य विरह से उत्पन्न गरम निश्वास एक ही नियम का संकेत करते हैं। प्रकृति की विराट एकता ने चराचर को एक सूत्र में बाध रखा है। हमारे तमिस्रान्ध चक्षुओं को प्रायः अपनी महिमा के आगे कुछ सूझ नहीं पड़ता। पर कवि की सहस्राक्ष दृष्टि मे सब रहस्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये उसका मेघदूत सार्वभौम है। वह शुद्ध साहस से वेश्याओं के नखक्षतों को मेघ से मिलने वाले सुख का भी वर्णन करता है। थोथी विरक्ति से नाक भी नही सिकोड़ता। यदि वार विलासिनी उसके वर्णन की पात्र न समझी जांय तो उसका सर्वभौम चित्र अधूरा रहे। ऐसा तभी होगा जब कवि प्रकृति की सचाई से अपने अहंकार को न बढ़ जाने देगा। यदि मेघ के आने से पतिव्रता यक्षिणी का हृदय उन्मथित हो जाता है तो वेश्या नर्तकियों का रमणी हृदय किस संयम मे बन्धा रहेगा ? उस उद्दाम सरोवर मे सबसे पहले बाढ़ आयेगी। जब प्रकृति की वास्तविकता ऐसी है, तो कवि को क्या अधिकार है कि वह वेश्या हृदय को पतित जान कर उसकी उपेक्षा करे।"

---

१. पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामेरैः क्लान्त हस्ता
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्किटाक्षान् ॥

इसके आगे 'गम्भीरा' की तो बात ही निराली है। कभी जब उसमें गम्भीरता थी तब सम्भवतः वह अपने मनोभावों को किसी पर प्रकट ही नहीं होने देती थी। किन्तु आज इस कामरूप मेघ को देख कर तो उसका गाम्भीर्य ही जाता रहा। हृदय उत्कण्ठित हो उठा। मेघ का मोहक रूप उसमें प्रतिबिम्बित होने लगा और साथ ही आंखों से सैन चलने लगे तो कमर से साड़ी खिसकने लगी। अब तो मेघ को उसके अनुराग का निश्चय हो ही जाना चाहिए। इस लिए कवि का भी उसे उपदेश है कि वह अपने धैर्य को पकड़ कर न बैठा रहे—और अपनो सयम से कटाक्षों को निष्फल न कर दे। गम्भीरा के चित्त रूपी निर्मल जल में तुम्हारे सहज सुन्दर शरीर का प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही। किन्तु ध्यान रहे कि कहीं अपने धैर्य के कारण तुम उसके कमल से श्वेत एवं फड़कती हुई मछलियों से चंचल चितवन पर ध्यान न दो और उन्हे व्यर्थ ही कर डालो[1] ?

और फिर उसके आगे का रूप तो सर्वथा शब्दाभिव्यञ्जनीय शृंगार की सीमा पर ही जा लगा है। न जाने क्यों व्यञ्जना का आचार्य यहां इतनी अभिधा पर उतर आया है[2]। 'हे मेघ, गम्भीरा के तट से हटा हुआ नीला जल, जिसे बेत अपनी झुकी हुई डालों से छूते हैं, ऐसा जान पड़ेगा मानो नितम्ब से सरका हुआ वस्त्र उसने अपने हाथों से पकड़ रखा है।

हे मित्र ! उसे इसरूप में देख कर, उस पर झुके हुए तुम, वहां से कठिनता से ही जा पाओगे। क्योंकि जवानी का रस चख चुकने वाला ऐसा कौन रसिक होगा जो कामिनी के अनावृत जघन-स्थलों को देखकर उनका स्वाद लिये बिना ही वहां से चल दे।

---

१. गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने।
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि।

२. तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नील सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे ! लम्बमानस्य भावि।
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

इसी प्रकार के कुछ शब्दों में दिया है कवि ने अलका का प्रथम परिचय भी। 'उस कैलास की गोद में वह अलकापुरी वैसी ही स्थित है जैसे अपने प्रियतम की गोद में बैठी हुई कोई कामिनी और वहां से बहती हुई गंगा की नील धारा ऐसी ही लगती है जैसे कि उस कामिनी की साड़ी सरक पड़ी हो।'[1]

इससे आगे आ पहुँचती है 'यक्षेश्वरों की वसति' अलका जहाँ सब ओर ऐश्वर्य ही ऐश्वर्य है, विलास ही विलास है। इससे आगे सभी कुछ सुन्दर है, सरस है और हृदयस्पर्शी। किसे लिया जाय और किसे छोड़ा जाये, यह निर्णय करना बड़ा कठिन है। असल में तो कुछ भी छोड़ने योग्य नहीं। पर हमारी सीमाएं शायद हमें ऐसा करने न देंगी। अतः जो कुछ रह जाय उसे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह उससे किसी अंश में न्यून है जो कि यहाँ दिया गया है।

वहां के कामी और कामिनियों की शृंगार चेष्टाएं भी बड़ी रसभरी हैं। 'वहां के कामी जब उन लाल-लाल अधरों वाली कामिनियों की करधनियों को ढीली कर अपने चंचल

(ii) मानवगत

हाथों से उनकी ढीली साड़ियों को हटाने लगते हैं तो बेचारी लज्जा के मारे कुँकुँम की मुठ्ठियाँ भर फेंक-फेंक वहां जले हुए रत्नदीपों को बुझाने का विफल प्रयत्न करती हैं[2]।

रात्री के समय चन्द्र की किरणों के सम्पर्क से द्रवित होने वाली चन्द्रकान्त मणियों के शीतल द्रव ही प्रियतमों के गाढ़ालिंगन से शिथिल हुई कामिनियों के अंगों की रतिजनित थकान को मिटाता है[3]।

उसी अलकापुरी में रहती है वह यक्षपत्नी भी जो कि विधाता की सृष्टि में एकमात्र नारी सौन्दर्य का मानदण्ड है। छरहरा वदन,

---

१. तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यस कामचारिन्।

२. नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्तरत्नप्रदीपान्।
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः।

३. यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।

उभरता हुआ यौवन, नुकीली दन्त पंक्ति, कुंदरू (विम्ब) से लाल-लाल होंठ, पतली कमर, चकित हरिणी की सी चञ्चल चितवन, गहरी नाभि, गति के अवरोधक साभार नितम्ब, तनुलता को झुका डालने वाले उन्नत स्तन यही सब कुछ तो है विधाता की आदि सृष्टि उस यक्ष पत्नी का परिचय, और अपने साथी से वियुक्त हो जाने के कारण अब तो वह पाले से मारी कमलिनी सी मुरझा गई है और निरन्तर के रोने एव आहें भरने से उसका मुख भी कान्ति-हीन हो गया है। बड़ी ही दयनीय दशा है उस नव विरहिणी की ! कभी प्रियतभ की याद में आंसुओं से गीले गीत गाती है तो कभी पिछले भोगे हुए रति-सुखों की मन मे याद आते ही उसी की मधुर अनुस्मृति में खो जाती है (मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती।) बेचारी का दिन तो किसी न किसी प्रकार कट ही जाता है पर रात्रि को मनोविनोद का कोई साधन न होने से प्रियतम की याद कचोटने लगती है। सारी रात आंखों में ही बीत जाती है[1]।

हाय रे निर्दय विधाता ! उस नवोढ़ा यक्ष पत्नी की जो रातें अपने प्रियतम के साथ मनचाहा विलास करते हुए क्षण सी बीत जाती थीं उन्हीं द्रौपदी की चीर बनी हुई रातों को अब गर्म-गर्म आसू बहा कर तिल तिल काटा करती है[2]।

अब तो न चन्द्रिका अच्छी लगती है (पादानिन्दो०) और न प्रसाधन ही (**शुद्धस्नानात्, परुषमलकं**) बस आठों याम कोई चाह है तो केवल प्रियमिलन की। वह मिलन किसी भान्ति स्वप्न में हो जाय इसके लिए आखों में नींद की कामना करती है। पर हाय रे दुर्दैव ! इन आंखों पर आंसुओं का ही सर्वाधिकार हो जाने से बेचारी नीद को तो वहां स्थान ही नहीं मिल पाता है[3]।

---

१. सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोग'
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखी ते ।
मत्सन्देशैः सुखयितुमतः पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयना सौधवातायनस्थः ।।

२. नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ।।

३. मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वपन्जोऽपीति निद्रा
माकाङ्क्षन्ती नयन सलिलोत्पीडरूद्धावकाशाम् ।।

इस वियोगी दम्पति के जीवन में भी कभी वे सुनहरे दिन थे जब कि यक्ष संभोग के अन्त में रस भरे केले के खभे के रग के समान सुडौल स्निग्ध एवं गौर वाम उरु का अपने हाथों से संवाहन किया करता था, मोतियों के जाल का अलंकरण धारण करने वाले उस पर नखक्षत किया करता था। पर दुर्दैव ने वह सब कुछ रहने न दिया, अब केवल प्रिय संदेश प्राप्त करने के शुभ सगुन के रूप में वह फड़क भर उठेगा[1]।

यों तो बेचारी को कभी नीद आती ही नही थी यदि कभी आजाए तो मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित ही प्रिय-मिलन के ही सपने आते होगे। उस स्वप्न-मिलन में ही वह उसके कठ मे भुजाएँ डालकर उमसे लिपट जाती होगी[2]? निश्चय ही वह अपने कान्त के वियोग में इतनी हताश हो गई होगी कि उसे उसके विषय में प्राप्त होने वाले समाचार को सुनने में भी उससे मिलन का सा अनुभव होने लगेगा (कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः)।

इसके आगे, संदेश के उन ६ पद्यों में तो महाकवि ने करुणा (विप्रलम्भ शृङगार) का वह स्रोत बहाया है जिसकी तुलना विश्व-साहित्य में कहीं ही मिल सके। यक्षपत्नी का वह दूरस्थ सहचर अपने शरीर को उस वियोगिनी के शरीर से मिला कर एक कर देना चाहता है किन्तु वैरी विधाता ने उसके लौटने का मार्ग रूंध रखा है अतः वह तत् तत् सकल्पों द्वारा उसमें अपने आप को मिला रहा हैं।

वह क्षीण है यक्षपत्नी भी क्षीण हो गई है। वह तीव्र विरह-ज्वाला में तप्त है तो विरहिणी भी विरह में जल रही है। इधर भी और उधर भी दोनों ओर आँसुओं की बाढ़ है। वह वेदनायुक्त है तो यह भी वेदना झेल रही है। वियोग व्यथा एवं मिलन की

---

१. वामश्चास्या कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
मुक्ताजाल चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनाना
यास्यत्यूरु. सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ।।

२. मा भूदस्याः प्रणयिनि, मयि स्वप्नलब्धे कथचित्
सद्य: कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ।

विवशता दोनों ओर ही दीर्घ निश्वासों से व्यक्त हो रही है[१]।

कैसी है भाग्य की विडम्बना। एक दिन वे भी थे जब कि प्रेयसी के मुखस्पर्श के लोभ से उन बातों को उसके कान के पास मुँह लेजाकर कहता था जिन्हे कि वह वस्तुतः सखियो के सामने ही दूर से सुना कर कह सकता था और आज यह दिन भी आया है कि वही रसिक प्रियतम आंख और कान की पहुंच के बाहर होने के कारण अत्यन्त गोपनीय बातों को भी दूसरे के द्वारा कहता रहा है[२]। लगता है, इस रूप-राशि रमणी की रचना के लिए विधाता को भी उचित उपादानों के लिए बड़ा भटकना पड़ा। उसके शरीर का छरहरापन लिया प्रियंगुलता से, नेत्रों का कटाक्ष लिया चकित हरिणियों से मुख की कान्ति ली चन्द्रमा से, केश-पास लिये मयूर से, भौहों की चञ्चलता ली नदी की इठलाती, बलखातो चञ्चल लहरों से। इसलिए तो बेचारे यक्ष को इन व्यष्टि रूपों में उसके सौन्दर्य के पृथक् पृथक् अंशों के दर्शन हो जाते हैं किन्तु समष्टि रूप से उस सौन्दर्य के दर्शन कहीं भी नही होने पाये[३]।

ऐसी स्थिति में तो उस वियोगी की दशा पर हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। विप्रलम्भ शृङ्गार का रूप तीव्रतर हो उठा है। वियुक्त प्रणयी मन बहलाने के लिए चौड़ी शिला पर गेरुए का टुकड़ा लेकर उसको हुई रूठ चित्रित कर रहा है और फिर उस मानिनी के चरणों में ही उसे मनाते हुए अपने आपको चित्रित

---

१. अङ्गेनाङ्गं प्रतनुतनुना गाढतप्तेन तप्त।
साम्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दुरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गं.॥

२. शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्
कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वात्कण्ठाविराचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥

३. श्यामास्वङ्गंचकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपात;
वक्त्रच्छायाशशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्।
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति॥

करने लगता है। पर उसी क्षण आखों में आंसू उमड़ कर दृष्टि को ही अवरुद्ध कर डालते हैं। हाय रे क्रूर विधाता ! चित्र में भी तो इन दो बिछुड़े प्राणियों का मिलन तुझे सह्य नहीं[1]।

इतना ही नही। उस वियोगी की दशा पर देखने वालों की, आखों में तब बरबस आसू उमड पड़ते है जब वे बेचारे यक्ष को स्वप्न में अपनी प्रिया का गाढ़ आलिगन करने के लिए हाथों को ऊपर को निष्फल उठाये हुए देखते हैं। और तो और, वन देवियों के भो मोतो जैसे बड़े बड़े आंसू ढुलक पड़ते है तरु पल्लवों पर उसकी वह दयनीय दशा देखकर[2]। रामगिरि के आश्रम के उस वियोगी की विक्षिप्तता तो देखिए कि वह हिमालय से दक्षिण की ओर बहने वाली हवाओं का इसलिए आलिंगन करता है कि शायद कहीं इन्होंने उसकी प्रेयसी का स्पर्श भी किया हो।

ये है कालिदास के विप्रलम्भ शृङ्गार की कुछ झांकियां जो कि महाकवि की लेखनी को पाकर अमर हो उठी है। इनके वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास वियोग की अनुभूतियों को कितनी कोमलता से चित्रित कर सकते है। तथा भाव एव भाषा का कैसा मधुर सामञ्जस्य उत्पन्न कर डालते हैं। धन्य है यहाँ कवि की लेखनी को।

यद्यपि 'ऋतुसंहार' कालिदासत्रयी' के अन्तर्गत नही आता किन्तु फिर भी जब शृङ्गार का प्रसग चला है तो कालिदास की इस रचना की भी उपेक्षा नही की जा सकती।

ऋतु सहार की शृङ्गारिक योजना

हम उन लोगों में से नही जो इसके अतिरजित शृङ्गार के कारण इसे महाकवि की रचना ही नही मानते। हमने पिछले प्रकरणों में देख लिया कि कालिदास कितनी सरस रुचि के व्यक्ति है।

---

१ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागै. शिलायाम्
आत्मान ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।

२. मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानाँ,
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

रघुवंश और शाकुन्तल का प्रौढ कवि भी जब शृङ्गार प्रवाह में बह जाता है तो यौवनारम्भ की मचलती तरंगों और रंगीन कल्पनाओं के कवि का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि वह ऋतुसंहार महाकवि की सवप्रथम रचना है, इसलिए इसमे प्रेम की उदात्तता व परिमार्जित रुचि नहीं जो कि अन्यत्र पाई जाती है, यों तो इसमें भी शृङ्गार पृष्ठभूमि में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण एव चारु चित्रण भी है किन्तु इसके शृङ्गार मे सर्वत्र ही वासना का आधिक्य है। यहा पर हम इस विषय का विस्तार से विवेचन न करके सक्षेप मे ही इसकी ओर संकेत करेंगे। लगता है शृङ्गार के इसी अनुदात्त रूप के कारण हो परिमार्जित रुचि के आलोचक ने इसे 'कालिदासत्रयी' में सम्मिलित नही किया।

सर्व प्रथम ग्रीष्म के वर्णन में कवि कहता है—'इन दिनों रमणियो अपने प्रेमियों की तपन को शान्त करने के लिए उन्हे रेशमी वस्त्रों एव मोतियों की करधनी से अलंकृत जंघाओं पर लिटाती है, मोतियो के हार एवं चन्दन से युक्त स्तनों से लिपटाती हैं और स्नान के समय लगाये गये सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित जूड़ों की गंध सुघाती है[1]।

कही पर पहाड़ी चट्टानों को चूमते हुए वर्षा काल के बादल एवं उन पर बहती हुई निर्झरिणिया कामियों के मन में हलचल मचा रहे हैं (२।१६) तो कही प्रोषितपतिकाएँ उमडते हुए मेघ देख कर सारे शृङ्गारों को छोड़ कर गाल पर हाथ रखे बिम्ब फल जैसे लाल एवं नई कोपल जैसे कोमल होठों पर अपनी नील कमल सी आखों से आंसू बरसा रही है[2]।

इन दिनों कामिनिया अपने भारी भारी नितम्बों पर केश लटका कर, अपने कानी में सुगन्धित फूलों के कर्णफूल पहन कर, गले में सुन्दर हार डाल कर, और मदिरा पीकर प्रेमियों के मन में प्रेम उकसा रही हैं।

---

१. नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः महाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्।

२. बिलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः।
निरस्तमाल्यांभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदा प्रवासिनाम्॥ २.१२।

शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगंधिभिः।
स्तनैः सहारैः वदनैः सशीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम्
॥ २.८ ।

वर्षा काल में प्रकृति यदि 'विदग्धा' की तरह दिखाई देती है तो शरद् में नव वधू के समान (प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या) शरत् काल में जहां एक ओर सभोग शृङ्गार की सुन्दर छटा है (१-२०), प्रकृति के मादक रूपों को देख कर कामियो का मन डावांडोल हो उठता है वहीं वियोग शृङ्गार की भी ललित छटा दिखाई देती है[1]।

'जब परदेश में गये लोग नील कमलों में अपनी प्रेयसियों के नेत्रों की नीलिमा देखते सुनते है, मद से कूजते हुए हंसो की कल ध्वनि में उनकी सुनहरी तगड़ी की रुनझुन सुनते है और बन्धुजीव के फूलों में उनके आरक्त अधरों की कान्ति निहारते हैं तो वे सुधबुध खोकर आंसू बहाने लगते है।

हेमन्त का वर्णन तो ऐसा लगता है जैसे काम का क्रीड़ा-जीवन्त रूप हो (४. ५-३; १२-१८)। नमूने के तौर पर—

रतिश्रमक्षामविपाण्डुवक्त्राः सम्प्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरुण्य.।
हसन्ति नात्त्चैर्दशनाग्रभिन्ना प्रपीड्यमानानधरानवेक्ष्य ।।४।६॥

"संभोग की थकान से फीके एवं मुरझाए मुख वाली युवतिया हंसने की बात पर भी इस कारण खुल कर नही हसती कि कही प्रियतम के दांतों से विक्षत होंठ दुःखने न लगे ।

इसी प्रकार समस्त रात्रि प्रिय के साथ रति-क्रीड़ा में व्यस्त रहने के कारण किसी युवती की नीली नीली आखें प्रजागर से लाल लाल हो गई हैं, थक कर चूर २ हो गई हैं, केश राशि अस्त व्यस्त हो गई है और प्रातः काल सूर्य की कोमल किरणों का सेवन करती २ सोई पड़ी है[2]।

और यही दशा शिशिर की भी (५. ५-१५)। इन दिनों प्रातः

---

१. असितनयनलक्ष्मी लक्षयित्वोत्पलेषु क्वणितकनककाञ्ची मत्तहसस्वनेषु,
अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानी रोदिति भ्रान्तचित्त ।

२. अन्याः प्रकामसुरश्रमयखिन्नदेहा रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा,
स्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता ॥ १५ ॥

काल के समय स्त्रियों के आरक्त होठों, लाल लाल कोरों वाली बड़ी-बड़ी आंखों, तथा कन्धे पर लहराते हुए केशों से युक्त दमकते हुए मुखों को देख कर ऐसा लगता है जैसे कि घर घर में साक्षात् लक्ष्मी ने डेरा डाल रखा हो (५।१३)।

ऋतुराज और रसराज का मेल तो शाश्वत् है ही। वसन्त की लुभावनी साँझें, छिटकी चांदनी, कोयल की कूक, सुरभित पवन, मदमस्त भौरों की गुंजार; रात्रि का आसव-पान आदि सभी कुछ तो काम को जागृत रखने वाला रसायन है (६।३४) यह सम्पूर्ण सर्ग ही शृङ्गार से परिपूर्ण है। रसिक पाठक तत् तत् प्रकरणों को पढ़कर उसकी छटाओं को देख सकते है ।

इस प्रकार हम देखते है कि कालिदास ने करुण और शान्त के बाद शृगार को रसराज के पद पर आसीन कराने का जो बीड़ा उठाया था उसे सभी रूपों में परिपूर्ण कर दिखाया। उसके बाद आज तक, भवभूति को छोड़ कर, किसी को भी शृङ्गार के रसराज होने के विषय पर आपत्ति उठाने का साहस न हुआ। पर शृंगार की इस विशाल परम्परा में कालिदास का शृंगार अद्वितीय ही रहा। उनकी सी मधुरता वा उदात्तता फिर उसे कोई न दे सका

श्रृंगार का प्रतिनिधि दृश्य काव्य

दृश्य काव्य और श्रृङ्गार

दृश्य काव्य के जिन लोक-कल्याण-परक तथा लोकादर्श-परक उद्देश्यों की उद्‌भावना आचार्य भरत ने अपने नाटयशास्त्र में की थी[1] उन्हें ही ध्यान में रख कर उन्होंने नाटकादि दृश्य काव्यों में अनेक ऐसे क्रिया-कलायों के प्रदर्शन का निषेध कर दिया जिनका कि परिणाम सामान्य लोक-जीवन तथा लोक-मर्यादाओं के लिये अहित कर तथा अरुचिकर हो सकता है। यद्यपि दृश्य काव्य का अधिकारी भी सहृदय ही माना जाता है किन्तु 'सार्ववर्णिक वेद' होने के कारण इसके रसास्वाद का अधिकार आबाल वृद्ध नर-नारी सभी को समान रूप से है। श्रव्य काव्य के लिए जहाँ श्रोता या पाठक को काव्य-शास्त्र की परिपत्तियों से अभिज्ञ तथा परिपक्व बुद्धि का होना अनिवार्य होता है वहाँ दृश्य काव्य के सामाजिक के लिए ऐसी कोई प्रारम्भिक शर्त नहीं। कोई भी किसी आयु तथा किसी भी समाजिक वा बौद्धिक स्तर का व्यक्ति दृश्य काव्य का दर्शक बन सकता है। साथ किसी भाव या स्थिति का वर्णन की अपेक्षा प्रदर्शन से हमारे मन पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। जब सामान्य स्थिति में भी देखी हुई बातों वा घटनओं का द्रष्टा के मन पर गहरा व स्थायी प्रभाव पड़ता है तो कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किये जाने पर तो निश्चय ही वह प्रभाव गहनतर होगा। इसीलिये हमारे सौन्दर्यपारखी आचार्यों ने नाटक में अनेक ऐसी घटनाओं एवं स्थितियों के प्रदर्शन का निषेध कर दिया है जिनका कि अपरिपक्व मन वा बुद्धि के लोगों पर अहित कर प्रभाव पड़ सकता है। काव्य के परिवेश में ऐसी कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। वहां तो अनधिकारी का प्रवेश ही नहीं हो सकता यदि हो भी जाय तो वर्णनमात्र का इतना गहरा प्रभाव नहीं पड सकता। इस लिये हमारे आचार्यों ने काव्य-प्रबन्धों एवं नाट्य-प्रबन्धों के बीच श्रृङ्गार-निबन्धन की भिन्न-भिन्न सीमाएँ निर्धारित की हैं। कालिदास ने श्रृङ्गार निबन्धन के इस रूप वा

---

१. द्रष्टव्य भरत ना० शा० अ० १।११३-१२०

सिद्धान्त को सामने रख कर ही अपने काव्यों तथा नाटकों में भिन्न भिन्न मर्यादाओं के साथ शृंगार की योजना की है। इसीलिए शृंगार का जो उन्मुक्त तथा कहीं कहीं, सामान्य दृष्टि से अमर्यादित भी, रूप हमें देखने का मिलता है उसका उनके नाटकों में सर्वथा अभाव है।

कालिदास के नाटकों में उपलब्ध शृङ्गार का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनका दृश्य काव्यगत शृङ्गार सर्वथा, संयत, सुकुमार तथा सुरुचिपूर्ण है। कहीं भी उसमें अनौचित्य वा अशोभनीय के दर्शन नहीं होते। यहाँ तक कि उनमें कहीं शृङ्गार का अनावृत चित्रण तक नहीं किया गया है, जो कुछ भी कहा गया है वह सब व्यञ्जना वा प्रतीकों के सहारे कहा गया है। 'शाकुन्तल' का सबसे अधिक शृङ्गारिक समझा जाने वाला पद्य-अनाघ्रातं पुष्पम्० भी शृङ्गार की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। छाया रूप में अभिव्यक्त इस शृङ्गार का आस्वादन अपरिष्कृत बुद्धि के सामाजिक के लिए सम्भव ही नहीं। इसके आगे जहाँ, कहीं भी अनावृत शृङ्गार की स्थिति आई है कालिदास ने सर्वत्र ही किसी न किसी रूप में प्रकारान्तर से अभिव्यक्त करके उसे सर्वथा संयत कर दिया है।

शाकुन्तल

शकुन्तला के जन्म के सन्दर्भ में मेनका रूपराशि से विचलित होकर तपस्वी विश्वामित्र की धैर्य-च्युति का प्रसंग आया तो अनसूया आधी बात कहकर लजा गई और इस प्रकार आगे की शृङ्गारिक बात को बिना कहे ही कह डाला[1]। प्रथम दर्शन में ही नायक नायिका के शृङ्गार की मधुर अभिव्यक्ति होने पर भी कालिदास ने उन दोनों के व्यवहार को अत्यन्त संयत रखा है। ऐसे ही शकुन्तला की समस्त वासनात्मक अनुभूतियों को केवल 'तपोवन विरोधीभाव' के झीने आवरण में छिपा कर रख दिया है[2]। सखियों ने भी बड़े संयत तथा कन्या सुलभ शालीनता के साथ 'यदि आज पिता जी यहाँ होते----' जैसे लघु वाक्य में ही बहुत कुछ कह दिया

---

१. अनसूया—ततो वसन्तोदार-समये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य (इत्यर्धोक्ते-लज्जया विरमति)।

२. शकुन्तला (आत्मगतम्) किं न, खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवन-विरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।

है। शकुन्तला की शृङ्गार चेष्टाएँ भी पूरी शालीनता लिये हुए हैं। उनमें किसी प्रकार के अनौचित्य के लिए अवसर नहीं[१]।

यद्यपि सखियों ने दुष्यन्त और शकुन्तला की शृङ्गार चेष्टाओं को भली भांति देखा तथा समझा था पर जब शकुन्तला की अस्वस्थता के प्रसंग में उसे अभिव्यक्ति देने का अवसर आया तो 'सखि जब से तपोवन-रक्षक राजर्षि…' कह कर उसका संकेत भर कर जाती है[२]। और समस्त कथनीय शृंगार-भाव को गम्य बना डाला है। ऐसे ही शकुन्तला की प्रेमाभिव्यक्ति तथा दुष्यन्त की स्वीकृति में भी पूरे तौर पर संयम और शालीनता का ही परिचय दिया गया है[३]। शाकुन्तल के शृंगार के चरम बिन्दु वेतसकुञ्ज की समस्त चेष्टाओं को भी केवल व्यङ्ग के सहारे अनुभूति-गम्य करने का सफल प्रयास किया है। कहीं भी मर्यादा का उल्लघन तो क्या सीमा रेखाओं का स्पर्श भी नहीं होंने पाया है[४]। यहां तक कि विप्रलम्भ शृंगार में भी इसका पूरा पूरा ध्यान रखा गया है[५]।

'शाकुन्तल' की नायिका अनूढ़ा कन्या थी, तपोवनवासिनी थी अतः उसमें शृंगार का प्रौढ प्रदर्शन शायद भावानात्मक दृष्टि व कलात्मक दृष्टि से भी उचित न होता किन्तु

विक्रमोर्वशी

'विक्रमोर्वशी' की नायिका तो प्रगल्भा थी, अप्सरा थी, अतः उसके प्रसंग में शृङ्गार का खुला प्रदर्शन

---

१. (क) बाच न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभि कर्ण ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
काम न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥
१।२८ ॥

(ख) अभिमुखे मयि सहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च सवृतः ॥ २।११ ।

२. प्रियंवदा—अनसूये तस्य राजर्षे प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला।
किं नु खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत्। अंक ३।७ के बाद।

३ (क) शकु० तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि।
निघृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥ अं ३।१५ ॥

(ख) दुष्यन्त—तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मा पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वती दिवसः। ३।१६ ॥

४. द्रष्टव्य अक ३ श्लोक १७ से २३।

५. द्र० शाकु० अंक ६।५ आदि।

मान्य हो सकता था। पर कालिदास के सम्मुख प्रश्न नायिका वा नायक का ही नहीं था उसने तो दृश्य की मर्यादाओं को भी देखना था। अत: वह सब कुछ न कर सका । जहाँ इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं था वहां कवि ने खुलकर शृङ्गार का चित्रण किया यह हम पीछे देख ही चुके हैं।

नाटक के प्रारम्भ में ही परस्पर के स्पर्श से नायक-नायिका को शृङ्गार की जो अनुभूति होती है वहां से लेकर पंचम अंक के समागम सुख तक की समस्त शृङ्गाराभिव्यक्तियों को केवल सकेत के सहारे ही अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की गई है, यहां तक कि प्रेम की उद्दामस्थिति में भी अभिसारिका उर्वशी 'अत: परं नास्ति ते वचनम्' कह कर सखी को सर्वथा निरुत्तर कर डालती है। कहीं भी शृङ्गार की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने पाता है। जहाँ कही भी ऐसा अवसर आता भी है, कवि बड़े कौशल से बात का संकेत करके आगे बढ़ जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' यद्यपि कवि के अप्रौढ़ जीवन की रचना है पर जहां तक दृश्यकाव्यगत शृङ्गार का प्रश्न है कवि यहां भी पूरी तरह सावधान दिखाई देता है।

मालविकाग्निमित्र यद्यपि नाटक का सम्पूर्ण कथानक ही प्रेम और शृङ्गार पर निर्भर है, कवि कई बार नायक-नायिका का एकान्त मिलन भी करा देता है उनकी शृङ्गाराभिव्यक्तियों को भी पर्याप्त अवसर देता है पर कहीं भी उसे मर्यादा से बाहर नहीं जाने देता । यद्यपि इसमें शाकुन्तल जैसी उदात्तता एवं सूक्ष्मता अथवा व्यञ्जकता नही आने पाई है पर फिर भी कवि अपने कर्तव्य के प्रति सर्वथा जागरूक है, इसका सकेत हमें स्पष्टतया मिलने लगता है।

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में ही नर्तकी के वेश में रंगमंच पर आई हुई मालविका को देखकर अनुरागी राजा ने उसका जो रूप वर्णन किया है वह बड़े ही संयत रूप में उसके मनोगत शृंगारिक भावों की ही अभिव्यक्ति है[1] । कह सकते हैं कि यह रूप-वर्णन दुष्यन्त के 'अनाघ्रातं पुष्पम्०' की संयत शृंगार परम्परा का ही

---

१. माल० अंक २।३, ४, ५ क्रमशः ।

पूर्व रूप है। और फिर इसके बाद मालविक की उत्कट प्रेमाकुलता को जिन व्यञ्जनात्मक शब्दों में अभिव्यक्ति दी गई है वह तो उससे भी अधिक गूढ़ गिरा है[1] जिसका भाष्य स्वयं राजा ने अगले पद्य में किया है[2]। इसी प्रकार अन्त तक कवि ने श्रृंगार को कहीं अभिधेय तथा असंयत नहीं होने दिया है। बड़ी कुशलता के साथ कथा का निर्वाह तथा श्रृंगार की मधुर व्यञ्जना ही की गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि दृश्य-काव्य में भी कालिदास का श्रृंगार सर्वथा संयत तथा मर्यादित है। श्रव्य-काव्य में भी मेघदूत के दो एक स्थलों, कुमारसम्भव के आठवें सर्ग तथा रघुवश के उन्नीसवें सर्ग को छोड़ कर कवि ने श्रृंगार को अधिकतर संयत, मर्यादित तथा व्यङ्ग्य ही रखने का यत्न किया है। रघुवंश तथा कुमारसम्भव में किसी विशेष प्रयोजन से ही ऐसा किया गया है इसमें सन्देह नही।

१—२. माल० अंक २।३, ४, ५ क्रमशः।

कालिदास की करुणा

करुणा की पृष्ठभूमि

संस्कृत-साहित्य का जन्म ही करुणा की कोमल गोद में हुआ ऐसा मानना सम्भवतः ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्य के अति निकट होगा।

१. ऐतिहासिक

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

के रूप में फूटने वाली करुणाकलित वाणी का मूल उत्स है। लौकिक संस्कृत साहित्य के लिए गंगोत्री की लघुधारा के समान अजर अमर स्रोत सिद्ध हुआ, स्वयं कालिदास ने इस तथ्य को स्वीकार किया है[1]। उपलब्ध साहित्य में भी हम देखते हैं कि कविवर भास, कालिदास एवं अश्वघोष आदि सभी उत्तरवर्ती कवियों ने अपनी-अपनी वाणी के प्रवाह को इस ओर मोड़ कर इसे समृद्ध किया है। यही वह धारा थी जो कि अन्तरवर्ती धाराओं से पुष्ट होती हुई एक दिन उस विशाल रूप को प्राप्त हो गई जिसके लिए सरस्वती के एक अन्य वरद पुत्र ने पुकार कर कहा—

एको रसः करुण एव निमित्त-भेदात् ।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुदबुद्तरङ्गमयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥ उत्तर० ।

वाल्मीकि से लेकर कालिदास तक कितने सरस्वती के आराधकों ने इस प्रवाह में योग दिया इसका यद्यपि निश्चित लेखा जोखा हमें उपलब्ध नहीं, किन्तु इसके प्रभाव को देखते हुए मानना पड़ेगा कि यह धारा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। यह एक अनुभूत तथ्य है कि मानव मन पर जितना गहरा एवं स्थायी प्रभाव करुण और शृङ्गार का पड़ता है तथा जितना विश्वव्यापी क्षेत्र इन रसों का है

---

1. द्रष्टव्य रघु० १४।७० ।

उतना और किसी का नहीं। इसी लिए विश्व के सभी महाकवियों एव कलाकारों ने इन दोनों के चित्रण में विशेष रुचि दिखलाई है तथा सफलता प्राप्त की है। कालिदास भी इसके अपवाद नहीं। उन्होंने भी साहित्य के 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों ही रूपों में इनका सफल निरूपण किया। ऐतिहासिक दृष्टि से कालिदास के समक्ष जो वातावरण था वह था 'शान्त' एवं 'निर्वेद' का। महाभारत ने तथा बौद्ध साहित्य ने न केवल इसकी पृष्ठभूमि तैयार की अपितु उसे सभी प्रकार से पुष्ट करने का यत्न किया। ऐसे समय में अवतरित होकर कालिदास ने जो महनीय कार्य किया वह यह कि उसने 'निर्वेद' में डूबे हुए पाठक को फिर से 'संसारी' बनाने का बीड़ा उठाया और उसकी निर्वेद-जन्य विरक्ति को दूर कर उसे फिर से प्रेम और और करुणा के दर्शन कराये। पर उपर्युक्त पृष्ठभूमि में पोषित काव्यरसिकों ने जब 'दीपशिखा' की भांति दीप्तिमती रूपसी इन्दुमती को, 'सेवार से लिपटे हुए, अनाघ्रात कमल पुष्प के समान अभुक्त-यौवना आश्रम बाला शकुन्तला' को 'अनिद्यसुन्दरी पार्वती के लावण्य को', और विधाता की आदिसृष्टि के समान 'तन्वी श्यामा शिखरि-दशना' व 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' 'श्रोणीभारादलसगमना' यक्ष-पत्नी को देखा तो उन्होंने इन्हें ही कवि की श्रेष्ठतम कृतियाँ मान लिया। जैसा कि स्वाभाविक भी था। महाभारत के विनाश एव बौद्ध दर्शन की विरक्ति से उकताए हुए पाठक को भले ही थोड़ी देर के लिए कवि की कृति के इन रूपो ने चकाचौध में डाल दिया हो पर उसकी काव्य प्रेरणा का मूल स्रोत भी उनसे छिपा न रह सका। जब उसका ध्यान कालिदास की काव्य-कला के उन मार्मिक स्थलों की ओर गया जो कि मानव मन को सहज ही द्रवित करने की क्षमता रखते हैं तो उसने उसका उद्घोष करने में भी देर नही की। उसने बताया कि शाकुन्तल की श्रेष्ठता प्रथम अंक के अभुक्त सौन्दर्य एवं उद्दाम वासनाओं को अभिव्यक्ति में नहीं, अपितु चतुर्थ अंक के कारुणिक वातावरण में है[1]। 'रघुवश' के जिस सर्ग को कवि ने विशेष रूप से महत्त्व दिया है वह उसका चौदहवां सर्ग है[2]। 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक तथा 'कुमारसम्भव' के चतुर्थ सर्ग की योजना कवि ने कथा-

---

१. काव्येषु नाटकं रम्यम्······तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः······

२. तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्नमे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः। रघु० १४।४२॥

वस्तु की सीमारेखा से हट कर विशेष रूप से की है। मेघदूत का प्राण यक्षपत्नी का सौन्दर्य-वर्णन नहीं अपितु यक्ष तथा उसकी पत्नी की विरहविधुर दशाओं का मार्मिक चित्रण है। जिस मनोयोग के साथ कालिदास ने अपने काव्यों तथा नाटकों में कारुणिक स्थलों का निरूपण किया है वह उसके शृङ्गार में भी उपलब्ध नहीं होता। रघुवंश के छठे सर्ग की शृङ्गारचेष्टाओं की अपेक्षा आठवें सर्ग का 'अज-विलाप' तथा कुमारसम्भव के रतिचित्रण की अपेक्षा 'रति-विलाप' कहीं अधिक मार्मिक है। यह बताने का नहीं, अनुभव का विषय है।

कालिदास की रचनाओं के किसी भी पक्ष पर शास्त्रीय दृष्टि-कोण से विचार करने पर एक बात जिसे कि हमें बराबर ध्यान में रखना होगा यह है कि कालिदास से पूर्व काव्य-

२. शास्त्रीय

शास्त्र पर जो कुछ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध है वह केवल भरत-नाट्य-शास्त्र ही है। इसलिए उनके सामने यदि कोई शास्त्रीय आदर्श या सिद्धान्त रहा तो वह केवल नाट्यशास्त्र ही हो सकता है। 'भामह' के बाद के सभी आचार्यों की रचनाएं तो स्वयं कालिदास की रचनाओं को आदर्श मान कर चली हैं। अपने ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय लक्षणों वा सिद्धान्तों का निर्धारण करते समय उन लोगों ने प्रमुख रूप से कालिदास की रचनाओं को सामने रखा है।

कालिदास के करुण को भी हमें बाद के आचार्यों के दृष्टि-कोण से नहीं अपितु आचार्य भरत के दृष्टिकोण से ही देखना होगा। नाट्यशास्त्र के अनुसार 'करुण' का स्थायी भाव 'शोक' है और इसके आधार, जिनसे कि इसका उद्भव सम्भव है, आचार्य भरत के अनुसार ये हैं—शाप-क्लेश-विनिपतितेष्टजनविप्रयोग-विभव-नाश-वध-बन्ध-विद्रवोपघात-व्यसनसंयोग-आदि । तथा च काव्य (दृश्य-श्रव्य) में इसकी अभिव्यक्ति जिन अनुभावों द्वारा गम्य होती है वे है—अश्रुपात-परिदेवित-विलपित-वैवर्ण्य स्वरभेद-स्रस्तगात्रता-भूमिपतन-सस्वनरुदित-आक्रन्दित-दीर्घनिश्वसित-जड़ता-उन्माद-मोह मरण आदि। तथा च इसके संचारी भावों में परिगणना की गई है—निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता-औत्सुक्य-आवेग-मोह-भ्रम-श्रम-भय-विषाद-दैन्य-व्याधि-जड़ता-उन्माद-अपस्मार-त्रास-आलस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु-

वैवर्ण्य-अश्रु स्वरभेद आदि[1]। विभावानुभावादि के इस निरूपण के प्रकाश में ही कालिदास द्वारा विहित करुण का सम्यक् विश्लेषण हो सकता है।

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठ सकता है, जिसकी ओर स्वयं नाट्यशास्त्र में भी संकेत किया गया है, वह यह कि जहां तक अनुभावों और संचारी भावों का प्रश्न है, वे करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार में एक ही होते हैं अतः करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार का मूलतः विभेदक आधार क्या है ?

इस पर जो कुछ भरत ने कहा है वह यह है— "करुणस्तु शाप-क्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निर-पेक्ष्यभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्ष्यभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति।" अर्थात् उपर्युक्त विभावों से उत्पन्न होने वाला निरपेक्ष रूप करुण तथा चिन्ता औत्सुक्य आदि से उत्पन्न सापेक्ष रूप विप्रलम्भ के अन्तर्गत आयेगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास के काव्यों में हमें करुणा के जिन रूपों के दर्शन होते हैं वे अधिकतर उपर्युक्त प्रकार से करुण के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'रघुवंश' का चौदहवां सर्ग तथा 'शाकुन्तल' और, विक्रमो-र्वशी' के चतुर्थ अंक भी करुण के अधिक निकट आ जाते हैं। क्लेश, व्यसन, इष्टजन-विप्रयोग भाव शोक ही है रति नहीं, क्योंकि यहां अनुभव निरपेक्ष कोटि तक पहुंच जाते हैं।

कालिदास ने किस प्रकार करुण के सभी सम्भाव्य रूपों को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है इसका निर्देश हम अगले अनु-च्छेदों में करेंगे। यहां पर तो हमें केवल यही कहना अभिप्रेत है कि कालिदास के समक्ष यदि करुण के चित्रण का कोई आदर्श सिद्धान्त था तो वह केवल भरत-कृत 'नाट्यशास्त्र' ही था अतः उस पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करते समय हमें उसे ही सामने रखना चाहिए। बाद के आचार्यों के आदर्शों के आधार पर निरूपण नहीं हो सकता। बाद के आचार्यों के साथ उनकी जो समता पाई जाती है वह केवल इसलिए कि उन्होंने स्वयं कालिदास को आदर्श मान कर अपने ग्रन्थों में रसादि का निरूपण किया। अतः कालिदास की

१. ना० शा० ६।६३–६४; ७।१२–१३ नि० सा० प्रे० १६४३.

काव्य-कृतियां उनके आलोचना के मानदण्डों की परिधि से बाहर हैं। हमें इसी धारणा के साथ उनका यथातथ्य मूल्यांकन करना होगा।

कालिदास द्वारा प्रस्तुत करुणा के विविध रूपों पर विचार करने से पूर्व यदि हम संक्षेप में कालिदास की करुणाविषयक आस्था पर भी कुछ विचार करलें तो असंगत न होगा। कालिदास की रचनाओं का निकट रूप से विश्लेषण करने पर हमारे समक्ष इस विषय में कालिदास का जो दृष्टिकोण उपलब्ध होता है वह यह कि उनकी दृष्टि में काव्य का मूल स्रोत ही करुणा है। करुणा के उत्स से ही काव्य की सच्ची धारा का उद्गम होता है। सच्चा कवि वही है जिसका हृदय करुणा से आर्द्र हो उठता है तथा उसके हृदय की व्यथा द्रवित होकर उसकी वाणी से अनायास ही फूट पड़ती है। आङ्गल कवि के समान ही कालिदास की भी दृढ़ आस्था है कि—

कालिदास की करुणा

"Our sweetest songs are those that tell us saddest thought"

इसलिए कालिदास की भारती में 'कवि' शब्द से अभिहित किये जा सकने वाले केवल तीन ही व्यक्ति हैं—ब्रह्मा, विष्णु और वाल्मीकि। मानवों में तो केवल वाल्मीकि को ही कालिदास ने 'कवि' शब्द से अभिहित किया है। कारण यह कि वह सर्वप्रथम मानव हैं जो कि एक शोकातुर पक्षी को देखकर द्रवित हो उठे थे तथा जिनका हृदयस्थ शोक ही काव्य रूप में उनकी वाणी से फूट पड़ा था।

'कुश और इंधन के लिए जंगल में गये हुए 'कवि' ने जब (सीता के) रुदन का शब्द सुना तो वे उधर को ही चल पड़े। क्योंकि यह वही परम कारुणिक—'कवि' थे जिनका शोक शिकारी के बाण से विद्ध पक्षी को देखकर काव्य के रूप में फूट पड़ा था'' । वस्तुतः सच्चा काव्य तो वही है जो कि स्वयं ही हृदय से फूट पड़े और ऐसे काव्य का स्रष्टा ही सच्चे अर्थों में कवि कहलाने का अधिकारी है। अभ्यास और प्रयास से काव्य रचना करने वाला कवि कवि नहीं। वह तो—'मन्द कवि' है। इस 'दयार्द्र चेता'[२] कवि को दृष्टि

---

१. तामगम्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ रघु० १४।७० ॥

२ वाल्मीकिरादायदयार्द्रचेता० रघु० १४।७९ ॥

में रख कर ही तो कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रारम्भ में काव्य-रचना का प्रसंग आते ही 'मन्दःकवियशः प्रार्थी०' के द्वारा अपने को कवि कहने का संकोच प्रकट किया है। और जहां कही भी वाल्मीकि का प्रसंग आया है वहां उनको बड़े आदर के साथ 'कवि' शब्द से स्मरण किया है और उनकी दयार्द्रचित्तात्मक प्रवृत्ति का गुणगान किया है। महाकवि वाल्मीकि के कवित्व एवं करुणार्द्रचित्तता के प्रति अपने समस्त सम्मान को कालिदास ने 'रघुवंश' के पन्द्रहवें सर्ग में उंडेल दिया है। उनकी दृष्टि में काव्य का असली रूप वही है जिसकी पृष्ठभूमि करुणा के उत्स से अभिषिक्त हो। इसीलिए वाल्मीकि की रचना को उन्होंने 'कवि-प्रथम-पद्धति' कहकर याद किया है[1]। और उसके अमित प्रभाव के बारे में तो वे स्वयं प्रश्न करते हुए कहते हैं—

वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तद्येन मनोहर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ रघु० १५।६४ ॥

(राम का चरित हो, वाल्मीकि जी उसके रचयिता हों और किन्नरों के समान मधुरकण्ठ-से (लव-कुश) गाने वाले बालक हों तो फिर बतलाइए कि क्यों न वह सुनने वालों के हृदयों को मुग्ध कर डाले)। और कारुण्य के उत्स से प्रवाहित होने वाली इस काव्य-मन्दाकिनी का श्रोताओं पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका निरूपण करते हुए कालिदास स्वयं भावविभोर होकर कहते हैं—

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥ रघु० १५।६६।

(रामलक्ष्मणादि के सहित सारी सभा आत्मविस्मृत होकर उस गीत को सुनती जा रही थी और आंखों से अविरल अश्रुधारा बहाती जा रही थी। उस समय वह सभा प्रातः काल की उस शान्त वनस्थली के समान दिखाई दे रही थी जिस पर कि वृक्षों से टपाटप ओस की बूंदें गिर रही हों।) और अन्त में 'कवि' वाल्मीकि की करुणा का वह रूप दर्शाया जिसमें कि राम के द्वारा अपने आप को छोड़ कर शेष सब कुछ उनके आदेश पर न्यौछावर कर देने पर उस कारुणिक 'कवि' ने और कुछ न कह कर बस यही एक इच्छा प्रकट की कि राम बेचारी सीता का पुनः परिग्रह कर

---

१. स्वकृतिं ज्ञापयामास कविः प्रथमपद्धतिम्। रघु० १५।३३ ॥

लें— 'कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम्।' (वही० ७१)। वाल्मीकि की करुणा ही है कि जिसने कालिदास के हृदय को मुग्ध किया हुआ है। इसीलिए उनकी दृष्टि में इस मानव लोक में वाल्मीकि से बढ़कर और कोई कवि ही नहीं, वरन् सच बात तो यह है कि और कोई कवि कहलाने का अधिकारी ही नहीं।

करुणा ही काव्य का स्रोत है, करुणार्द्रचेता की वाणी ही सच्चा काव्य है, तथा इस प्रकार का स्रष्टा ही कवि कहलाने का अधिकारी भी। अपनी इस धारणा को कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में भी अभिव्यक्ति दी है। जब तारकासुर के अत्याचारों से त्रस्त हो समस्त देवगण आर्तस्वर से ब्रह्मा की स्तुति करने लगे तो उनके आर्त-स्वर को सुनकर ब्रह्मा का हृदय द्रवित हो उठा और उस समय उस 'पुराण कवि' की वाणी से सरस्वती अकस्मात् फूट पड़ी[1]। ऐसे ही जब रावण के अत्याचारों से पीड़ित देवगण की आर्त पुकार पर विष्णु भगवान् की करुणा कलित वाणी का निःस्सरण हुआ तो कवि ने उन्हें भी 'कवि' शब्द से अभिहित किया[2]। अतः कालिदास के अनुसार वास्तव में कविपद से अभिहित किये जाने का अधिकारी वही है जिसका हृदय किसी के दुःख को देखकर द्रवित हो उठे और उस दुःख की अभिव्यक्ति अनायास ही उसकी वाणी का विषय बन जाय। इस प्रकार अभिव्यक्त भाव-सरणि ही सच्ची कविता है, काव्य है।

इसलिए कालिदास की प्रौढ़ रचनाओं में हमें शृङ्गार की अपेक्षा करुण के प्रति उनकी अधिक आत्मीयता दिखाई देती है। 'रघुवंश' 'कुमारसम्भव' तथा 'शाकुन्तल' में कवि ने जिस तन्मयता के साथ कारुणिक प्रसंगों को उभारा है वह तन्मयता उनके शृङ्गार में नहीं दिखाई देती। इनमें उनका शृङ्गार करुण से परिपोष को प्राप्त होता है। 'रघुवंश' में अज-विलाप के अवसर पर कालिदास का हृदय स्वयं द्रवित हो उठा है और वह भाव-विभोर होकर करुण का निरूपण कर डालता है। जब हम उस पर यह कहते हुए सुनते

---

१. पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुख-समीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥ कुमार० २।१७।

२. पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती॥ रघु० १०।३६।

है[1] कि "कोशल नरेश अज को प्रिया के वियोग में इस प्रकार विलाप करते हुए देखकर वृक्षों की शाखाओं से भी मानो आंसू झरने लगे"। तो ऐसा लगता है जैसे कि यहाँ पर कालिदास करुणा की व्यञ्जना में वाल्मीकि को भी पीछे छोड़ गए है। उनकी करुणा ने तो संवेदनशील मानवों से ही अश्रुपात कराया पर कालिदास की करुणा मानवों क्या समस्त जड़ चेतन को द्रवित करने की सामर्थ्य रखती है[2]। कालिदास के कई समीक्षकों को तो 'रघुवश' के चौदहवें सर्ग की राम की इस उक्ति **"तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तै, न मे भवद्भिःप्रतिषेधनीयः** में प्रच्छन्न रूप से कालिदास की ही यह अपील सुनाई देती है कि करुणार्द्रचित्त पाठक करुणा की तीव्र व्यञ्जना के कारण कहीं घबरा कर इस सर्ग को छोड़ ही न दें[3]। जो भी हो इस में सन्देह नही कि यह सर्ग करुणा की तीव्र व्यञ्जना को लिए हुए है।

आपाततः श्रृंगारिक कवि प्रतीत होने पर भी कालिदास मूलतः करुणा का कायल प्रतीत होता है। ऊपर की पंक्तियों में हम देख ही चुके हैं कि कालिदास की दृष्टि में 'कवि' और 'काव्य' का मूलतः क्या भाव है। इसीलिए कालिदास का श्रृंगार सर्वत्र ही अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर शोकपर्यवसायी हो जाता है। 'शाकुन्तल' 'मेघदूत' 'कुमारसम्भव' 'रघुवंश' विक्रमोर्वशी' सर्वत्र ही इसके दर्शन होते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त का उद्दाम श्रृङ्गार ऋषि के शाप से अभिशप्त होकर अन्त में दोनों के शोक का कारण बनता है। शकुन्तला का गौरव 'अनाघ्रात पुष्पम्०' वाले रूप से नहीं अपितु 'वसने परिधूसरे वसाना०' से बढ़ता है। 'मेघदूत' की भूमिका में कालिदास हमे बतलाते हैं कि यक्ष और उसकी नवोढ़ा पत्नी का श्रृंगार जब असंयत हो उठता है तो वह कुबेर के दण्ड से दण्डित हो जाता है। क्षण भर भी एक दूसरे से पृथक् न हो सकने वाले एक साल के असह्य वियोग को भोगने के लिए विवश हो जाते है। उस उद्दाम श्रृंगार का अन्त किस दयनीय वियोग में होता है यह

---

१. विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रिया प्रति।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसवाष्पदूषितान्॥ रघु० १०।३६।

२. रघु० ८।७० ; १४।६९; मेघ० मामाकाश···'अश्रुलेशाः पतन्ति आदि।

३. देवदत्त शास्त्री, कालिदासः एक अनुशीलन पृ० १२८।

'मेघदूत' के पाठकों से छिपा हुआ नहीं। इसके बाद का शृंगार सर्वथा संयत तथा मर्यादित होगा इसकी व्यञ्जना भी कालिदास ने यक्ष-संदेश में ही 'निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु' के रूप में कर दी है।

ऐसे ही 'कुमारसम्भव' में भी जब काम और वसन्त से उद्दीप्त असंयत रूप में समस्त जड़-चेतन प्रकृति को ही अपनी लपेट में ले लेता है तो उसका पर्यवसान उस घोर विनाश मे होता है जिसमे कि हमें शोकाभिभूत रति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है। 'विक्रमोर्वशी' में भी गन्धमादन की शृंगार लीला जब संयम और मर्यादा का उल्लंघन करने लगती है तो कालिदास ने उसका वहीं अन्त कर डाला है और फिर उसके बाद पुरूरवा की जिस विक्षिप्त दशा का चित्रण हुआ है वह किसी भी सहृदय के हृदय को द्रवित करने के लिए पर्याप्त है। चतुर्थ अंक के छायातप में कवि ने रति की नहीं, शोक की ही पुष्टि की है। इसके बाद उनके मिलन में कवि ने पुनः मर्यादित 'रति' की स्थापना की है। यही शृंगार है जिसमें कालिदास देवलोक तथा मानव लोक का कल्याण समझते हैं।

यही स्थिति 'रघुवंश' की भी है। इसमें भी कालिदास ने अनेक बार अनेक रूपों में अपनी इस आस्था और आदर्श को दुहराया है। अज, दशरथ, राम, कुश और अग्निमित्र इनके जीवन में कवि ने शोक की तीव्र व्यञ्जना की है। यद्यपि अज और इन्दुमती के शृङ्गार में मर्यादा का उल्लंघन नहीं फिर भी कवि ने उसकी चरम परिणति शोक में कराई है। क्योंकि इसी में हृदय का सच्चा दर्शन होता है। इसी से देख सकते हैं कि कालिदास का करुणा के प्रति क्या दृष्टिकोण है। उद्दाम यौवन भोग के मध्य में ही दैवी विपत्ति का वज्रपात कराकर कवि ने हृदय की अपार द्रुति तथा कोमलतम अभिव्यक्ति के लिए अवसर निकाल लिया है। साथ ही शृंगार की अस्थिरता को भी व्यक्त कर दिया है। इस शृंगार की इससे अधिक अस्थिरता क्या हो सकती है कि इन्दुमती के मुख पर से सम्भोगश्रमजन्य पसीने की बूंदें सूख भी न पाई कि वह चिर निद्रा में सो गई[1]। यहाँ पर व्यञ्जना से कवि ने बता दिया कि इस शृंगार

---

१. सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ रघु० ८।५१।

में यद्यपि मर्यादा का उल्लंघन तो नहीं पर असंयतता अवश्य है। एक पुत्र के जन्म के बाद भी स्थिति यह है कि दिन में उद्यान-विहार के रूप में 'रतिलीला' हो रही है।

दशरथ का असंयत कामभाव ही था जो कि अन्त में उनके पुत्र वियोग तथा शोक का कारण बना। भगवान् राम के जीवन में तो कवि ने तीन बार करुणा की अवतारणा की है। अज और दशरथ मानव थे अतः शोक के एक जबरदस्त धक्के से ही विशीर्ण हो गए, पर राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे और मर्यादा की स्थापना के लिए उन्होंने एक के बाद एक शोक के वेग को सहा, पर मर्यादा को भंग न होने दिया। यद्यपि राम का शोक असंयत शृंगार की परिणति नहीं फिर भी शृङ्गार की अस्थिरता को व्यक्त करने के लिए हृदय को द्रवित कर डालने वाले रघुवंश के चौदहवें सर्ग की योजना से पूर्व तेरहवें सर्ग में कवि ने राम और सीता के शृंगार की बड़ी ही मधुर व्यञ्जना की है[1]।

इसी प्रकार कुश के प्रसंग में भी कवि ने शृंगार का पर्यवसान शोक व विषाद में ही दिखाया है। नव यौवना कामिनियों के साथ जलक्रीड़ा की रंग-रलियों में रत कुश अपना बहुमूल्य पैतृक आभरण 'जैत्राभरण' खो बैठता है और क्षण भर में ही सारा राग-रंग विषाद के गाढ़ान्धकार में डूब जाता है।

अग्निवर्ण के प्रसंग में तो कवि ने दिखा दिया है कि असंयत और अमर्यादित शृंगार केवल व्यक्ति के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र के शोक का कारण बन सकता है। अविवेकी व्यक्ति नश्वर शारीरिक विलास के लिए अनन्त शोक का आमन्त्रण कर डालता है। अतः शृंगार जीवन का सत्य नहीं। विचारणीय है कि कालिदास ने अपनी इस उज्ज्वल महनीय कृति का पर्यवसान करुणा की गहन छाया में किया है, यद्यपि काव्य परम्परा का पालन करने के लिए प्रकाश वा आशा की एक लघु किरण की सत्ता की सुकुमार व्यञ्जना भी कर डाली है। उपर्युक्त संकेतों तथा निम्नलिखित उद्धरणों के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि कालिदास की करुणा के प्रति क्या आस्था है तथा उसके चित्रण में उन्हें कितनी सफलता मिली है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—कालिदास का शृंगार प्रकरण।

यह ठीक है कि कालिदास का करुण शुद्ध पारिभाषिक रूप में हमारे समक्ष बहुत कम आया है। उनकी रचनाओं के संकेतित प्रसंगों में अधिकतर यह विप्रलम्भ शृंगार का अंग बन

करुणा के रूप

कर ही काव्य रचना में स्थान पा सका है किन्तु कहना होगा कि मानव हृदय के कोमलतम भावों को सुकुमार हाथों से छूने की जो क्षमता इसमें है वह अन्यत्र कठिनता से ही पाई जा सकेगी। दूसरे, इसके एकाङ्गी चित्रण में भवभूति को भले ही सफलता मिल गई हो किन्तु इसके सर्वाङ्गीण रूप के चित्रण में जो प्रशंसनीय सफलता कालिदास को मिली है वह आज तक भी 'अनामिकाधिष्ठित' ही है। कहीं प्रिय को प्रेयसी के लिए (अजविलाप) प्रमुक्त कण्ठ से विलाप करते हुए पाते हैं तो कहीं अभागिनी प्रेयसी को प्रिय के लिए (रतिविलाप) कुररी के समान करुण क्रन्दन करते हुए। कहीं पुत्री की विदाई पर तथा पिता परिजनों के आँसू रोके नहीं रुक रहे हैं तो कहीं गर्भभरालसा परित्यक्ता रमणी की दीन दशा पर प्रकृति भी फूट-फूट रो उठती है (सीता परित्याग)। वियोग से लेकर मरण तक का करुण का कोई ऐसा रूप न होगा जो कि इस रससिद्ध कवीश्वर की लेखनी का विषय बन ना हो। उसी के कुछ अंश प्रस्तुत है निम्नलिखित पंक्तियों में—

कितना मर्मस्पर्शी है वह दृश्य जब 'भस्मावशेष मदन' को देखकर बेचारी रति मूर्छित हो जाती है। नव वैधव्य की असह्य वेदना को सहन करने के लिए ब्रह्मा के द्वारा चेतना

रतिविलाप

को प्राप्त कराई जाने पर जब वह अभागिनी बाला अपने समक्ष एक पुरुषाकार भस्मचय को देखती है तो उसका कोमल हृदय टूक-टूक हो जाता है और वह अत्यन्त विह्वल होकर विलाप करने लगती है। उसका वह विलाप इतना हृदय-विदारक है कि अचेतन प्रकृति भी उसके साथ रोती हुई ज्ञात होती है। वह कहती है—"हे नाथ! तुम्हारे जिस सुन्दर शरीर से विलासियों के शरीर की तुलना की जाती थी उसे इस दशा में देख कर भी मेरी छाती फट नहीं गई। वास्तव में स्त्रियों का हृदय कितना कठोर होता है।" तथा च—

क नु माम् त्वदधीनजीवितां विनिकार्यः क्षणभिन्नसौहृदः।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः ॥ कुमार० ४।६।

अर्थात् "जिस प्रकार तीव्र गति वाला जलप्रवाह उसमें बहने वाली

कमलिनी को कूल पर फेंक शीघ्रता से निकल जाता है उसी प्रकार केवल तुम्हारे ही आश्रय पर जीने वाली मुझ अभागिनी से नाता तोड़ कर तुम भी चल दिए।" फिर कहती है "मैंने तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल कभी कोई कार्य नहीं किया; कभी तुम्हारी बात भी नहीं टाली, फिर अकारण ही मुझ बिलखती हुई को दर्शन क्यों नहीं देते।" इस प्रकार कितनी ही अतीत की प्रणय कलिक घटनाओं का स्मरण करती है जो कि उसकी शोकाग्नि को प्रदीप्त करने में घृत का कार्य करती है। फिर उलाहना देती है। "तुम जो ये मीठी-मीठी बातें बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदय में निवास करती हो, वह विदित है कि केवल मुझे प्रसन्न करने के लिए झूठ बोला करते थे। अन्यथा यदि ऐसी बात न होती तो यह कैसे हो सकता कि तुम्हारा शरीर तो जल कर राख हो जावे और (मुझे कुछ भी न हो)[1]। उसका हृदय सर्वस्व लुट गया, वह पागल हो उठती है हृदय के असंख्यों भाव एक साथ ही फूट पड़ने को आकुल हो उठते हैं। महाकवि ने यहाँ पर उस अभागिनी नारी की पीर को, करुणा को, उसके अभाव को बड़े ही मनोवैज्ञानिक रूप से चित्रण करने की चेष्टा की है और सफलता पाई है। बेचारी रति को उस समय समस्त विश्व शून्य प्रतीत होता है। उसे लगता है कि आज उसका सुहाग ही नहीं लुटा, वरम् संसार के प्रेमियों का सहारा भी छिन गया। इसीलिए तो वह कहती है :—"अब तुम्हारे बिना घने अन्धकार से पूर्ण रात्रियों में बिजली की कड़कड़ाहट से भयभीत हो उठने वाली कामिनियों को उनके प्रियजनों के घर तक कौन पहुंचेगा (४।११)।" अब तुम्हारे बिना कमिनियों का मदिरापान, चन्द्रोदय तथा कोकिला की कूक से गुञ्जित आम्र के नूतन बौर का अस्तित्व ही निष्फल है। सुरत काल की बातों का स्मरण कर मेरा हृदय विदीर्ण होता जा रहा है। हे कामकेलिचतुर! तुमने अपने हाथों से जो मेरा वासन्ती श्रृंगार किया था वह तो अभी ज्यों का त्यों पड़ा है किन्तु तुम्हारा वह कोमल कान्त-कलेवर न जाने कहाँ चला गया (४।१८)। उसके भाव उमड़ने चलते हैं और उसका प्रलाप तीव्रतर हो उठता है। वह कामदेव के बिना क्षण भर भी जीवित रहना अपने लिए कलंक समझती है और उसी के साथ भस्म हो जाने को

---

१. हृदये वससीति मत्प्रियम् यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदम् त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः। ४।९।

उद्यत हो जाती है। उसी समय कामदेव के परमप्रिय सखा वसन्त को वहाँ उपस्थित देखकर वह फूट-फूट कर रोने लगती है और एक पतिपरायणा आदर्श भारतीय नारी के समान कहने लगती है कि मैं अवश्य ही अपने पति का अनुगमन करूंगी। क्योंकि—"चन्द्रिका चन्द्रमा के साथ ही चली जाती है और बिजली भी बादल के साथ ही विलीन हो जाती है। जब अचेतन तत्त्वों में भी इस प्रकार पति का अनुगमन देखा जाता है तो मैं चेतन होकर भी क्यों कर पति का अनुसरण न करूं?"[1] वह रो-रो कर बसन्त से अनुनय विनय करती है चिता बनाने तथा आग लगाने के लिए। और कहती है कि हम दोनों का साथ ही तर्पण करना और श्राद्ध के लिए नई कोपलों सहित आम्रमंजरी अवश्य लाना; क्योंकि वह उन्हें बहुत प्रिय थी (४।३८)। क्या ही अद्भुत बात उस भावुक रमणी हृदय से कहला दी रससिद्ध कवीश्वर ने!

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि ने बड़े ही सूक्ष्म एवं सबल रूप में नारी हृदय के शोक को पाठकों के समक्ष उड़ेल कर रख दिया है। सहृदय पाठक स्वयं ही समझ सकेंगे कि इसमें नाम-मात्र को भी कल्पना वा अत्युक्ति का सहारा नहीं लिया गया। नारी हृदय के शोक संवेगों का जितना स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक चित्र वहां दिया गया है उतना अन्यत्र दुर्लभ ही होगा। अतिरञ्जना से सर्वथा दूर रख कर वर्णन में अद्भुत मर्मस्पर्शिता ला दी है। कौन ऐसा हृदयहीन व्यक्ति होगा जिसका हृदय फूट-फूट कर विलाप करती हुई रति को देख कर द्रवित न हो उठेगा तथा उस अभागिनी के भाग्य पर थोड़ी देर के लिए दो आंसू न बहा देगा। यह है कवि की प्रबल शक्ति जिससे कि करुण के क्षेत्र में भी उसकी गति उसी प्रकार अबाध है जिस प्रकार कि शृंगार के क्षेत्र में।

दूसरी ओर 'रघुवंश' का अष्टम सर्ग इस बात का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है कि कालिदास में केवल कोमल-हृदया नारी की हृदय वीणा के कोमल भावों को ही झन-झनाने की ही नहीं अपितु कठोरता के आवरण में अन्तर्हित पुरुष-हृदय के कोमल तारों को उभारने की भी क्षमता है। महाराज 'अज' अपनी रूपसी पत्नी 'इन्दुमती'

अजविलाप

१. शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तड़ित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नम् हि विचेतनैरपि॥ ४।३३।

से अगाध स्नेह करते थे। अपने ऊर्जस्वी पिता 'रघु' की मृत्यु के उपरान्त उन्होंने राज्यभार सम्भाला तथा प्रजा पालन करने लगे। एक दिन वे इन्दुमती के साथ प्रमदवन में विहार कर रहे थे। उसी समय महर्षि नारद भी भगवान् शंकर की अराधना के लिए आकाश मार्ग से गोकर्णधाम को जा रहे थे। वीणा के सिरे पर स्वर्गीय पुष्पों की माला लहरा रही थी। महाराज 'अज' का दुर्भाग्य कि वह माला हवा के झोंके से खिसक कर उद्यान में विहार करती हुई महारानी इन्दुमती के वक्षस्थल पर आ गिरी। माला का स्पर्श ही रानी के प्राणों का ग्राहक बन गया और वह क्षण भर में ही प्राणहीन होकर वसुन्धरा के विशालवक्ष पर आ गिरी। महाराज अज भी इस अप्रत्याशित वज्रपात के आघात को सहन न कर सके और तत्काल ही मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। परिजनों की दौड़-धूप और परिचर्या से महाराज तो चेतना को प्राप्त हो गए किन्तु महारानी नहीं। उस समय अपनी हृदयसाम्राज्ञी प्रेयसी को इस प्रकार मृत्यु की गोद में पड़ी हुई देखकर महाराज अज का हृदय मर्मान्तिक पीड़ा से विक्षिप्त हो उठा और वे उस प्राणहीना प्रियतमा को अपनी गोदी में रख कर अधीर हो फूट-फूट कर रोने लगे। कालिदास लिखते हैं—उनका स्वाभाविक धैर्य जाता रहा, गला भर आया, नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह चली और वे फूट-फूट कर रोने लगे। यह स्वाभाविक ही था, जब तीव्र तपन से कठिन लोहा भी पिघल जाता है तो इस महान् वियोगाग्नि से उनका कोमल हृदय द्रवित हो उठा इसमें क्या आश्चर्य[1]।" दुर्भाग्य की इस क्रूर विडम्बना की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"हाय ! क्या फूलों से भी किसी की मृत्यु हो सकती है ? यदि ऐसा है तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि दुर्भाग्य किसी भी विधि मृत्यु ला सकता है। अथवा मालूम होता है कि कोमल वस्तु का विनाश करने के लिये दैव कोमल वस्तु का प्रयोग करता है, क्योंकि देखा जाता है कि कमलिनी को नष्ट करने के लिए पाला ही पर्याप्त होता है (४४-४५)।" पुनः

---

१. विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपिमार्दवम् भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥ रघु० ८।४३ ।

उन्होंने जब नगर में प्रवेश किया तो उनकी दशा ऐसी थी कि नगर की स्त्रियां उन्हें देख फूट फूट कर रोने लगी, मानो कि अज का शोक इनकी आखों से बह निकला हो (८।७४)।

कितनी सबल तथा भावपूर्ण भाषा में कवि ने प्रेमी हृदय के करुण उद्‌गारों की व्यंजना की है। उसे उद्दीप्त करने के लिए बीच बीच में अतीत की शृङ्गारिक घटनाओं का स्मरण करा कर इस परिपोष के साथ साथ वर्णन में स्वाभाविकता भी ला दी है। आनन्द पूर्ण वातावरण के बीच अचानक विपत्ति का पहाड़ गिरा कर कवि ने उसकी अनुभूति को कई गुना तीव्र कर डाला है। कहां तो महाराज-अज कुछ ही क्षण पूर्व उस दिव्यसौन्दर्य की प्रतिमा हृदयेश्वरी के साथ प्रमदवन में विलास क्रीड़ा में मग्न संसार से दूर, आनन्दलोक में विचरण कर रहे थे और कहां वह क्षण भर में ही उन्हें बिलखता छोड़ कर मृत्यु की गोद में सर्वदा के लिये सो जाती है। कैसी विधि विडम्बना है यह! क्या प्रतीक रूप में यह 'अज विलाप' और 'रतिविलाप' में पाई जाने वाली करुणा समस्त मानवजाति के प्रेमियों की करुणा नहीं?

(परिस्थितिजन्य करुणा)

कालिदास ने केवल दो प्रेमियों के वियोगगत शोक का ही नहीं अपितु इसकी सभी परिस्थितियों का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। परिस्थितियों से उत्पन्न शोक का चित्रण महाकवि ने 'रघुवश' के १४ वें सर्ग में सीता परित्याग के अवसर पर किया है। बेचारी पूर्णगर्भा, पतिप्राणा सीता को लक्ष्मण राम की आज्ञानुसार छल से ले जाकर गंगा के उस पार हिंसक जन्तुओं से पूर्ण बियाबान बन में छोड़ आते हैं। कितना महान् कष्ट हुआ होगा उस सती को जब उसने लक्ष्मण के मुख से अपने विषय में फैलने वाले जनापवाद तथा परित्याग की बात सुनी होगी। कितनी विकलता हुई होगी उस गर्भवती नारी को जिसने कि मूर्च्छा से उठने के बाद अपने आपको सुनसान बीहड़ बन में अकेली पाया होगा।

इस व्यथा का अनुमान लगाना सहज नहीं। प्रतीत होता है कि महाकवि भी जगज्जननी सीता को अधिक देर तक दीन-हीन तथा असह्य अवस्था में बिलखती न देख सके। उनकाकरुणा कलित हृदय भी सीता के शोक से संतप्त हो उठा। इसीलिए तो वे शीघ्र

हा उन्हें सान्त्वना देने के लिए परम कारुणिक महर्षि बाल्मीकि को वहां खींच लाए किन्तु फिर थोड़े से ही शब्दों में उन्होंने करुण रस की जो व्यञ्जना की है वह सुतरां हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक है। वे कहते है—ज्यों ही लक्ष्मण उनके सन्देश को ग्रहण कर उनकी आंखों से ओझल हुए त्यों ही विपत्ति के भार से आकुल सीता जी डरी हुई कुररी के समान फूट-फूट कर रोने लगी।" यहां कुररी के समान कह कर उपमा के आचार्य ने अधिक वर्णन की अपेक्षा न रख कर उसें हृदय संवेद्य बना डाला है। सीता जी के शोक का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनका रोना सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष अश्रुधारा के रूप में अपने फूलों को गिराने लगे और हरिणियों ने मुख में भरा घास का कौर गिरा दिया। सीता जी के दुःख की सवेदना में समस्त बन ही रो उठा—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥ १४।६९

इससे अधिक भला किन शब्दों में कवि करुणा की उद्भावना कर सकता था। इस व्यञ्जनात्मक वर्णन में भले ही अश्रुधारा न बहे किन्तु हृदय करुणा से गद्गद हुए बिना नहीं रह सकता।

इसी प्रकार १५ वें सर्ग में श्री रामचन्द्र के महाप्रयाण के अवसर पर भी उनके पीछे-पीछे चलने वाली जनता के आंसूओं से सारा मार्ग गीला हो जाता है। यहां भी करुणा का वातावरण कम गम्भीर नहीं, यद्यपि विस्तृत वर्णन में न जाकर संकेत मात्र से इसे दर्शाने की चेष्ठा की गई है। इस प्रकार हम देखते है कि केवल विप्रलम्भ के अंग के रूप में ही नहीं अपितु स्वतन्त्र अङ्गी के रूप में भी करुणा के चित्रण में महाकवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

उनका गीतिकाव्य 'मेघदूत' भी करुणा के वातावरण से खाली नहीं, यद्यपि वहाँ उसका चित्रण मुख्य रूप में न होकर विप्रलम्भ के अग के रूप में ही हुआ है। परन्तु ऐसा होते हुए भी महाकवि ने इसमें करुणा के द्वारा मनुष्य हृदय के उन सूक्ष्यतम तथा कोमलतम भावों को सहलाया है जिससे कि विप्रलम्भ के पोषक होते हुए भी उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व उभर आया है। यद्यपि आलोचना जगत में भवभूति ही करुण के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते रहे है

विप्रलम्भ के अंग रूप में

और अप्रतिद्वन्द्वी भी। कहा भी जाता है—"कारुण्यम् भवभूतिरेव तनुते" क्योंकि उनकी वाणी में पत्थर को भी पिघला देने की अद्भुत शक्ति है—(अपि ग्रावा: रोदित्यपि दलति वज्र स्य (हृदयम्) ! किन्तु यदि हम पूर्वाग्रह विनिर्युक्त भावना से देखें तो कहना होगा कि करुण रस की व्यञ्जना में कालिदास भी उतने ही सफल हैं जितने कि भवभूति।

मेघदूत का प्रथम पद्य ही हृदय में करुणा की टीस सी भर देता है जो कि उत्तरोत्तर तीव्रतर होती जाती है। उस विरही यक्ष के साथ कवि की इतनी सहानुभूति है तथा उसका ऐसा साधारणीकरण किया गया है कि उसका परिचय 'कश्चित्' (कोई बेचारा) कह कर दिया गया है। तथा च, वह दयनीय वियोगी केवल शरीरिक दृष्टि से ही 'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्टः' नहीं अपितु मानसिक दृष्टि से भी इतना बेचैन तथा दुःखी है कि मानसिक शान्ति के लिए रामगिरी के एक आश्रम से दूसरे आश्रम में भटकता फिरता है। यहाँ पर 'रामगिर्याश्रमेषु' में बहुबचन के द्वारा कवि ने इतने थोड़े किन्तु सबल शब्दों में विरही यक्ष की करुणा पूर्ण मूर्ति को उभारा है कि इसे उसकी व्यञ्जनाशक्ति का चूड़ान्त निदर्शन भी कहा जा सकता है। प्रिया के पास सन्देश ले जाने के लिए बादल से की गई उसकी विनय इतनी मर्मस्पर्शी है कि धुएं, अग्नि, जल, वायु के सम्मिश्रण से बना हुआ जड़ मेघ भी द्रवित हो उठा है और उसका सन्देश ले जाने की स्वीकृति दे देता है। विरह विधुरा यक्षपत्नी को तो भवभूति की सीता के समान ही "करुणस्य मूर्त्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव" कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। जरा कविकृत उसका चित्र तो देखिए :—

> उत्सङ्गे वा मलिन वसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
> मद्गोत्राङ्कं विरिचितपदम् गेयमुद्गातुकामा।
> तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
> भूयो भूयः स्वयमपिकृतां मूर्च्छनां विस्मरन्तीम् ॥

"हे सौम्य मेघ ! वहाँ पहुंच कर तुम देखोगे कि मेरी विरह कातर पत्नी मलिन वस्त्र पहने हुए, गोद में वीणा लेकर कुछ ऐसे गीत गाने का उपक्रम कर रही होगी जिनमें मेरे नाम का प्रयोग किया गया हो। उस समय वह निरन्तर आंखों में उमड़ने वाले आंसूओं से

गीली हो उठने वाली उस वीणा को जैसे-तैसे पोंछ कर मेरा स्मरण हो आने से ऐसी विह्वल हो जाएगी कि बार-बार स्वयं अभ्यस्त मूर्च्छनाओं को भी भूल जाएगी।' इस प्रकार यक्ष का भी स्वयं वर्णित एक चित्र देखिए—अपने सन्देश के बीच में एक स्थान पर अपनी दशा का वर्णन करते हुए कहता है—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतोः
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थली देवतानाम्
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

"हे मेघ! तुम मेरी पत्नी से कहना—जब कभी मैं स्वप्न में तुम्हें देखकर गाढ़ आलिंगन के लिए ऊपर भुजाएं फैलाता हूं (तो उस समय मेरे इस निष्फल प्रयास को देखकर) बन के देवता भी मेरी दशा पर तरस खा कर मोती के समान बड़े बड़े आसू वृक्षों के कोमल पत्तों पर ढुलकाया करते हैं।" यहां पर यक्ष की करुण दशा पर प्रकृति की सवेदना को कितने प्रभावक रूप में व्यक्त किया गया है। क्या मेघदूत का यह वर्णन भवभूति के 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' की तुलना पर नहीं रखा जा सकता? इन पंक्तियों के लेखक का तो विश्वास है कि यह चित्र यदि उससे अधिक श्रेष्ठ नहीं तो उससे किसी प्रकार कम भी नहीं। भवभूति की सीता यदि वियोग व्यथा के कारण 'परिपाण्डुदुर्बलकपोला' है तो यक्षपत्नी भी तो "प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः" है। यह ठीक है कि दोनों की वर्णना शैली भिन्न है। कालिदास ने जहां परिमित शब्दावली के द्वारा विशदाभावव्यंजना की है वहां भवभूति ने विपुल वाग्विस्तार के साथ वाच्यार्थ प्रधानशैली का ही अधिक अनुसरण किया हैं किन्तु भावों की अनुभूति की तीव्रता में कोई अन्तर नहीं। मेघ का लक्ष्यीभूत पाठक सहज ही अनुभव कर लेता है कि सम्पूर्ण मेघ किस प्रकार करुणा के वातावरण से ओतप्रोत है।

(वियोगजन्य करुणा)

कहना होगा कि संस्कृत साहित्य का कोई भी अंग ऐसा नहीं जो कि इस 'रससिद्ध कवीश्वर' की नैसर्गिक प्रतिभा से अछूता बचा हो। जिस ओर भी उसकी दृष्टि उठती है उसी ओर ही अलौकिक

रसधार बहा डालती है। 'शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में तो इनका करुण रस इतनी उच्चभूमि को प्राप्त हो गया है कि आलोचकों ने उसे ही शाकुन्तल का सर्वस्व कह डाला (काव्येषु नाटकं रम्यम् इत्यादि) शकुन्तला की विदाई का दृश्य निःसन्देह करुणा से इतना सराबोर है कि इस जैसा दृश्य सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में कठिनता से ही मिल सकेगा। वस्तुतः यही तो इस विश्व विश्रुत नाटक की आत्मा है और यही 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान शाकुन्तलम्' का बीज है। निसर्गकन्या शकुन्तला पतिगृह को जाने वाली है। वह आज शैशव की मधुर स्मृतियों को अपने धूलिकणों में छिपाने वाले आश्रम को, वृद्ध पिता कण्व को, सखियों को, अपने हाथ से परिवर्द्धित वनज्योत्स्ना को, स्वयं पालित अनाथ मृगछौने को और आश्रम के अन्य चराचर सम्बन्धियों को छोड़ कर जाने वाली है। जड़-चेतन सब के साथ उसका ऐसा सौहार्द स्थापित हो जाता है कि उसकी विदाई का दिन आते ही सभी उस आने वाले वियोग की कल्पना करके ही व्याकुल हो उठते हैं। हों भी क्यों नहीं, शकुन्तला का सहज स्नेह सब में अनुप्राणित हो चुका है। कण्व के आश्रम का कण कण आकुल है। संसार के बन्धनों से वियुक्त महर्षि कण्व भी कहते हैं:—"आज शकुन्तला जायेगी यह विचार आते ही मेरा हृदय बैठा जा रहा है। आंसुओं के उबाल को दबाने से गला इतना रुध गया है कि मुंह से अब शब्द भी नहीं निकल पा रहे हैं। नेत्रों से कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है। जब मुझ जैसे बनवासी को भी पुत्री की विदाई पर इतनी व्यथा हो रही है तो भला बेचारे गृहीस्थियों को कितना कष्ट होता होगा।"

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठते।
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैकलव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथम् नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

इसके अनन्तर महर्षि तपोवन वृक्षों से भी प्रिय शकुन्तला के पतिगृह गमन के अवसर पर उसे जाने जाने की अनुमति देने के लिए कहते हैं (पातुं न प्रथमम्०)। उसी समय अनुमति स्वरूप आकुल कोकिल भी कूक उठती है। कण्व का वात्सल्य बार बार उमड़ पड़ रहा है। कभी उसे जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग पर संभल कर चलने

का उपदेश देते हैं, तो कभी उसकी कल्याणमय मंगल यात्रा के लिये शुभाशंसा करते हैं। धीरे धीरे उसके वियोग की लहर समस्त तपोवन को आप्लावित कर डालती है। कहीं दुःखी हरिणियां शोक के कारण चबाई हुई कुशा के ग्रासों को भी उगल डालती है तो कहीं मोर अपना नृत्य त्याग कर मौन बैठे उसे निर्निमेष नेत्रों से देखते रहेने हैं। लताएं के पीले पत्तों के रूप में आंसू बहा रही है तो वन देवियां शुभाशी दे रही हैं। सबसे अधिक दुःख सतप्त है तो वह मृगछौना जिसे उसने ममतामयी मां की भांति पाला पोसा था। वह उसे जाते देखकर आखों में आंसू डबडबाये चुपचाप उसके पीछे जाकर उसके आंचल का छोर पकड़ लेता है। वस्तुतः कितनी वेदना हुई होगी उस मृग छौने को जिसने कि मातृविहीन होने पर भी शकुन्तला के हाथी मां का प्यार पाया था।

इस अंक में अचेतन प्रकृति को भी रुला देने वाली करुणा वास्तव में करुणा हैं। 'उत्तररामचरित' में तो पत्थरों के रोने का ही संकेत मिलता है किन्तु शाकुन्तल में प्रत्यक्ष ही सचराचर जगत रोता दिखाई देता है। श्री बलदेव जी उपाध्याम के शब्दों में "अन्तःकरण की करुण दशा को व्यक्त करने वाली प्रकृति की यह मूक वाणी सच्चे हृयय के अतिरिक्त किसे सुनाई पड़ती है? प्रकृति में मानव वियोग का यह आन्दोलन बिना किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग किस रसिक की हृदयतन्त्री को निनादित नही करता?" यद्यपि शकुन्तला का प्रत्याख्यान तथा पुरुरवा का प्रलाप भी कम करुणापूर्ण नहीं किन्तु यहाँ पर उनका संकेत भर करना पर्याप्त होगा। कालिदास की करुणा का पूर्ण रसास्वादन तो तद्तद् प्रकरणों को साङ्गोपाङ्ग पढ़ने से ही हो सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कालिदास में इतना अधिक तथा उच्चकोटि का करुण होते हुए भी इसके आचार्यत्व का श्रेय केवल भवभूति को ही क्यों दिया जाता रहा! इसका यही संगत समाधान प्रतीत होता है कि भवभूति के करुण रस को श्रेष्ठतम कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि उससे अधिक मर्मस्पर्शी करुण का किसी ने चित्रण ही नहीं किया, अपितु इसका यही है कि उनके

वर्णित समस्त रसों में उनका करुण रस उसी प्रकार श्रेष्ठतम है जिस प्रकार कि कालिदास के समस्त रसों में शृंगार। अपि च, दूसरी बात यह भी है कि परिपूर्ण होते हुए भी कालिदास ने करुण को अधिकतर विप्रलम्भ शृंगार का अङ्ग बना कर ही विचित्र किया है। और उसके शृंगार का ऐसा सबल प्रवाह है कि यह उसी में बह जाता है और आलोचकों की दृष्टिपथ से बच जाता है। किन्तु विश्लेषण करने पर सहज ही इनका करुण भी स्पष्ट निखर उठता है इससे निषेध नहीं किया जा सकता। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि शृङ्गार यदि कालिदास का उत्कृष्टतम है तो करुण उत्कृष्टतर।

बौद्ध जीवन-दर्शन के प्रति कालिदास की उदासीनता

यों तो सर्वविदित है कि कालिदास वैदिक धर्म व संस्कृति के परम पोषक एवं व्याख्याता थे, उनकी सभी रचनाओं में इसकी एक अमिट छाप पाई जाती है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकती है कि वैदिक धर्म के प्रति आस्था की स्वीकृति ही उनकी बौद्ध संस्कृति के प्रति अनास्था सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। उसके लिए उनकी कृतियों से अन्य प्रमाण ढूंढने की आवश्यकता ही नहीं। इस कथन में पर्याप्त तथ्य के होते हुए भी जिस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करने के लिए यहां प्रयत्न किया गया है वह यह है कि कालिदास की विभिन्न कृतियों में अनेक बार कहीं तो समस्त प्रभाव के रूप में और कहीं किसी घटना विशेष या उक्ति विशेष के रूप में कुछ ऐसी बातें कही गई हैं जिनसे एकदम ऐसा लगता है कि कालिदास ने किसी लक्ष्य विशेष को सामने रखकर ही इनकी योजना की है। और आपाततः ऐसा लगता है कि वह लक्ष्य-विशेष और कुछ नहीं अपितु वैदिक जीवन पद्धति के अनुमोदन के साथ-साथ ही बौद्ध जीवन पद्धति का प्रतिरोध करना है। यद्यपि कालिदास जैसा शिष्ट और सुसस्कृत रुचि का कवि स्पष्ट रूप से किसी का विरोध या खण्डन करता, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती, पर इस प्रकार के अनेक गूढ़ संकेत हैं जिनमें कि कालिदास का बौद्ध जीवन पद्धति के प्रति अनास्था का स्वर स्पष्ट रूप से मुखरित हो उठता है। ऐसे ही कतिपय प्रसंगों की ओर इस प्रकरण में संकेत किया जायेगा।

जीवन और जगत के प्रति आस्था

लगता है बौद्ध विचार-धारा की देन के रूप में इस देश में सांसारिक संकटों से मुक्ति पाने के लिए भिक्षुक जीवन अपनाने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी थी और फलस्वरूप सामान्य जिसके जन-समुदाय ही नहीं वरन् शासक वर्ग भी इसकी शरण लेने लगा था और फलतः अहिंसा के अतिशय प्रचार के कारण देश की क्षात्र शक्ति का ह्रास होने लगा था, उसी का सशक्त प्रति-

रोध करने के लिए कालिदास नें अपनी कलात्मक कलम उठाई। औ अपने कलात्मक संकेतों से भारतीय जन समुदाय को सुझाया कि दुःखों से बचने एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए सांसारिक क्रिया कलापों से उदासीन होने की आवश्यकता नहीं, । उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से यही संके दिया कि मानव की महानता पलायन में नहीं संघर्ष में है। हमारी आन्तरिक और बाह्य स्थितियों में सामञ्जस्य न रहने से ही दुःखों की उपत्ति होती है और धैर्य. के साथ कष्ट सहन से ही इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है फलतः हमें कालिदास की रचनाओं में किसी भी ऐसे पात्र के दर्शन नही होते जो महान् संकट की स्थिति में भी अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए संसार-त्याग की कल्पना भी करता हो। यहां तक कि कालिदास के नारीपात्र भी निरन्तर विपरीत परिस्थितियों से पूर्ण विश्वास के साथ संघर्ष करते हुए पाये जाते हैं। उनके सभी पात्र हमें संकट की स्थिति में कार्यशील एवं संघर्षरत दिखाई देते हैं। प्रत्येक अपने लौकिक एवं परलौकिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक है। दुःख के कारणों से संघर्षशील रहकर ही अन्त में विजयी होकर आनन्द को प्राप्त होता है। यक्ष, दुष्यन्त, शकुन्तला, दिलीप, रघु, अज, मालविका सभी की यही स्थिति है। उनके लिए बन और उपवन समान रूप से क्रियाक्षेत्र हैं। सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाले जनों मैं ही नहीं तपोवनों में रहने वालों में भी हमें कहीं इस संसार की क्रियाओं से भागने अथवा उनसे सर्वथा विरक्त होने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। वरन् हम उन्हें मोक्ष साधना के साथ-साथ मानवता की पुकार पर सामान्य सांसारिक व्यक्तियों की भांति इहलौकिक क्रियाकलापों में भी अपने आपको व्यस्त करते हुए पाते हैं। फलतः कालिदास की सभी कृतियां वैदिक संस्कृति के इसी स्वर से अनुप्राणित हैं कि यह मानव जगत् ही सभी प्रकार की क्रियाओं और सफलताओं का केन्द्रस्थल है। इससे भागकर कहीं और सुख व मोक्ष की खोज करना व्यर्थ है। सन्देह नहीं कि कालिदास की रचनाओं का यह योजनाबद्ध स्वर बौद्ध-पद्धति के बढ़ते हुए प्रभाव का प्रतिरोध करने में पर्याप्त सफल रहा।

संदेह नहीं कि कालिदास की रचनाओं में पाई जाने वाली शृंगार की प्रमुखता का रहस्य भी इसी निर्वेद की बढ़ती हुई धारा को अवरुद्ध करने की भावना में निहित हो।

शृङ्गार का प्राधान्य

लगता है कि विरक्तिके सागर में डूबी हुई जनता को विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिए ही कालिदास ने 'संचारिणी दीपशिखा' के समान इन्दुमती, 'संचारिणी पल्लविनी लता' के समान पार्वती, 'तन्वी श्यामा शिखरि-दशना' यक्षपत्नी और सेवार से लिपटे हुए अनाघ्रात सरसिज' के समान रूपसी शकुन्तला की सृष्टि की। निर्वेद से उकताये हुए संसार को कालिदास की शृंगारोक्तियां इतनी मोहक लगीं कि उन्होंने उद्घोषित कर दिया –"शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासो विशिष्यते।"

गृहस्थ पर बौद्ध विचारधारा ने सबसे अधिक कुठाराघात किया था। गृहस्थ और स्त्री को दु.ख और बन्धन का कारण बताकर इसके विरुद्ध जो प्रचार हुआ था उससे वैदिक गृहस्थ की मर्यादा को बहुत बड़ा धक्का लगा था, इसीलिए कालिदास ने अपनी सभी रचनाओं में गृहस्थ और गृहिणी की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित करने का बीड़ा उठाया। 'कुमारसम्भव' में 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्' (६।१३) और रघुवंश में 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः' (१।६७) इत्यादि के द्वारा इस तथ्य को उद्घोषित भी किया है। भगवान् बुद्ध की भांति वे स्त्री को धर्म वा मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं समझते। रघुवंश (३।७०) में जब राजा दिलीप पुत्र को राज्यभार सौंपकर तपोवन की ओर चले तो वे अकेले नहीं गये वरन् सुदक्षिणा को भी साथ लेकर गये। (मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये रघु० ३।७०)। कालिदास की कृतियों पर आलोचना करते हुए वागीश्वर जी ने ठीक ही कहा है कि 'कुमारसंभव' के निर्माण में कवि का अन्तर्निहित उद्देश्य जनता के हृदय पर उस गृहस्थाश्रम की महिमा को अंकित करना था जिसका गौरव बुद्ध-युग में भिक्षुवृत्ति की प्रधानता के कारण विलुप्त हो गया था और इसीलिए वीर क्षत्रियों के अभाव में देश पर विदेशी शत्रुओं के आक्रमण का भय सदा बना रहता था'।

गृहस्थ की प्रतिष्ठा का प्रयास

इसी ग्रन्थ में की गई वशिष्ठ-दम्पति की विशेष प्रशंसा भी इसी ओर संकेत करती है (कुमार० ६।११-१३) ।

इसी प्रकार रघुवंश के पांचवें सर्ग में रघु के द्वारा वरतन्तु के शिष्य कौत्स से किया गया प्रश्न—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्यय संक्रमितुं द्वितीय सर्वोपकारक्षमनाश्रम ते ॥५/१०॥

गृहस्थ को 'सर्वोपकारक्षम' आश्रम कहकर न केवल इसके सर्वोपरि महत्त्व को घोषित कर रहा है अपितु मार्कण्डेयपुराण के उस प्रसंग को पूर्णतः प्रतिध्वनित भी कर रहा है जिसमें कि रुचि नामक मोक्षार्थी को उपदेश देते हुए पितर कहते है :—

गृही समस्तदेवानां पितॄणांच तथार्हणाम् ।
ऋषीणामतिथीनाञ्च कुर्वन् लोकानुपश्नुते ॥
अनुत्पाद्य सुतान् देवान् असंतर्प्य पितॄंस्तथा ।
अकृत्वा च कथ मौढ्यात् सुगतिं गन्तुमिच्छसि ॥६५/७॥
तस्मात् वत्स कुरुष्व त्वं विधिवद् दारसंग्रहम् ॥६५.२३॥

अपि च तुलना कीजिए तै० उप० के स्नातकोत्तर दीक्षा-वाक्य—
'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी' से भी)

रघुवंश के प्रथम सर्ग में तो कवि मानों ज्ञान और तप को ही सब कुछ मानने वालों को पुकार कर कह रहा है कि गृहस्थ का महत्त्व प्रव्रज्या के महत्त्व से श्रेष्ठतर है। राजा दिलीप गुरु वशिष्ठ से कहते हैं :—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥१/६९॥

माना जाता है कि शकुन्तला कालिदास की अन्तिम कृति है और इसकी समाप्ति पर स्वयं कवि ने 'पुनर्भव' के चक्र से मुक्ति

की कामना की है। इसमें कालिदास ने कला के माध्यम से अपने जीवन में संजोये हुए कई उद्देश्यों की पूर्ति की है और इसी से हुआ है कवि को आन्तरिक संतोष भी। संदेह नहीं कि गृहस्थ की पूर्ण प्रतिष्ठा करना इसके अन्यतम उद्देश्यों में से प्रमुख था। ठीक भी है, जिस कलात्मक ढंग से शाकुन्तल में इसकी स्थापना हुई है उससे अधिक सुन्दर ढंग से अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ तो गृहस्थ की नींव ही, कालिदास ने, तपोवन की पावन भूमि में रखी है और उसी में की है उसकी पूर्ति भी। दोनों ही तपोवनों में भरण-पोषण का भाव पूर्णतया विद्यमान है। लता-वृक्ष, मृग-पक्षी, भरत और सिंहशावक का जिस निर्बाध भाव से भरण पोषण आदि चलता है उसी निर्बाध-भाव से चलती हैं इन आश्रमों की यम, नियम, तप आदि की क्रियाएं भी। प्रत्येक अपने-अपने रूप में गतिशील है, न कोई किसी का बाधक और न कोई किसी का विघातक।

इसी प्रकार शाकुन्तल के सप्तम अंक में जब कालिदास "धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति" (७/१७) कहते हैं तब ऐसा लगता है जैसे वे भगवान् बुद्ध के गृहत्याग की घटना का स्मरण करके कहना चाह रहे हों कि वे लोग कितने अधन्य हैं जो कि इस स्वतः उपलब्ध स्वर्गिक आनन्द का तिरस्कार करके मोक्ष के आनन्द की खोज में घर छोड़कर जंगलों की खाक छानते फिरते हैं।

साथ ही शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में कालिदास ने बड़ी स्पष्टता के साथ महर्षि कण्व के मुख से वैदिक परम्परानुमोदित गृहत्याग के विरुद्ध आदर्श का स्पष्टतः विरोध किया है। अन्तिम विदाई से पूर्व शकुन्तला के द्वारा —

'ताद कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं' पूछने पर महर्षि कहते हैं :—

श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण साधं
शान्ते, करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥ ४/२०॥

तुलना कीजिए कालिदास के इन शब्दों की मनु जी की शास्त्रीय व्यवस्था से जब वे विधान करते हैं —

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ मनु० ६/२॥

यही वह बंधन था जिसने कि प्रिया-वियोगी अज को जीवन से कोई मोह न रह जाने पर भी पुत्र के द्वारा राज्य-भार संभालने तक गृहत्याग न करने के लिए बाध्य किया था।

वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति निष्ठा

बौद्ध विचार-पद्धति ने वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में भी काफी गड़बड़ी पैदा कर दी थी। इसके विरुद्ध भी कालिदास ने अपनी कृतियों में आवाज़ उठाई है। कालिदास की दृष्टि में मनु द्वारा विहित समाज-व्यवस्था ही श्रेष्ठ थी। अतः उन्होंने उसी की पुनः स्थापना के लिए सर्वत्र प्रयत्न किया है। रघुवंश के आरम्भ में ही दिलीप के शासन की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं :—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनो वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥१/१७॥

मानों, मनु द्वारा विहित पद्धति से रत्ती भर भी इधर-उधर न होने देना उसके शासन की सबसे बड़ी विशेषता थी।

इसी प्रकार रघु को 'वर्णाश्रमाणां गुरुः' (५।१९) कहा क्यों कि—

'न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते' (५/१०)।

इसी प्रकार रघुवंश के १४वें सर्ग में सीता भी कहती हैं— 'नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः' (१४/६७)। इस प्रकार अनेकत्र वर्णाश्रम के महत्त्व को अभिव्यक्ति दी गई है। शाकुन्तल में मछुवे की उक्ति—'सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्' में स्पष्टतः महाभारत के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' तथा 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'। (गीता० ३/३५, १८।४८) की प्रतिध्वनि सुनाई दे जाती है।

क्योंकि बौद्ध मतानुयायियों का वैदिक कर्मकाण्ड से विशेष विरोध रहा, इसीलिए लगता है कि कालिदास ने जान-बूझकर इनको अपनी रचनाओं में स्थान ही नहीं दिया बल्कि अनेक रूपों में इस पर बल भी दिया। उनके तपोवन तो 'क्रतु-धूमपूत' है ही उनके गृह भी 'अग्न्यागारों' और 'अग्निशरणों' से सुशोभित हैं। मालविकाग्निमित्र और रघुवंश में अश्वमेध यज्ञों का विधान किया गया है। रघुवंश के तेरहवें सर्ग में बड़े आदर व गौरव के साथ यज्ञों, कठोर तपस्याओं एवं पावन सरिताओं के सगमों पर प्राणत्याग जैसी घटनाओं का विशेष वर्णन किया गया है। यज्ञों से सम्बन्धित शब्दावली की बहुलता के अतिरिक्त उन्होंने अपने प्रिय अलंकार उपमा के विधान में भी वैदिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित तत्त्वों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित उक्तियों की ओर संकेत किया जा सकता है :—

वैदिक क्रिया-कलापों के प्रति आस्था

(१) पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा। रघु० १।३१।।

(२) अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्। रघु० १।५६।।

(३) श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। रघु० २।१२ ।।

(५) प्रणवश्छन्दसामिव। रघु० १।११ ।।

शाकुन्तल के आरम्भ में ही हुतवहः, हविः, होता तथा ईश की अष्टमूर्तियों का जो स्तुतिगान हुआ है वह समस्त बौद्ध आस्थाओं के विरुद्ध एक बिगुल की सी ध्वनि प्रतीत होता है। उसके उपरान्त कवि हमें जिस तपोवन में ले चलता है वह भी संसार को दुःखमूल समझ कर उससे पलायन करने वाले संन्यासियों के संघारामों से भिन्न प्रकार का है। यहां के तपस्वी अपनी सन्तान को छोड़कर भागने वाले मोक्षार्थी नहीं अपितु पराई त्यागी हुई सन्तान को भी बटोर कर ले आने वाले हैं।

ऐसे ही रघुवंश के आठवें सर्ग में (८३—९०) इन्दुमती के वियोग में सन्तप्त राजा अज को ज्ञान का उपदेश देने के लिए वशिष्ठ द्वारा एक शिष्य को भेजे जाने की योजना कालिदास ने विशेष प्रयोजनवश ही की। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने बौद्धदर्शन के 'दुःखवाद' एवं 'दीपनिर्वाण' के समान उनके निर्वाण की संकल्पना का प्रतिरोध करने के लिए ही यहाँ पर जीवन-मरण की गहन समस्या को उठाया है और अपना उत्तर दिया है। ज़रा विचार कीजिए इन पंक्तियों पर जब वे कहते हैं :--

दार्शनिक असहमति

> रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
> परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥
> मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
> क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८७॥

यहां 'मरणं प्रकृतिः' कहने वाला कवि क्या स्पष्टतः उस ओर संकेत नहीं कर रहा जबकि मरण को विकृति समझकर भगवान् बुद्ध का मानस विचलित हो उठा था। कालिदास के लिए संसार में रहना दुःख का नहीं अपितु कल्याण का मूल है।

इसी प्रकार जन्मान्तर एवं कर्मविपाक के प्रति भी कवि ने बौद्ध आस्थाओं के विरुद्ध अपनी भावनाओं को असंदिग्धरूप से अभिव्यक्ति दी है। उपर्युक्त प्रथम श्लोक की द्वितीय पंक्ति बहुत ही स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव' (रघु० १२०) 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि' (शाकु० ५।२) 'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि०' (रघु। १४।६६) आदि अनेक स्थल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कालिदास की रचनाओं में पाये जाने वाले इन प्रतिक्रियात्मक संकेतों के प्रकाश में उनके ग्रन्थों में कहीं भी बौद्ध धर्म व संस्कृति के उल्लेख न होने का कारण स्वयं ही अभिव्यक्त हो जाता है। यही कारण है कि मालव प्रदेश के सामान्य स्थलों के वर्णन में भी विशेष रुचि दिखाने वाला कवि वहां के चैत्यों, विहारों या स्तूपों के विषय में सर्वथा मौन साध लेता है। यहां तक कि विदिशा के वर्णन में वहां की प्रसिद्ध कलाकृतियों अर्थात सांची के विश्वविख्यात

बौद्धस्तूपों का नामोल्लेख तक नहीं करता। ऐसे ही विदिशा और उज्जयिनी के प्रसंग में उदयन का तो उल्लेख करता है किन्तु इनसे निकटरूप से संबंधित प्रियदर्शी अशोक महान् का नाम तक नहीं लेता। इतना ही नही अपितु अपने पूर्वकालीन ऐसे महान् सम्राट् की सर्वथा उपेक्षा करके अपने पूर्वकालीन एक सामान्य शासक अग्निमित्र को अपने नाटक का नायक चुनता है और अपनी उस कृति में कहीं भी उसके पिता पुष्यमित्र द्वारा बौद्धो पर किये गये अत्याचारों का संकेत तक नहीं करता। अग्निमित्र के घरेलू प्रसंगों को भी इतने निकट से जानने वाला कवि पुष्यमित्र के कृत्यों से सर्वथा अनभिज्ञ हो ऐसा हो नहीं सकता। इन सबके पीछे बौद्ध परम्परा के प्रति उदासीनता और वैदिक परम्परा के प्रति पक्षपात की भावना नही तो और क्या हो सकता है ?

बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव

परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी कालिदास बौद्ध प्रभाव से सर्वथा अछूते रहे हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। लगता है कि बौद्धों की 'अहिंसा' ने अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास के मन को भी अवश्य प्रभावित किया था। यज्ञानुष्ठानों का विविध रूपों में अनुमोदन करने पर भी 'शाकुन्तल' में 'सहजकर्म' को न छोड़ने की वकालत करते हुए उन्होंने 'पशुमारणकर्मदारुणो० में जो 'दारुण' शब्द का प्रयोग किया वह हिंसा के प्रति इनकी मानसिक अरुचि का ही द्योतन करता है। इसीलिए दिलीप के 'अश्वमेध' में 'अश्व' का 'मेध' कराये विना ही उन्होंने उसकी पूर्ति करा दी है (३.६५-६७), और रघु से विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध याग न करवाकर 'सर्वस्वदक्षिण याग' करवाया है। पर वह अशोक की जैसी अहिंसा और युद्ध-विमुखता भी नहीं चाहते थे। देश की शांति और सुरक्षा के लिए युद्ध की अनिवार्यता को दिखाने के लिए ही कालिदास ने रघु के दिग्विजय की योजना की है। पर साथ ही वे स्वार्थलाभ के लिए रक्तपातके पक्ष में भी नहीं थे इसीलिये उन्होंने अज-राजन्य-युद्ध में रक्तपात के विना ही विरोधी सेनाओं को सम्मोहनास्त्र की सहायता से परास्त करा दिया है। विनोद के लिए की जाने वाली जीव-हिंसा भी उन्हें प्रिय न थी। इसीलिए हम उन्हें शाकुन्तल (२।३) और रघुवंश (९।४७) में मृगया-विनोद के प्रति अरुचि की

अभिव्यक्ति करते हुए पाते हैं, जो कि प्रच्छन्न रूप से लोक में प्रचलित बौद्धों की अहिंसा-भावना का ही प्रभाव कहा जायेगा। रघुवंश के द्वितीय सर्ग में नन्दिनी की रक्षा के लिए दिलीप का आत्मदान भी इससे प्रभावित सा लगता है। किन्तु अहिंसा की अन्ध-भक्ति में उनका विश्वास न था; इसीलिए तो सिंह के द्वारा रघु को कहलाते हैं —

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि॥रघु०२।४८॥

उपसंहार

यद्यपि प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रत्यक्षतः हमारा कालिदास के स्थिति-काल पर प्रकाश डालने का कोई प्रयत्न नहीं है, फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कालिदास अवश्य ही उस काल में फले फूले जब कि सब ओर से वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए विशेष प्रयत्न किया जा रहा था तथा जनता में अथवा शासकवर्ग में बौद्ध जीवन-पद्धति के प्रति अनास्था व प्रतिक्रिया का भाव बढ़ रहा था। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें ऐसे शासकों का प्रश्रय प्राप्त था जो कि स्वयं बौद्ध-पक्षपाती नहीं वरन् वैदिक धर्मानुयायी थे। कालिदास की कृतियों का इस दृष्टि से विशेष अध्ययन करने पर इस पर और भी अधिक प्रकाश पड़ सकता है जो कि अभी भविष्य का विषय है।